प्रमुख राजनीतिक विचारक

हरिदत्त वेदालंकार
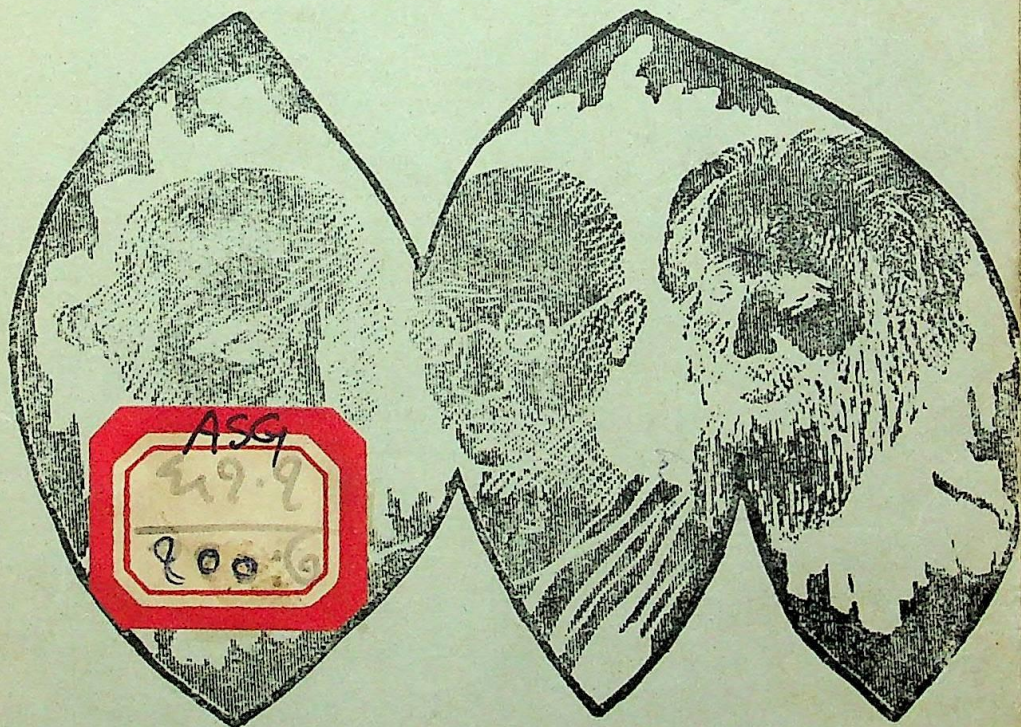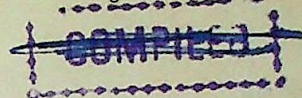
राजस्थान विश्व-विद्यालय संस्करण

प्रमुख राजनीतिक विचारक

[बी॰ ए॰ कक्षाओं के लिए कुछ महत्वपूर्ण विचारकों के राजनीतिक विचारों का सरल अध्ययन]

लेखक
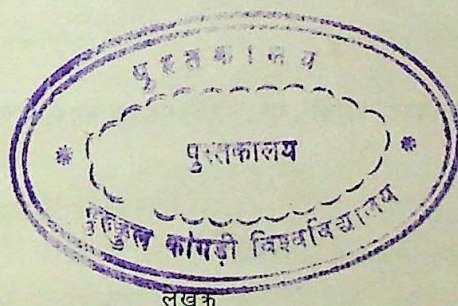
हरिदत्त वेदालंकार, एम॰ ए॰

भूतपूर्व निदेशक, प्रकाशन विभाग, गो॰ व॰ पंत कृषि विश्वविद्यालय,
पंत नगर, जि॰ नैनीताल ।

प्रकाशक

रंजन प्रकाशन गृह

सी-५/१३, सफदरजंग डेवलपमैण्ट एरिया,
नई दिल्ली-११००१६.

चतुर्थ संस्करण : १६८२] [मूल्य : २१ रुपये ५० नैसे

प्रकाशक :

रंजन प्रकाशन गृह
सी-५/१३, सफदरजंग डेवलपमेंण्ट एरिया,
नई दिल्ली-११००१६.

चतुर्थ संशोधित संस्करण : १९८२

मुद्रक :
नरोत्तम प्रिंटिंग प्रेस,
ए-१०६, घोण्डा नार्थ,
दिल्ली-११००५३.

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

लेखक को इस बात की प्रसन्नता है कि इसका तीसरा संस्करण छात्रों में बड़ा लोकप्रिय हुआ और जल्दी समाप्त हो गया। इसके नवीन संस्करण को पूरी तरह संशोधित किया गया है। विभिन्न विश्वविद्यालयों में इस विषय के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम के सभी विषयों का प्रामाणिक प्रतिपादन किया गया है। इसके लिए न केवल पुराने अध्यायों में नई सामग्री जोड़ी गई है अपितु कुछ नए अध्याय भी बढ़ाए गए हैं।

इस संस्करण को छात्रों के लिए विशेष रूप से उपयोगी बनाने की दृष्टि से प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसका सारांश दिया गया है ताकि इसकी सहायता से विद्यार्थी सारे विषय को जल्दी समझ सकें। ये सारांश के संकेत पुनरावृत्ति के समय भी छात्रों के लिए बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे।

इसके साथ ही प्रत्येक अध्याय के अन्त में उससे सम्बन्ध रखने वाले और उस विषय पर विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा पूछे जाने वाले महत्वपूर्ण प्रश्नों को भी दिया गया है। विभिन्न विषयों पर मूल लेखकों के अवतरण और उद्धरण अंग्रेजी तथा हिन्दी में दिए गए हैं ताकि इनसे विद्यार्थियों को विषय का भली भाँति परिचय हो सके।

लेखक को विश्वास है कि उपर्युक्त संशोधनों और नवीन परिवर्तनों से यह पुस्तक छात्रों के लिए पहले से बहुत अधिक उपयोगी सिद्ध होगी और छात्र इससे पूरा लाभ उठाएँगे।

इस पुस्तक को अधिक उपादेय बनाने वाले तथा इसकी कमियों की ओर ध्यान दिलाने वाले सुझावों के लिए लेखक विज्ञ पाठकों का आभारी होगा।

'रंजन प्रकाशन गृह' के श्री विश्वरंजन को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने इस पुस्तक के नवीन संस्करण के सुन्दर और शीघ्र मुद्रण की व्यवस्था की।

मेरी पत्नी श्रीमती सुधामयी ने इस पुस्तक के लेखन और प्रूफ संशोधन में बहुमूल्य सहायता की है इसके लिए लेखक इन सबका बहुत आभारी है।

'प्राची', दिल्ली।

—हरिदत्त

विषय-सूची

पहला भाग

पहला अध्याय—प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की सामान्य विशेषताएँ ... १

राजनीतिक चिन्तन की परम्परा, राजनीति-विषयक साहित्य, राजनीतिशास्त्र के नाम और महत्व; प्राचीन भारत के राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएँ—(१) कानून की सर्वोच्च सत्ता, (२) मनुष्य की प्रवृत्ति; दण्ड की शक्ति का सिद्धान्त—स्वधर्म का सिद्धान्त; राज्य पर धर्म का प्रभाव—राज्य के कार्य, राज्य के उद्देश्य; सारांश; प्रश्न ।

दूसरा अध्याय—मनु के राजनीतिक विचार ... १२

मनु का महत्व, राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त, धर्म, दण्ड, आदर्श राजा की विशेषताएँ और स्वरूप, राजा का व्रत, मन्त्रि-परिषद्; मन्त्री की सामान्य योग्यताएँ; प्रशासन की व्यवस्था, कर-ग्रहण, मनु की देन और महत्व, मनुस्मृति का प्रभाव; सारांश; प्रश्न ।

तीसरा अध्याय—कौटिल्य ... २४

कौटिल्य का जीवन, राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त, राज्य का स्वरूप: सप्तांग सिद्धान्त, राजा के क़र्त्तव्य और गुण, राजा पर प्रतिबन्ध, मन्त्रिपरिषद्, मन्त्रियों की परीक्षाएँ, मन्त्रिपरिषद् द्वारा राजा का नियन्त्रण, विदेशनीति : मण्डल का सिद्धान्त, कौटिल्य का महत्व और मूल्यांकन; सारांश; प्रश्न ।

दूसरा भाग

पहला अध्याय—प्लेटो ... १

प्लेटो का महत्व, जीवन-चरित्र, प्लेटो के प्रमुख ग्रन्थ—(i) रिपब्लिक, (ii) पोलिटिक्स या स्टेट्समैन, (iii) लाज़ ; प्लेटो से पहले प्रचलित न्याय सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं का खण्डन ; प्लेटो का न्यायविषयक सिद्धान्त—न्याय के दो रूप : (i) सामाजिक, (ii) वैयक्तिक; न्याय के सिद्धान्त की आलोचना; शिक्षा का सिद्धान्त—प्लेटो की शिक्षा-पद्धति की विशेषताएँ, शिक्षा-पद्धत्ति के दोष ; दार्शनिक राजाओं का शासन, दार्शनिक शासक की विशेषताएँ ;

साम्यवाद का सिद्धान्त—(i) सम्पत्ति-विषयक साम्यवाद और अरस्तू द्वारा इसकी आलोचना, (ii) पत्नियों का साम्यवाद और अरस्तू द्वारा इसकी आलोचना ; क्या प्लेटो प्रथम साम्यवादी था ? प्लेटो का आदर्श राज्य—राज्य का स्वरूप, राज्य का निर्माण करने वाले तीन तत्व तथा वर्ग ; शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण ; लाज़ में प्रतिपादित व्यवस्थाएँ और सिद्धान्त ; क्या प्लेटो का राजनीतिक चिन्तन मूलतः आदर्शवादी था ? सारांश ; प्रश्न ।

दूसरा अध्याय—अरस्तू [३८४ ई० पू० से ३२२ ई० पू०] ... ४५

अरस्तू का जीवन-चरित्र, अरस्तू की रचनाएँ, अरस्तू के राज्य-सम्बन्धी विचार : राज्य का प्रादुर्भाव और विकास, राज्य का स्वरूप और विशेषताएँ, राज्य का उद्देश्य और कार्य ; दास-प्रथा सम्बन्धी विचार और इसकी आलोचना ; सम्पत्ति-विषयक विचार और इसकी आलोचना ; नागरिकता सम्बन्धी विचार और इसके दोष तथा सीमाएँ ; कानून का स्वरूप—न्यायविषयक विचार ; संविधानों का वर्गीकरण—वर्गीकरण की विशेषताएँ एवं आलोचना; क्रान्ति सम्बन्धी विचार—क्रान्ति का स्वरूप, क्रान्ति के कारण ; आदर्श राज्य—आदर्श राज्य की विशेषताएँ ; शिक्षा-पद्धति के गुण एवं दोष; अरस्तू के मध्यम मार्ग का सिद्धान्त ; अरस्तू तथा प्लेटो की तुलना ; राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में अरस्तू की देन ; सारांश ; प्रश्न ।

तीसरा अध्याय—सन्त थामस एक्विनास [१२२५-१२७४ ई०] ... ९०

एक्विनास का जीवन-चरित्र, एक्विनास की रचनाएँ ; प्रधान राजनीतिक विचार—(i) राज्यविषयक विचार, (ii) दास-प्रथा सम्बन्धी विचार, (iii) शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण, (iv) राज्य के कार्य, (v) कानून का विचार, (vi) न्याय-विषयक विचार, (vii) राज्य और चर्च के सम्बन्ध ; एक्विनास का महत्व और देनें ; सारांश ; प्रश्न ।

चौथा अध्याय—मेकियावेली [१४६९-१५२७ ई०] ... १०२

इटली का चाणक्य : मेकियावेली का जीवन-परिचय ; मेकियावेली की रचनाएँ ; युग का शिशु-मेकियावेली; मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचार; नैतिकता और धर्म-सम्बन्धी विचार ; राज्य का प्रादुर्भाव और स्वरूप ; राजा का कर्त्तव्य और आचरण ; शासन-पद्धति के विभिन्न प्रकार ; कानून का विचार ; मेकियावेली के विचारों की विशेषताएँ एवं दोष; आधुनिक राजनीतिशास्त्र का जनक (पिता) मेकियावेली :

उसकी देनें ; मेकियावेली का मूल्यांकन ; सारांश ; प्रश्न ।

तीसरा भाग

पहला अध्याय—थामस हॉब्स [१५८८-१६७९ ई०] ... १

थामस हॉब्स की जीवनी, हॉब्स पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियाँ ; लेवियाथन ; हॉब्स के प्रमुख सिद्धान्त—(i) मानव-स्वभाव का स्वरूप, (ii) प्राकृतिक दशा, (iii) सामाजिक समझौता, (iv) व्यक्ति के अधिकार, (v) शासन-प्रणालियाँ, (vi) कानून ; हॉब्स—आधुनिकता का अग्रदूत ; हॉब्स की विचारधारा के दोष, हॉब्स की देनें अथवा महत्व ; सारांश ; प्रश्न ।

दूसरा अध्याय—जॉन लॉक [१६३२-१७१४ ई०] ... २३

जॉन लॉक का जीवन-चरित्र, लॉक के ग्रन्थ; लॉक के प्रमुख सिद्धान्त—(i) मानव का स्वभाव, (ii) प्राकृतिक अवस्था, (iii) प्राकृतिक अधिकार, (iv) सामाजिक समझौता, (v) राज्य का स्वरूप और विशेषताएँ, (vi) विद्रोह का अधिकार; सीमित राजतंत्र सम्बन्धी विचार ; व्यष्टिवाद ; लॉक और हॉब्स की तुलना ; लॉक की विचारधारा के दोष ; राजनीतिशास्त्र में लॉक की देन ; लॉक का मूल्यांकन और प्रभाव ; सारांश ; प्रश्न ।

तीसरा अध्याय—रूसो [१७१२-१७७८ ई०] ... ४५

रूसो का जीवन-चरित्र ; रूसो के प्रमुख राजनीतिक विचार—(i) मानव-स्वभाव, (ii) प्राकृतिक दशा, (iii) सामाजिक समझौता या अनुबन्ध, (iv) सामान्य इच्छा का सिद्धान्त, (v) प्रभु-सत्ता सम्बन्धी विचार, (vi) व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा अन्य अधिकार, (vii) शासन-प्रणालीविषयक विचार ; रूसो के विचारों की आलोचना ; रूसो का प्रभाव, रूसो का मूल्यांकन ; हॉब्स तथा रूसो की तुलना, हॉब्स और लॉक की तुलना ; राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में रूसो का प्रभाव तथा महत्व; सारांश ; प्रश्न ।

चौथा अध्याय—माँतेस्क्यू [१६८९-१७५५ ई०] ... ७१

माँतेस्क्यू की पद्धति तथा अरस्तू से तुलना ; स्वतंत्रताविषयक विचार, शक्ति पार्थक्य का सिद्धान्त ; माँतेस्क्यू की देनें ; सारांश प्रश्न ।

चौथा भाग

पहला अध्याय—जेरेमी बेन्थम [१७४८-१८३२ ई०] ... १

बेन्थम की जीवनी ; बेन्थम के प्रमुख सिद्धान्त—(i) उपयोगितावाद

का स्वरूप तथा प्रमुख सिद्धान्त, (ii) राज्य की उत्पत्ति, (iii) प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन, (iv) सर्वोच्च सत्ता तथा अधिकार-विषयक सिद्धान्त, (v) शासन-पद्धति, (vi) आर्थिक विचार, (vii) व्यक्तिवाद, (viii) कानून तथा न्याय की व्यवस्था, (ix) दण्डव्यवस्था, (x) जेलखानों का सुधार : सर्वद्रष्टा कारागार, (xi) अन्य सुधार ; उपयोगितावाद के प्रमुख दोष : बेन्थम तथा उपयोगितावाद के सिद्धान्तों की आलोचना ; बेन्थम की देन और महत्व ; उपयोगितावाद के मौलिक सिद्धान्त और प्रमुख तत्व ; सारांश ; प्रश्न ।

दूसरा अध्याय—जान स्टुअर्ट मिल [१८०६-१८७३ ई०] ... २८

मिल की जीवनी, मिल की रचनाएँ, मिल के स्वतन्त्रताविषयक विचार : स्वतन्त्रताविषयक सिद्धान्त की आलोचना ; शासनविषयक विचार : प्रतिनिधि शासन-प्रणाली और इसमें पाई जाने वाली बुराइयों को दूर करने के उपाय; मिल द्वारा उपयोगितावाद का संशोधन, बेन्थम और मिल के सिद्धान्तों के भेद; मिल का महत्व और अनुदान; सारांश; प्रश्न ।

तीसरा अध्याय—थामस हिल ग्रीन [१८३६-१८८२] ... ५४

ग्रीन का जीवन-चरित्र, ग्रीन की रचनाएँ, ग्रीन के दार्शनिक विचार; राजनीतिक विचार—स्वतंत्रताविषयक विचार एवं इसकी विशेषताएँ, अधिकारविषयक विचार एवं इसकी आलोचना, अधिकार और नैतिकता, अधिकार और कानून ; राज्यविषयक विचार—प्रभुसत्ता का विचार, राज्य के कार्य ; दण्डविषयक सिद्धान्त—(क) प्रतिशोध या बदला लेने का सिद्धान्त, (ख) निवारक सिद्धान्त, (ग) सुधार का सिद्धान्त ; सम्पत्तिविषयक विचार ; ग्रीन की आलोचना, ग्रीन की देन ; सारांश, प्रश्न ।

चौथा अध्याय—कार्ल मार्क्स [१८१८-१८८३ ई०] ... ७५

मार्क्स का महत्व, मार्क्स की जीवनी, वैज्ञानिक समाजवाद का स्वरूप; मार्क्स के प्रमुख सिद्धान्त—द्वंद्वात्मक विकास (Dialectics) का स्वरूप तथा उसके नियम, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना ; इतिहास की भौतिकवादी या आर्थिक व्याख्या—इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का स्वरूप, आर्थिक व्याख्या के सिद्धान्त की आलोचना; वर्ग-संघर्ष—वर्गसंघर्ष के सिद्धान्त की आलोचना ; पूंजीवाद का स्वरूप—पूँजीवाद के सिद्धान्त की आलोचना ; अतिरिक्त मूल्य का स्वरूप, अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की आलोचना ;

साम्यवादी दल का संगठन तथा कार्यक्रम ; राज्यविषयक सिद्धान्त—राज्यविषयक सिद्धान्त की विशेषताएँ, राज्यविषयक सिद्धान्त की आलोचना, मार्क्स की देन, मार्क्स का मूल्यांकन ; सारांश ; प्रश्न ।

पाँचवाँ अध्याय—महात्मा गांधी [१८६९-१९४८ ई०] ... ११०

गांधीवाद का स्वरूप, गांधी जी की जीवनी, गांधी जी की कृतियाँ, गांधी जी के विचारों के प्रेरणा-स्रोत ; गांधी जी के मौलिक दार्शनिक सिद्धान्त—(i) सत्य, (ii) अहिंसा, अहिंसा की श्रेष्ठता, अहिंसा की दो विशेषताएँ, अहिंसा के तीन रूप ; (iii) सत्याग्रह, सत्याग्रह का नामकरण, सत्याग्रह का स्वरूप, सत्याग्रही के गुण, सत्याग्रह के नियम, सत्याग्रह के विभिन्न रूप, सत्याग्रह के साधन ; राजनीति और धर्म का सम्बन्ध ; राज्यविषयक सिद्धान्त—राज्य का विरोध करने के कारण, व्यक्ति का साध्य और राज्य का साधन होना, प्रभुसत्ता का विरोध, राज्य का कार्य-क्षेत्र ; विकेन्द्रीकरण—विकेन्द्रीकरण का स्वरूप—(क) राजनीतिक क्षेत्र में; (ख) आर्थिक क्षेत्र में ; वर्णव्यवस्था या वर्णधर्म का सिद्धान्त ; संरक्षकता का सिद्धान्त ; गांधीवाद और समाजवाद ; गांधीवाद और मार्क्सवाद ; गांधीवाद के दोष, गांधीजी की देन, गांधीवाद में विभिन्न तत्वों का सम्मिश्रण, गांधी जी का मूल्यांकन ; सारांश ; प्रश्न ।

पहला अध्याय

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की सामान्य विशेषताएँ

राजनीतिक चिन्तन की परम्परा—भारत में राजनीतिक चिन्तन की परम्परा बड़ी पुरानी है। वैदिक युग से हमारे ऋषि, मुनि, आचार्य और विचारक राजनीति-सम्बन्धी प्रमुख प्रश्नों पर विचार करते रहे हैं और इन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास करते रहे हैं कि राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? राज्य क्या है? इसके उद्देश्य क्या हैं? इसके आदेशों का पालन मनुष्य को क्यों और कहाँ तक करना चाहिए? राज्य का कार्यक्षेत्र कहाँ तक सीमित होना चाहिए? राज्य का स्वरूप और आकार क्या होना चाहिए? राज्यविषयक इन प्रश्नों का चिन्तन प्राचीन भारत में वैदिक युग से आरम्भ हुआ, मध्य युग में और वर्तमान काल तक चलता रहा। इस प्रकार हमारे यहाँ प्राचीन भारत में सबसे पहला राजा माने जाने वाले मनु से महात्मा गांधी तक राजनीतिक चिन्तन और विचारधारा की एक अविच्छिन्न परम्परा मिलती है।

राजनीतिविषयक साहित्य—वर्तमान समय में हमें प्राचीन भारत के राजनीतिक चिन्तन का बहुत कम साहित्य उपलब्ध होता है। इसका कारण यह है कि अनेक प्राचीन महत्वपूर्ण ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं। इस समय प्राचीन भारत के राजनीतिक चिन्तन पर सबसे अधिक प्रकाश रामायण, महाभारत, कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, शुक्रनीतिसार, बार्हस्पत्य सूत्र तथा मनुस्मृति से पड़ता है। महाभारत और कौटिलीय अर्थशास्त्र से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में इस विषय पर अनेक आचार्यों ने विशालकाय ग्रन्थों और शास्त्रों का निर्माण किया था। महाभारत में दी गई एक कथा के अनुसार पहले कृतयुग के स्वर्णिम अतीत काल में सब लोग धर्मपूर्वक रहते थे, कोई राजा या दण्ड-व्यवस्था नहीं थी। बाद में मोह, लोभ, काम, राग आदि दोष उत्पन्न होने से लोगों का पतन तथा धर्म का नाश हुआ, तब धर्म की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष पर एक लाख अध्यायों का एक विशाल ग्रन्थ बनाया। इसे शंकर विशालाक्ष ने १० हजार अध्यायों में संक्षिप्त किया; इन्द्र ने इसका संक्षेप ५ हजार अध्यायों में करके इसे बाहुदन्तक का नाम दिया। इसके बाद बृहस्पति ने इसका पुनः तीन हजार अध्यायों में तथा काव्य या उशना ने एक हजार अध्यायों में संक्षेप किया। महाभारत के शान्तिपर्व में राजनीतिशास्त्र का विवेचन करने वाले निम्नलिखित सात आचार्यों का वर्णन किया गया है—बृहस्पति, विशालाक्ष, काव्य, महेन्द्र, प्राचेतस् मनु, भारद्वाज तथा गौरशिरा। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में ५३ बार दूसरे आचार्यों के

मतों का उल्लेख करते हुए उनसे असहमति प्रकट की है। उसने राज्यशास्त्र के पांच सम्प्रदायों और सात आचार्यों का नामोल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में अनेक आचार्यों और विद्वानों ने राजनीतिविषयक प्रश्नों पर गम्भीर विचार किया है।

राजनीतिशास्त्र के नाम और महत्व—राजनीतिशास्त्र के अध्ययन को प्राचीन काल में बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता था और इसके कई नाम थे। इसका पहला नाम **राजशास्त्र** था। महाभारत में बृहस्पति, विशालाक्ष आदि आचार्यों को राजशास्त्र का निर्माण करने वाला (**राजशास्त्रप्रणेतारः**) कहा गया है। अश्वघोष ने बुद्धचरित में इसको यही नाम दिया है। इसका दूसरा नाम **दण्डनीति** है। महाभारत के शान्तिपर्व में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इस संसार को दण्ड की व्यवस्था द्वारा ही सत्पथ पर ले जाया जाता है अथवा यह शास्त्र दण्ड के चलाने की व्यवस्था करता है, अतः यह दण्डनीति कहलाता है। महाभारत के ही एक दूसरे स्थल (शान्तिपर्व, ५६।७८) में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि दण्डनीति चारों वर्णों से उनके धर्मों का पालन कराती है और राजा द्वारा ठीक ढंग से प्रयुक्त होने पर यह चारों वर्णों को अधर्म के कार्यों से रोकती है। राजशास्त्र का तीसरा नाम **अर्थशास्त्र** है। महाभारत के अनुशासनपर्व में बृहस्पति द्वारा बनाए गए शास्त्र को अर्थशास्त्र कहा गया है। आजकल अर्थशास्त्र सामान्य रूप से आर्थिक विषयों—सम्पत्ति के उत्पादन, उपभोग एवं वितरण का विवेचन करने वाले शास्त्र (Economics) को कहा जाता है, किन्तु प्राचीन काल में राजनीति-शास्त्र को अर्थशास्त्र कहा जाता था। कौटिल्य ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि मनुष्यों की वृत्ति या जीविका **अर्थ है**, मनुष्यों से युक्त भूमि का नाम भी अर्थ है। इस पृथ्वी को प्राप्त करने तथा सुरक्षित बनाए रखने के उपायों को बताने वाला शास्त्र अर्थ-शास्त्र है। उसने इसीलिए राजनीतिविषयक अपने ग्रन्थ को अर्थशास्त्र का नाम दिया है। इसका चौथा नाम **नीतिशास्त्र** है, क्योंकि इसमें बताए उपायों से लोग धर्म-मार्ग की ओर ले जाए जाते हैं और उससे विचलित नहीं होते हैं।

प्राचीन काल में इस शास्त्र को अतीव महत्वपूर्ण समझा जाता था। कौटिल्य ने चार प्रधान विद्याओं में दण्डनीति की गणना की है। कामन्दक के मतानुसार उशना सम्प्रदाय वाले केवल एक ही विद्या दण्डनीति को मानते थे और कहते थे कि इसी से अन्य सब शास्त्र उत्पन्न हुए हैं। महाभारत में कहा गया है कि "जिस प्रकार हाथी के पैर में सबका पैर आ जाता है, इसी प्रकार राजनीतिशास्त्र में सभी शास्त्र आ जाते हैं"। शुक्रनीतिसार के अनुसार यह (नीतिशास्त्र) सबको जीवन प्रदान करने वाला, लोक की स्थिति को बनाए रखने वाला, धर्म, अर्थ, काम का मूल तथा मोक्ष को प्रदान करने वाला है (१।५)। "जिस प्रकार यह शरीर भोजन के बिना नहीं रह सकता है, उसी प्रकार संसार के सब व्यवहार नीतिशास्त्र के बिना नहीं रह सकते हैं (शुक्र १।११)। प्राचीन भारत के राजनीतिक चिन्तन की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

प्राचीन भारत के राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएँ

१. कानून की सर्वोच्च सत्ता—प्राचीन काल में राजशास्त्र के गम्भीर अनुशीलन, अध्ययन और चिन्तन के परिणामस्वरूप अनेक राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण हुआ था। प्राचीन विचारधारा के इन सिद्धान्तों को कुछ प्रमुख विशेषताओं के रूप में प्रकट किया जा सकता है। **पहली विशेषता कानून या धर्म की सर्वोपरि सत्ता** (Sovereignty of Law) है। राज्य में किसी व्यक्ति या राजा की इच्छा द्वारा शासन नहीं होना चाहिए, अपितु धर्म या कानून के नियमों से शासन किया जाना चाहिए। इसका सुस्पष्ट प्रतिपादन हमें सबसे पहले बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४।१४) में मिलता है। इसमें यह कहा गया है कि चार वर्ण उत्पन्न करने के बाद प्रजापति ने स्थिरता लाने के लिए "**धर्म को उत्पन्न किया, वह बलवान् क्षत्रियों से भी प्रबल है। धर्म से अधिक ऊँची कोई वस्तु नहीं है**। धर्म के कारण निर्बल व्यक्ति बलवान् को जीतने की आशा रखता है। धर्मात्मा व्यक्ति राजा की सहायता से अधर्म करने वाले पर विजय प्राप्त करता है। जो धर्म है, वस्तुतः वही सत्य है। अतः लोग यह कहते हैं कि जो व्यक्ति सत्य कहता है, वह धर्म कहता है; जो धर्म की बात कहता है, वह सत्य की बात कहता है। धर्म और सत्य दोनों एक हैं।" यहाँ धर्म का प्रयोग किसी विशेष सम्प्रदाय के संकुचित अर्थ में नहीं हुआ, अपितु समाज को बनाए रखने तथा संचालित करने वाले सभी नियमों के लिए व्यापक रूप में हुआ है, क्योंकि धर्म शब्द धारण करने का अर्थ देने वाली धृ धातु से बनता है और प्राचीन परिभाषा के अनुसार समाज को धारण करने वाले सभी नियमों के लिए प्रयुक्त होता है। महाभारत में कहा गया है कि समाज को धारण करने से ही इसे धर्म कहते हैं, इसने सब प्रजाओं को धारण कर रखा है। राजा का यह प्रधान कर्त्तव्य है कि वह धर्म का पालन कराए। जो राजा धर्म का पालन नहीं कराता है, शास्त्रकारों ने प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का और उसे गद्दी से उतारने का अधिकार दिया है। शान्तिपर्व (९२--१९) में यहाँ तक कहा गया है कि **धर्म की हत्या करने वाला राजा वध करने योग्य है**। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजा की इच्छा को नहीं, अपितु धर्म के पालन को सर्वोपरि महत्व और सर्वोच्च स्थान दिया जाता था।

प्राचीन धर्मशास्त्रों में बार-बार इस बात पर बल दिया गया है कि राजा का प्रधान कर्त्तव्य धर्म का पालन कराना है। वह न केवल अपराधियों को दण्ड देता था, किन्तु स्वयमेव अपराध करने पर उसे साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक दण्ड देने की व्यवस्था की गई थी। मनु के मतानुसार जिस अपराध के लिए साधारण मनुष्य को एक कार्षापण का दण्ड दिया जावे, उसी अपराध को राजा द्वारा किए जाने पर उसे एक हजार कार्षापणों का दण्ड दिया जाना चाहिए (मनु ८।३३६)। इसी बात को प्रदर्शित करने के लिए राज्याभिषेक के अवसर पर राजा की पीठ को तीन बार डण्डे से छुआ जाता था ताकि उसे दण्ड के वशवर्ती होने का ज्ञान रहे और वह अच्छी तरह समझ ले कि राजा होते हुए भी अपराधी होने पर वह दण्डित किया जा सकता है। राजा का प्रधान कार्य दण्डनीय अपराधों के लिए अपराधियों को दण्ड देना है। यदि वह ऐसा नहीं

करता तो वह अपराधी समझा जाता था। गौतम धर्मसूत्र (१२।४८) के शब्दों में जो राजा न्यायपूर्वक दण्ड देकर अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है, उसे अपराधी समझना चाहिए। वशिष्ठ धर्मसूत्र (१९।३०--४६) में इसी विचार को अधिक विस्तार से प्रकट करते हुए कहा गया है कि **"यदि दण्ड देने योग्य कोई अपराधी दण्ड से छूट जावे तो राजा को एक दिन और एक रात भूखा रहना चाहिए**......। चोर का अपराध उस राजा पर भी पड़ता है जो चोर के अपराधों को क्षमा करता है। अपराधी के पापों को क्षमा करने वाला राजा पाप का भागी होता है।" महाभारत में उतथ्य ऋषि ने मान्धाता को राज-धर्म का उपदेश करते हुए यह बताया है कि उसे अपने पुत्र के अपराध को भी क्षमा नहीं करना चाहिए। यदि राजा का कोई प्रिय व्यक्ति भी अपराध करे तो राजा का कर्त्तव्य है कि उसे कभी सहन न करे। इन सब व्यवस्थाओं से स्पष्ट है कि **शासन में धर्म अथवा कानून का स्थान सर्वोपरि था। इसमें राजा की इच्छा या स्वेच्छाचार का कोई स्थान नहीं था।** शुक्रनीति में तो यहाँ तक लिखा है कि यदि राजा स्वेच्छाचारी होकर कार्य करने लगे तो उसका परिणाम अनर्थ होगा, प्रजा ऐसे राजा के विरुद्ध हो जावेगी और उसे अपने राष्ट्र से हाथ धोना पड़ेगा (शुक्रनीति २।४।)

२. **मनुष्य की प्रवृत्ति**—प्राचीन भारतीय विचारक मनुष्यों को स्वाभाविक रूप से स्वार्थी, दुष्ट, दूसरों के अधिकारों का अपहरण करने वाला समझते थे। मनु ने यह कहा है कि निर्दोष एवं शुद्ध आचरण वाला (शुचि) व्यक्ति बड़ी कठिनाई से मिलता है (७।२१,२४, मिलाइए महाभारत १२।१५।३४)। कामन्दक ने (२।४२) भी इसी मत का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि मनुष्य स्वभावतः अपनी वासनाओं के वशीभूत होते हैं, वे दूसरों के धन और स्त्रियों की चाह करते हैं। मनु और कामन्दक के ये विचार पश्चिमी जगत् के सेनेका, आगस्टाइन और हॉब्स के इन विचारों से मिलते हैं कि मनुष्य स्वभावतः दुष्ट प्रकृति का है। सालमण्ड ने लिखा है—मनुष्य स्वभावतः लड़ने वाला पशु है। भारतीय विचारक यह मानते थे कि मनुष्य में आसुरी प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं। अतः उन्हें रोकने के लिए राज्य का जन्म होता है और वह अपनी दण्ड की शक्ति से सब मनुष्यों को ठीक रास्ते पर रखकर समाज में सुशासन और व्यवस्था बनाए रखता है। अतः दण्ड का विचार प्राचीन भारतीय राजनीति में बड़ा महत्व रखता है।

३. दण्ड की शक्ति का सिद्धान्त

महाभारत में बड़े विस्तार से यह बताया गया है कि राज्य और समाज में दण्ड की व्यवस्था का क्या महत्व है। **वस्तुतः दण्ड उस मर्यादा का नाम है जो मनुष्यों में व्यवस्था और अराजकता के निवारण के लिए की गई है।** जब तक राज्य की संस्था का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था तो सर्वत्र अराजकता थी। किसी भी व्यक्ति का जीवन और धन सुरक्षित नहीं था। इस अराजक दशा को दूर करने के लिए ब्रह्मा द्वारा दण्ड की उत्पत्ति की गई। इसका स्वरूप बताने के लिए दण्डनीतिशास्त्र का निर्माण किया गया। राजा का कार्य दण्डनीति के अनुसार शासन करना है। शान्तिपर्व के अनुसार, धर्म और अर्थ की रक्षा दण्ड द्वारा होती है। सब प्राणियों की रक्षा के लिए ईश्वर ने ब्रह्मतेजमय दण्ड

का सृजन किया था। यदि राजा इस दण्ड का प्रयोग भली प्रकार सोच-समझकर करता है तब वह सम्पूर्ण प्रजा का रंजन करने में समर्थ होता है, अन्यथा उसका सर्वनाश हो जाता है। इस संसार में सारी व्यवस्था दण्ड के कारण है। दण्ड के अभाव में मर्यादा में रहने वाले शुद्ध पवित्र व्यक्ति बहुत ही कम होते हैं (१२।१५।६४)। यदि दण्ड का ठीक प्रकार से प्रयोग न हो तो सारी मर्यादा टूट जाए, सब वर्ण दूषित हो जावें और सब प्रजाओं का नाश हो जाए। बलवान् निर्बलों को उसी प्रकार खाने लगेंगे जैसे जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खाती हैं (१२।१४।३८)। दण्ड के अभाव में सर्वत्र अन्धकार छा जाता है, सब लोग एक-दूसरे की हिंसा करने लगते हैं; जैसे कुत्ते माँस पर झपटते हैं, ऐसे ही मनुष्य एक-दूसरे पर झपटने लगते हैं, किसी प्रकार की कोई मर्यादा नहीं रहती है (१२।१२२।१६-२२), अतः भगवान् ने संसार को ठीक ढंग से चलाने के लिए दण्ड को उत्पन्न किया है। राजा का कर्त्तव्य इस धर्मरूपी दण्ड के अनुसार प्रजा का शासन करना है। दण्ड का प्रयोग ऐसा व्यक्ति नहीं कर सकता जो मूर्ख, लोभी और विषयों में फंसा हुआ हो; दण्ड का प्रयोग केवल शुद्ध आचरण वाला, सत्य-सन्ध और बुद्धिमान व्यक्ति ही कर सकता है ॥ (महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १४, १५)।

महाभारत के इन वचनों से यह स्पष्ट है कि वस्तुतः राज्य की संस्था में दण्ड की स्थिति सर्वप्रधान है। यही वह सर्वोपरि शक्ति है जिससे अराजक दशा का अन्त होकर राज्य की संस्था का प्रादुर्भाव होता है। राजा का महत्व केवल इसलिए है कि वह दण्ड का प्रयोग करने वाला है, किन्तु सब व्यक्ति दण्ड का प्रयोग नहीं कर सकते हैं। इसके प्रयोग के लिए मनुष्य में विशेष योग्यता का होना आवश्यक है। यदि राजा में यह योग्यता या क्षमता न हो तो वह अपने पद पर नहीं रह सकता है। यदि कोई राजा इस धर्मरूपी दण्ड का पालन नहीं करता है तो उसकी हत्या में कोई दोष नहीं है। छल, माया आदि किसी भी प्रकार से उसका वध दोषयुक्त नहीं माना जा सकता है।

मनुस्मृति में भी दण्ड की महिमा का इसी प्रकार प्रतिपादन किया गया है (६।१४–२३)। उसके मतानुसार मनुष्यों का आचरण शुद्ध बनाए रखने के लिए, इन्हें स्वधर्म पालन करने के मार्ग पर चलने को विवश करने के लिए दण्ड की शक्ति की आवश्यकता है, इसलिए भगवान् ने दण्ड की सृष्टि की है और उसका प्रयोग करने के लिए राजा को बनाया है। दण्ड सम्पूर्ण प्रजा को अनुशासन में रखने वाला, उन्हें धर्म पालन के लिए बाधित करने वाला तथा समाज में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना करने वाला है। यदि समाज में दण्ड की व्यवस्था न रहे तो लोग अधर्माचरण में संलग्न होकर अपने कर्त्तव्य भूल जाएँ। दण्ड का प्रयोग मनमाने ढंग से नहीं होना चाहिए। इसका ठीक ढंग से प्रयोग करने पर राज्य में धर्म की स्थापना होती है तथा सुचारु व्यवस्था बनी रहती है। इसे बनाए रखना राजा का कर्त्तव्य है।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र (१।३) में इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि यदि दण्ड का प्रयोग सही ढंग से किया जाए तो इससे प्रजा धर्म, अर्थ और काम के पालन में लगी रहती है। यदि काम, क्रोध तथा अज्ञान के कारण दण्ड की शक्ति का दुरुपयोग किया जाए तो वानप्रस्थी और संन्यासी भी क्रुद्ध हो जाते हैं, गृहस्थों की तो बात ही क्या है? यदि दण्ड का प्रयोग किया ही न जाए तो मात्स्य न्याय उत्पन्न हो जाता

है। दण्ड देने वाले के अभाव में बलवान् निर्बल लोगों को सताने लगते हैं।

४. **स्वधर्म का सिद्धान्त**—प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में इस सिद्धान्त को विशेष महत्व दिया जाता था। भारतीय विचारधारा के अनुसार मानव-समाज को चार वर्णों में बाँटा गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र। जिस प्रकार समाज चार वर्गों में विभक्त है वैसे ही मानव-जीवन के भी ये चार भाग हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इन चार भागों को आश्रमों का नाम दिया गया है। प्रत्येक वर्ण और आश्रम के अपने-अपने कर्त्तव्य (**स्वधर्म**) हैं। ब्राह्मण का कर्त्तव्य था स्वधर्म अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ करना और करवाना, दान लेना और देना है। क्षत्रिय का स्वधर्म अध्ययन करना, यज्ञ करना, दान देना, शस्त्र धारण करना और प्राणियों की रक्षा करना है। वैश्य का स्वधर्म अध्ययन करना, यज्ञ करना, दान देना तथा कृषि, पशुपालन और व्यापार द्वारा धन का उपार्जन करना है। शूद्र का कर्त्तव्य या स्वधर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना, कृषि, पशुपालन, व्यापार और शिल्प आदि के कार्यो से अपनी आजीविका कमाना है। ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य का स्वधर्म है स्वाध्याय, अग्निहोत्र, भिक्षा द्वारा निर्वाह, अपने आचार्य और गुरु की सेवा तथा भक्ति। गृहस्थ का स्वधर्म अपने कार्य द्वारा आजीविका चलाना, विवाह करके अपनी पत्नी के साथ दाम्पत्य जीवन बिताना, देवता, पितर, अतिथि, भृत्य आदि का पोषण करना है। वानप्रस्थी का स्वधर्म है—ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना, जमीन पर सोना, जटा और मृगचर्म धारण करना, अग्निहोत्र और यज्ञ करना, देवता, पितर, अतिथियों आदि की पूजा और अन्य पदार्थों का सेवन करना। परिव्राजक या संन्यासी का स्वधर्म है—इन्द्रियों को वश में रखना, कोई धन-सम्पत्ति न रखना, अनेक स्थानों से भिक्षा माँगकर खाना, जंगल में निवास करना, बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की पवित्रता बनाए रखना।

प्राचीन धर्मशास्त्रों में विभिन्न वर्णों और आश्रमों द्वारा स्वधर्म पालन पर बहुत बल दिया गया है। कौटिल्य (१।३) ने लिखा है कि स्वधर्म का पालन स्वर्ग और मोक्ष देने वाला होता है, यदि स्वधर्म का उल्लंघन किया जाए तो अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी, समाज नष्ट हो जाएगा, अतः राजा का कर्त्तव्य है कि वह मनुष्यों को स्वधर्म का उल्लंघन न करने दे। जो राजा स्वधर्म को बनाए रखता है, वह इहलोक तथा परलोक में प्रशंसा प्राप्त करता है। समाज और राज्य की उन्नति इसी बात पर निर्भर है कि राजा सबको अपने स्वधर्म पर स्थिर रखे। महाभारत में स्वधर्म के सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह चारों धर्मों की रक्षा करे; जो भी धर्म से विचलित हो उसका अपने बाहुबल से निग्रह करना राजा का कर्त्तव्य है।

५. राज्य पर धर्म का प्रभाव

स्वधर्मपालन क उपर्युक्त सिद्धान्त के कारण कुछ विचारकों ने यह कल्पना की है कि प्राचीन भारत में धर्म का राज्य पर बहुत प्रभाव था; यह एक धर्मतन्त्र अथवा धार्मिक (Theocratic) राज्य था। धर्मतन्त्र का अभिप्राय ऐसी शासन-व्यवस्था से होता है जिसमें धर्मगुरु ही राज्य का स्वामी होता है जैसे इस्लाम के आरम्भिक इतिहास

में खलीफा तत्कालीन मुस्लिम राज्य के धर्मगुरु और शासक थे। योरोप में रोमन कैथोलिक धर्म का अध्यक्ष पोप न केवल धार्मिक अधिकार रखता था, अपितु राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग करता था और ईसाईधर्म-विरोधी कार्य करने पर राजा को दण्ड देने का अधिकार भी रखता था। भारत में धार्मिक शक्ति का प्रतीक ब्राह्मण थे और उनकी शक्ति को ब्रह्मशक्ति कहा जाता था। शासन करने का कार्य क्षत्रियों का था और उनकी शक्ति क्षात्रशक्ति कहलाती थी। मध्यकालीन योरोप में पोप और राजाओं की धार्मिक एवं राजनीतिक शक्ति में उग्र संघर्ष हुआ था। पोप भगवान् की ओर से राजाओं को अपने नियन्त्रण में रखने का दावा करते थे।

प्राचीन भारत में धार्मिक शक्ति का अथवा ब्राह्मणों का क्षत्रियों की राजनीतिक शक्ति पर कितना प्रभाव था, यह एक विचारणीय प्रश्न है। ब्राह्मणग्रन्थों में ब्रह्म और क्षात्रशक्ति के संघर्ष की हल्की-सी ध्वनि सुनाई पड़ती है। ५०० ई० पू० में गौतम धर्मसूत्र (१।११) ने यह घोषणा की थी कि राजा का शासन ब्राह्मण वर्ग पर नहीं चल सकता है, ब्राह्मण वर्ग की सहायता के विना राजा का अभ्युत्थान नहीं हो सकता है। इससे पहले ऐतरेय ब्राह्मण (७।२४) में यह कहा गया था कि यदि राजा योग्य ब्राह्मण-पुरोहित की सहायता नहीं लेता तो देवता उसकी हवि को स्वीकार नहीं करेंगे। राज्याभिषेक के समय राजा का ब्राह्मण को तीन बार नमस्कार करना यह सूचित करता है कि वह उसका वशवर्ती होना स्वीकार करता है और जब तक वह ऐसा करता है तब तक उसकी समृद्धि होती है (ऐ. ब्रा. ८।१)। ऋग्वेद (४।५०।७–९) में यह स्पष्ट वर्णन है कि जो राजा अपने पुरोहित का यथोचित सम्मान करता है, वह अपने विरोधियों पर विजय और प्रजा की भक्ति प्राप्त करता है। इन सब सन्दर्भों से यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मण-पुरोहित राजा पर और उसके द्वारा राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न ब्राह्मणग्रन्थों के निर्माण काल के अन्त १००० ई० पू० तक करते रहे।

किन्तु दूसरी ओर ब्राह्मणग्रन्थों में कुछ ऐसे भी स्थल हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि राजा ब्राह्मणों के उपर्युक्त दावों को स्वीकार नहीं करते थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।९।१४) में एक जगह यह कहा गया है कि राजा जो चाहता है, ब्राह्मणों को वही करना पड़ता है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।२९) में यह कहा गया है कि राजा जब चाहे ब्राह्मण को निकाल सकता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४।१०) में यह विचार प्रकट किया गया है कि समाज में सबसे ऊँचा पद क्षत्रिय या राजा का ही है, ब्राह्मण इसके नीचे बैठता है। महाभारत (१।७२।९-१०) में राजकुमारी शर्मिष्ठा ब्राह्मण-पुरोहित की कन्या देवयानी द्वारा अपने बड़प्पन की डींग हाँकने पर उसे फटकारती हुई कहती है कि "तुम्हारे पिता मेरे पिता से नीचे बैठकर दिन-रात भाट की तरह उनकी खुशामद किया करते हैं। तुम्हारे पिता का काम माँगना और विनती करना है और मेरे पिता का काम देना और प्रार्थना सुनना है।"

अतः यह कहना ठीक नहीं कि वैदिक-युग में राज्य पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व था और राज्य की बागडोर पुरोहित के हाथ में थी और प्राचीन भारत में धर्मतन्त्र (Theocracy) की व्यवस्था थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्राह्मण और पुरोहित को समाज में सम्मान प्राप्त था, किन्तु राजा उसके हाथ की कठपुतली नहीं था, आवश्यकता

पड़ने पर वह ब्राह्मण को नियन्त्रण में रखता था और उसे राज्य से निकाल भी सकता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्राह्मण बहुत से विशेषाधिकारों का दावा करते थे, जैसे कर न देना और शारीरिक दण्ड से मुक्ति। किन्तु इन नियमों का अस्तित्व प्रायः धर्मशास्त्रों में ही था, प्रत्यक्ष व्यवहार में नहीं था। डॉ० अल्तेकर के मतानुसार चौथी शताब्दी ई० पू० के बाद से राज्य पर धार्मिक प्रभाव निरन्तर कम होता चला गया। इस समय वैदिक यज्ञों का महत्व और प्रचार कम होने से पुरोहितों की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। राजनीतिक चिन्तन ने स्वतन्त्र शास्त्र का रूप धारण किया, राजा वेद और उपनिषदों के अध्ययन के स्थान पर इसका अधिकाधिक अध्ययन करने लगे। राजा की आज्ञा या विधि को कानून का एक स्वतन्त्र, महत्वपूर्ण और सबसे प्रभावशाली तत्व माना जाने लगा। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में यह घोषणा की कि कानून चार प्रकार के हैं—(१) धर्म अथवा धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित विधि-निषेध के नियम, (२) व्यवहार अर्थात् कानून प्रतिपादन करने वाले अर्थशास्त्र के ग्रन्थों में बताई गई कानूनी प्रक्रिया, (३) चरित्र अर्थात् विभिन्न प्रदेशों, कुलों और वर्णों में तथा जनता में प्रचलित रीति-रिवाज, (४) राज्य-शासन अर्थात् राजा की आज्ञा। इन चारों में पिछला पहले से अधिक शक्तिशाली होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि चौथी शताब्दी ईस्वी में राजा की आज्ञा को कानून में सर्वोच्च स्थान दिया जाने लगा था और वह धर्मतन्त्र के प्रभाव से मुक्त हो गया था। राजा धर्म का पालन करता था, किन्तु यह धर्म समाज को बनाए रखने वाले मौलिक कानून थे, न कि किसी विशेष धर्म के मन्तव्य और सिद्धान्त। राजा किसी विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय को प्रोत्साहित न करता हुआ सब मतों को बराबर समझता था और सच्ची धार्मिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता था।

६. राज्य के कार्य—राजनीति शास्त्र के वर्तमान लेखक राज्य के कार्यों को दो बड़ी श्रेणियों में बांटते हैं : आवश्यक कार्य तथा ऐच्छिक कार्य। **पहली श्रेणी में वे सभी कार्य आते हैं जो समाज और राज्य की सत्ता बनाए रखने के लिए नितान्त आवश्यक हैं**, जैसे—विदेशी शत्रु के आक्रमण से देश की रक्षा, प्रजा के जान-माल का संरक्षण, देश में शान्ति और सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए पुलिस का और अपराधियों को दण्ड देने के लिए न्याय का प्रबन्ध। **दूसरी श्रेणी में जनता का कल्याण करने वाले और उसकी उन्नति करने वाले विभिन्न लोकहितकारी कार्यों का समावेश होता है**, जैसे—शिक्षा का प्रबन्ध, स्वास्थ्य रक्षा, डाक और यातायात का प्रबन्ध, जंगलों तथा खानों का विकास, व्यवसायों और उद्योगों का नियन्त्रण, दीन, असहाय एवं अनाथों की देखरेख। वर्तमान समय में इन लोकहितकारी कार्यों के क्षेत्र का निरन्तर विस्तार हो रहा है और राज्य अपने नागरिकों के सब प्रकार के कल्याण की व्यवस्था करना अपना कर्त्तव्य समझने लगे हैं, सर्वत्र **कल्याण राज्य** (Welfare State) का आदर्श लोकप्रिय हो रहा है।

प्राचीन भारत में, आरम्भ में राज्य केवल आवश्यक कार्यों से ही सम्बन्ध रखता था। वैदिक युग में यह राज्य विदेशी शत्रुओं के प्रतिकार और आन्तरिक व्यवस्था एवं सुशासन बनाए रखने का काम करता था। शतपथ ब्राह्मण (५।३।३।६,९) के मतानुसार इहलोक का राजा देवलोक के राजा वरुण की भाँति धर्मपति था अर्थात् वह धर्म और नीति का संरक्षक था और वरुण की भाँति दुष्टों का दमन करके राज्य में सुशासन

बनाए रखता था, किन्तु सम्भवत: उन दिनों राजा न्याय का कार्य नहीं करता था। दीवानी और फौजदारी मामलों का निर्णय पंचायतें ही करती थीं। वैदिक युग के बाद शनैः-शनैः राज्य के कार्यों में विस्तार होने लगा।

चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व तक राज्य के कार्यक्षेत्र में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से इस पर बहुत प्रकाश पड़ता है और यह ज्ञात होता है कि वैदिक युग में जहाँ राज्य का प्रधान उद्देश्य आन्तरिक उपद्रवों से तथा बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना था, वहाँ अब उसका आदर्श राज्य की तथा नागरिकों की सर्वांगीण उन्नति करना समझा जाने लगा। आर्थिक उन्नति और भौतिक दृष्टि से देश को समृद्ध बनाने के लिए राज्य की ओर से उद्योग-धन्धे चलाना, नई बस्तियाँ बनाने, नई जमीन कृषि योग्य बनाने, बाँध बनवाने, खानें खुदवाने, कारीगरों और शिल्पियों को संरक्षण देने की व्यवस्था शुरू हुई। सामान्य जनता तथा उपभोक्ताओं के हितों का ध्यान रखते हुए नाप तथा तोल का मान स्थिर करने, वस्तुओं का संचय और मुनाफाखोरी रोकने के लिए राज्य की ओर से अधिकारी नियत किए जाने लगे। कारीगरों की सुरक्षा के लिए श्रम कानूनों की व्यवस्था की गई। कौटिल्य के विधान के अनुसार कारीगर का हाथ या आँख बेकार कर देने वाले को प्राणदण्ड मिलता था। भौतिक समृद्धि के साथ-साथ जनता की नैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक उन्नति की ओर भी पूरा ध्यान दिया गया। वेश्यावृत्ति, घूस, मदिरापान आदि बुराइयों का राज्य की ओर से नियन्त्रण करने की व्यवस्था की गई, धर्म और सदाचार के प्रोत्साहन के लिए धर्ममहामात्य नामक राजकर्मचारी नियत किए गए, विद्वानों तथा धर्म-प्रचारकों को राज्य की ओर से प्रोत्साहन दिया गया। दीन-दुखियों के कष्ट निवारण के लिए धर्मशालाएँ, मनुष्यों की तथा पशुओं की चिकित्सा के लिए हस्पताल और निर्धनों के लिए अन्न-क्षेत्र खोले गए। उस समय राज्य के कार्यक्षेत्र में मनुष्यों के इहलोक और परलोक के सभी कार्य आ गए। राज्य न केवल धार्मिक मतों को संरक्षण देता था, विद्वानों और कलाकारों की सहायता करता था, बाढ़, टिड्डीदल, अकाल, भूकम्प, महामारी आदि संकटों में प्रजा की रक्षा करता था, अपितु देश की प्राकृतिक सम्पत्ति और साधनों के लिए जंगलों और खानों का विकास करता था, वर्षा की कमी पूरी करने के लिए नहरें और बाँध बनवाता था और समाज की नैतिक उन्नति के लिए मदिरालयों और द्यूतगृहों का नियन्त्रण करता था। इस प्रकार चौथी शताब्दी ई० से प्राचीन भारतीय राज्य ने वर्तमान समय के कल्याणकारी राज्य (Welfare State) के आदर्श को पूरी तरह अपना लिया था।

राज्य के उद्देश्य—राज्य के उपर्युक्त कार्यों से प्राचीन भारतीय राज्य के उद्देश्यों पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। वैदिक साहित्य के कुछ लेखों से यह मालूम पड़ता है कि **शान्ति, सुव्यवस्था, सुरक्षा और न्याय राज्य के प्रधान उद्देश्य समझे जाते थे।** राजा को वरुण देवता के समान नियम और व्यवस्था का संरक्षक (धृतव्रत), साधुओं का प्रतिपालन करने वाला और दुष्टों को दण्ड देने वाला समझा जाता था। नागरिकों की नैतिक उन्नति के साथ-साथ भौतिक उन्नति करना भी राज्य का कार्य था। वैदिक युग के परीक्षित नामक राजा के राज्य के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसमें दूध और मधु की धारा बहती थी अर्थात् उस समय प्रजा किसी प्रकार के अभाव या दैन्य से

पीड़ित नहीं थी। उन दिनों राजा अपने राज्य का क्या आदर्श समझते थे, यह हमें छान्दोग्य उपनिषद् (५।११।५) में राजा अश्वपति द्वारा किए गए दावे से मालूम होता है जिसमें उन्होंने यह कहा था कि मेरे राज्य में कोई चोर, कंजूस, शराबी, अग्निहोत्र न करने वाला तथा निरक्षर व्यक्ति नहीं है और न ही इसमें कोई व्यभिचारी पुरुष या व्यभिचारी स्त्री रहती है।

राजनीतिशास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से लिखे जाने वाले कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में राज्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम की वृद्धि करना बताया गया है। धर्म की वृद्धि का अर्थ किसी विशेष धार्मिक सम्प्रदाय या मत को प्रोत्साहन देना नहीं है, अपितु सदाचार और सुनीति के प्रोत्साहन से जनता में सच्ची धार्मिक भावना और सदाचार की प्रवृत्ति का संचार करना है। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए राज्य विभिन्न धर्मों और मतों को सहायता देता था और ज्ञान-विज्ञान को प्रोत्साहित करता था। दूसरा लक्ष्य अर्थ की वृद्धि करना था, इसके प्रमुख साधन कृषि, उद्योग और वाणिज्य का विकास तथा कृषि की उन्नति के लिए सिंचाई, बाँध और नहरों का प्रबन्ध और खानों, तालाबों, कुओं का खोदना था। तीसरा उद्देश्य काम की वृद्धि था, इसका अभिप्राय यह था कि देश में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करके प्रत्येक नागरिक को बिना किसी विघ्न-बाधा के सब प्रकार के न्यायपूर्ण सुखों को भोगने का अवसर दिया जाए; संगीत, नृत्य, चित्रकला, भवन निर्माण आदि ललित कलाओं के पोषण से देश में सुरुचि और सुसंस्कृति का विकास किया जाए।

सारांश

भारत में राजनीतिक चिन्तन की परम्परा बहुत पुरानी है। वैदिक युग से राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप, उद्देश्य, कार्यक्षेत्र आदि राजनीतिक प्रश्नों पर विचार होता रहा है। मनु से महात्मा गांधी तक राजनीतिक विचारों की अविच्छिन्न परम्परा मिलती है। प्राचीन राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **कानून की सर्वोच्च सत्ता**—इसका यह अभिप्राय है कि राज्य में राजा या किसी व्यक्ति की इच्छा द्वारा शासन नहीं होना चाहिए, अपितु धर्म या कानून के नियमों से शासन किया जाना चाहिए। जो राजा धर्म का पालन नहीं करता है, उसकी प्रजा को शास्त्रकारों ने उसके विरुद्ध विद्रोह करने का और उसे गद्दी सेउतारने का अधिकार दिया है।

(२) **मनुष्य की प्रवृत्ति**—प्राचीन भारतीय विचारक मनुष्यों को स्वाभाविक रूप से स्वार्थी, दुष्ट, दूसरों के अधिकारों का अपहरण करने वाला समझते थे। मनु ने लिखा है कि शुद्ध आचरण वाला व्यक्ति बड़ी कठिनाई से मिलता है।

(३) **दण्ड की शक्ति का सिद्धान्त**—भारतीय विचारधारा के अनुसार अराजकता की दशा दूर करने और सब प्राणियों की रक्षा के लिए ईश्वर ने दण्ड की व्यवस्था का निर्माण किया था। राजा दण्ड-शक्ति के प्रयोग से समाज में व्यवस्था रखता है। यदि दण्ड की व्यवस्था न हो तो समाज में सारी मर्यादाएँ और नियम टूट जाएँगे। बलवान् निर्बलों को उसी प्रकार खाने लगेंगे, जैसे जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को

खाती हैं। कौटिल्य के मतानुसार दण्ड का प्रयोग सही ढंग से करने पर समाज में व्यवस्था और शान्ति बनी रहती है। प्रजा धर्म, अर्थ और काम के पालन में लगी रहती है।

(४) **राज्य के कार्य**—ये दो प्रकार के होते थे : (क) समाज की रक्षा और राज्य की सत्ता बनाए रखने के लिए नितान्त आवश्यक कार्य जैसे विदेशी शत्रुओं के आक्रमण से देश की रक्षा, प्रजा के जान-माल का संरक्षण, देश में शान्ति और सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए पुलिस का और अपराधियों को दण्ड देने के लिए न्याय का प्रबन्ध। (ख) दूसरे प्रकार के कार्य राज्य द्वारा जनता का कल्याण करने वाले लोकहितकारी कार्य हैं, जैसे—शिक्षा का प्रबन्ध, स्वास्थ्य रक्षा, दीन, असहाय एवं अनाथों की देखरेख, व्यवसायों और उद्योगों का लोकहित की दृष्टि से संचालन और नियन्त्रण। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह पता लगता है कि राज्य दोनों प्रकार के कार्य करते थे और उस समय का आदर्श नागरिकों की सर्वांगीण उन्नति करना समझा जाता था। कल्याण राज्य (Welfare State) के आदर्श पर बल दिया जाता था। दीनदुखियों के कष्ट निवारण के लिए धर्मशालाएँ, मनुष्यों तथा पशुओं की चिकित्सा के लिए हस्पताल और गरीबों क लिए अन्नक्षेत्र खोले जाते थे।

(५) **राज्य के उद्देश्य**—वैदिक साहित्य के अनेकों वचनों से यह मालूम होता है कि राज्य के प्रधान उद्देश्य शान्ति, सुव्यवस्था, सुरक्षा और न्याय की समाज में स्थापना करना था। नागरिकों 'की नैतिक उन्नति के साथ-साथ उनकी भौतिक उन्नति तथा कल्याण करना भी राज्य का उद्देश्य था।

प्रश्न

(१) हिन्दू राजनीति के सिद्धान्त के मुख्य लक्षणों और विशेषताओं की व्याख्या कीजिए। (गोरखपुर, १६७८)

(२) कानून की सर्वोच्च सत्ता का क्या अभिप्राय है ? प्राचीन भारत में इसके महत्व पर प्रकाश डालिए।

(३) राजनीतिशास्त्र के साहित्य और इसके महत्व का उल्लेख कीजिए।

(४) दण्ड की शक्ति और स्वधर्म के सिद्धान्त का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

(५) राज्य पर धर्म का प्रभाव क्या बहुत अधिक था ? इसकी विवेचना कीजिए।

(६) राज्य के कार्यों और उद्देश्यों का परिचय दीजिए।

दूसरा अध्याय

मनु के राजनीतिक विचार

महत्व—भारत की प्राचीन विचारधारा में महर्षि मनु असाधारण महत्व रखते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार मनु मानव-जाति के आदिपुरुष थे। ऋग्वेद में बार-बार मनु को मानव-सृष्टि का प्रवर्तक और समस्त मानव-जाति का पिता कहा गया है। यह यज्ञ प्रथा का आरम्भ करने वाला तथा विश्व का प्रथम यज्ञकर्त्ता था। शतपथ ब्राह्मण (१।८।१) में दी गई एक कथा में यह बताया गया है कि जब सारी सृष्टि जल-प्रलय में नष्ट हो गई, उस समय एक नाव में बैठा हुआ मनु और इला ही बचे थे और प्रलय के बाद मनु ने मानव-वंश का विस्तार किया। पुराणों में वर्णित वंशावलियों में वैवस्वत (विवस्वान् अथवा सूर्य के पुत्र) मनु को पहला राजा माना गया है। इसका समय महाभारत के युद्ध से ९५ सीढ़ी पहले माना गया है। पाजीटर आदि पश्चिमी विद्वानों ने महाभारत का समय १४०० ई० पू० मानते हुए वैवस्वत मनु का समय ३१०० ई० पू० माना है। मनु का शासन आदर्श माना जाता है, कालिदास ने लिखा है कि रघुवंशी राजा मनु द्वारा बताई पद्धति के अनुसार शासन किया करते थे, उससे रंचमात्र भी इधर या उधर नहीं होते थे (रघुवंश १।१७)।

मनु न केवल आदिपुरुष तथा प्रथम राजा है, अपितु वह एक सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्रकार भी है। उसके द्वारा बनाई गई मनुस्मृति हजारों वर्षों से भारतीय समाज का संचालन और पथप्रदर्शन करती रही है, इसमें बताए गए नियम हिन्दू धर्म एवं समाज की आधारशिला तथा अजस्र प्रेरणा का स्रोत बने रहे हैं। वैदिक युग से भारतीय यह प्रार्थना करते रहे हैं कि वे मनु के बताए मार्ग से च्युत न हों (ऋ० ८।३०।३)। महाभारत के शान्तिपर्व (३३६।३७–४६) में यह कहा गया है कि ब्रह्मा ने धर्म पर एक लाख श्लोक लिखे और मनु ने इन धर्मों को उद्घोषित किया।[1] इन्हीं श्लोकों का आधार लेकर बृहस्पति तथा उशना ने अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया। नारदस्मृति में यह वर्णन आया है कि मनु ने एक लाख श्लोकों के धर्मशास्त्र की रचना कर इसे नारद को पढ़ाया,

---

1. यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि प्राचीन भारत में मनु नाम धारण करने वाले कई व्यक्ति हुए। इनका भेद पिता के नाम से सूचित होता है। प्राचीन साहित्य में प्रधान रूप से निम्नलिखित मनुओं का वर्णन मिलता है—

(क) विवस्वान् का पुत्र (वैवस्वत) मनु—तैत्तिरीय संहिता (३।१।९।४) में इसका वर्णन है। (ख) स्वयंभू का पुत्र (स्वायंभुव) मनु (वायु पुराण २१।२८), (ग) प्रचेतस् का पुत्र प्राचेतस मनु।

नारद ने इसे १२००० श्लोकों में संक्षिप्त करके मार्कण्डेय को पढ़ाया। मार्कण्डेय ने इसे ८००० श्लोकों में संक्षिप्त करके सुमति भार्गव को दिया और उन्होंने इसे ४००० श्लोकों में संक्षिप्त किया। वर्तमान मनुस्मृति में १६६४ श्लोक तथा १२ अध्याय हैं। इसमें यह कथा दी गई है कि ब्रह्मा से विराट् की तथा विराट् से मनु की और मनु से भृगु, नारद आदि ऋषियों की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा ने मनु को ज्ञान दिया तथा मनु ने दस ऋषियों को। जब मनु के पास कुछ ऋषि ज्ञान प्राप्त करने के लिए गए तो उन्होंने यह कहा कि यह कार्य उनके शिष्य भृगु करेंगे। इससे यह स्पष्ट है कि मनुस्मृति के प्राचीन ग्रन्थ होने पर भी उसमें अनेक संशोधन होते रहे। वर्तमान मनुस्मृति भृगु की कृति मानी जाती है। आधुनिक विद्वान् इसका समय दूसरी शताब्दी ई० पू० मानते हैं।

मनु के राज्यविषयक प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

१. राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त (Divine Theory of Kingship)—मनु ने अपने राजनीतिक विचारों में राजतन्त्र की व्यवस्था का समर्थन किया है। उसके मतानुसार राज्य की उत्पत्ति समाज में सुशासन तया व्यवस्था रखने के लिए हुई है। जिस समय कोई राजा नहीं था, उस समय चारों ओर भय और आतंक का साम्राज्य था, शक्तिशाली निर्बल लोगों के अधिकारों को हड़प रहे थे; कमजोर भयभीत एवं संत्रस्त थे, उनका कोई रक्षक नहीं था। समाज में कोई व्यवस्था और नियम नहीं था, इस अराजक व्यवस्था का अन्त करने के लिए तथा संसार की रक्षा के लिए भगवान् ने राजा की रचना की (अ० ७।३, रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः)।

राज्य की उत्पत्ति का उपर्युक्त प्रयोजन बताने के बाद मनु ने भगवान् द्वारा राजा की उत्पत्ति के प्रकार और पद्धति का विस्तृत उल्लेख किया है। भगवान् ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर नामक आठ देवताओं के शाश्वत अथवा स्थायी एवं सारभूत गुणों को निकालकर राजा का सृजन किया। इन देवताओं के विशिष्ट तत्वों से राजा के निर्माण का यह अभिप्राय है कि उसमें शासन करने के लिए इन विशिष्ट देवताओं के गुण होने चाहिएँ। इन्द्र देवताओं का राजा, सेनानी, असुरों के साथ संघर्ष करने वाला तथा उन पर विजय पाने वाला है, इसी प्रकार राजा मनुष्यों का स्वामी, नेता तथा अपनी प्रजा को शत्रुओं के साथ संघर्ष में विजय दिलाने वाला है। वायु जिस प्रकार हमारे लिए अत्यन्त कल्याणकारी और जीवन धारण कराने के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार सामाजिक जीवन के लिए राजा की सत्ता अनिवार्य है। यम परलोक में पापियों को दण्ड देने वाला है, राजा अपने राज्य में अपराध करने वालों को दण्ड देकर सुशासन और व्यवस्था बनाए रखता है। सूर्य और अग्नि दिन में और रात में मनुष्य को प्रकाश देने वाले तथा उनके विभिन्न प्रयोजन पूरा करने वाले हैं, राजा शिक्षा की व्यवस्था द्वारा प्रजा को प्रकाश देता है तथा उनकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। वैदिक युग में वरुण समाज में नैतिक व्यवस्था का प्रतीक और इसे समाज में स्थापित करने वाला तथा इसका उल्लंघन करने वालों को अपने पाश में बाँधकर दण्ड देने वाला था, राजा भी इसी प्रकार समाज में नैतिक नियमों को तोड़ने वाले व्यक्तियों को दण्ड देकर प्रजा से धर्म का पालन कराता है। चन्द्र का प्रधान कार्य

आह्लाद एवं प्रसन्नता देना है, रात्रि के घनान्धकार का भेदन करके वह हमें अपनी मनोरम, स्निग्धचन्द्रिका से अद्भुत आनन्द और शान्ति प्रदान करता है, इसी प्रकार राजा का कार्य न्याय-व्यवस्था, सुशासन, प्रजापालन आदि के कार्यों द्वारा लोगों को प्रसन्नता प्रदान करना है। कुबेर धन का स्वामी और समृद्धि का प्रतीक है, राजा अपने स्वशासन तथा विभिन्न प्रकार की योजनाओं द्वारा प्रजा को समृद्ध बनाता है, उसकी दरिद्रता के दुःख को दूर करता है। **इस प्रकार आठ देवताओं के विशिष्ट कार्यों को करने के कारण मनु ने यह माना है कि भगवान् ने राजा की उत्पत्ति आठ देवताओं के विशिष्ट अंशों को लेकर की है।** इससे यह स्पष्ट है कि राजा देवता नहीं, किन्तु आठ देवताओं के उत्कृष्ट अंशों के समुच्चय से बने होने के कारण वह इनमें से प्रत्येक देवता से महान् है। वह एक विशिष्ट देवता है, क्योंकि वह आठ प्रमुख देवताओं के तत्वों को धारण करता है। इसीलिए मनु राजा के पद को परम पवित्र मानते हैं, उनका यह कहना है कि राजा चाहे बालक ही क्यों न हो, उसका कभी अनादर नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य के रूप में पृथिवीतल पर एक महान् देवता के रूप में विचरण करता है, उसका अपमान करना देवता का अपमान करना है।[1]

मनु द्वारा प्रतिपादित राजा के दैवी सिद्धान्त की तुलना प्रायः पश्चिमी विचारकों द्वारा प्रतिपादित दैवी सिद्धान्त (Divine Theory of Kingship) से की जाती है। वस्तुतः दोनों में बड़ा महत्वपूर्ण अन्तर है। पश्चिमी विचारक राजा को इस संसार में भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में निरंकुश शासक समझा करते थे। फ्रांस का राजा लुई चौदहवाँ कहा करता था—"राज्य क्या है ? मैं ही राज्य हूँ। मेरी इच्छा ही कानून है। मैं इस धरती पर भगवान् का प्रतिनिधि बनकर शासन करता हूँ।" इस सिद्धान्त के अनुसार राजा को शासन करने के निरंकुश अधिकार प्राप्त थे, प्रजा उसके कुशासन और अत्याचारों के विरुद्ध आवाज नहीं उठा सकती थी। उस समय कहा जाता था कि जिस प्रकार मनुष्य भगवान् द्वारा दिए वरदानों को तथा प्लेग, महामारी, आँधी, तूफान आदि अभिशापों को दैवीय व्यवस्था समझकर स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार उन्हें बुरे तथा अत्याचारी राजाओं का शासन भी भगवान् का प्रसाद समझकर ग्रहण करना चाहिए। मनु ने राजा को देवता बनाते हुए भी धर्म और दण्ड को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है, अतः यहाँ मनु के मतानुसार धर्म और दण्ड का स्वरूप बताया जाएगा।

२. धर्म—प्लेटो की भाँति मनु आदि भारतीय धर्मशास्त्रकारों का यह मत है कि राज्य के एवं प्राणिमात्र के कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि समाज में सब व्यक्ति अपने निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन करें, इसी को धर्म का नाम दिया गया है। जब तक सब व्यक्ति अपने-अपने धर्म के पालन में संलग्न रहते हैं, इसका उल्लंघन नहीं करते हैं, तब तक समाज में सुख और शान्ति बनी रहती है। सब मनुष्यों को अपने धर्म का पालन करते हुए अपने परम लक्ष्य—मोक्ष की प्राप्ति की ओर अग्रसर होना चाहिए, इसी

---

1. मनुस्मृति ७।८

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

प्रकार मनुष्य अनन्त सुख का उपभोग कर सकते हैं। मनु ने इस प्रसंग में धर्म शब्द का प्रयोग वर्तमान समय की भाँति ईसाइयत, इस्लाम आदि किसी विशिष्ट धार्मिक पद्धति या विश्वास के संकीर्ण अर्थ में नहीं किया। उनके धर्म का अर्थ और स्वरूप अत्यन्त विशाल और व्यापक है। मनु के मतानुसार धर्म शब्द धारण करने का अर्थ देने वाली संस्कृत की धृ धातु से बना है और इसका अभिप्राय उन सब गुणों, तत्वों, नियमों और व्यवस्थाओं से है, जिनके आधार पर यह समूचा जड़ और चेतन जगत् संचालित और व्यवस्थित होता है और जिनके आधार पर यह टिका हुआ है। प्रत्येक वस्तु को विशिष्ट स्वरूप प्रदान करने वाले गुण उसके धर्म हैं। उदाहरणार्थ, कमल के फूल का वास्तविक स्वरूप उसकी सुन्दरता, सुगन्ध और कोमलता में निहित है, ये तीनों उसके विशिष्ट धर्म हैं, यदि ये उसमें न रहें तो उसका कमलत्व नष्ट हो जाएगा। इन तीनों धर्मों को उससे पृथक् कर लिया जाए तो उसका अस्तित्व नष्ट हो जाएगा। अग्नि का धर्म उष्णता और प्रकाश हैं, यदि इन दोनों को उससे अलग किया जाए तो वह समाप्त हो जाएगी। इसी प्रकार प्राणिमात्र के जीवन का ध्येय शास्त्रों में बताए अपने विशेष धर्म का पालन करना है। यदि सब व्यक्ति अपने धर्मों के पालन की उपेक्षा करेंगे तो समाज में अव्यवस्था मच जाएगी। अतः प्राणिमात्र का यह कर्त्तव्य है कि वह स्वधर्म-पालन द्वारा समाज में सुव्यवस्था रखे। राजा दण्ड के द्वारा सब मनुष्यों को स्वधर्मपालन के कार्यों में लगाता है तथा सन्मार्ग से च्युत नहीं होने देता है।

३. दण्ड---मनुष्यों में दैवी तथा आसुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। दैवी प्रवृत्तियाँ उसे शान्त, उत्तम तथा दूसरे के अधिकारों का ध्यान रखने वाली, दूसरों को सुख पहुँचाने की दिशा में कार्य करने के लिए प्रेरित करती हैं। आसुरी प्रवृत्तियाँ उसे अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए दूसरों का ध्यान न रखने तथा दूसरों के न्याय्य अधिकारों को हड़पने के लिए प्रोत्साहित करती हैं, अतः ये समाज में उद्वेग, अशान्ति, असन्तोष और अव्यवस्था को उत्पन्न करने वाली हैं। मनुष्य के लिए इनका आकर्षण दैवी प्रवृत्तियों की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है। ये मनुष्य में विकार उत्पन्न करती हैं और वह अपने धर्मपालन में प्रमाद करने लगता है। अतः मनु स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि मानव-समाज में धर्म का पालन करने वाला, शुद्ध आचरण करने वाला मनुष्य दुर्लभ है (दुर्लभो हि शुचिर्नरः ७।२२)।

अतः मनुष्यों का आचरण शुद्ध बनाने के लिए, उन्हें स्वधर्मपालन के मार्ग पर चलने को विवश करने के लिए दण्ड-शक्ति की आवश्यकता है, इसीलिए भगवान् ने दण्ड की सृष्टि की है और उसका प्रयोग करने के लिए राजा को बनाया है। मनु के मतानुसार दण्ड सब प्राणियों का रक्षक, ब्रह्मतेज से युक्त तथा धर्म का पुत्र है, उसका सृजन ईश्वर ने किया है (७।१४)। दण्ड सम्पूर्ण प्रजा को अनुशासन में रखने वाला, उन्हें धर्मपालन के लिए बाधित करने वाला, प्राणियों के सो जाने पर भी उनकी रक्षा करने वाला, देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पशु-पक्षी, सर्प आदि सभी प्राणियों को उनके अनुकूल भोग की व्यवस्था करने वाला (७।२३) तथा समाज में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना करने वाला है। यदि समाज में दण्ड की व्यवस्था न रहे तो लोग अधर्माचरण में संलग्न होकर अपने कर्त्तव्य भूल जाते हैं तथा सब मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं, किन्तु इस

दण्ड का प्रयोग मनमाने ढंग से नहीं होना चाहिए, दोषी को दोष की मात्रा के अनुसार ही दण्ड मिलना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो समाज में असन्तोष और उद्वेग उत्पन्न होगा, समाज की शान्ति और सुरक्षा नष्ट हो जाएगी। दण्ड का प्रयोग ठीक प्रकार करने से ही राज्य में धर्म की स्थापना होती है तथा सुचारु व्यवस्था बनी रहती है। इसे बनाए रखना राजा का कर्त्तव्य है।

आदर्श राजा की विशेषताएँ और स्वरूप—धर्म को समाज में बनाए रखने के लिए दण्ड की आवश्यकता है और दण्ड का ठीक ढंग से प्रयोग करने के लिए राजा आवश्यक है। किन्तु इसका प्रयोग प्रत्येक राजा नहीं कर सकता, इसके लिए उसमें कई विशेषताओं का होना आवश्यक था। मनु के शब्दों में सब बातों पर विचार करके, सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त किया गया दण्ड प्राणिमात्र के कल्याण का हेतु होता है, किन्तु यदि इसका प्रयोग अविचारपूर्ण रीति से किया जाता है तो यह सब प्राणियों का विनाश करने वाला होता है (७।१९)। अतः मनु ने यह कहा है कि राजा को देश, काल, शक्ति और विद्यादि सब बातों पर भलीभाँति विचार करके अन्याय करने वाले अपराधी मनुष्यों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड देना चाहिए। दण्ड देने वाले राजा की विशेषताओं का वर्णन करते हुए मनु ने कहा है कि इसका प्रयोग ऐसे राजा को करना चाहिए जो सत्यवादी हो, गुण-दोष की, सम्यक् परीक्षा करने की सामर्थ्य रखता हो, बुद्धिमान् तथा धर्म एवं काम के वास्तविक रहस्यों को जानने वाला हो (७।२६)। एक अन्य श्लोक (७।३१) में उसने कहा है कि शुद्ध आचरण वाले(शुचि), सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार आचरण रखने वाले, उत्तम सहायकों वाले बुद्धिमान् राजा के द्वारा दण्ड का प्रयोग किया जा सकता है।

इस प्रकार मनु के मत में राजा धर्म की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए दण्ड का प्रयोग करता है। वह अपनी राजकीय शक्ति का उपयोग स्वच्छन्दतापूर्वक मनमाने ढंग से नहीं कर सकता, अपितु दण्ड देने के लिए धर्म के नियमों का पालन करने के लिए बाधित है, यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसका विनाश निश्चित है। मनु के शब्दों में, दण्ड बढ़े तेज वाला है, शास्त्रोक्त संस्कारों से रहित व्यक्ति दण्ड को धारण नहीं कर सकते हैं। यदि राजधर्म के विपरीत आचरण करने वाला व्यक्ति दण्ड को धारण कर लेता है तो इस प्रकार प्रयुक्त किया गया दण्ड धर्म से च्युत होने वाले राजा को उसके बन्धुबान्धवों सहित नष्ट कर देता है (७।२८)।

इससे यह स्पष्ट है कि राजा के निरंकुश एवं मनमाने शासन पर मनु कई प्रकार के अंकुश लगाता है। राजा यद्यपि आठ देवताओं के उत्कृष्ट अंशों से बना है और महान् देवता है, तथापि उस पर सबसे बड़ा अंकुश धर्म का है, उसका यह धर्म या कर्त्तव्य है कि वह धर्मशास्त्रों में बताए गए नियमों के अनुसार शासन करे। वह इन नियमों का निर्माता नहीं है और न ही वह इनमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन, संशोधन या परिवर्द्धन कर सकता है, अतः **राज्य में सर्वोपरि स्थान राजा का नहीं, अपितु धर्म का है।** वह राज्य में धर्म का पालन करने के लिए दण्ड का प्रयोग धर्मानुसार करने के लिए बाधित है ; अतः मनुस्मृति में प्रतिपादित राजा दैवी अंश सम्पन्न होता हुआ भी निरंकुश अधिकारों का प्रयोग करने वाला नहीं, अपितु धार्मिक नियमों के बन्धन से

बँधा हुआ राजा है।

राजा का व्रत—मनु ने राजा के विभिन्न व्रतों का वर्णन किया है और ये उसकी स्वेच्छाचारिता पर एक प्रबल अंकुश थे। व्रत का सामान्य अर्थ दृढ़ संकल्प तथा धार्मिक भावना के साथ किसी स्वीकार किए हुए कार्य को पूरा करना है। मनु (९।३०३–१०) राजा द्वारा इन्द्र, अर्क, मरुत, यम, वरुण, चन्द्र तथा अग्नि के व्रतों का पालन करने पर बल देता है और इनका स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहता है कि जैसे इन्द्र वर्षा के चार मास अच्छी वर्षा करता है, वैसे ही इन्द्रव्रत रखता हुआ राजा राष्ट्र पर कामनाओं की वृष्टि करे। जैसे सूर्य आठ मास तक किरणों द्वारा जल लेता है, वैसे ही राजा राष्ट्र से कर लेवे, यह उत्तम सूर्यव्रत या अर्कव्रत है। सब पदार्थों में प्रविष्ट होकर जैसे-जैसे वायु विचरता है, वैसे ही राजा को गुप्तचरों के द्वारा सारी प्रजा में प्रविष्ट होना चाहिए, यह मारुतव्रत है। जैसे यम समय आने पर प्रिय-अप्रिय सभी को नियन्त्रित करता है, वैसे ही राजा सबका नियन्त्रण करे, यह यमव्रत है। जैसे समूचा विश्व वरुण के पाशों से बँधा दिखाई देता है, वैसे ही राजा सब पापियों को दण्ड दे, यह वरुणव्रत है। जैसे पूर्णचन्द्र को देखकर मनुष्य प्रसन्न होते हैं, वैसे जिससे सब प्रजाएँ प्रसन्न हों वह चन्द्रव्रत है। राजा पापियों पर प्रतापयुक्त और नित्यतेजस्वी हो तथा दुष्ट सामन्तों का घातक हो, यह अग्निव्रत है। इस प्रकार मनु ने राजा के प्रजापालन, दुष्ट अपराधियों के दमन आदि कार्यों को व्रत का रूप देकर राजा के कार्यों का पालन करना आवश्यक बना दिया है। उसके मतानुसार राजा के देवता होने का यही अभिप्राय है कि वह इन देवताओं के कार्यों या व्रतों को पूरा करे।

मन्त्रिपरिषद्—मनु का यह विश्वास है कि अकेला मनुष्य सुगम कार्य करने में भी समर्थ नहीं हो सकता है, फिर राजा सहायता के बिना राज्य के महान् कार्य को अकेले कैसे कर सकता है (७।५५), अतः राजा को शासन-कार्य में सलाह अथवा मन्त्रणा लेने के लिए मन्त्रियों की एक परिषद् बनानी चाहिए। एक व्यक्ति में सब बातें जान लेने की सामर्थ्य भी नहीं होती है, विभिन्न पुरुषों में बुद्धि की प्रखरता और वैभव भिन्न प्रकार का होता है। अतः राजा को शासनविषयक मामलों में किसी एक व्यक्ति से नहीं, अपितु अनेक विषयों के विशेषज्ञों से परामर्श लेना चाहिए। यह सम्भव नहीं है कि समस्याओं के उत्पन्न होने पर इन विषयों के विशेषज्ञों की खोज करके उनसे परामर्श लिया जाए, अतः राजा स्थायी रूप से ऐसे व्यक्तियों से मन्त्रणा करने के लिए मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करता है।

मनुस्मृति में मन्त्रिपरिषद् में **मन्त्रियों की संख्या** के बारे में कुछ निर्देश दिए गए हैं। इस सम्बन्ध में मनु ने दो प्रकार के मत प्रकट किए हैं: पहला मत यह है कि मन्त्रियों की संख्या सात या आठ होनी चाहिए (७।५४)। दूसरा मत यह है कि राजा को मन्त्रिपरिषद् में उतने ही सदस्य रखना उचित होगा, जितने सदस्यों से शासन-कार्य अच्छी तरह चलाया जा सके (७।६१)। इस व्यवस्था के अनुसार मन्त्रियों की संख्या शासन-कार्य की गुरुता और लघुता के अनुसार अधिक या कम होती रहनी चाहिए।

मन्त्री की सामान्य योग्यताएँ

मन्त्रिपरिषद् का सदस्य किन व्यक्तियों को बनाया जाए और **इनकी योग्यताएँ** क्या होनी चाहिएँ, इस सम्बन्ध में मनु ने पहले तो इनकी सामान्य योग्यताओं का उल्लेख किया है। उसके मतानुसार इनमें पाँच विशेषताएँ होनी चाहिएँ[1]—

(१) **मौल होना अर्थात् पिता-दादा के समय से राजा की सेवा में लगा होना।** ऐसे व्यक्तियों को वंशपरम्परागत सेवक होने के कारण राजा से और राज्य से अगाध एवं स्वाभाविक स्नेह हो जाता है, वे जिस प्रगाढ़ भक्ति, अनुराग और तत्परता से राजा की सेवा करते हैं, वैसी सेवा नवीन सेवकों से सम्भव नहीं है।

(२) **शास्त्रों का ज्ञान**—भारत के शिक्षामन्त्री डॉ० त्रिगुणसेन ने १९६७ के चुनावों के बाद अपना मन्त्रिमण्डल बनाए रखने के लिए किसी भी शिक्षित, अशिक्षित समर्थक को मन्त्री बनाने की प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए लिखा था—"इस समय निरक्षर व्यक्ति भी शिक्षामन्त्री हो सकता है"। किन्तु मनु मन्त्रियों के लिए शिक्षा और शास्त्रों का ज्ञान आवश्यक समझता है। शास्त्रों के ज्ञान से मनु का अभिप्राय धर्म, अर्थ, काम के तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति में सहायक धर्मशास्त्रों, अर्थशास्त्रों और कामशास्त्रों के गम्भीर ज्ञान से है। यदि इनको शास्त्रों का ज्ञान नहीं होगा तो ये राजा को शासन सम्बन्धी विभिन्न विषयों में कोई ठीक मन्त्रणा या सहायता नहीं दे सकेंगे, इनसे राज्य एवं प्रजा का कोई कल्याण नहीं हो सकेगा। अतः मनु ने मन्त्रिपरिषद् की सदस्यता के लिए शास्त्रों के ज्ञान को एक आवश्यक शर्त माना है।

(३) **शूरता**—मन्त्रिपद की तीसरी शर्त शूरवीर होना है। इसका अभिप्राय केवल यही नहीं है कि वे लड़ाई में शत्रु का डटकर मुकाबला करें और हिम्मत नहीं हारें, अपितु राज्य के कार्यों में उत्पन्न होने वाली सभी गम्भीर समस्याओं और संकटों का सामना बड़ी शान्ति, धैर्य, विवेक, दृढ़ता और स्थिर बुद्धि से करें, बड़े-से-बड़े तूफान में भी अपने कर्त्तव्यपथ पर निश्चल और अडिग बने रहें, तनिक भी संकट आने पर अपना विवेक, धैर्य और साहस खो बैठने वाले व्यक्ति शासन का कार्य कभी सुचारु रीति से नहीं कर सकते हैं। अतः मनु के मत में शूरवीर पुरुषों को ही मन्त्री बनाना चाहिए।

(४) **चौथी विशेषता अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का सामर्थ्य है।** मन्त्रियों का कार्य राज्य के साथ मिलकर प्रजा के हित एवं लोककल्याण के महत्वपूर्ण कार्य एवं लक्ष्य पूरे करना है। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अनेक योजनाएँ बनानी एवं क्रियान्वित करनी पड़ती हैं। योजनाओं को बनाना आसान है, किन्तु इनको पूरा करना बहुत कठिन है, इनमें अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं, अधिकांश व्यक्ति इनसे हताश होकर अपनी योजनाएँ अधूरी छोड़ देते हैं, क्योंकि उनमें इन विघ्नों को दूर करने का तथा अपने लक्ष्य तक पहुँचने का दृढ़ संकल्प और शक्ति नहीं होती। ऐसे व्यक्ति प्रजाहित

---

1. मनुस्मृति ७।५४

मौलान् शास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्ष्यान्कुलोद्गतान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥

क कठिन कार्य को कभी सम्पन्न नहीं कर सकते, अतः मनु ने यह कहा है कि मन्त्री ऐसे व्यक्तियों को ही बनाना चाहिए जो राजा के तथा राज्य के निर्धारित लक्ष्यों तक पहुँचने का पूरा सामर्थ्य, शक्ति और दृढ़ संकल्प रखने वाले हों, वे कोरी योजनाएँ बनाने वाले, गप्पें हाँकने वाले, मीठी-मीठी बातों से जनता और राजा को भुलावा देने वाले न हों, अपितु अपनी योजनाओं को क्रियात्मक रूप देने वाले, अपने उद्देश्यों को पूरा करके दिखाने वाले हों।

(५) **पाँचवीं विशेषता कुलीनता या उच्च कुल में जन्म लेना है**। इसे प्राचीन काल में बड़ा महत्व दिया जाता था। यह माना जाता था कि कुलीन वंश में जन्म लेने वाला व्यक्ति अपने वंश के वातावरण एवं परम्पराओं से अनायास ही बहुत अच्छे गुण सीख लेता है, उसमें समयानुसार यथोचित व्यवहार करने की कुशलता, सब प्रकार के लोगों से व्यवहार का ढंग, विनम्रता, सुशीलता, संयम, शुचिता, अपने कुल के उच्च आदर्शों को बनाए रखना, 'रघुकुल रीति सदा चली आई। प्राण जाय अरु वचन न जाई' जैसी रीतियों को निबाहने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। आजकल जिन कारणों से पब्लिक स्कूलों में पढ़े विद्यार्थियों को उत्तम समझा जाने की प्रवृत्ति समाज में पाई जाती है, उसी प्रकार की धारणा प्राचीन काल में उच्च कुल में उत्पन्न होने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में थी। इनको अनेक उच्च गुणों से सम्पन्न समझा जाता था और ऐसे गुणों वाले व्यक्ति को मन्त्रिपद के योग्य माना जाता था।

(६) **छठी विशेषता मन्त्रियों का सुपरीक्षित होना था**। आजकल उच्च सरकारी पदों के लिए प्रतियोगिता परीक्षाओं (Competitive Examinations) की पद्धति प्रचलित है। प्राचीन काल में ऐसी पद्धति का प्रचलन नहीं था। इस समय ये परीक्षाएँ सचिव (Secretary) स्तर तक के कर्मचारियों के लिए ही होती हैं, मन्त्रियों के लिए ऐसी कोई परीक्षा नहीं होती। किन्तु मनु ने मन्त्रियों के लिए भी परीक्षित होने की व्यवस्था की है। मनुस्मृति ने इस परीक्षा के स्वरूप पर अधिक प्रकाश नहीं डाला है, किन्तु कौटिलीय अर्थशास्त्र इस पर प्रकाश डालता है। इसका वर्णन आगे पृ० ३३ पर होगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इन परीक्षाओं को **उपधा** कहा जाता था, इसका उद्देश्य मन्त्रियों के आचरण एवं चरित्र की जाँच करना तथा यह देखना होता था कि वे विभिन्न प्रकार के व्यसनों और बुराइयों का शिकार तो नहीं बनते हैं, प्रलोभनों के वशीभूत नहीं होते हैं, भ्रष्टाचारी और दुश्चरित्र नहीं हैं। मनु इस प्रकार विभिन्न परीक्षाओं या उपधाओं से परखे हुए सच्चरित्र, प्रलोभनों का आकर्षण संवरण करने वाले, भ्रष्टाचार से ऊपर उठे हुए व्यक्तियों को ही मन्त्री बनाने की व्यवस्था करता है।

मन्त्रियों की सामान्य योग्यताओं का वर्णन करने के बाद मनु विभिन्न विभागों को संभालने वाले मन्त्रियों की **विशेष योग्यताओं** का वर्णन करता है। उसके मतानुसार शूर, दक्ष और कुलीन व्यक्तियों को अर्थ-विभाग (Finance Department), शुद्ध आचरण वाले सदस्यों को खानों का विभाग, धर्मभीरु लोगों को अन्तर्निवेश या अन्तःपुर का विभाग (Department of Ladies Apartment), सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता, आकार एवं चेष्टाओं से मनुष्य के हृदय के भाव को जानने वाले, अन्तःकरण से शुद्ध,

चतुर एवं कुलीन व्यक्ति को दूत अथवा परराष्ट्र विभाग का कार्य सौंपना चाहिए।

प्रशासन की व्यवस्था—मनु ने राजा द्वारा शासन करने की व्यवस्था का उल्लेख करते हुए कहा है (७।११४--२४) कि वह दो, तीन, पाँच और सौ गाँवों के बीच में अपने थाने (गुल्म, राजस्थान) तथा योग्य कर्मचारी शान्ति एवं सुरक्षा के लिए स्थापित करे। कर वसूली के लिए एक गाँव में एक मुखिया, दस गाँवों पर एक दूसरा कर्मचारी, बीस गाँवों पर तीसरा तथा इन्हीं सौ गाँवों पर चौथा और हजार गाँवों पर पाँचवाँ अधिकारी रखे। यह वर्तमान समय में प्रचलित लेखपाल या पटवारी, कानूनगो तथा तहसीलदार जैसी व्यवस्था सूचित करती है। इनमें एक ग्राम का मुखिया अपने क्षेत्र में होने वाली दैनिक घटनाओं, अपराधों (दोषों) की रिपोर्ट दस गाँवों के अधिकारी को, वह बीस गाँवों के अधिपति (विंशतीश) को, वह सौ गाँवों के अधिपति (शतेश) को और वह हजार गाँवों के अध्यक्ष (सहस्रपति) को दे और इस प्रकार निचले अधिकारियों से उपरले अधिकारियों को तथा उनसे राजा को राज्य में होने वाली सब घटनाओं की सूचना मिलती रहे। ये अधिकारी आदर्श न्याय और शान्ति स्थापना के सभी कार्य किया करते थे। गाँवों के अधिकारियों के सभी कार्यों की देखभाल करने के लिए एक पृथक् मन्त्री होना चाहिए।

गाँवों के प्रशासन के बाद मनु ने नगरों के प्रशासन का वर्णन किया है। प्रत्येक नगर में न्याय, प्रशासन, पुलिस आदि के सभी कार्यों पर विचार करने वाला (सर्वार्थचिन्तक) एक अधिकारी होना चाहिए। राजा को दौरे करके तथा गुप्तचरों द्वारा सब सरकारी कर्मचारियों के कार्यों पर पूरा नियन्त्रण रखना चाहिए। इस विषय में मनु ने एक महत्वपूर्ण बात कही है कि राजकर्मचारी प्रायः दूसरों की सम्पत्ति हड़पने वाले और धूर्त्त होते हैं, राजा को इनसे अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। जो सरकारी कर्मचारी कार्य कराने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों से द्रव्य अथवा घूस लेते हैं, ऐसे रिश्वतखोर कर्मचारियों का सर्वस्व छीनकर राजा को उन्हें अपने राज्य से बाहर निकाल देना चाहिए।[1] शासन में मनु की सामान्य नीति यह है कि राजा को वर्णाश्रम धर्म के पालन, प्रजा की रक्षा और पालन के कार्य तथा सरकारी कर्मचारियों के कामों पर कड़ी देखभाल रखनी चाहिए और शेष सभी कार्य स्थानीय संस्थाओं द्वारा किए जाने चाहिएँ।

कर-ग्रहण—मनु ने प्रजा से थोड़ी मात्रा में ही कर लेने की व्यवस्था की है। इस विषय में उसने जोंक, बछड़े और भौंरे के दृष्टान्त दिए हैं। जैसे भौंरा सब फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण करता है, इसी प्रकार राजा को प्रजाजनों से अल्प मात्रा में ही कर लेना चाहिए। अत्यधिक लोभ से अपने व दूसरों के सुख के मूल को नष्ट न करे, क्योंकि जो ऐसा करता है वह अपनी जड़ काटता है और अपने प्रजाजनों को कष्ट पहुँचाता है। पशु

---

1. मनुस्मृति ७।१२३-२४

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः।
ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम्॥

और सुवण के लाभ का पचासवाँ हिस्सा, धान्य का आठवाँ, छठा या बारहवाँ हिस्सा राजा को ग्रहण करना चाहिए। वृक्ष, माँस, मधु, घृत, गन्ध, औषधि, रस, पुष्प, मूल, फल, पत्र, शाक, तृण, चर्म, मिट्टी तथा पत्थर की वस्तुओं की आय का छठा भाग लेना चाहिए। व्यापार करने वालों से थोड़ा-सा वार्षिक कर लेना चाहिए। लुहार, बढई आदि से कर के बदले राजा को काम कराना चाहिए। जो राजा कार्य को देखकर कठोर और कोमल होता है वह दुष्टों पर अति तीक्ष्ण और साधु पुरुषों पर कोमल रहने के कारण अतीव माननीय होता है। इस प्रकार राजा राज्य का सब प्रबन्ध करके इसमें प्रमाद रहित होकर कार्य करता हुआ अपनी प्रजा का पालन करे। भृत्यों सहित जिस राजा के राज्य में दुष्ट लोग रोती, विलाप करती प्रजा के मान-माल का अपहरण करते हैं, वह राजा जीता नहीं, किन्तु मरा हुआ है। प्रजा का पालन करना राज्य का परम धर्म है।[1]

मनु की देन और महत्व—(१) भारतीय राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में मनु की सबसे बड़ी देन इस विषय के विस्तृत और व्यवस्थित विवेचन का श्रीगणेश करना है। आधुनिक विद्वान् वर्तमान मनुस्मृति को दूसरी शताब्दी ई० पू० में शुंगवंश के समय में सुमति भार्गव द्वारा लिखी गई रचना समझते हैं। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने ऐसा मत प्रकट किया था, किन्तु वे भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि वर्तमान मनुस्मृति का आधार प्राचीन परम्परा है और महाभारत के अनुसार राजनीतिक चिन्तन को आरम्भ करने का श्रेय प्रचेता के पुत्र प्राचेतस मनु को दिया गया है।

(२) **इसकी दूसरी देन यह है कि मनु अरस्तू की भाँति राज्य को उत्तम जीवन बिताने का साधन समझता है।** कुछ अंशों में इस क्षेत्र में मनु अरस्तू से आगे बढ़ा हुआ है। अरस्तू ने उत्तम जीवन की दृष्टि भौतिक जगत् तक सीमित रखी है; मनु इह-लोक में उच्च जीवन बिताने के साथ परलोक में भी उत्तम जीवन का महत्व मानता है और इसलिए धर्म के तत्व पर बहुत बल देता है। उसके लिए मनुष्य की सब क्रियाएँ—तीनों पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ और काम तथा चौथे पुरुषार्थ—मोक्ष को प्राप्त करने के लिए हैं। वह अधर्म पर धर्म की, असत्य पर सत्य की तथा अन्याय पर न्याय की विजय को बल देता है। वह मेकियावेली जैसे किसी भी नीतिविरुद्ध, अधार्मिक, कपटपूर्ण और अन्यायमूलक उपाय से राज्य की सफलता और वृद्धि करने का समर्थन नहीं करता।

(३) **मनु की तीसरी देन शिक्षा पर बल देना है।** उसके मत में मनुष्य की उन्नति उसे मनुष्य बनाने से, शिक्षा द्वारा उसे अपने कर्त्तव्यों का बोध कराने से, उसकी आसुरी प्रवृत्तियों का परिष्कार करके उसे दैवीय बनाने तथा ऊँचा उठाने से हो सकती है। वह यह चाहता है कि मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से ऊँचे उठें, अपनी सत्ता और शक्ति का प्रयोग अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए नहीं, किन्तु मानव-समाज के कल्याण एवं लोकहित के लिए करें।

(४) **मनु की चौथी देन स्वधर्म-पालन तथा अपने कर्त्तव्यों पर बल देने की है।**

1. मनुस्मृति ७।१४४
क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।

पश्चिमी जगत् के सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री जस्टीनियन ने बड़े गर्व से यह कहा था कि उसने ऐसी कानूनी पद्धति का प्रतिपादन किया है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को उसके अधिकार प्राप्त हो सकेंगे। इसके सर्वथा विपरीत मनु ने ऐसी कानूनी पद्धति का तथा राज-धर्म का वर्णन किया है, जिसमें सब वर्गों के व्यक्तियों के लिए अपने कर्त्तव्यों का पालन करने पर बहुत बल दिया गया है। राज्य के क्षेत्र में राजा का कर्त्तव्य प्रजा का पालन, अपराधियों को दण्ड देना, प्रजा को सुखी और सन्तुष्ट बनाना है।

(५) **मनु की पाँचवीं देन उसका न्यायपद्धति का विशद प्रतिपादन, साक्षियों का विवेचन तथा राज्यविषयक उदात्त आदर्श हैं।** उसने राजा के जीवन को सब प्रकार के व्यसनों से मुक्त करके निरन्तर प्रजा की सेवा में लगाने का वर्णन किया है। उसने राजा के जिन व्रतों की कल्पना की है, वे बड़े उदात्त और भव्य हैं और राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसकी एक निराली देन हैं।

मनुस्मृति का प्रभाव—भारतीय समाज पर मनुस्मृति का अद्वितीय प्रभाव पड़ा है। यह हिन्दुओं का पवित्र धर्मग्रन्थ ही नहीं है, अपितु इसकी व्यवस्थाएँ हजारों वर्ष तक उनके समूचे धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन के सभी पहलुओं में व्याप्त रही हैं, उसे प्रेरणा और गति प्रदान करती रही हैं। मनुस्मृति हिन्दू जाति की नस-नस में, नाड़ी-नाड़ी में और रोम-रोम में बसी हुई है। संसार में बहुत कम ग्रन्थों का किसी जनता के जीवन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा है। इसका प्रभाव न केवल भारत में पड़ा है, अपितु प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति को भारत से बाहर दक्षिण-पूर्वी एशिया आदि के जिन देशों में भारतीय ले गए, वहाँ भी इसका प्रभाव पड़ा है। भारतीय विदेशों में जाते हुए अपने साथ मनुस्मृति को भी ले गए। सैकड़ों वर्षों तक वर्मा के सामाजिक जीवन का संचालन मनुस्मृति पर आधारित धम्मतत्तों (धर्मतत्वों) से होता रहा है। बालि के टापू में आज तक मनु की पूजा और प्रतिष्ठा होती है। चम्पा (वीतनाम) तथा कम्बुज (कम्बोडिया) के प्राचीन शिलालेखों में मनुस्मृति के कई श्लोक पाए जाते हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि भारत से बाहर बृहत्तर भारत के देशों में भी मनुस्मृति का अध्ययन होता था और यह वहाँ के सामाजिक जीवन और आदर्शों को प्रभावित करती थी। मनु की व्यवस्थाएँ सार्वभौम एवं शाश्वत सत्यों के आधार पर सुप्रतिष्ठित होने के कारण इस समय भी अपना विशिष्ट महत्व एवं स्थान रखती हैं।

सारांश

मनु भारत की प्राचीन विचारधारा में बड़ा महत्व रखते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार वे मानव-जाति के प्रवर्तक और प्रथम पुरुष थे। उनके द्वारा बनाई गई मनुस्मृति हजारों वर्षों से भारतीय समाज का संचालन और पथ-प्रदर्शन करती रही है। मनु के राज्यविषयक प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

१. राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त—मनु के मतानुसार जब समाज में चारों ओर अराजकता, भय और आतंक का बोलबाला था उस समय समाज में सुशासन और व्यवस्था रखने के लिए राज्य की उत्पति हुई। संसार की रक्षा के लिए भगवान् ने आठ

देवताओं—इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर के उत्कृष्ट गुणों को निकालकर राजा का निर्माण किया। इस प्रकार राजा दैवी गुणों से सम्पन्न होने के कारण भमण्डल पर भगवान् का अवतार हैं।

(२) **धर्म**—आजकल धर्म का अर्थ ईसाइयत, इस्लाम आदि विभिन्न प्रकार के धार्मिक सम्प्रदाय समझे जाते हैं, किन्तु मनु ने धर्म का प्रयोग बड़े विशाल और व्यापक अर्थ में किया है। उसके मतानुसार धर्म शब्द धारण करने का अर्थ देने वाली एक धातु से वना है और इसका अभिप्राय उन सब गुणों, तत्वों, नियमों और व्यवस्थाओं से है जिनके आधार पर यह जगत् टिका हुआ है तथा संचालित और व्यवस्थित होता है। समाज में सभी मनुष्यों के अपने निश्चित धर्म और कर्त्तव्य हैं। यदि इनकी उपेक्षा की जाए तो समाज में अव्यवस्था मच जाएगी। अतः राजा दण्ड के द्वारा सब मनुष्यों को उनके अपने धर्मों के पालन करने के कार्य में लगाता है।

(३) **आदर्श राजा की विशेषताएँ और गुण**—मनु ने राजा का कर्त्तव्य दण्ड की शक्ति से समाज में व्यवस्था स्थापित करना बताया है। राजा न्यायी, प्रजा को प्रसन्न रखने वाला तथा अपराधी मनुष्यों को दण्ड देने वाला है।

किन्तु राजा अपना शासन-कार्य धर्मशास्त्रों में बताए गए नियमों या धर्मों के अनुसार ही कर सकता है। वह इनमें कोई परिवर्तन, संशोधन या परिवर्द्धन नहीं कर सकता है। अतः राज्य में सर्वोपरि स्थान राजा का नहीं, अपितु धर्म का है। राजा अनेक प्रकार के नियमों और बन्धनों से बँधा हुआ है। मनु ने राजा के व्रतों का वर्णन किया है।

(४) **मन्त्री**—राजा शासन-कार्य में मन्त्रणा या सलाह लेने के लिए मन्त्रियों की एक परिषद् बनाया करता था। इसके सदस्यों की संख्या प्रायः सात या आठ होती थी। मन्त्रियों के लिए वह पाँच विशेषताएँ अनिवार्य समझता था : (क) वंश-परम्परा से राजा का सेवक होना, (ख) शास्त्रों का ज्ञाता होना, (ग) शूरवीर होना, (घ) अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होना (ङ.) उच्च कुल में जन्म लेना।

मनु ने राजा को प्रजा से थोड़ी मात्रा में ही कर लेने को कहा है, जैसे भौंरा सब फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस चूस लेता है, ऐसे ही राजा को प्रजाजनों से थोड़ा-थोड़ा कर लेना चाहिए। राजा का परम धर्म प्रजा का पालन करना है।

प्रश्न

(१) मनु के राजनीतिक विचारों की विवेचना कीजिए। (गोरखपुर, १९७४)

(२) मनु के अनुसार अच्छे शासक के गुण क्या हैं ? किन अर्थों में उसे सीमित शासक कहा जा सकता है ? (गोरखपुर, १९७६)

(३) मनु के अनुसार राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

(४) मनु के धर्म और दण्ड का क्या स्वरूप है ?

(५) मनु की देन और मनुस्मृति के प्रभाव का वर्णन कीजिए।

(६) निम्नलिखित पर टिप्पणी कीजिए—
राजा का व्रत, मान्त्रिपरिषद्, कर ग्रहण के नियम।

तीसरा अध्याय

कौटिल्य

जीवन—कौटिलीय अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य के जीवन के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री का बड़ा शोचनीय अभाव है। पुराणों में तथा प्राचीन ग्रन्थों में उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की किम्वदन्तियाँ और दन्तकथाएँ मिलती हैं। इनका गम्भीर अनुशीलन करने वाले विद्वानों ने यह परिणाम निकाला है कि अर्थशास्त्र के प्रणेता कौटिल्य के अन्य दो नाम—चाणक्य और विष्णुगुप्त थे। हेमचन्द्र ने **अभिधान चिन्तामणि** में चाणक्य के दस नामों का उल्लेख किया है। चाणक्य मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त के गुरु तथा प्रधानमन्त्री थे। मुद्राराक्षस नाटक तथा कई पुराणों में इस कथा का उल्लेख है कि चाणक्य अथवा कौटिल्य ने नवनन्दों का विनाश करके चन्द्रगुप्त को मगध के राजसिंहासन पर चौथी शताब्दी ई० पू० में बिठाया था।[1]

चाणक्य की कथा का विस्तृत प्रतिपादन सोमदेव ने कथासरित्सागर में तथा ढुण्ढिराज ने मुद्राराक्षस की टीका में किया है।

कथासरित्सागर (१।५) में यह मनोरंजक कथा दी गई है कि राजा नन्द ने अपने मन्त्री शकटार(ल) का अपमान किया था। मन्त्री ने राजा से इसका बदला लेने का निश्चय किया। एक दिन उसने एक ऐसे ब्राह्मण को देखा जो दर्भ घास को जड़ से उखाड़ रहा था, क्योंकि इससे उसके पैर में चोट आई थी। ब्राह्मण के दृढ़ संकल्प से प्रभावित होकर मन्त्री ने इसे राजा नन्द को विध्वंस करने का साधन बनाया। उसने राजा की ओर से इसे राजदरबार में श्राद्ध के अवसर पर बुलाकर सबसे प्रतिष्ठित आसन पर बैठाया। सुबन्धु नामक दूसरे ब्राह्मण ने जब चाणक्य के उच्चासन पर बैठने पर आपत्ति की तो राजा ने उसे नौकरों से अपमानित कराके वहाँ से निकलवा दिया। चाणक्य ने इस प्रकार तिरस्कृत होकर निकलवाए जाने पर यह प्रतिज्ञा की कि वह सात दिन में जब तक राजा नन्द का विध्वंस नहीं कर देगा, तब तक अपनी चोटी नहीं बाँधेगा। शकटार ने उसे संरक्षण प्रदान किया, उसने राजा पर ऐसा मन्त्र तथा अभिचार (जादूटोना) किया कि राजा ज्वरग्रस्त होकर सातवें दिन मर गया। उसके बाद उसके बेटे हिरण्यगुप्त को मरवाकर उसने चन्द्रगुप्त को राजगद्दी पर बिठाया।

इस विषय में दूसरी कथा ढुण्ढिराज ने मुद्राराक्षस की टीका में दी है। इसमें जादूटोने की बात नहीं है, घटनाओं को अधिक विस्तृत एवं विश्वसनीय रूप में उपस्थित

---

1. विष्णुपुराण, अंश ४।२४।२६-२८

किया गया है। चाणक्य के अपमान तक की घटनाओं में कोई भिन्नता नहीं है, किन्तु नन्दवंश के विनाश का श्रेय यहाँ जादूटोने या अभिचार कर्म को नहीं, किन्तु चाणक्य की कुशल कूटनीति को दिया गया है। यह कहा गया है कि चाणक्य ने नन्द के विरोध में राजाओं का संघ बनाया और चन्द्रगुप्त इसका नेता था, इसने सैनिक बल से नन्दवंश का विध्वंस करके मौर्यवंश की स्थापना की।

रविनर्तक द्वारा लिखित **चाणक्य कथा** नामक गद्य ग्रन्थ में उपर्युक्त कहानी पर खूब रंग चढ़ाया गया है। इसमें नन्द राजा की दो पत्नियाँ---सुनन्दा तथा शूद्रकुलोत्पन्ना किन्तु अनिन्द्य सुन्दरी मुरा बताई गई हैं। राजा ने सन्तान प्राप्ति के लिए अपने प्रासाद में एक तपस्वी ऋषि को बुलाकर अपने हाथों से उसके पाँव धोए और उस पानी को पत्नियों पर छिड़का। पानी की नौ बूँदें सुनन्दा पर पड़ीं, इनसे उसके नौ पुत्र हुए, एक बूँद मुरा पर पड़ी, उसका चन्द्रगुप्त मौर्य नामक एक लड़का हुआ। इसने अपने गुणों के कारण राजा का मन मोह लिया। सुनन्दा के लड़के इससे डाह रखने लगे। राजा के मरने पर उसके मन्त्री राक्षस ने यह व्यवस्था की कि उसके नौ पुत्र संयुक्त रूप से शासन करें, प्रतिवर्ष लाटरी डालकर बारी-बारी से एक-एक पुत्र को शासक बनाया जाए, चन्द्रगुप्त को प्रधान सेनापति बना दिया गया। किन्तु बाद में उसकी लोकप्रियता और शक्ति बढ़ने पर नन्दों ने उसे धोखे से पकड़कर बन्दीगृह में डलवा दिया। इसी समय लंका या वंग के राजा ने उनके पास पिंजरे में बन्द एक शेर को भेजा तथा पिंजरा खोले बगैर इस शेर को बाहर निकालने को कहा। जब वे इस समस्या को हल न कर सकें तो चन्द्रगुप्त को इसे हल करने के लिए जेल से मुक्त किया गया। उसने यह समझ लिया कि शेर मोम का बना हुआ है, अतः उसने गरम सलाख से उसे पिघलाकर बाहर निकाला। इससे नन्द और भी अधिक चिढ़ गए। अब चन्द्रगुप्त उनसे बदला लेने की बात सोचने लगा। इसी समय उसे मूँज घास को उखाड़ता चाणक्य दिखाई दिया। उसका कारण यह था कि विवाह के लिए जाते हुए इससे उसका पाँव घायल हो गया था और उसकी शादी नहीं हो सकी थी। इसके बाद चन्द्रगुप्त ने उसे नन्द-विरोधी बनाने के लिए श्राद्ध में उसका अपमान कराया, नन्द के नौकरों ने चोटी पकड़कर उसे घसीटा और बाहर निकाल दिया। इस पर चाणक्य ने नन्दवंश का विध्वंस करने तक शिखा न बाँधने की प्रतिज्ञा की। चन्द्रगुप्त के साथ मिलकर उसने योजना बनाई, नन्दवंश के मन्त्री राक्षस के चारों ओर गुप्तचरों का तथा कूटनीति का जाल बिछाकर उसकी सब गतिविधियों का पता लगाया गया। चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर चढ़ाई करने के लिए पर्वतक नामक राजा का सहयोग इस शर्त पर प्राप्त किया कि वह नन्द का आधा साम्राज्य उसे देगा। दोनों ने मिलकर राजधानी पर चढ़ाई की, नन्दों को हराकर मार डाला। इसी समय चाणक्य ने एक सुन्दरी विषकन्या पर्वतक के पास भेजकर उसको मरवा डाला। चन्द्रगुप्त निष्कण्टक होकर मौर्यवंश का सम्राट् बना। इसके बाद चाणक्य ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी हो जाने पर अपनी शिखा बाँधी।

इन सब कथाओं में यह बात निर्विवाद रूप से पाई जाती है कि चन्द्रगुप्त चाणक्य की सहायता से सम्राट् बना। चाणक्य आदर्श ब्राह्मण था। इतने बड़े साम्राज्य का स्वामी होने पर भी वह वीतराग तपस्वी बना रहा, उसने त्याग के आदर्श को ग्रहण किया। किसी प्रकार के ठाठबाठ या बाह्य आडम्बर को नहीं अपनाया। विशाखदत्त

मौर्य-साम्राज्य के महामन्त्री की कुटिया के वैभव का वर्णन करते हुए कहता है—"इसके एक ओर गोबर के उपलों को तोड़ने के लिए पत्थर पड़ा है, दूसरी ओर विद्यार्थियों द्वारा लाई गई समिधाओं का गट्ठर पड़ा हुआ है, सुखाने के लिए रखी गई लकड़ियों के बोझ से छत दबी जा रही है और इसकी दीवारें भी जीर्ण दशा में हैं।" ऐसे सरल और वीतराग महामन्त्री चाणक्य ने अर्थशास्त्र की रचना की है। इसमें प्रधान रूप से निम्नलिखित राजनीतिक सिद्धान्त बताए गए हैं—

राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त—प्राचीन भारत में राज्य की संस्था के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में कई प्रकार के सिद्धान्त माने जाते थे : **पहला** सिद्धान्त यह था कि युद्ध की परिस्थिति में सैनिक आवश्यकताओं के कारण राज्य का जन्म हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण (१।१४) में यह कहा गया है कि देवासुर संग्राम में देवताओं ने बार-बार असुरों से हारने पर यह अनुभव किया कि उनकी हार का कारण यह है कि उनमें कोई राजा नहीं है, अतः उन्होंने अपना एक राजा चुन लिया। **दूसरा दैवी अधिकार** (Divine Theory) का सिद्धान्त है। इसके अनुसार भगवान् ने विभिन्न देवताओं के अंश लेकर राजा का निर्माण प्रजा के कल्याण के लिए किया। मनुस्मृति में इस सिद्धान्त को माना गया है तथा पहले पृ० १३-१४ में इसका प्रतिपादन हुआ है। **तीसरा सिद्धान्त विकासमूलक** है, इसके अनुसार राज्य की संस्था का विकास शनैः-शनैः अनेक रूपों में से गुजरते हुए हुआ है। अथर्ववेद (८।१०।१) में यह बताया गया है कि राज्य की संस्था क्रमिक विकास का परिणाम है। **चौथा सिद्धान्त यह है** कि आरम्भिक स्वर्णयुग की समाप्ति पर दैन्य, मोह, लोभ, काम और राग आदि की भावनाओं के प्रबल होने से मानव-समाज में भयावह स्थिति उत्पन्न हो गई थी, इससे त्राण पाने के लिए लोग ब्रह्मा की शरण में गए, उसने उन्हें दण्डनीति का उपदेश दिया और इसके अनुसार राज्य की तथा राजा की उत्पत्ति हुई (महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ५८।५—२२)।

राज्योत्पत्ति का पाँचवाँ सिद्धान्त मात्स्य न्याय और अनुबन्धवाद (Contract Theory) का है। कौटिल्य ने इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा है कि मानव-समाज में पहले कोई दण्डव्यवस्था नहीं थी, इससे बड़ी अराजकता मची हुई थी। इसे उसने मात्स्य न्याय का नाम दिया है ; क्योंकि जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, उसी प्रकार इस समय बलवान् निर्बल लोगों के अधिकारों को और सम्पत्ति को हड़प रहे थे। इससे परेशान हुई प्रजा ने इस अराजक दशा को दूर करने के लिए वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया और यह निश्चय किया कि अनाज का छठा हिस्सा, बेची जाने वाली वस्तुओं का दसवाँ हिस्सा तथा नकद कर राजा का हिस्सा है। राजा इसे लेकर प्रजा के कल्याण (योगक्षेम) की व्यवस्था करेगा।[1] इस व्यवस्था के अनुसार

---

1. अर्थशास्त्र १।१३—मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्य-षड्भागं, पण्यदशभागं, हिरण्य चास्य भागधेयं कल्पयामासुः। तेनः भृताः राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः। समयवाद के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय ६६-६७) में बड़े विस्तार से किया गया है। वाल्मीकिरामायण (२।४३) तथा मनुस्मृति (७।२०) में मात्स्य न्याय की दशा का निर्देश है। शुक्रनीति ने मात्स्य न्याय के बाद होने वाले समझौते का वर्णन करते हुए कहा है कि राजा प्रजा से जिस वृत्ति को अपने भाग के रूप में प्राप्त करता है, उस वृत्ति के कारण वह प्रजा की दासता स्वीकार करता है (१।८८)।

राजा और प्रजा में यह समझौता या समय (Contract) हुआ कि राजा प्रजा की रक्षा करने के बदले में उनसे वेतन के रूप में यह कर लेगा। अतः इस सिद्धान्त को समयवाद (Contract Theory) कहते हैं। इसके अनुसार राजा और राज्यसंस्था का प्रादुर्भाव मनुष्यों द्वारा किए गए एक समझौते का परिणाम है। राजा के कुछ निश्चित कर्त्तव्य हैं, इन्हें पूरा करने के बदले में ही वह प्रजा से निश्चित करों के रूप में अपनी वृत्ति या वेतन प्राप्त करता है। आगे यह बताया जाएगा कि कौटिल्य ने राजा के प्रजापालन के कर्त्तव्य पर बहुत अधिक बल दिया है।

कौटिल्य द्वारा वर्णित समझौते या अनुबन्ध से राजा की शक्ति पर एक प्रतिबन्ध था। इसके अनुसार राजा प्रजा से उसी समय तक कर लेने का अधिकारी था, जब तक वह उनके योगक्षेम एवं कल्याण की व्यवस्था करे। यदि राजा इस अनुबन्ध का पालन नहीं करता एवं अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है तो वह प्रजा से कर लेने का अधिकारी नहीं रहता है। प्रजा उसे कर देना बन्द कर सकती है। इस प्रकार राजा की स्वेच्छाचारिता पर एक प्रबल अंकुश स्थापित हो गया।

राज्य का स्वरूप : सप्तांग सिद्धान्त—कौटिल्य ने मनु, भीष्म आदि अन्य प्राचीन राजशास्त्रियों के मतानुसार राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए सप्तांग अथवा सात अंगों वाले राज्य की कल्पना की है। जिस प्रकार हमारा मानव-शरीर हाथ-पैर, मुँह आदि अनेक अंगों से मिलकर बनता है, उसी प्रकार राज्य भी एक जीवित जागृत शरीर (Organism) है। राज्य के ये सात अंग हैं—स्वामी (राजा), अमात्य, जनपद (राष्ट्र), पुर (दुर्ग), कोष, दण्ड (बल या सेना) और मित्र। शुक्रनीति में इनकी मानव-शरीर के अंगों से तुलना करते हुए कहा गया है—इस शरीर रूपी राज्य में राजा मूर्धा (शिर) के समान है, अमात्य आँख है, सुहृत् कान है, कोष मुख है, बल मन है, दुर्ग हाथ हैं और राष्ट्र पैर हैं (१।६१)। राज्य के विभिन्न अंगों को शरीर के अवयवों के समान मानने के कारण इस सिद्धान्त को **राज्य का सावयवी सिद्धान्त** (Organic Theory of State) कहा जाता है।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इस सिद्धान्त का कुछ विस्तार से प्रतिपादन किया है। उसने राज्य के सात अंगों को सात **प्रकृतियों** का नाम दिया है। ये सात प्रकृतियाँ निम्न-लिखित हैं—**स्वामी, अमात्य, जनपद (प्रदेश), दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र**। कौटिल्य ने इनका विशद प्रतिपादन करते हुए इस बात पर गम्भीर विचार किया है कि इन प्रकृतियों में से किसका कितना महत्व है। पुराने आचार्यों का यह मत था कि स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र में पहला-पहला अधिक महत्व रखता है, स्वामी अमात्य की अपेक्षा और अमात्य जनपद की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। किन्तु आचार्य भारद्वाज ने इस मत का यह कहकर खण्डन किया कि स्वामी की अपेक्षा अमात्य का अधिक महत्व है, क्योंकि राज्य के सभी बड़े कार्य—मन्त्र (राजकीय विचार-विमर्श), फल की प्राप्ति, राजकीय कार्यों का किया जाना, आय-व्यय का विवेचन, दण्ड के प्रयोग, शत्रुओं का निवारण, राज्य की रक्षा, आपत्तियों का प्रतिकार, राजकुमारों की रक्षा और अभिषेक आदि—सभी मन्त्रियों या अमात्यों द्वारा किए जाते हैं। किन्तु कौटिल्य अमात्य की तुलना में राजा को ही अधिक महत्व देता है। उसका यह कहना है कि

विभिन्न मन्त्रियों को राजा ही नियुक्त करता है, यदि राजा सम्पन्न हो तो अन्य प्रकृतियाँ भी सम्पन्न होती हैं। राजा का जैसा शील और स्वभाव होगा, अन्य प्रकृतियों का भी स्वभाव वैसा होगा। राजा या स्वामी राज्य में कूटस्थानीय अर्थात् सारे राज्य का आधार तथा शासन-चक्र की धुरी और सबसे महत्वपूर्ण अंग होता है। यदि वह उत्थानशील, पुरुषार्थी, अप्रमादी, सतत गतिशील और परिश्रमी होगा तो अन्य प्रकृतियाँ भी पुरुषार्थी तथा अप्रमादी होंगी। किन्तु यदि वह आलसी और प्रमादी हो तो अन्य प्रकृतियाँ भी शिथिल पड़ जाती हैं। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों के सम्बन्ध में भी विवेचन करके कौटिल्य ने यह परिणाम निकाला है कि राजा (स्वामी) आदि सातों प्रकृतियों में पहली-पहली प्रकृति अधिक महत्वपूर्ण होती है।

कौटिल्य ने इस बात का भी सुन्दर विवेचन किया है कि इन सातों प्रकृतियों में से किसी एक-दो या अधिक प्रकृतियों में खराबी आने या विकारग्रस्त होने का राज्य पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसे शरीर के उदाहरण से भली-भाँति समझा जा सकता है। शरीर के सभी कार्य सर्वोत्तम रूप में तभी चलते हैं, जब सब अंग एक-दूसरे को सहयोग देते हुए स्वस्थ रहते हुए अपना कार्य करते हैं। किन्तु यदि शरीर के किसी एक अंग या अंश में थोड़ा-सा विकार या खराबी आ जाए तथा अन्य सभी अंग स्वस्थ रहते हुए कार्य करें तो शरीर को कोई गम्भीर क्षति नहीं होती है। यदि हमारे पैर की एक उँगली में कोई खराबी आती है, उसे कटवाना पड़ता है, किन्तु अन्य सभी अंग ठीक काम करते रहें तो शरीर को कोई गम्भीर क्षति नहीं होगी, उसका कार्य अच्छी तरह चलता रहेगा। यही स्थिति सप्तांग राज्य में है। इसकी सातों प्रकृतियों में किन्हीं एक या दो प्रकृतियों में कोई खराबी या दोष पैदा हो जाए तथा अन्य सब प्रकृतियाँ ठीक काम करती रहें तो राज्य का कार्य सुचारु रूप से चलता रहेगा। उदाहरणार्थ, सातों प्रकृतियों में एक बल या सेना है, प्राचीन काल में कौटिल्य ने कई प्रकार की सेना का वर्णन किया है। वंशपरम्परागत सैनिकों का दल या मौलबल, जंगली जातियों का सैन्यदल—अटविबल तथा वेतनभोगी सैनिकों की सेना भृतबल कहलाती थी। इनमें से यदि कोई एक राजा के विरुद्ध विद्रोह करे या उसका साथ छोड़ दे, किन्तु अन्य सभी बल और प्रकृतियाँ राजा में अनुरक्ति और भक्ति रखें, उसकी सेवा करते रहें तो राज्य को कोई गम्भीर क्षति नहीं पहुँचेगी। किन्तु एक भी प्रकृति के व्यसन या दोष से अन्य प्रकृतियों का नाश या हानि उसी दशा में होगी, जब एक प्रकृति का व्यसन अत्यन्त गम्भीर हो। उदाहरणार्थ, पैर की उँगली में होने वाला छोटा-सा घाव विषैले कीटाणुओं से भीषण रूप से आक्रान्त होकर सारे शरीर के रक्त को विषाक्त बनाकर प्राणान्त भी कर सकता है। यही स्थिति राज्य के सम्बन्ध में है। किसी भी प्रकृति का गम्भीर व्यसन या दोष सारे राज्य के लिए भीषण संकट एवं सर्वनाश उत्पन्न कर देता है।

कौटिल्य के सप्तांग प्रकृति सिद्धान्त का विवेचन वर्तमान राज्यशास्त्र की दृष्टि से बड़ा रोचक है। वर्तमान राजनीतिशास्त्री राज्य के तीन आवश्यक अंग—भूमि (Territory), जनता (Population) और सरकार (Government) ही मानते हैं। कौटिल्य की सात प्रकृतियों में से स्वामी और अमात्य सरकार में आ जाते हैं, राष्ट्र

प्रदेश में आ जाता है, किन्तु जनता सातों प्रकृतियों में कहीं नहीं आती है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि कौटिल्य ने जनसंख्या का पृथक् निर्देश नहीं किया है। सम्भवतः इसका कारण यह था कि यह एक स्वतःसिद्ध बात समझी जाती थी, जनता के बिना राज्य की कल्पना नहीं हो सकती थी। दुर्ग, बल (सेना) और कोष आजकल राज्य के अनिवार्य अंग न समझे जाकर इसके आवश्यक एवं उपयोगी साधन समझे जाते हैं। यही बात मित्र अर्थात् मैत्री सम्बन्ध रखने वाले राज्यों की है। आजकल विभिन्न देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाना अच्छा समझा जाता है, किन्तु इन्हें किसी राज्य का अंग नहीं माना जाता है।

कौटिल्य आदि प्राचीन विचारकों का यह मत था कि सातों प्रकृतियाँ या अंग राज्य के लिए महत्वपूर्ण हैं। कोई राजा उसी दशा में उत्तम कार्य कर सकता है, जब ये सभी एक-दूसरे के साथ मिलकर सहयोगपूर्वक अपने कार्यों को ठीक ढंग से करते रहें। यद्यपि कौटिल्य इन सातों में राजा को कूटस्थानीय और प्रधान मानता है, फिर भी राज्य के लिए अन्य अंग आवश्यक हैं। राज्य के सातों अंगों की तुलना शरीर के अंगों से की गई है, किन्तु इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि शरीर के अंगों—हाथ-पैर, आँख, कान, नाक की शरीर से पृथक् होकर कोई सत्ता या जीवन नहीं होता है। किन्तु राज्य के कुछ अंगों या प्रकृतियों के सम्बन्ध में यह स्थिति नहीं है। दुर्ग और कोष स्वतन्त्र रूप से अपनी सत्ता रखते हैं, शत्रु इन पर अधिकार करके इन्हें इनके पहले स्वामी से छीनकर अपने राज्य का अंग बना सकता है।

राज्य की सातों प्रकृतियों में कौटिल्य ने राजा को प्रधान माना है, अतः अब राजा का वर्णन किया जाएगा।

राजा के कर्त्तव्य और गुण—कौटिल्य राज्य के सातों अंगों में राजा को सर्वोच्च स्थान (कूट स्थान) देता है। उसने राजा के सम्बन्ध में बहुत ऊँचे आदर्शों, उद्देश्यों और कर्त्तव्यों का वर्णन किया है। उसके मतानुसार **राजा और प्रजा में पिता और पुत्र का सम्बन्ध होना चाहिए**, वह पिता जैसे प्रजा का ध्यान रखे (ताः पितेवानुगृह्णीयात्)। राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए उसने कहा है—"प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में राजा का हित है। राजा के लिए प्रजा के सुख से भिन्न अपना कोई सुख नहीं है, प्रजा के सुख में ही उसका सुख है—

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानाञ्च हिते हितम्।
नात्मप्रियं सुखं राज्ञः प्रजानाञ्च सुखे सुखम्॥

प्रजा को सुखी बनाए रखने के अतिरिक्त राजा का दूसरा कर्त्तव्य वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था को बनाए रखना था। कौटिल्य ने राजा को नष्ट होने वाले धर्मों का चलाने वाला (धर्म प्रवर्त्तक) बताया है।[1]

उपर्युक्त आदर्शों तथा कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए राजा में कौटिल्य ने

---

1. अर्थशास्त्र ३।१

चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षणात्।
नश्यतां सर्वधर्माणां राजा धर्मप्रवर्त्तकः॥

निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक माना है—"वह ऊँचे कुल का हो, उसमें दैवी बुद्धि तथा दैवी शक्ति हो, वह वृद्धजनों की बात सुनने वाला हो, धार्मिक हो, सत्य भाषण करने वाला हो, परस्पर-विरोधी बातें न करे, कृतज्ञ हो, उसका लक्ष्य बहुत ऊँचा हो, उसमें उत्साह अत्यधिक हो, वह दीर्घसूत्री न हो, वह सामन्त राजाओं को अपने वश में रखने में समर्थ हो, उसकी बुद्धि दृढ़ हो, उसकी परिषद् छोटी न हो और वह विनय का पालन करने वाला हो (६।१)। इनके अतिरिक्त राजा के अन्य आवश्यक गुण इस प्रकार हैं—उसकी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण होनी चाहिए, उसमें स्मरणशक्ति, बुद्धि और बल प्रचुर मात्रा में होना चाहिए। वह अत्यन्त उग्र, अपने ऊपर काबू रखने वाला, सब शिल्पों में निपुण, सब दोषों से रहित और दूरदर्शी होना चाहिए। काम; क्रोध, लोभ, मोह आदि पर उसका पूरा नियन्त्रण होना चाहिए।

कौटिल्य यह जानता था कि इस प्रकार का आदर्श राजा मिलना आसान नहीं है, किन्तु समुचित शिक्षा द्वारा उसमें ये गुण पैदा किए जा सकते हैं। प्लेटो की भाँति उसने भी राजा के प्रशिक्षण पर बहुत बल दिया है। उसका यह विश्वास था कि यदि एक कुलीन तथा होनहार व्यक्ति को बचपन से ही उचित शिक्षा दी जाए तो उसे एक आदर्श राजा बनने के लिए तैयार किया जा सकता है, अतः अर्थशास्त्र में उस शिक्षा का वर्णन विस्तार से किया गया है जो बचपन और युवावस्था में राजा को दी जानी चाहिए। राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और हर्ष नामक छः रिपुओं पर विजय प्राप्त करे तथा अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण स्थापित करे। उसके समय का एक-एक क्षण काम में लगा होना चाहिए। कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या का बड़े विस्तार से वर्णन करते हुए (१।१९) बताया है कि उसे दिन तथा रात के आठ-आठ विभाग करके किस समय कौनसा कार्य करना चाहिए। वह रात को उसे तीन घण्टे से अधिक सोने का समय नहीं देता है। उसने उसका चौबीस घण्टे का ऐसा कार्यक्रम बना दिया है कि इसमें निरन्तर लगा रहने पर वह अपने वैयक्तिक सुख, भोग-विलास, मनोरंजन के लिए कोई समय नहीं निकाल सकता था। कौटिल्य का आदर्श एक सर्वगुणसम्पन्न तथा प्रजा के कल्याण में निरन्तर लगा रहने वाला राजा है, जो हिमालय से समुद्र तक विस्तीर्ण एक सहस्र योजन में चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करना चाहता है तथा अन्य सभी राज्यों को अपने आधीन करने के लिए उत्सुक है।

कौटिल्य को शासनव्यवस्था में राजा समूचे शासनयन्त्र की धुरी या केन्द्र है, उसी से सब राजकार्य संचालित होते हैं, उसकी कड़ी देख-रेख से राजकर्मचारी ठीक कार्य करते हैं। अतः कौटिल्य ने राज्य को उत्तम बनाए रखने के लिए राजा के उत्तम बनाने पर बल दिया है। उसने यह लिखा है कि जो राजा प्रमाद करता है, उसके सेवक भी उसी प्रकार प्रमादी हो जाएँगे, राजा यदि क्रियाशील होगा तो उसके कर्मचारी भी सक्रिय होंगे। राजा को प्रमादग्रस्त देखकर उसके कर्मचारी शत्रु से भी सन्धि कर लेते हैं, अतः राजा को अपनी उन्नति का प्रयत्न अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए (१।१९), और अपने व्रतों या कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। कौटिल्य के मतानुसार राजा के व्रत ये हैं—राज्य की प्रत्येक प्रकार की उन्नति करना, यज्ञ करना, प्रजा द्वारा किए

जाने वाले कार्यों की उचित व्यवस्था करना, दान देना, सम्पूर्ण प्रजा पर समदृष्टि रखना, इनके सम्यक् पालन-पोषण की व्यवस्था करना, शत्रु, मित्र, उदासीन की देख-रेख करके उनसे तदनुकूल व्यवहार करना, विधिवत् दीक्षा प्राप्त किए व्यक्तियों को राज्य के विभिन्न पदों पर नियुक्त करना (१।१९)।

राजतन्त्र व्यवस्था में राजा राज्य का प्राण होता है; अतः उसके जीवन की रक्षा के लिए विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। उस समय राजा प्रायः विभिन्न षड्यन्त्रों के शिकार होते थे, उनका जीवन बड़ा असुरक्षित होता था, अतः कौटिल्य ने बड़े विस्तार से इस विषय में की जाने वाली सावधानियों का उल्लेख किया है। उसके वर्णन से यह पता लगता है कि राजा अपने शयनागार में रानी के पास जाते हुए भी निश्चिन्त नहीं हो सकता था, उसे यह आशंका रहती थी कि शय्या के नीचे कोई शत्रु तो नहीं छिपा है, कहीं रानी ने अपने केशों में या वस्त्रों में कोई अस्त्र या विष तो नहीं छिपा रखा है (१।८)।

राजा पर प्रतिबन्ध—कौटिल्य द्वारा वर्णित राजा शासन एवं न्यायविषयक सब प्रकार के विशाल अधिकार रखता था, फिर भी उस पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य थे। **पहला प्रतिबन्ध अनुबन्धवाद** का था। इसके अनुसार राजा प्रजा का स्वामी नहीं, सेवक समझा जाता था। पहले इसका उल्लेख किया जा चुका है (पृ० २६)। इसके अनुसार राजा प्रजा का रक्षण एवं पालन करने के कारण ही उससे करों के रूप में अपना वेतन लेता था। कौटिल्य ने एक स्थान पर यह बताया है कि वेतन लेने के कारण राजा की स्थिति वेतनभोगी सैनिकों के समान थी, वह उन्हें युद्ध में प्रोत्साहित करने के लिए कहता था कि जैसे तुम राजकोष से सैनिक सेवा करने के बदले वेतन लेते हो, वैसे ही मैं भी अपने कार्य की मजदूरी लेता हूँ। दोनों को राज्य की सम्पत्ति भोगने का समान अधिकार है। इससे यह स्पष्ट है कि राजा राजकोष से निश्चित वेतन ही ले सकता था। उसे मनमाने ढंग से राज्य की सम्पत्ति से गुलछर्रे उड़ाने का अधिकार नहीं था। **दूसरा प्रतिबन्ध धार्मिक नियमों और व्यवस्थाओं का था**। राजा स्वेच्छापूर्वक मनमाने ढंग से नहीं, अपितु धर्मशास्त्रों में बताई पद्धति के और नियमों के अनुसार शासन करने को बाध्य था। यदि वह इनका उल्लंघन करता था और कर्त्तव्यच्युत होता था तो उसे धार्मिक दण्डों का भय होता था। कौटिल्य ने लिखा है कि यदि राजा प्रजा को अत्याचारों से पीड़ित करता है, दण्ड न पाने योग्य व्यक्तियों को दण्डित करता है, निरपराध व्यक्तियों पर जुर्माना करता है तो उसे तीस गुनी राशि प्रायश्चित के रूप में वरुण देवता को देनी चाहिए।[1] राजा को मनमानी रीति से धर्म की व्यवस्था का उल्लंघन करने पर नरक का प्रबल भय सदैव बना रहता था।

तीसरा प्रतिबन्ध शिक्षा का था। कौटिल्य ने राजा की समुचित शिक्षा पर बल देकर बचपन से उसके मन पर ऐसे संस्कार डालने चाहे हैं कि वह कभी उच्छृंखल

1. अर्थशास्त्र ४।१३

अदण्ड्यदण्डने राज्ञो दण्डस्त्रिंशद्गुणोऽम्भसि।
वरुणाय प्रदातव्यो ब्राह्मणेभ्यस्ततः परम्॥

न हो सके तथा सदैव प्रजा के पालन एवं लोकरंजन के कार्यों में लगा रहे।

चौथा प्रतिबन्ध मन्त्रिपरिषद् का है, इसका आगे उल्लेख किया जाएगा।

मन्त्रिपरिषद्—कौटिल्य यह मानता है कि राज्यकार्य बहुत अधिक होते हैं, वे एकसाथ नहीं होते, एक स्थान पर नहीं होते, अतः एक राजा अपने सब कार्य अपने-आप नहीं कर सकता है। उसे ये सब कार्य अमात्यों या मन्त्रियों से कराने चाहिएँ (१।१५)। उसने मन्त्रिपरिषद् के निर्माण का कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि राज्य का कार्य दूसरों की सहायता से ही सम्पन्न हो सकता है। एक पहिए से राज्य की गाड़ी नहीं चल सकती है, अतः राजा सचिवों की नियुक्ति करे तथा उनकी बात सुने।[1] मन्त्रि-परिषद् में कितने मन्त्री रखे जाएँ, इस विषय में प्राचीन आचार्यों में बड़ा मतभेद था। मानव, बार्हस्पत्य और औशनस सम्प्रदायों के मत में मन्त्रिपरिषद् में क्रमशः बारह, सोलह और बीस मन्त्री होने चाहिए थे। किन्तु चाणक्य किसी निश्चित संख्या के पक्ष में नहीं थे। उनका यह मत था कि जितनी सामर्थ्य तथा जितनी आवश्यकता हो, उतने ही मन्त्री परिषद् में रख लिए जाएँ (१।५,१।११)।

अर्थशास्त्र में इस बात पर बल दिया है कि मन्त्रिपरिषद् का कार्य सर्वथा गुप्त रहना चाहिए। उसके मतानुसार मन्त्रिपरिषद् की बैठक के लिए ऐसा स्थान चुना जाए जहाँ पक्षियों तक की दृष्टि न पड़े, जहाँ से कोई भी बात बाहर का आदमी न सुन सके।[2] सुनते हैं कि शुक, सारिका, कुत्ते आदि तक जीवजन्तुओं से मन्त्रियों से परामर्श की जाने वाली गुप्त बातों का भेद खुल गया था, अतः मन्त्ररक्षा का पूरा प्रबन्ध किए बिना इस कार्य को नहीं करना चाहिए। यदि कोई मन्त्र का भेद या रहस्य खोलता है तो उसे जान से मार डालना चाहिए।

राजा अत्यधिक गुप्त रखी जाने वाली बातों के विषय में मन्त्रिपरिषद् की बैठक में सलाह नहीं लेता था, क्योंकि एक बड़ी बैठक में की गई चर्चा से राजकीय रहस्यों के खुलने की सम्भावना अधिक थी। अतः राजा एक-एक मन्त्री को बुलाकर उससे अलग-अलग सलाह लेता था। इस विषय में उसने एक अन्य परामर्श यह दिया है कि जिस बात पर सलाह लेनी हो, उससे उल्टी बात इशारे से पूछी जाए ताकि किसी मन्त्री को यह ज्ञात न हो सके कि राजा के मन में क्या योजना है और वह वास्तव में किस विषय में उससे परामर्श लेना चाहता है।

बड़ी मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त उस समय एक छोटी उपसमिति होती थी। इसमें तीन या चार विशेष विश्वसनीय, अनुभवी और योग्य मन्त्री रहा करते थे, इन्हें 'मन्त्रिणः' कहा जाता था। आवश्यक विषयों में राजा इन मन्त्रियों को तथा मन्त्रि-

1. अर्थशास्त्र १।४

सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्त्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम्॥

2. अर्थशास्त्र १।११

मन्त्रपूर्वाः सर्वारम्भाः। तदुद्देशः संवृतः कथा नामनिस्रावी पक्षिभिरप्यनालोक्यःस्यात्। ......उच्छिद्येत मन्त्रभेदी।

परिषद् को बुलाकर सलाह लेता था। मन्त्रियों की बहुसंख्या जिस बात को कार्य की सिद्धि करने वाली बताती थी, उसे राजा किया करता था।[1] राजा यह अच्छी तरह समझता था कि राज्यकार्य का संचालन मन्त्रियों की सहायता के बिना नहीं हो सकता है। जो बात पता नहीं है, उसे ज्ञात करना, जो ज्ञात है, उसका निश्चय करना, जिस बात में दुविधा या संशय है, उसे दूर करना, जो बात आंशिक रूप से ज्ञात है, उसे पूर्ण रूप से जानना, यह सब कुछ मन्त्रिपरिषद् के मन्त्र या परामर्श द्वारा ही हो सकता है, अतः जो बुद्धि की दृष्टि से वृद्ध हों उन्हें सचिव या मन्त्री बनाकर उनसे सलाह लेनी चाहिए। राजा को मन्त्रिपरिषद् के बहुमत की ऐसी बात मान लेनी चाहिए जो उसे कार्यसिद्धि करने वाली प्रतीत हो। जो मन्त्री उपस्थित न हों, उनकी सम्मति पत्र द्वारा उनसे मँगा लेनी चाहिए।

मन्त्रियों की परीक्षाएँ—उपधा—कौटिल्य मन्त्रियों की एक बड़ी विशेषता यह मानता है कि वे सब प्रकार के दोषों, निर्बलताओं से, भ्रष्टाचार, काम, क्रोध, मोह आदि के दुर्व्यसनों से मुक्त हों। उसके मतानुसार मन्त्रीपद पर व्यक्तियों को नियुक्त करने से पहले उनके बारे में विभिन्न प्रकार की परीक्षाओं द्वारा निश्चित कर लेना चाहिए कि वे 'सर्वोपधाशुद्ध' हैं। **उपधा का अर्थ छल द्वारा या गुप्तरीति से किसी के चरित्र की परीक्षा करना है।** यह चार प्रकार की—धर्म, अर्थ, काम और भय—की होती है। **धर्मोपधा** का अर्थ है धार्मिक प्रसंग लेकर किसी के चरित्र की परीक्षा करना। उदाहरणार्थ, राजा नवनियुक्त अधिकारियों के धार्मिक चरित्र की परीक्षा इस प्रकार करे। वह अपने पुरोहित को झूठ-मूठ ऊपर से दिखावे के तौर पर इस कारण के आधार पर पदच्युत कर दे कि उसने उस समय अपनी नाराजगी दिखाई थी जब उसे राजा ने किसी चण्डाल को पढ़ाने या यज्ञ कराने के लिए कहा था। इस प्रकार ऊपर से अपमानित पुरोहित गुप्तचरों की सहायता से नवनियुक्त अधिकारियों के पास जाए और उन्हें कहे कि हमारा यह राजा बड़ा अधार्मिक है, इसे हटाकर इस वंश के किसी गुणी व्यक्ति को राजगद्दी पर बिठा दिया जाए। यह बात सुनकर यदि नवनियुक्त मन्त्री और कर्मचारी इस प्रस्ताव को ठुकरा दें तो उन्हें धर्मोपधाशुद्ध या राजभक्ति-सम्पन्न समझे। इसी प्रकार वह दिखावटी रूप में सेनापति का अपमान करके उसे पदच्युत कर दे और इस प्रकार अपमानित सेनापति राजा के गुप्तचरों को प्रत्येक मन्त्री के पास भेजकर धन का प्रलोभन देते हुए यह कहलाए कि हमने इस राज्य को नष्ट करने की योजना बनाई है, आप इसमें मेरा साथ दें। यदि यह सुनते ही वे मन्त्री कहें कि हम इस षड्यन्त्र में सम्मिलित नहीं होते तो उन्हें शुद्ध अर्थात् राजभक्ति-सम्पन्न समझे। यह **अर्थोपधा** है, अर्थात् धन का लोभ देने के प्रसंग से चरित्र की परीक्षा करने की विधि है। इसी प्रकार रनिवास की महिलाओं की विश्वासपात्र कोई संन्यासिनी प्रत्येक अमात्य को प्रलोभित करते हुए कहे कि महारानी आप पर आसक्त हैं, आपको उनसे मिलने पर प्रचुर अर्थलाभ होगा। ऐसी बात सुनकर यदि वे इनकार करें तो

---

1. अर्थशास्त्र १।११
आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणोमन्त्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात्। तत्र यत् भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात्।

उन्हें शुद्ध समझना चाहिए। इसे **कामोपधा** कहते हैं। इसी प्रकार राजा द्वारा बन्दीगृह में डाले जाने वाले तथा भयभीत मन्त्रियों को यदि कोई गुप्तचर राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र के लिए प्रेरित करे और वे भयग्रस्त होने पर षड्यन्त्र में सम्मिलित होने से मना करें तो उन्हें शुद्ध समझे। यह **भयोपधा** है। इस प्रकार विभिन्न उपधाओं अथवा गुप्त परीक्षाओं में सच्चे और खरे उतरने वाले लोगों को ही राजा विभिन्न मन्त्रीपदों पर नियुक्त करे (१।१०)।

मन्त्रिपरिषद् द्वारा राजा का नियन्त्रण—राजा प्रायः मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार कार्य करता था, उनका मत उसकी दृष्टि में कार्यसिद्धिकर न होने पर वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता था। कौटिल्य ने केन्द्रीय शासन में राजा की स्थिति प्रधान या सर्वोच्च (कूटस्थानीय) मानी है, देश की उन्नति या अवनति उसी के हाथ में थी। सामान्य रूप से मन्त्रिपरिषद् उसके कार्यों में बाधा नहीं डालती थी। किन्तु यदि राजा कुपथगामी हो, राजकार्य की सर्वथा उपेक्षा करके ऐसे कार्यों में लग जाए जिन से प्रजा का अहित हो तो प्रकृतियों (मन्त्रियों तथा अमात्यों) को यह अधिकार अवश्य था कि वे उसके विरुद्ध उठ खड़े हों। कौटिल्य ने राजा को प्रकृतिकोप से अर्थात् मन्त्रियों, सेना, प्रजा आदि के विद्रोह से सदैव सावधान रहने को कहा है।

मन्त्री या अमात्य शासन में राजा की स्वेच्छाचारिता को किस प्रकार नियन्त्रित करते थे, इस विषय में दिव्यावदान में अशोक के सम्बन्ध में दी गई निम्नलिखित कथा बड़ा सुन्दर प्रकाश डालती है। इसके अनुसार राजा अशोक जब बौद्ध धर्म का अतीव श्रद्धालु अनुयायी बना तो उसने भिक्षुओं से पूछा कि भगवान् बुद्ध के लिए अब तक सब से अधिक धन किस व्यक्ति ने दिया है। भिक्षुओं ने उत्तर दिया कि एक महान् व्यापारी अनाथपिण्डक ने बौद्ध संघ के लिए सौ करोड़ का दान किया है। अशोक के मन में यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि वह संघ को इतना ही या इससे भी अधिक दान दे। अतः अशोक ने हजारों स्तूप और विहार बनवाए। इस प्रकार धीरे-धीरे उसने नब्बे करोड़ की धनराशि बौद्ध भिक्षु संघ के स्तूपों और विहारों को प्रदान की; दस करोड़ की राशि फिर भी शेष रह गई। राजा इसे आसानी से न दे सका, अतः वह बहुत दुःखी हुआ। राजा के प्रधानामात्य राधागुप्त ने जब अशोक से उनके चिन्तामग्न तथा दुःखी रहने का कारण पूछा तो अशोक ने कहा—"मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं भगवान् बुद्ध के लिए सौ करोड़ का दान करूँगा, किन्तु मेरा यह मनोरथ पूरा नहीं हुआ है।"

अब अशोक ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए राजकोष से शेष दस करोड़ का दान करने का निश्चय किया। किन्तु वह इसमें सफल नहीं हो सका, क्योंकि उस समय कुणाल का पुत्र (अशोक का पोता) सम्प्रति युवराज के पद पर था। उसे अमात्यों ने कहा—"कुमार! राजा अशोक अब थोड़े समय तक और रहेगा। यह धन कुक्कुटाराम विहार को भेजा जा रहा है। राजाओं की शक्ति कोष पर ही आश्रित होती है। अतः राजा को (अब अधिक दान करने से) रोक देना चाहिए।" कुमार ने

कोषाध्यक्ष (भाण्डागारिक) को राजकोष से धन देने का निषेध कर दिया।[1]

पहले राजा अशोक भिक्षुओं के लिए भोजन स्वर्ण-पात्रों में रखकर भेजा करता था; अब उसे ऐसा करने से मना कर दिया गया। इसके बाद उसने चाँदी के पात्रों में भोजन भेजना चाहा, किन्तु इसे भी रोक दिया गया। इसके बाद उसने लोहे के पात्रों में भोजन भेजना चाहा, किन्तु उसे इसकी भी अनुमति नहीं मिली। अन्त में उसने मिट्टी के पात्रों में भोजन भेजना चाहा, किन्तु उसे ऐसा करने से भी रोक दिया गया। अन्त में दान करने के लिए उसके पास केवल आधा आंवला बच गया, जो उस समय उसके हाथ में था। अब अशोक ने अत्यन्त दुःखी होकर अपने मन्त्रियों (अमात्यों) तथा प्रतिष्ठित नागरिकों (पौरों) को बुलाया और उनसे पूछा—"इस समय पृथ्वी का स्वामी कौन है?" एक अमात्य ने उठकर तथा यथोचित रीति से अभिवादन करके कहा—"देव ही राज्य के स्वामी हैं।" इस पर आँसुओं से अपने मुख को गीला करते हुए अशोक ने कहा—"तुम केवल खुशामद (दाक्षिण्य) करने के लिए झूठ क्यों बोलते हो? मैं राज्य के अधिकार से वंचित हो गया हूँ। मेरे पास तो केवल आधा आंवला है, जिस पर मेरा अधिकार है। ऐसे ऐश्वर्य को धिक्कार है!" इसके बाद अशोक ने उस आधे आंवले को कुक्कुटाराम भेजते हुए यह कहलवाया—"त्यागी, शूर तथा श्रेष्ठ मौर्य राजा अशोक सारे जम्बूद्वीप का स्वामी होते हुए भी अब केवल इस आधे आंवले का ही स्वामी रह गया है। भृत्यों ने उसके अधिकार को छीन लिया है। अब वह केवल इस आधे आंवले का ही दान कर सकता है।"[2]

उपर्युक्त कथा से यह बात भली-भाँति सूचित होती है कि मन्त्रिपरिषद् के अमात्य कई बार राजा की स्वेच्छाचारिता पर पर्याप्त नियन्त्रण रखते थे। अशोक के अमात्यों ने राधागुप्त के नेतृत्व में राजा के बौद्ध संघ को अन्धाधुन्ध दान करने पर सफलतापूर्वक पाबन्दी लगाई। किन्तु यह कार्य उन्होंने युवराज की सहायता से ही किया, क्योंकि युवराज की स्थिति उस समय राज्य में राजा के बाद सबसे अधिक महत्वपूर्ण होती थी।

विदेशनीति : मण्डल का सिद्धान्त—अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने अन्य पड़ोसी देशों के साथ बरती जाने वाली वैदेशिक नीति का वर्णन (अधिकरण ६।२ तथा अधिकरण ७) किया है। इस नीति का प्रमुख आधारभूत तत्व यह है कि पड़ोसी राज्य प्रायः शत्रु और विरोधी होते हैं और वे एक-दूसरे को हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। इस सम्बन्ध में कौटिल्य तथा अन्य प्राचीन भारतीय विचारकों—मनु (७।५४--२११), याज्ञवल्क्य

---

1. दिव्यावदान, पृ० ४२६-३०
तस्मिंश्चसमये कुनालस्य सम्पदि नाम पुत्रो युवराज्ये प्रवर्त्तते। तस्यामात्यैरभिहितम्—कुमार अशोको नाम राजा स्वल्पकालावस्थायी, इदं च द्रव्यं कुक्कुटारामं प्रेष्यते, कोषबलिनश्च राजानो निवारयितव्यः। यावत्कुमारेण भाण्डागारिकः प्रतिषिद्धः।

2. दिव्यावदान, पृ० ४३१-३२
अथ राजाशोकः संविग्नोऽमात्यान् पौरांश्च संनिपात्य कथयति—कः साम्प्रतं पृथिव्यामीश्वरः। ततोऽमात्य उत्थायासनाद् येन राजाशोकस्तेनाञ्जलिं प्रणम्योवाच—देवः पृथिव्यामीश्वरः।

(१।३४५--३४८), कामन्दक (८ से ११ अध्याय), अग्नि पुराण (अध्याय २३३) में **मण्डल** नामक सिद्धान्त का वर्णन किया है। इसके अनुसार अपने राज्य को बढ़ाने की तथा विजय करने की इच्छा रखने वाले (विजिगीषु) राजा के राज्य की सीमा के साथ लगा हुआ सामने वाला (पुरस्तात्) पड़ोसी राज्य स्वाभाविक रूप से उसका शत्रु (अरि) होगा। किन्तु इससे अगला राष्ट्र विजिगीषु के शत्रु (अरि) का शत्रु होने से विजिगीषु का मित्र होगा। इससे आगे वाला इसी प्रकार उसके अरि का मित्र और उससे अगला मित्र का मित्र और उससे अगला अरिमित्र का मित्र होगा। ये पाँच राज्य तो विजिगीषु के राज्य के सामने वाली दिशा (पुरस्तात्) में स्थित होते हैं। इसी प्रकार विजिगीषु के पिछली ओर (पश्चात्) भी कुछ राज्य होते हैं। इनमें से एकदम पिछले राज्य को **पार्ष्णिग्राह** (पार्ष्णि अर्थात् एड़ी को पकड़ने वाला) कहा जाता है। यह भी पड़ोसी होने से स्वाभाविक रूप से विजिगीषु का शत्रु होता है। इसे यह नाम इसलिए दिया गया है कि जब विजिगीषु विजय के लिए आगे बढ़ता है तो वह पीछे से उसके राज्य में गड़बड़ उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है, मानो वह उसकी एड़ी (पार्ष्णि) पकड़कर उसे आगे बढ़ने से रोक रहा हो। पार्ष्णिग्राह से अगला राज्य आक्रन्द कहलाता है। इसे यह नाम देने का कारण यह है कि यह ऐसा होता है कि जिसकी सहायता पाने के लिए विजिगीषु पुकार करता है। यह सामान्य रूप से पार्ष्णिग्राह का शत्रु होने से विजिगीषु का मित्र होगा। आक्रन्द के बाद का राजा पार्ष्णिग्राह का मित्र या पार्ष्णिग्राहासार तथा इससे अगला राजा आक्रन्द का मित्र होने से आक्रन्दासार कहलाता है।

इनके अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के राज्य भी हैं--**मध्यम** तथा **उदासीन**। मध्यम ऐसा राज्य है जिसका प्रदेश विजिगीषु तथा अरि के राज्यों की सीमा के साथ लगा हुआ है। मध्यम दोनों की—चाहे वे मिले हुए हों (संहत हों), या शत्रु हों—सहायता करने में समर्थ होता है और इन दोनों के आपस में न मिले होने की दशा में दोनों का मुकाबला कर सकता है। उदासीन राजा का प्रदेश विजिगीषु, अरि तथा मध्यम के तीनों राज्यों की सीमाओं से परे होता है। यह बहुत प्रबल होता है, उपर्युक्त तीनों के परस्पर मिले होने या न मिले होने की दशा में वह उनकी सहायता कर सकता है, उनके परस्पर न मिले होने की दशा में वह प्रत्येक का मुकाबला कर सकता है। इस प्रकार के बारह राज्यों का यह समूह **मण्डल** कहलाता है। इन बारह राज्यों की स्थिति निम्नलिखित चित्र से स्पष्ट हो जाएगी :

मण्डल सिद्धान्त का मूल तत्व यह है कि इस बात की बहुत अधिक सम्भावना है कि किसी देश के पड़ोसी राज्य उसके शत्रु हों और इन पड़ोसी राजाओं के अगले पड़ोसी इनके वैरी होने के कारण पहले राजा के मित्र हों। वे उसके साथ मिलकर मध्यवर्ती राजाओं को चक्की के दो पाटों में गेहूँ की तरह पीस सकते हैं, अतः पहले राजा के साथ उनकी मैत्री होना स्वाभाविक है। मण्डल सिद्धान्त में इसी के आधार पर राज्य की वैदेशिक नीति संचालित करने तथा दूसरे देशों को अपना मित्र बनाने पर बल दिया जाता है।

कौटिल्य की इस विदेशनीति को वर्तमान भारत के उदाहरण से इस प्रकार अच्छी तरह समझा जा सकता है कि इस देश की उत्तर-पश्चिम दिशा में विद्यमान पाकिस्तान उसका पड़ोसी होने के कारण भारत का स्वाभाविक अरि (शत्रु) है और अफगानिस्तान पाकिस्तान का अगला पड़ोसी होने से पाकिस्तान का शत्रु अर्थात् भारत का मित्र है। इसी प्रकार उत्तर दिशा में चीन भारत का पड़ोसी होने से उसका शत्रु और उसके उत्तर में विद्यमान रूस चीन का शत्रु होने से भारत का मित्र है।

कौटिल्य का महत्व और मूल्यांकन—भारतीय राजनीतिक विचारधारा में कौटिल्य अपनी कई विशेषताओं और प्रभावों के कारण असाधारण महत्व रखता है।

(१) **उसकी पहली विशेषता अर्थशास्त्रविषयक सभी विषयों का सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध और विशद विवेचन करना था।** उससे पहले अर्थशास्त्र के अनेक आचार्य हो चुके थे, इनके विभिन्न विषयों में विभिन्न मत थे, इन सब मतों का आलोडन और मन्थन करके विष्णुगुप्त ने इसके सभी विषयों का सांगोपांग निरूपण करने वाला एक ऐसा शास्त्र बनाया जो शीघ्र ही अपनी उत्कृष्टता के कारण सर्वमान्य हो गया।

(२) **दूसरी विशेषता राज्य के उच्च एवं साधारण कर्मचारियों को भ्रष्टाचार से मुक्त रखना है।** पहले यह बताया जा चुका है कि कौटिल्य ने मन्त्रियों तथा अमात्यों के पदों पर ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त करने का परामर्श दिया है, जिनके आचरण की परीक्षा अच्छी तरह से कर ली गई हो तथा जिनके बारे में यह निश्चित हो चुका हो कि वे सब प्रकार के प्रलोभनों, व्यसनों और बुराइयों से मुक्त (उपधाशुद्ध) हैं। इसी प्रकार सरकारी कर्मचारियों की घूसखोरी की प्रवृत्ति को वह अच्छी तरह समझता था, उसने लिखा है कि जिस प्रकार पानी में रहने वाली मछलियों के बारे में यह पता नहीं लगता कि वे कब पानी पीती हैं, उसी प्रकार राजकर्मचारी कब घूस लेते हैं, इसका पता लगाना कठिन है। फिर भी उसने इनके भ्रष्टाचार को दूर करने की महत्ता और उपायों की ओर ध्यान खींचा है तथा राजा को इस विषय में सदैव सावधान रहने का परामर्श दिया है।

(३) **तीसरी विशेषता उसके कानून सम्बन्धी विचार हैं।** इस क्षेत्र में उसकी पहली बड़ी बात **कानून के शासन** (Rule of Law) के विचार को महत्व देना है। वह राजतन्त्र का कट्टर समर्थक होते हुए भी राजा को कानून से ऊपर नहीं समझता है। पहले यह बताया जा चुका है कि राजा यदि धर्म की किसी व्यवस्था का उल्लंघन करता है, दण्ड न देने योग्य व्यक्ति को दण्ड देता है तो राजा को इसका तिगुना दण्ड प्रायश्चित के रूप में वरुण देवता को देना पड़ता है। इस क्षेत्र में उसकी एक **नवीन मौलिक देन**

राजा की आज्ञा को भारतीय साहित्य में पहली बार विभिन्न प्रकार के कानूनों में तथा अदालती मामलों में सर्वोच्च स्थान देना था। वह कानून के चार प्रकारों—धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन में राजशासन को सबसे प्रबल बताता है। इस विषय में श्री उपेन्द्रनाथ घोषाल ने लिखा है—"हमारे कानूनी तथा राजनीतिक विचारों के इतिहास में, कानूनी मामलों में राजा के आदेश का अन्य सब कानूनों की अपेक्षा अधिक प्रबल होने का संकेत बड़ा महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह पहली बार सुस्पष्ट और असंदिग्ध रूप से कानूनी दृष्टि से राजा की सर्वोच्च प्रभुता रखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।"[1] इस क्षेत्र में तीसरी बात विभिन्न प्रकार के कानूनों के संग्रह और संकलन पर बल देना था। कौटिल्य ने दायभाग तथा बँटवारे के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की है (३।७) कि राजा इस विषय में अपना निर्णय विभिन्न प्रदेशों, जातियों, संघों, श्रेणियों तथा गाँवों में प्राचीन परम्परा से चले आने वाले नियमों (धर्मों) के अनुसार करेगा। यह बात अन्य धर्मशास्त्री भी कहते हैं। कौटिल्य की यह विशेषता है कि उसने इस बात की व्यवस्था की है कि विभिन्न प्रदेशों, जातियों, श्रेणियों, संघों, तथा गाँवों के परम्परगत रीति-रिवाजों तथा धर्मों को रजिस्टरों में लेखबद्ध करा लिया जाए। यह व्यवस्था हमें भारत में ब्रिटिश शासन स्थापित होने पर विभिन्न प्रान्तों के रिवाजों या दस्तूरों के संग्रह करने का तथा इनके अनुसार शासन करने का स्मरण कराती है। राजा द्वारा नए जीते प्रदेशों में प्रचलित पुराने रिवाजों और नियमों के बारे में भी कौटिल्य ने इसी प्रकार की व्यवस्था की है (१३।५)। इन व्यवस्थाओं से कौटिल्य ने कानून को स्पष्टता और स्थिरता प्रदान की है।

(४) **चौथी विशेषता राजा की शिक्षा पर बल देना है।** वह राजतन्त्र का समर्थक था, यह राजा के व्यक्तित्व पर आधारित था, अतः उसने इसकी सफलता के लिए राजा को सब दृष्टियों से योग्य बनाना आवश्यक समझा है तथा उसकी बौद्धिक, मानसिक तथा नैतिक शिक्षा की विस्तृत व्यवस्था की है (१।५)। कौटिल्य जैसी राजकुमारों के प्रशिक्षण की व्यवस्था हमें उस समय के अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलती है।

(५) **पाँचवीं विशेषता उसके आर्थिक विचार तथा राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र पर स्थापित किया जाने वाला कठोर नियन्त्रण और अनेक उद्योगों एवं कार्यों को करना तथा कल्याण राज्य** (Welfare State) **को मानना है।** अनेक विद्वानों ने कौटिल्य की इन व्यवस्थाओं में राजकीय समाजवाद (State Socialism), समूहवाद (Collectivism) तथा अधिनायकवाद (Totalitarianism) की झलक देखी है। एक जर्मन विद्वान् ब्रेलोएर (Breloer) ने कौटिल्य को आर्थिक योजना (Economic Planning) के विचार का जन्मदाता कहा है। इन सब विचारों में काफी अत्युक्ति है। समाजवाद और समूहवाद १९वीं शताब्दी में योरोप में औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न होने वाली विचारधाराएँ हैं, चौथी शताब्दी ई० पू० में कौटिल्य के समय में ये परिस्थितियाँ नहीं थीं, अतः उस समय समाजवादी विचारों की कल्पना करना ठीक नहीं है। इसी आधार

---

1. उपेन्द्रनाथ घोषाल—ए हिस्टरी ऑफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज, पृ० ११५

पर विनयकुमार सरकार ने उपर्युक्त जर्मन विद्वान् के मत का खण्डन करते हुए कहा है[1]—"नियोजन (Planning) का विचार प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर १९१८ के बाद विकसित हुआ है, इसे चौथी शताब्दी ई० पू० में कैसे ले जाया जा सकता है?" नियोजन के आधुनिक विचार का मूल तत्व यह है कि कुछ वर्षों के लिए आर्थिक विकास का एक कार्यक्रम बनाया जाए, विभिन्न क्षेत्रों में विकास के लिए लक्ष्य तथा साधन और प्राथमिकताएँ निश्चित करके सब कार्य किए जाएँ और प्रतिवर्ष प्रगति का सिंहावलोकन होता रहे। अर्थशास्त्र में हमें ये सब बातें नहीं मिलती हैं। फिर भी हमें इनमें से कुछ बातें दिखाई देती हैं: पहली बात बजट तथा प्रत्येक विभाग के आर्थिक कार्यों से होने वाली राजकीय आमदनी की है। विभिन्न विभागों पर राज्य का कड़ा नियन्त्रण इस दृष्टि से रखा गया है कि ये राज्य को निश्चित आमदनी देते रहें। नियोजन के **आधुनिक** सिद्धान्त में **विकास** की प्रक्रिया पर बल दिया जाता है, अर्थशास्त्र में आर्थिक नियन्त्रण के पहलू पर बल दिया है।

किन्तु फिर भी, अर्थशास्त्र में हम कल्याणकारी राज्य (Welfare State) का विचार पूर्णरूप से पाते हैं। राजा का आदर्श और लक्ष्य प्रजा के सुख में अपना सुख तथा प्रजा के हित में अपना हित समझना है। वह समाज के निर्बल वर्गों—अनाथों, विधवाओं का भरण-पोषण करता है, कारीगरों और मजदूरों की रक्षा की व्यवस्था करता है। प्रजा पर आने वाली दैवी आपत्तियों का निवारण करने का प्रयत्न करता है (५।३)। इसके साथ ही वह सभी प्रकार के समाज-विरोधी तत्वों से जनता की रक्षा करने के विस्तृत विधान (४।१-४) बनाता है। प्रजा के हित के लिए राजा द्वारा की जाने वाली व्यवस्थाओं का जितने विस्तार से कौटिल्य ने वर्णन किया है उतना प्राचीन भारत के किसी अन्य लेखक ने नहीं किया है। इन सब विशेषताओं के कारण कौटिल्य भारत की राजनीतिक विचारधारा में अद्वितीय स्थान रखता है।

सारांश

मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त के गुरु तथा प्रधानमन्त्री चाणक्य अथवा कौटिल्य ने प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन पर सबसे अधिक प्रकाश डालने वाले अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसके प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्त निम्न-लिखित हैं—

(१) **राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त**—प्राचीन भारत में राज्य की उत्पति के पाँच प्रकार के सिद्धान्त माने जाते थे: (१) ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित पहले सिद्धान्त के अनुसार राज्य का जन्म युद्ध की परिस्थितियों में सैनिक आवश्यकताओं के कारण हुआ। (२) मनुस्मृति में प्रतिपादित दूसरे दैवी अधिकार (Divine Theory) के सिद्धान्त के अनुसार भगवान् ने विभिन्न देवताओं के उत्कृष्ट अंश लेकर प्रजा के कल्याण के लिए राजा का निर्माण किया। (३) अथर्ववेद में वर्णित तीसरे सिद्धान्त के अनुसार शनैः-शनैः अनेक रूपों में से गुजरते हुए राज्य का विकास हुआ। (४) चौथे सिद्धान्त के अनुसार

1. इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, खण्ड ११ (१९३५), पृ० ३४७

स्वर्णयुग की समाप्ति पर मानव-समाज में भयावह अराजक स्थिति उत्पन्न होने पर समाज में व्यवस्था स्थापित करने के लिए राजा की उत्पति हुई। (५) कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में पाँचवे सिद्धान्त मात्स्य न्याय और अनुबन्धवाद का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार आरम्भ में समाज में बड़ी अराजकता थी, जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती है उसी तरह बलवान् निर्बल लोगों के अधिकार और सम्पत्ति हड़प रहे थे। इस अराजक दशा को दूर करने के लिए प्रजा ने मनु को अपना राजा बनाया और अपनी रक्षा और कल्याण के बदले में उसे अनाज का छठा हिस्सा देने का निश्चय किया। राजा प्रजा से कर लेने का तभी तक अधिकार रखता है जब तक वह प्रजा का पालन करता है।

(२) **सप्तांग सिद्धान्त**—कौटिल्य ने राजा, मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, सेना और मित्र नामक सात अंगों वाले राज्य की कल्पना की है। जिस प्रकार हमारा मानव-शरीर सिर, हाथ, पैर, मुँह आदि अनेक अंगों से मिलकर बनता है, उसी प्रकार राज्य का उपर्युक्त सातों अंगों से निर्माण होता है। इन्हें प्रकृति भी कहा जाता है। जिस प्रकार शरीर के किसी अंग में थोड़ा-सा विकार या खराबी आने पर उसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है उसी तरह सातों अंगों में से किसी अंग के खराब होने पर राज्य पर उसका असर होता है। सातों अंग राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। कोई भी राजा उसी दशा में काम कर सकता है जब सातों अंग एक-दूसरे के साथ मिलकर सहयोग से काम करें।

(३) राजा के कर्त्तव्यों और गुणों के बारे में कौटिल्य ने बड़े ऊँचे आदर्श और उद्देश्य रखे हैं। राजा-प्रजा में पिता-पुत्र का सम्बन्ध होना चाहिए। प्रजा के सुख में ही राजा को अपना सुख मानना चाहिए। राजा के कुछ प्रमुख गुण ये हैं—कुलीन होना, दैवी बुद्धि और दैवी शक्ति से सम्पन्न होना, अत्यधिक उत्साही और क्रियाशील होना, काम, क्रोध, लोभ, मोह के दोषों से मुक्त होना। ऐसे आदर्श राजा को तैयार करने के लिए उसने राजा की दिनचर्या और शिक्षा की विस्तृत व्यवस्था की है और राजा की निरंकुश शक्ति को सीमित करने के लिए कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए हैं।

(४) कौटिल्य राजा की सहायता के लिए योग्य मन्त्रियों की एक परिषद् की व्यवस्था करता है जिसमें १२ से २० तक मन्त्री होते थे। मन्त्रियों की एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे सब प्रकार के दोषों, दुर्गुणों, दुर्व्यसनों से मुक्त हों। इस दृष्टि से मन्त्रियों को नियुक्त करने से पहले उनकी कई प्रकार की परीक्षाएँ ली जाती थीं। गुप्त रीति से किसी के चरित्र की परीक्षा करना उपधा कहलाता था और यह चार प्रकार की होती थीं। इन सब परीक्षाओं में खरे उतरने वाले लोगों को ही राजा विभिन्न पदों पर नियुक्त करता था। मन्त्रिपरिषद् राजा पर पर्याप्त नियन्त्रण रखती थी।

प्रश्न

(१) कौटिल्य के अनुसार आदर्श राजा के मुख्य लक्षण क्या हैं? (गोरखपुर, १९७७)
(२) निम्नलिखित पर टिप्पणी कीजिए—
(क) मात्स्य न्याय, (ख) राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त।
(३) सप्ताँग सिद्धान्त का क्या अभिप्राय है?
(४) विदेशनीति के मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन कीजिए।

१

पहला अध्याय

प्लेटो

(PLATO)

महत्व—पश्चिमी जगत् के राजनीतिक विचारकों और दार्शनिकों में प्लेटो का स्थान बहुत ऊँचा है। उसने सर्वप्रथम विस्तृत रूप से राज्यविषयक सभी प्रश्नों का विवेचन अपने **रिपब्लिक** (Republic) और **लाज़** (Laws) नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में किया। पिछले २४०० वर्षों से ये ग्रन्थ पश्चिमी जगत् के दार्शनिक और राजनीतिक चिन्तन की आधारशिला तथा वहाँ के सभी विचारकों का एक प्रधान प्रेरणा-स्रोत बने हुए हैं। जिस प्रकार गंगोत्री से गंगा का पुनीत प्रवाह प्रारम्भ हुआ है, उसी प्रकार योरोप के राजनीतिक चिन्तन की विचारधारा का प्रादुर्भाव प्लेटो से हुआ है। वह पश्चिम में आधुनिक युग में प्रबल होने वाली साम्यवाद, समाजवाद, फासिज़्म, नाज़ीवाद, अधिनायकवाद आदि विचारधाराओं की गंगोत्री समझा जाता है, चौबीस शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर, आज भी पश्चिमी जगत् में उसके ग्रन्थों को बड़े आदर के साथ पढ़ा जाता है, उसे दर्शनशास्त्र और राजनीतिक तत्व चिन्तन के प्रथम प्रवर्त्तकों में गिना जाता है।

जीवन-चरित्र—पश्चिमी जगत् में सर्वप्रथम आदर्श काल्पनिक राज्य (Utopia) की योजना प्रस्तुत करने वाले सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो का जन्म एथेन्स के एक प्राचीन और समृद्ध कुल में ४२८-२७ ई० पू० में हुआ। उसका पिता अरिस्तौन एथेन्स के अन्तिम सम्राट् काडरस के वंश में हुआ था; उसकी माता एथेन्स के प्रसिद्ध कानूनों का निर्माण करने वाले सोलन के घराने की थी। उसे सब प्रकार का सौभाग्य—उच्चकुल, वैभव, अद्वितीय सौन्दर्य, शारीरिक स्वास्थ्य और प्रखर बुद्धि प्राप्त थी। उसका वास्तविक नाम अरिस्तोक्लीज़ था, किन्तु उसके खूब भरे हुए चौड़े कन्धों के कारण उसके व्यायाम शिक्षक ने उसे प्लेटो का नाम दिया। आरम्भ में उसकी इच्छा राजनीतिज्ञ बनने की थी, परन्तु उसकी यह इच्छा पूरी नहीं हुई।

प्लेटो उस समय के प्रमुख विचारक **सुकरात** (Socrates) की शिक्षाओं से आकृष्ट हुआ, अतः वह उसका शिष्य बना। जब सत्य कहने के अपराध में सुकरात को विषपान का दण्ड दिया गया तो उसके मन पर इस घटना का गहरा प्रभाव पड़ा। इस घटना ने उसे राजनीति से पराङ्मुख कर दर्शनशास्त्र का विद्यार्थी बना दिया। उसने राजनीतिज्ञ बनने की इच्छा छोड़ दी और दार्शनिक बनने का संकल्प किया।

३९९ ई० पू० में सुकरात के प्राणदण्ड के बाद सम्भवत: उसका साथी होने और लोकतन्त्र का विरोधी होने के कारण प्लेटो का एथेन्स में रहना खतरे से खाली नहीं था, अत: वह वहाँ से निकटवर्ती मेगरा नामक नगर में चला गया। इसके बाद वह सर्वोत्तम शासन-प्रणाली की खोज में अगले १२ वर्षों तक मिश्र, इटली और यूनान के नगरों का भ्रमण करता रहा ; यह भी कहा जाता है कि इन दिनों उसने गंगा के तट तक भारत की भी यात्रा की थी। पिथागोरस से ज्ञान पाने तथा दार्शनिकों का शासन देखने के लिए वह ३८७ ई० पू० में इटली और सिसली गया। सिसली के सिराक्यूज़ राज्य में उसकी भेंट दियोन (Dion) नामक अत्यन्त सुसंस्कृत व्यक्ति एवं वहाँ के राजा दियोनिसियस प्रथम से हुई। उसकी प्रेरणा से वह दियोनिसियस को दार्शनिक शासक (Philosopher King) बनाने को तैयार हो गया, परन्तु उसे इस प्रयत्न में सफलता नहीं मिली।

३८३ ई० पू० में प्लेटो ने एथेन्स के बाहर अकादीमस नामक व्यक्ति का बगीचा मोल लिया, यहीं उसने अपना शिक्षणालय खोला। यही प्लेटो की वह प्रसिद्ध **अकादमी** (Academy) या शिक्षा संस्था थी, जिसे योरोप का प्रथम विश्वविद्यालय होने का गौरव प्राप्त है। उसने ४० वर्ष की अवस्था में अकादमी की स्थापना की और उसकी आयु के अगले ४० वर्ष यहीं अध्यापन कार्य में बीते। इस अकादमी में गणितशास्त्र आदि भौतिक विज्ञानों की शिक्षा को बड़ी प्रधानता दी जाती थी ; किन्तु इसके साथ ही यहाँ राजनीतिज्ञ, कानूनवेत्ता और दार्शनिक शासक बनने की भी शिक्षा दी जाती थी।

३६७ ई० पू० में दियोनिसियस प्रथम की मृत्यु हुई। उसके बाद उसका पुत्र दियोनिसियस द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। वह दियोन (Dion) की प्रेरणा से दार्शनिक शासक बनने के लिए तैयार हो गया। प्लेटो को पहली बार किसी राजा को दार्शनिक की भाँति बुद्धिमत्तापूर्वक शासन कराने के कार्य में अत्यधिक कटु अनुभव हुआ था, तो भी अपने आदर्श को क्रियात्मक रूप देने के लिए दूसरी बार वह सिराक्यूज़ गया, किन्तु वह कुछ समय बाद पुन: असफल होकर वहाँ से वापिस लौट आया। ८१ वर्ष की आयु में ३४७ ई० पू० में अपने पीछे अरस्तू आदि सैकड़ों शिष्यों को छोड़कर राजाओं को दार्शनिक बनाने का सपना लेने वाला अमर दार्शनिक मृत्यु की गोद में सो गया।

प्लेटो के ग्रन्थ—प्लेटो ग्रन्थ लिखने का विरोधी था, फिर भी उसके नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों की संख्या ३६ या ३८ मानी जाती है, इनमें प्रामाणिक ग्रन्थ केवल २८ हैं। उसके सभी ग्रन्थ प्रश्नोत्तर की, संवाद की या वार्तालाप की शैली में लिखे गए हैं, सब में अन्तिम सिद्धान्त या पक्ष रखने वाला व्यक्ति सुकरात है। उसने अपने सब विचार अपने गुरु के मुख से प्रस्तुत किए हैं। प्लेटो उत्तम कवि, नाटककार और साहित्यिक था; उसने गूढ़, गम्भीर दार्शनिक विषयों तथा संवादों को ऐसे नाटकीय एवं सजीव रूप में उपस्थित किया है कि इनमें उपन्यासों जैसी रोचकता आ गई है।

उसके ग्रन्थों में राज्यविषयक चिन्तन की दृष्टि से तीन ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) पहला ग्रन्थ **रिपब्लिक** (Republic) ३८७ ई० पू० लिखा गया था। यह उसके आरम्भिक, किन्तु परिपक्व विचारों का प्रमाण है।

(२) दूसरा ग्रन्थ **पोलिटिकस या स्टेट्समैन** (Statesman) ३६५ ई० पू० लिखा गया था।

(३) तीसरा ग्रन्थ **लाज** (Laws) ३६० से ३४८ ई० पू० के मध्य का है। इसका अधिकांश भाग उसने ७० वर्ष की आयु के बाद अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में लिखा। यह ग्रन्थ उसकी मृत्यु के एक वर्ष बाद प्रकाशित हुआ था। यहाँ इन ग्रन्थों के आधार पर उसके राजनीतिक विचारों का परिचय दिया जाएगा।

रिपब्लिक (Republic) **का स्वरूप**—यह प्लेटो की सबसे प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण कृति है। इसे प्लेटो ने ४० वर्ष की अवस्था में अपने विचारों के परिपक्व और प्रौढ़ होने पर लिखा था। उसकी अन्य सभी कृतियों की अपेक्षा यह ग्रन्थ महत्व की दृष्टि से सबसे अधिक बढ़ा-चढ़ा है।

रिपब्लिक में केवल राज्य की व्यवस्था का ही वर्णन नहीं है, अपितु यह हमारे महाभारत की भाँति प्लेटो के विचारों का विश्वकोश है। इसमें नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदि विविध विषयों का वर्णन है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में फ्रेंच विचारक रूसो ने लिखा था—"**रिपब्लिक राजनीतिशास्त्र का ग्रन्थ नहीं, किन्तु शिक्षा पर कभी भी लिखा गया सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।**" यह राजनीतिशास्त्र का भी ग्रन्थ है, क्योंकि इसमें विभिन्न शासन-प्रणालियों का, राज्य के स्वरूप का और आदर्श शासन-प्रणाली का वर्णन है। इस एक ही ग्रन्थ में अनेक शास्त्रों और विषयों का वर्णन है। रिपब्लिक में मानव-जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डालने के साथ-ही-साथ बड़े विभिन्न और व्यापक विषयों पर विचार किया गया है।

रिपब्लिक का विषय—रिपब्लिक का ग्रन्थ **दस पुस्तकों** में विभक्त है। **पहली** पुस्तक में न्यायसम्बन्धी प्रचलित विचारों का वर्णन है। **दूसरी से चौथी** पुस्तक तक न्याय का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए राज्य में और व्यक्ति में उसका स्वरूप स्पष्ट किया है। **चौथी** पुस्तक में स्त्रियों की स्थिति, संरक्षकों के लिए परिवार की व्यवस्था समाप्त करने तथा युद्ध के नियमों का वर्णन है। **पाँचवीं से सातवीं** पुस्तक में दार्शनिकों के राजा होने, दार्शनिकों के लक्षण का, उच्चतम ज्ञान का तथा उच्चतम अध्ययन के विषयों—गणित, भूमितिशास्त्र, ज्योतिष तथा तर्कशास्त्र का वर्णन है। **आठवीं तथा नवीं** पुस्तक में समाज और आत्मा के पतन, न्यायपूर्ण तथा अन्यायी जीवनों की तुलना, आदर्श राज्य के निरंकुश राजतन्त्र आदि के रूप में परिणत होने की प्रक्रिया बताई गई है। **दसवीं** पुस्तक में दर्शन और कविता में विरोध प्रदर्शित करते हुए आदर्श राज्य से कवियों के बहिष्कार, आत्मा की अमरता आदि विषयों का वर्णन है।

यहाँ रिपब्लिक के राजशास्त्रविषयक कुछ महत्वपूर्ण विचारों का संक्षिप्त वर्णन किया जाएगा।

न्याय का अर्थ तथा सिद्धान्त—रिपब्लिक का आरम्भ और अन्त न्याय के स्वरूप के विवेचन के साथ होता है। **आजकल प्रधान रूप से न्याय का अर्थ न्यायाधीश द्वारा कानून के अनुसार अपराधियों को दण्ड देना समझा जाता है, किन्तु प्लेटो के मतानुसार न्याय कोई कानूनी (Legal) परिभाषा नहीं है, इसका अर्थ केवल इतना ही है कि मनुष्य अपने उन सब कर्त्तव्यों का पूरा पालन करे, जिनका पालन समाज के प्रयोजनों की दृष्टि से किया जाना आवश्यक है।** समाज और राज्य अपनी

आवश्यकताओं तथा व्यक्तियों की योग्यताओं के अनुसार उनके लिए कुछ कर्त्तव्यों और धर्मों का पालन करने का नियम बनाते हैं, इनका ठीक-ठीक पालन करना ही न्याय है। प्लेटो ने न्याय के विषय में अपना सिद्धान्त बताने से पहले उस समय न्याय के विषय में प्रचलित सभी धारणाओं का खण्डन किया है। ये धारणाएँ निम्नलिखित थीं—

प्लेटो से पहले प्रचलित न्यायसम्बन्धी विभिन्न धारणाओं का खण्डन—(१) इनमें **पहली धारणा कैफालस** (Cephalus) की है। वह परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार **न्याय का अर्थ "सत्य बोलना और ऋण चुकाना" समझता है**। किन्तु प्लेटो कहता है कि यह परिभाषा दोषपूर्ण है, क्योंकि ये दोनों कार्य परिस्थितियों के अनुसार कभी न्याय और कभी अन्याय हो सकते हैं। "उदाहरणार्थ, मैं समझता हूँ कि यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि यदि कोई आदमी अपने स्वस्थ चित्त वाले मित्र से अस्त्र ले और तदुपरान्त अस्त्र देने वाला पागल हो जाए और उन अस्त्रों को वापस माँगे तो ऐसी अवस्था में हमें उनको नहीं लौटाना चाहिए ; ऐसी अवस्था में जो अस्त्र लौटाएगा, वह न्याय करने वाला नहीं कहा जा सकता।"

(२) **पोलीमार्कस** (Polymarcus) **न्याय की दूसरी परिभाषा** यह करता है कि **मित्र के प्रति भलाई और शत्रु के प्रति बुराई करने की कला** (Art) **न्याय है**।[1] प्लेटो ने इस लक्षण में निम्नलिखित दोष बताए हैं—

(क) यदि न्याय का प्रयोग अपनी इच्छानुसार किया जाएगा तो इसे न्याय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वेच्छाचार न्याय का पर्याय नहीं हो सकता।

(ख) कई व्यक्ति ऊपर से मित्रता का ढोंग करते हुए वास्तव में शत्रु होते हैं। यदि इनके साथ भलाई का व्यवहार किया जाए तो यह हमारे लिए हितकर नहीं होगा और न किया जाए तो न्याय की उपर्युक्त परिभाषा गलत हो जाएगी।

(ग) यह भी विचारणीय प्रश्न है कि क्या हमारा शत्रुओं के प्रति बुराई करना न्याय है। जिन व्यक्तियों के साथ बुराई की जाती है, उनका अधःपतन हो जाता है। किसी व्यक्ति की स्थिति को पहले की अपेक्षा अधिक खराब करना न्याय कभी नहीं हो सकता।

(घ) मित्र और शत्रु के प्रति भलाई और बुराई का विचार वैयक्तिक है, किन्तु न्याय एक सामाजिक विचार है। समष्टि के कल्याण करने की दृष्टि से किया गया कार्य न्याय हो सकता है। अतः पोलीमार्कस की परिभाषा उपर्युक्त चार दोषों के कारण मान्य नहीं हो सकती।

(३) **तीसरी धारणा** थ्रेसीमेकस (Thrasymachus) की है। यह धारणा पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न होने वाले सोफिस्ट (Sophist) नामक नवीन क्रांतिकारी विचारकों की धारणा थी। **इस धारणा के अनुसार न्याय शक्तिशाली का स्वार्थ** (Interest of the Stronger) है।[2] शक्तिशाली व्यक्ति अपनी

---

1. "Justice is the art which gives good to friends and evil to enemies."
—Republic 1/331

2. "Justice is nothing else than the interest of the stronger."
—Republic 1/338

स्वार्थसिद्धि के लिए जो कानून या व्यवस्था बनाता है, वही न्याय होता है। इस सिद्धान्त में न्याय और शक्ति में कोई भेद नहीं माना गया है।

प्लेटो थ्रेसीमेकस की स्थापना का खण्डन करते हुए यह युक्ति प्रस्तुत करता है **कि शासन करना एक कला है, सब कलाओं का लक्ष्य अपनी स्वार्थसिद्धि करना नहीं, किन्तु उन वस्तुओं के दोषों को दूर करना है, जिनके साथ उनका सम्बन्ध होता है।** आदर्श शासक वह है जो अपने नहीं, किन्तु प्रजा के हितों का ध्यान रखे और उसके दोषों, दुःखों, कठिनाइयों का ध्यान रखे। उसका लक्ष्य प्रजा का कल्याण करना है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि न्याय शक्तिशाली शासक का स्वार्थ है।

न्याय सम्बन्धी **चौथी व्यवहारवादी** (Pragmatic) धारणा **ग्लौकोन** (Gloucon) की है। यह समाज में न्याय के विचार के सृजन का श्रेय निर्बल व्यक्तियों को देती है। वह इसका आधार शक्तिशाली की इच्छा नहीं, किन्तु दुर्बल व्यक्तियों का भय और आशंका मानता है।

प्लेटो इस धारणा से सहमत नहीं है। वह कानून और न्याय को समझौते पर आधारित बाहरी वस्तु नहीं मानता, किन्तु आत्मा का आन्तरिक गुण समझता है। न्याय का गुण व्यक्ति की आत्मा में रहता है। न्याय का पालन भय अथवा शक्ति के कारण नहीं होता, अपितु स्वाभाविक रूप से होता है।

प्लेटो का न्यायविषयक सिद्धान्त

प्लेटो के मतानुसार राज्य के चार धर्म या गुण (Virtues) हैं—बुद्धिमत्ता, साहस, संयम और न्याय। बुद्धिमत्ता राज्य के शासक वर्ग में रहती है, वह बुद्धि द्वारा राज्य का शासन करता है। साहस सैनिक का गुण है तथा संयम उत्पादक वर्ग का। अब चार गुणों में से न्याय ही शेष रहा। यह क्या है और कहाँ रहता है? इस सम्बन्ध में प्लेटो का यह उत्तर है कि **यह अपने निश्चित स्थान** (Station) **में अपने कर्त्तव्यों का पालन करना और दूसरों के कर्त्तव्यों में हस्तक्षेप न करना है।** अतः इसका निवास-स्थान अपना निश्चित कर्त्तव्य पूरा करने वाले प्रत्येक नागरिक के मन में है। उसका यह मौलिक सिद्धान्त है कि 'एक व्यक्ति को केवल एक ही ऐसा कार्य करना चाहिए, जो उसके स्वभाव के बिलकुल ही अनुकूल हो।' उदाहरणार्थ, शासक यदि बुद्धिमत्तापूर्वक अपना कार्य करता है तो वह न्यायी है और वह राज्य भी न्यायी है, क्योंकि इसका नागरिक अपने निश्चित स्थानों में निश्चित कार्य को पूरा कर रहा है।

न्याय के दो रूप हैं—**सामाजिक तथा वैयक्तिक। सामाजिक रूप** में न्याय समाज के विभिन्न अंगों से उनके कर्त्तव्यों का पालन कराता है और उनमें सामंजस्य तथा एकता बनाए रखता है। समाज के तीनों वर्ग—उत्पादक, सैनिक और शासक अपनी आवश्यकताओं के कारण एक होकर अपने निश्चित कर्त्तव्यों का पालन करते हुए समष्टि को बनाए रखते हैं। व्यक्ति के लिए तथा समाज के लिए इससे अच्छी कोई व्यवस्था नहीं हो सकती कि वे अपने कार्यों को पूरा करें।

प्लेटो के शब्दों में, "**न्याय वह बन्धन है जो समाज को व्यक्तियों का ऐसा सामंजस्य-पूर्ण संगठन बनाता है, जिसमें व्यक्ति अपनी योग्यता एवं प्रशिक्षण के अनुसार कार्य करते हैं।**"[1] व्यक्ति के लिए तथा समाज के लिए इससे अच्छी कोई व्यवस्था नहीं हो सकती है कि वे अपने कार्य को पूरा करें। "ट्रैफलगर में नेपोलियन के फ्रांस से लड़ने वाला इंगलैंड न्यायी था, क्योंकि उस युद्ध में नेल्सन के नेतृत्व में ब्रिटिश बेड़े के नौसैनिकों ने अपने कर्त्तव्य का पालन किया था।"

फोस्टर के शब्दों में **प्लेटो के सामाजिक न्याय का विचार वास्तुकारात्मक** (Architcetonic) हैं।[2] गृह निर्माण का कार्य कराते हुए प्रधान वास्तुकार या इंजीनियर राजों, बढ़इयों, मूर्तिकारों से काम लेता है, ये उनके निरीक्षण में कार्य करते हैं। इनमें से प्रत्येक का विशेष कार्य निश्चित होता है, वास्तुकार का कार्य सबके कार्य को ठीक प्रकार से संचालित करना और उनकी देखरेख करना है। इसके विविध कार्यों में दो प्रकार की खूबियाँ और खामियाँ हो सकती हैं, पहली विशेष कारीगरों की और दूसरी वास्तुकार की। उदाहरणार्थ एक दरवाजे को लीजिए। इसे बढ़ई बहुत सुन्दर बना सकता है; किन्तु वास्तुकार को यह भी देखना होगा कि भवन के अनुपात में इसकी लम्बाई, चौड़ाई तथा अन्य बातें ठीक हों। ऐसा न होने पर सुन्दर से सुन्दर नक्काशीदार दरवाजा भी भद्दा लगेगा। यह स्पष्ट है कि इसकी खूबी वास्तुकार की कुशलता पर अवलम्वित है। इसकी विशेषता इसी बात में है कि वह विभिन्न प्रकार के कारीगरों पर इस प्रकार का नियन्त्रण और अनुशासन रखे कि भवन निर्माण में किसी प्रकार का दोष न आने पाए। इसी प्रकार समाज में न्याय सब मनुष्यों से उनका कर्त्तव्य पूरा कराते हुए उन पर यह अंकुश रखता है कि वे सामर्थ्य होने पर भी अपने क्षेत्र से वाहर न जाएँ, समष्टि की एकता और हित को बनाए रखें, स्वधर्म का ही पालन करें ताकि समाज के सभी अंगों में सामंजस्य बना रहे।

प्लेटो का यह विश्वास है कि समाज में न्याय की व्यवस्था होने पर तथा व्यक्ति द्वारा इसके अनुसार कार्य करने पर वास्तविक आनन्द की अनुभूति होती है। उसका मत है कि जिस प्रकार आँखों का गुण (Virtue) **अच्छी दृष्टि है, कानों का गुण श्रवण शक्ति है उसी प्रकार आत्मा का गुण उत्कृष्टता** (Excellence) है। आत्मा के लिए उत्तमता की अभिव्यक्ति ही सबसे बड़ा न्याय है। आत्मा में उत्तम जीवन बिताने का

---

1. "Just'ce is the bond which holds a society together in a harmonious union of individuals, each of whom has found his life work in accordance with his natural fitness and his tra'ning."

—Plato in Republic.

2. "Justice is architectonic in relation to the other excellences; it is related to them as the work of the architect or mזterbuider in the construction of a house is related to that of the masons, joiners, woodcarvers,, sculptors, who work under his directions."

—Foster, p. 41.

गुण होता है जिससे सुख मिलता है। जो आत्मा जितनी ही गुणवान अर्थात् जितनी ही न्यायी होगी उसमें उतना ही अधिक आनन्द होगा। इस प्रकार बार्कर के शब्दों में प्लेटो यहाँ न्याय को आत्मा की एक ऐसी शक्ति या गुण मानते हैं जो आत्मा को आनन्द प्रदान कर सकता है?[1]

न्याय का दूसरा रूप वैयक्तिक है। प्रत्येक व्यक्ति में विचार, भावनाएँ तथा इच्छाएँ पाई जाती हैं। इनमें समन्वय बना रहना वैयक्तिक न्याय या मानवीय सद्गुण है। यदि तीनों तत्वों का सामंजस्य न रहे तो इससे उसमें धर्मान्धता और कामान्धता उत्पन्न होती है। न्याय का प्रयोजन आत्मा के तीनों तत्वों में साम्यावस्था, सामंजस्य और व्यवस्था बनाए रखना है। इस प्रकार न्याय जहाँ एक ओर समाज में सामंजस्य स्थापित करने का कारण है, राज्य को एक सूत्र में पिरोने वाला सामाजिक गुण है, वहाँ दूसरी ओर वैयक्तिक सद्गुण भी है, क्योंकि यह मनुष्य के आध्यात्मिक सन्तुलन को ठीक बनाकर उसे श्रेष्ठ और सामाजिक बनाता है। प्लेटो के दर्शन का यह प्रथम मौलिक सिद्धान्त है।

प्लेटो के आदर्श समाज में न्याय तभी सुव्यवस्थित रीति से कार्य कर सकता है जब समाज के तीनों वर्ग केवल अपना-अपना कार्य करें, किसी दूसरे वर्ग के कार्य में कोई हस्तक्षेप न करें। यदि दार्शनिक सैनिकों का काम करते हैं या सैनिक दार्शनिकों अथवा कारीगरों का कार्य आरम्भ करते हैं तो समाज में बड़ी अव्यवस्था और अराजकता फैल जाएगी और राज्य के लिए महान् संकट उत्पन्न हो जाएगा। इससे विभिन्न वर्गों में लड़ाई-झगड़ा बढ़ेगा जिसका अन्तिम परिणाम राज्य का विनाश होगा। प्लेटो ने रिपब्लिक में इसे विस्तारपूर्वक समझाते हुए कहा है, "जब किसी मोची या प्रकृति द्वारा बनाए गए व्यापारी के हृदय में धन की या शक्ति की तृष्णा जागृत होती है या कोई और लाभ पाने की लालसा से प्रेरित होकर वह सैनिकों के वर्ग में अथवा एक सैनिक उन व्यवस्थापकों (दार्शनिकों) और संरक्षकों के वर्ग में घुसने का प्रयत्न करता है, जिसके लिए वह योग्यता नहीं रखता है या वह दूसरों के कार्यों को करता है अथवा जब एक ही व्यक्ति व्यापारी, व्यवस्थापक और सैनिक बनना चाहता है तो मैं सोचता हूं कि आप मेरी इस बात से सहमत होंगे कि एक एक-दूसरे के कार्यों में इस प्रकार का परिवर्तन और हस्तक्षेप राज्य के विनाश का कारण होता है।[2] प्लेटो को इस बात की सम्भावना थी कि उत्पादक

---

1. "The soul can only discharge its function if it possesses the virtue of good living—the virtue which is also called by the name of justice. But if the soul possesses the virtue of good living or justice, it also possesses happiness."

—Barker, Greek Political Theory, p. 158.

2. "When the cobbler or any other man whom nature designed to be a trader, having his heart lifted up by wealth or strength or the number of his followers or any like advantage attempts to force his way into the class of warriors ····or when one man is trader, legislator and warrior all in one, then I think you will agree with me

वर्ग के कारीगरों और श्रमिकों में यह भावना उत्पन्न हो सकती है कि वे अपने से अधिक ऊँचे दार्शनिक और सैनिक वर्गों में प्रवेश करें और अपनी निम्नस्थिति से ऊँचा उठने का प्रयास करें। यह सर्वथा स्वाभाविक था। इसे रोकने के लिए प्लेटो ने सोने, चाँदी और लोहे की कल्पना इन लोगों में इस प्रकार प्रसारित करने के लिए कहा था कि मजदूर इसमें आस्था रखते हुए अपनी स्थिति से ऊँचा न उठें। इस कल्पना में दार्शनिकों की सोने से, सैनिकों की चाँदी से, मजदूरों की पीतल और लोहे से तुलना की गई थी चूंकि पीतल और लोहा सोने की अपेक्षा घटिया दर्जे की धातुएँ हैं अतः मजदूर वर्ग भी शासक और सैनिक वर्ग से निम्नस्थिति रखता है।

इतने लम्बे विचार-विमर्श के बाद न्याय के इस स्वरूप से पाठक को बड़ी निराशा होती है। यह कहा जा सकता है कि 'खोदा पहाड़ निकली चुहिया'। प्लेटो ने इतनी लम्बी मीमांसा के बाद बड़ी सामान्य और पुरानी बात कही है। किन्तु इस विषय में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि संसार का कोई विचार नवीन नहीं होता है, परिस्थितियों के अनुसार ही उनका महत्व होता है। प्लेटो से पहले समाज और राज्य में बड़ी गड़बड़ी मची हुई थी। प्रत्येक राज्य धनी-निर्धन के परस्पर संघर्ष करने वाले दो वर्गों में बँटा हुआ था। प्लेटो के शब्दों में, "**इनमें से कोई भी एक राज्य नहीं है, क्योंकि कोई भी राज्य कितना ही छोटा क्यों न हो, वस्तुतः दो राज्यों में बँटा हुआ है—निर्धनों का राज्य और धनियों का राज्य और ये दोनों एक-दूसरे से युद्ध कर रहे हैं।**" (रिपब्लिक)।

उस समय 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त न केवल क्रियात्मक रूप में था, अपितु थ्रेसीमेकस जैसे सोफिस्ट विचारक बुद्धि एवं तर्क की दृष्टि से इसे न्यायसंगत मान रहे थे। इनके विरोध में नैतिकता और सदाचार को सुप्रतिष्ठित बनाने के लिए तथा उस समय के राज्य की कुरीतियों को दूर करने के लिए प्लेटो ने सुदृढ़ तर्क के आधार पर न्याय के विचार की स्थापना की। यह अन्यायी शासकों को तथा उनका समर्थन करने वाले दार्शनिकों को चेतावनी थी कि न्याय केवल शक्तिशाली का स्वार्थ नहीं है, किन्तु वह समाज के सभी अंगों में सामंजस्य तथा समन्वय स्थापित करता है। प्लेटो को इस बात का श्रेय है कि उसने चौथी शताब्दी ई० पू० के राज्यविषयक चिन्तन का अध्यात्मीकरण (Spiritualisation) करके उसे नैतिक बनाया। समाज में भले ही कुछ समय के लिए शक्ति की उपासना करने वाले व्यक्ति नैतिकता के सिद्धान्त की अवहेलना करते हुए स्वच्छन्द आचरण करें, जूलियस सीजर, नैपोलियन और हिटलर बनें, किन्तु अन्त में इन सब का पराभव दुःखान्त रीति से निश्चित रूप से होता है। सीज़र अपने साथियों द्वारा मार डाला गया, नेपोलियन का अन्त सेण्ट हेलेना के बन्दी जीवन में हुआ, हिटलर ने बर्लिन के एक तहखाने में आत्महत्या की। इतिहास की साक्षी प्लेटो के न्याय की व्याख्या का पोषण करती है।

---

in saying that this interchange and this meddling of one with another is the ruin of the state."

—Republic p. 433.

न्याय के सिद्धान्त की आलोचना

प्लेटो ने यूनान में अपने समय की परिस्थितियों को देखते हुए उनका सुधार करने की दृष्टि से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। यह उस समय की दृष्टि से बहुत उपयोगी था, किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में इसे स्वीकार करना कठिन है। इस सिद्धान्त के निम्नलिखित प्रमुख दोष बताए जाते हैं—

(१) **न्याय में कानून का विचार न होना**—वर्तमान समय में न्याय निश्चित विधि-विधानों के अनुसार न्यायालयों द्वारा लागू की जाने वाली व्यवस्था है। इसका प्रधान रूप कानूनी है। किन्तु प्लेटो ने इसका कानून के रूप में नहीं, अपितु एक नैतिक धारणा के रूप में प्रतिपादन किया है। बार्कर ने इसे सबसे बड़ा दोष बताया है। उसने लिखा है—प्लेटो का न्याय वस्तुतः न्याय नहीं है। वह केवल मनुष्यों को अपने कर्त्तव्यों तक सीमित करने वाली भावना मात्र है, कोई ठोस कानून नहीं है। आजकल न्याय कानून का पालन कराने वाली शक्ति होती है, किन्तु प्लेटो का न्याय नैतिक भावना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। प्लेटो ने नैतिक कर्त्तव्य और कानून की बाध्यता को मिला दिया है।" **विलियम वायर्ड** के शब्दों में उसने नैतिक कर्त्तव्य और वैधानिक उत्तरदायित्व के बीच की सीमा को समाप्त कर दिया है।

(२) **व्यक्ति का एकांगी विकास करना**—दूसरा दोष यह है कि इसमें व्यक्ति को केवल एक ही कार्य तक सीमित कर दिया है। व्यक्ति में नाना प्रकार की योग्यताएँ होती हैं, केवल एक कार्य पर बल देने से उसकी अन्य योग्यताओं का विकास उपेक्षित रह जाता है। इससे न तो मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है और न समाज का। समाज उसकी विभिन्न योग्यताओं के विकास के कारण उसे मिलने वाले बहु-मूल्य लाभों से वंचित हो जाता है।

(३) **दार्शनिक राजाओं को असीम शक्तियाँ प्रदान करना**—प्लेटो ने न्याय के सिद्धान्त के अनुसार दार्शनिक राजाओं को समस्त राजनीतिक सत्ता का एकाधिकार प्रदान किया है। इसमें इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा कर दी गई है कि शक्ति मनुष्य को मदान्ध बना देती है और वह इस शक्ति का प्रयोग जनकल्याण के लिए नहीं, अपितु स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करता है। तुलसीदास जी के शब्दों में—"अस को नर उपज्यो जग माहीं; प्रभुता पाय नहीं मद जाहीं।" एक्टन के मतानुसार मनुष्य को शक्ति भ्रष्ट करती है और पूर्ण शक्ति पूर्ण रूप से भ्रष्ट करती है। प्लेटो ने इस मौलिक तत्व की उपेक्षा की है।

(४) **एकीकरण और जातिवाद की दूषित प्रवृत्ति**—बार्कर के मतानुसार प्लेटो ने समाज को तीन वर्गों में विभक्त करके प्रत्येक के लिए अपने कर्त्तव्यों का पालन ही न्याय माना है और वह समाज के एक वर्ग का दूसरे वर्ग में हस्तक्षेप अनुचित मानता है। इसका तात्पर्य किसी के कार्य में बाधा डालना नहीं, अपितु दूसरे वर्ग द्वारा निर्दिष्ट कार्य को करना है जैसे—उत्पादक वर्ग द्वारा दार्शनिक राजाओं का काम करना। सरल शब्दों में इसका यह अभिप्राय है कि प्लेटो यह मानता है कि जो व्यक्ति किसान का या कारीगर का काम कर रहा है, वह सदैव एक ही काम करता रहेगा और उसकी

सन्तान भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसी काम को करेगी। वह कोई दूसरा धन्धा नहीं अपना सकता है। यह भारतीय जात-पात की संकीर्ण पद्धति जैसी दोषपूर्ण व्यवस्था है, जिसमें व्यक्ति की उन्नति बिलकुल रुक जाती है। इस विषय में प्लेटो का यह कहना है कि यद्यपि सभी व्यक्ति बराबर और भाई-भाई हैं किन्तु भगवान् ने किसी को सोना, किसी को चाँदी और किसी को लोहा या पीतल बना दिया है। इससे समाज में ऊँच-नीच की भावना पैदा होती है, जो समाज के लिए बड़ी हानिकर है।

(५) **व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर का अभाव**—प्लेटो मानव-समाज को आर्थिक, सैनिक और दार्शनिक तत्वों के आधार पर तीन भागों में बाँटता है और एक व्यक्ति और एक वर्ग में केवल एक ही प्रकार के गुणों का विकास करना चाहता है। समाज में विवेकप्रधान दार्शनिक तत्व रखने वाले और शौर्यप्रधान सैनिक तत्व रखने वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत ही कम होती है। ऐसी स्थिति में समाज का बहुत बड़ा भाग उच्च शिक्षा और शौर्य के गुणों से वंचित रहेगा। केवल मुट्ठी-भर लोग शासन और रक्षा का दायित्व संभालेंगे। इससे न तो समाज की ठीक ढंग से रक्षा हो सकेगी और न ही कारीगरों तथा किसानों में बुद्धि और शौर्य तत्व वाले गुणों का विकास हो सकेगा। उत्पादक वर्ग बौद्धिक गुणों से रहित और दार्शनिक वर्ग उत्पादन की योग्यताओं और गुणों से शून्य होगा।

(६) **श्रमिकों को राजनीति से पृथक् करना**—सेबाइन का यह मत है कि प्लेटो ने स्थायी रूप से राजनीतिक सत्ता दार्शनिक वर्ग के हाथ में सौंप दी है। उत्पादक या श्रमिक राज्य की नीति के निर्धारण और प्रशासन में कोई भाग नहीं ले सकते हैं, क्योंकि प्लेटो के मतानुसार उनमें प्रशासन की क्षमता नहीं होती है। इस प्रकार प्लेटो ने शासन को दार्शनिकों की बपौती बना दिया है और इससे अन्य वर्गों का हटा देना समाज के लिए क्रान्ति आदि के भीषण परिणाम पैदा कर सकता है।

(७) **गुणों की कसौटी का अभाव**—प्लेटो ने तीन गुणों के आधार पर समाज को तीन वर्गों में बाँटा है, किन्तु किस मानव में कौनसा गुण या प्रवृत्ति प्रधान होगी और उसकी पहिचान किस प्रकार की जाएगी, इसके लिए कोई कसौटी नहीं निश्चित की है। इस दशा में जन्म ही इन गुणों के निर्धारण का एकमात्र आधार हो सकता है। किन्तु यह विश्वसनीय आधार नहीं है, क्योंकि यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि प्लेटो या अरस्तू जैसे दार्शनिक की सन्तान भी उस जैसी बुद्धि और ज्ञान से सम्पन्न होगी। बहुधा अनपढ़ लोगों के बच्चे बड़े योग्य और प्रतिभाशाली तथा मेधावी मनुष्यों की सन्तान मूर्ख होती है। कबीर ने लिखा ही है—डूबा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल। जन्ममूलक व्यवस्था के स्थान पर यदि गुणमूलक व्यवस्था मानी जाए तो प्लेटो ने इन गुणों के निर्धारण के लिए कोई कसौटी नहीं बताई है। वस्तुतः उसने तीनों वर्गों के लिए सोने, चाँदी और लोहे की जो उपमा दी है, उससे यह स्पष्ट है कि वह सोने को सोना और लोहे को लोहा ही बना रहने देना चाहता है।

(८) **वर्तमान समय के लिए अनुपयोगी होना**—प्लेटो के न्याय को आधुनिक राज्यों में लागू करना सम्भव नहीं है। प्लेटो के अनुसार राज्य की आदर्श जनसंख्या ५०४० होनी चाहिए। वर्तमान समय में राज्यों की जनसंख्या करोड़ों में होती है।

इन्हें तीन वर्गों में बाँटकर प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसके कार्य निश्चित कर सकना सम्भव नहीं है।

शिक्षा का सिद्धान्त

इसकी आवश्यकता—प्लेटो के विचार में न्याय राज्य का प्राण है। न्याय का अर्थ राज्य के विभिन्न वर्गों और व्यक्तियों द्वारा अपने कर्त्तव्यों और धर्मों का पालन है। यह तभी हो सकता है जब मनुष्यों को अपने कर्त्तव्यों का पूरा ज्ञान हो, क्योंकि ऐसा ज्ञान न होने की दशा में वे अपने कर्त्तव्यों का सही ढंग से पालन नहीं कर सकते हैं। प्लेटो राज्य के जिस रूप को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं वह है दार्शनिक राजा के नियन्त्रण में चलने वाला आदर्शवादी राज्य। दार्शनिक राजा तब तक अच्छे ढंग से शासन नहीं कर सकते हैं, जब तक समुचित शिक्षा द्वारा उन्हें इस कार्य के लिए योग्य नहीं बना दिया जाता है। अतः शिक्षा प्लेटो के दर्शन में असाधारण महत्व रखती है और इस शिक्षा द्वारा अपने कर्त्तव्यों को जानकर उनका पालन करने से समाज में न्याय-व्यवस्था रह सकती है। इसलिए बार्कर ने यह ठीक ही लिखा है कि **शिक्षा प्लेटो के न्याय के विचार का तर्क संगत परिणाम है।**[1] यह ठीक ही कहा जाता है कि प्लेटो के मतानुसार **शिक्षा समाज में न्याय की व्यवस्था लाने की पहली शर्त है।**[2] प्लेटो का यह विचार था कि राज्य में स्थिरता और शान्ति बनाए रखने का एकमात्र वास्तविक उपाय शिक्षा है। इसीलिए प्लेटो ने शिक्षा पर बहुत बल दिया है और इसका अपनी पुस्तक रिपब्लिक में बड़े विस्तार से और इतने अच्छे ढंग से वर्णन किया है कि रूसो के शब्दों में **रिपब्लिक शिक्षा-शास्त्र पर लिखा गया सर्वोत्तम ग्रन्थ है।**[3]

प्लेटो के समय में **दो प्रकार की** शिक्षा-पद्धतियाँ प्रचलित थीं—**पहली पद्धति एथेन्स की थी और दूसरी स्पार्टा की।** दोनों में कुछ गुण-दोष थे। इनके गुणों को लेते हुए तथा दोषों को दूर करते हुए प्लेटो ने अपनी शिक्षा-पद्धति की योजना बनाई।

(क) एथेन्स की शिक्षा-पद्धति—एथेन्स में शिक्षा परिवार का निजी कार्य समझा जाता था। रोमन साम्राज्य के समय तक यहाँ राज्य की ओर से कोई स्कूल नहीं बने थे। यहाँ के प्रसिद्ध कानून-निर्माता सोलन (Solan) द्वारा बनाए गए एक नियम के अनुसार माता-पिता का यह कर्त्तव्य था कि वे बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करें। **एथेन्स की शिक्षा का पाठ्यक्रम तीन भागों में बँटा था—**

(१) प्राथमिक शिक्षा—यह छः से चौदह वर्ष तक थी। इस शिक्षा के मुख्य

---

1. "Education is the logical result of the platonic conception of justice." —Barker.

2. "Plato's concept of Education was a precondition to justice."

3. "The Republic is pre-eminently the finest treatise on education that ever was written." —Rousseau.

विषय—पढ़ना-लिखना, प्राचीन कवियों के साहित्य का अध्ययन, व्यायाम और संगीत थे।

(२) **माध्यमिक शिक्षा**—इसके बाद दूसरी माध्यमिक शिक्षा धन देकर सोफिस्टों से प्राप्त की जाती थी। सोफिस्ट अलंकारशास्त्र, भाषणकला, राजनीति आदि पर भाषण देते थे। यह शिक्षा १४ से १८ वर्ष तक होती थी।

(३) **सैनिक शिक्षा**—इसके बाद तीसरी अवस्था में १८ से २० वर्ष तक युवक नागरिक अधिकार प्राप्त करने से पूर्व सैनिक शिक्षा ग्रहण करते थे।

इस शिक्षा-पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसमें शिक्षा देना राज्य की नहीं, किन्तु परिवार की जिम्मेदारी समझी जाती थी। अतः ऐसी शिक्षा राज्य की आवश्यकताओं तथा उसकी प्रकृति के प्रतिकूल होती थी। इससे राजनीतिज्ञ अज्ञानी तथा निकम्मे बनते थे। प्लेटो के मन में इस शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध असन्तोष एवं प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और उसने अपनी शिक्षा-पद्धति में निम्न तत्वों पर बल दिया—

(१) शिक्षा राज्य द्वारा दी जानी चाहिए।

(२) शिक्षा का उद्देश्य उत्तम नागरिक बनाना और उन्हें अपने कार्यों को करने का ज्ञान देना होना चाहिए।

(३) शिक्षा द्वारा योग्य एवं ज्ञानी शासक या दार्शनिक राजा (Philosopher King) तैयार किए जाने चाहिए।

(ख) **स्पार्टा की शिक्षा-पद्धति**—यूनान में दूसरी शिक्षा-पद्धति स्पार्टा की थी। इसने भी प्लेटो पर प्रबल प्रभाव डाला। स्पार्टा के लड़ाकू या योद्धा राज्य में एथेन्स के सर्वथा विपरीत पुराने समय से राज्य की ओर से कठोर प्रशिक्षण की व्यवस्था प्रचलित थी। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य युवकों को कठोर सैनिक प्रशिक्षण द्वारा वीर योद्धा बनाना था ताकि वे स्पार्टा की रक्षा कर सकें। स्त्रियों के लिए भी शारीरिक शिक्षा अनिवार्य थी ताकि उनकी सन्तान बलवान और पुष्ट हो। स्पार्टा की यह शिक्षा-पद्धति उन दिनों इतनी प्रसिद्ध थी कि एथेन्स से शिक्षा ग्रहण करने वाले युवक यहाँ आया करते थे।

प्लेटो ने जब अपनी रिपब्लिक लिखी, तब स्पार्टा अपने राजनीतिक उत्कर्ष और प्रसिद्धि के शिखर पर था। उस पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उसने अपने आदर्श राज्य की अनेक विशेषताएँ स्पार्टा से ग्रहण कीं, उसकी शिक्षा-पद्धति पर इसकी स्पष्ट छाप है। किन्तु स्पार्टा की शिक्षा-पद्धति में कई गम्भीर दोष थे। इसका पाठ्यक्रम संकुचित था। वहाँ केवल शारीरिक प्रशिक्षण था, मानसिक एवं बौद्धिक प्रशिक्षण नहीं था, मानसिक एवं बौद्धिक प्रशिक्षण उपेक्षित था। प्लेटो ने एथेन्स और स्पार्टा की शिक्षा-पद्धतियों की उत्तम बातों का अपनी शिक्षा-पद्धति में समन्वय करते हुए दोनों के दोष छोड़ दिए। उसने एथेन्स से व्यक्ति के पूर्ण विकास का विचार ग्रहण किया और स्पार्टा से उसके सामाजिक पहलू का विचार लिया, इसके अनुसार यह शिक्षा राज्य द्वारा नियन्त्रित और व्यक्ति को राज्य में अपने कर्त्तव्य का अच्छी तरह पालन करने के योग्य बनाने वाली होनी चाहिए।

अवस्था-भेद के क्रम से प्लेटो ने शिक्षा को दो बड़े भागों में बाँटा है—**प्रारम्भिक**

शिक्षा तथा उच्च शिक्षा। प्रारम्भिक शिक्षा १० से २० वर्ष की आयु तक के वच्चों के लिए है। यह मुख्य रूप से भावनाओं (Emotions) द्वारा चरित्र निर्माण की शिक्षा है। इसका उद्देश्य उत्साह (Spirit) के गुण को तथा ऐसी भावनाओं को विकसित करना है, जो देश की आवश्यकताओं के तथा सैनिकों के कार्य के अनुरूप हों। यह मुख्य रूप से सामाजिक प्रशिक्षण है। इसमें प्लेटो व्यायाम और संगीत के विषयों के अध्ययन पर बल देता है। पहला शारीरिक विकास के लिए और दूसरा मानसिक विकास के लिए आवश्यक है।[1] शारीरिक शिक्षण का उद्देश्य शरीर को सुदृढ़ तथा स्वस्थ बनाने के साथ नैतिक दृष्टि से चरित्र का निर्माण करना भी है। यह सहिष्णुता, साहस तथा उत्साह (Spirit) और वीरता के मानसिक गुण उत्पन्न करने के लिए है। प्लेटो ने अपनी शिक्षा-पद्धति में खेलों को भी ऊँचा स्थान दिया है।

शारीरिक शिक्षण के साथ मानसिक विकास के लिए संगीत को रखा गया है। संगीत का अर्थ कोरी गानविद्या नहीं है, किन्तु यह काव्य, साहित्य, गीत, नृत्य, मूर्ति, चित्र आदि सभी ललित कलाओं का प्रतीक है। संगीत एवं अन्य ललित कलाएँ मनुष्य के मन को सुशिक्षित बनाती हैं, उसमें उत्साह (Spirit) की तथा विवेक (Reason) की छिपी हुई शक्तियों का विकास करती हैं। किन्तु इसके प्रशिक्षण में प्लेटो ने चरित्र पर बुरा प्रभाव डालने वाले साहित्यिक ग्रन्थों तथा कलाकृतियों पर राज्य द्वारा कठोर प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था की है।

प्लेटो इस शिक्षा द्वारा नागरिकों का ऐसा राज्य बना देना चाहता है, जिसमें न्यायालयों और कानूनों की कोई आवश्यकता न रहे। उसने बीस वर्ष की अवस्था में प्राथमिक शिक्षा देने के बाद युवकों की बौद्धिक और क्रियात्मक परीक्षा लेने की व्यवस्था की है। इसमें उत्तीर्ण होने वाले ही आगे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी होंगे। अनुत्तीर्ण होने वाले व्यक्ति देश के सैनिक एवं उत्पादक वर्ग का निर्माण करेंगे; वे कृषक, मजदूर, कारीगर, व्यापारी और शिल्पी के कार्य करेंगे। अयोग्य व्यक्तियों का निस्सारण और उच्च शिक्षा के लिए अधिकारी व्यक्तियों का चुनाव निष्पक्ष भाव से किया जाएगा, इसमें किसी व्यक्ति के धनी होने या उच्च कुल का होने आदि का कोई विचार न होगा।

उच्च शिक्षा—प्लेटो की उच्च शिक्षा में दो स्तर हैं—बीस से तीस वर्ष तक की शिक्षा और ३० से ४० वर्ष तक की शिक्षा। यह शिक्षा राज्य का शासक या संरक्षक बनने वालों के लिए है। उच्च शिक्षा में प्लेटो ने निम्न विषयों के अध्ययन का पाठ्यक्रम रखा है—गणित, भूमितिशास्त्र, ज्योतिष, संगीत और दर्शनशास्त्र। गणितशास्त्र उस समय यूनानी विद्वानों का बड़ा प्रिय विषय था और इसका विकास भी तेजी से हो रहा था, अतः उसने उच्च शिक्षा में इसे प्रथम स्थान दिया है। प्लेटो पर यूनान के एक प्रसिद्ध दार्शनिक तथा गणित पर बल देने वाले विचारक पिथागोरस (Pythagorus)

---

1. "The education is gyn nastic for the body and music for the soul. Gymnastic hardens the character as well as the body while music civilizes." —Republic.

का भी प्रभाव था। प्लेटो इसे दर्शनशास्त्र की प्रथम सीढ़ी के रूप में बड़ा महत्व देता था। उस समय गणित का क्रियात्मक उपयोग युद्धों में किया जाता था। योद्धा को संख्याओं के उपयोग का ज्ञान होना चाहिए, अन्यथा वह अपनी सेनाओं को व्यूह-रचना में व्यवस्थित नहीं कर सकेगा। दर्शन के भावी अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करने तथा युद्ध में उपयोगी होने के कारण गणित को उच्च शिक्षा में प्रथम स्थान दिया गया। प्लेटो की शिक्षण संस्था अकादमी (Academy) के प्रवेशद्वार पर यह वाक्य अंकित था कि **"रेखागणित का ज्ञान रखने वाले ही इसमें प्रवेश के अधिकारी हो सकते हैं।"**[1]

उच्च शिक्षा का दूसरा विषय भूमितिशास्त्र (Geometry) गणित से ही सम्बद्ध था। प्लेटो के मतानुसार इसका युद्ध में बहुत उपयोग था तथा यह सत् के विचार (Idea of Good) के ज्ञान के लिए दृष्टि को निर्मल बनाने वाला था। **तीसरा** विषय ज्योतिष (Astronomy) तथा **चौथा** विषय संगीत का शास्त्रीय ज्ञान था।

तीस वर्ष की आयु में उच्च शिक्षा पाने वाले संरक्षकों (Guardians) में पुनः एक अन्य चुनाव की एवं परीक्षा लेने की व्यवस्था की गई है। इसमें योग्य समझे जाने वाले तथा उत्तीर्ण होने वाले व्यक्ति ही राज्य के पूर्ण संरक्षक बनेंगे। इसके लिए पुनः पाँच वर्ष तक प्लेटो ने उच्चतर शिक्षा की व्यवस्था की है। ये तीस से पैंतीस वर्ष की आयु तक दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते हैं। ३२ वर्ष की आयु तक शिक्षा देने के बाद भी प्लेटो इनके शिक्षण को अपूर्ण मानता है, क्योंकि उन्हें संसार का क्रियात्मक अनुभव नहीं होता है। अतः प्लेटो ने अगले १५ वर्ष तक दार्शनिकों के लिए संसार की पाठशाला में तूफानी थपेड़े और धक्के खाकर व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था की है। इस प्रकार ५० वर्ष तक की आयु तक सांसारिक जीवन की कठोर परीक्षाओं में खरे उतरने वाले, लोकव्यवहार और शास्त्रों का गम्भीर ज्ञान रखने वाले दार्शनिक ही प्लेटो की सम्मति में शासक बनने के अधिकारी हैं।

प्लेटो की शिक्षा-पद्धति की विशेषताएँ—प्लेटो की शिक्षा-पद्धति में कई विशेषताएँ हैं।

पहली विशेषता इसका मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित होना है। इसमें मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के तथा आत्मा के तीन गुणों या तत्वों—विवेक, उत्साह तथा काम के आधार पर शिक्षण की व्यवस्था की गई थी।

दूसरी विशेषता यह है कि इसमें शरीर और आत्मा दोनों के विकास पर समान बल दिया गया है, यह एकांकी और अधूरी शिक्षा नहीं है।

तीसरी विशेषता शिक्षा का प्रयोजन व्यक्ति को राज्य का उत्तम नागरिक बनाना तथा अपने कर्त्तव्य पूर्ण करने की उपयुक्त शिक्षा देना था।

चौथी विशेषता नैतिकता और धर्म पर बल देना तथा इनको इस प्रकार की शिक्षा देना था कि व्यक्ति और राज्य में कोई विरोध न रहे।

---

1. "Let no man ignorant of geometry enter here."

—Plato in Republic.

पाँचवीं विशेषता उच्च शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था करना था। उसकी अपनी अकादमी (Academy) ने इन विषयों की शिक्षा का आदर्श प्रबन्ध किया।

इसकी **छठी** विशेषता सुशासन के लिए शासकों के शिक्षण पर बल देना है।

शिक्षा-पद्धति के दोष

(i) **इसका क्षेत्र शासन वर्ग तक सीमित होना**—प्लेटो अपनी शिक्षा की व्यवस्था केवल दार्शनिकों, शासकों और संरक्षकों के लिए करता है। उसकी शिक्षा-व्यवस्था इस वर्ग तक ही सीमित है और समाज में बहुसंख्या रखने वाले उत्पादक और श्रमिक वर्ग की उपेक्षा करती है। प्लेटो ने इनके लिए किसी विशेष प्रकार की शिक्षा का प्रावधान नहीं किया है। कारीगरों और किसानों के लड़के भी प्रतिभाशाली, बुद्धिमान् और मेधावी हो सकते हैं। ऐसे होनहार बच्चों के लिए तथा विभिन्न व्यवसाय और पेशे करने वाले लोगों के लिए कोई व्यवस्था न होने से प्लेटो की शिक्षा दोषपूर्ण है। सेवाइन ने यह ठीक ही लिखा है कि प्लेटो ने राज्य की अधिकांश जनसंख्या कृषक, कारीगर, मजदूर आदि वर्गों के लिए प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं की है। उसके न्याय के सिद्धान्त के अनुसार समाज में सब वर्गों को अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए और इसकी शिक्षा मिलनी चाहिए, किन्तु वह वस्तुतः शिक्षा का प्रबन्ध केवल शासक वर्ग के लिए ही करता है। प्लेटो स्वयं कुलीन वर्ग का था। उसने केवल उसी वर्ग के लिए शिक्षा की व्यवस्था की। किसानों और मजदूरों के लिए किसी प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं किया।

(ii) **शिक्षा का एकांगी होना : नाटक, काव्य, चिकित्सा और कानून का शिक्षा में कोई स्थान न होना**—प्लेटो चरित्र पर बहुत बल देता था और इसलिए नाटकों का घोर विरोधी था, क्योंकि नाटकों में परस्पर विरोधी चरित्र होते हैं। प्लेटो के मतानुसार चरित्र में एक क्रमबद्धता होनी चाहिए और उसका उद्देश्य सदैव सार्वभौम सत्य को पाने का लक्ष्य होना चाहिए। इसी प्रकार प्लेटो कवियों का भी घोर विरोधी था और उसने अपनी शिक्षा-पद्धति में साहित्य की उपेक्षा की है। साहित्य वस्तुतः जीवन का दर्पण होता है और वह मनुष्यों में कोमल तथा सरस भावनाओं को विकसित करता है, उनके दृष्टिकोणों को व्यापक बनाता है; किन्तु प्लेटो ने इसकी उपेक्षा की है। इसी प्रकार प्लेटो कानूनों का और शारीरिक चिकित्सा का विरोधी था। उसने इन दोनों विषयों को अपनी शिक्षा-पद्धति में स्थान नहीं दिया। उसका कहना था कि चिकित्सा इस बात का प्रमाण है कि शरीर में रोग है, उसी प्रकार कानून इस बात का प्रमाण है कि आत्मा में रोग है।

(iii) **गणित को अनुचित महत्व देना**—प्लेटो ने अपनी उच्च शिक्षा में अंकगणित और रेखा पर आवश्यकता से अधिक अनुचित महत्व दिया है जो उचित नहीं प्रतीत होता है।

(iv) **शिक्षा-क्रम का लम्बा होना**—प्लेटो का शिक्षा-क्रम अतीव लम्बा और खर्चीला है। दस वर्ष की प्राथमिक शिक्षा के बाद वह उच्च शिक्षा का २० से ३० वर्ष तक और ३० से ४० वर्ष तक के शिक्षण की व्यवस्था करता है। इस प्रकार ३० वर्ष

की अवधि का शिक्षाकाल बहुत ही लम्बा है और इससे लाभ बठाने का उत्साह बहुत ही कम व्यक्तियों में सम्भव है।

(v) **आत्मनिर्भरता का अभाव**—३०-३५ वर्ष तक शिष्य बने रहने वाले शासकों में प्रायः नवीन कार्यों के करने का उत्साह समाप्त हो जाता है। गुरू पर अवलम्बित रहने के कारण उनमें आत्मनिर्भरता और स्वयमेव कार्य चलाने की योग्यता उत्पन्न नहीं होती है। ऐसे व्यक्ति उत्तम शासक नहीं बन सकते हैं।

(vi) **व्यक्ति के विकास की उपेक्षा**—प्लेटो की शिक्षा योजना में व्यक्ति के गुणों के स्वतन्त्र विकास पर कोई बल नहीं दिया गया है। उसके वैयक्तिक विकास को राज्य के हितों के लिए बलिदान कर दिया गया है। राज्य के अंग के रूप में ही उसके प्रशिक्षण का प्रबन्ध है

(vii) **शिक्षा पर राज्य का अनुचित नियन्त्रण**—प्लेटो ने अपनी शिक्षा-व्यवस्था पर राज्य का प्रबल नियन्त्रण स्थापित किया है और इस बात की व्यवस्था की है कि कोई भी प्रशिक्षण राज्य का विरोधी नहीं होना चाहिए। इसी दृष्टि से उसने कवियों और नाटककारों को राज्य के नियन्त्रण में लाने का प्रयत्न किया है। किन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि राज्य जो कुछ चाहता है वह सही है : राज्य ही सत्य का प्रतीक है। इस प्रकार के राज्य के नियन्त्रण में कला और साहित्य का विकास सम्भव नहीं है। **बार्कर** ने ठीक ही लिखा है कि "एक नैतिक उद्देश्य के लिए राज्य के पाश में जकड़ी हुई कला मानव की भावनाओं को स्पष्ट नहीं कर सकती और जो कला विशुद्ध कला के रूप में श्रोता या पाठक की भावनाओं को प्रभावित नहीं कर सकती वह उसके आचार पर भी कोई प्रभाव नहीं डाल सकती है।[1]

(viii) **शिक्षा के उद्देश्य का स्पष्ट न होना**—प्लेटो शिक्षा के कई प्रकार के उद्देश्य बताता है। इनमें एकरूपता नहीं है। एक जगह वह कहता है कि शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है जो व्यक्तियों को समाज के प्रति कर्त्तव्यों का ज्ञान कराती है और यह समाज में न्याय की व्यवस्था स्थापित करने का साधन है। दूसरी ओर वह शिक्षा को मानसिक रोग दूर करने के लिए मानसिक उपचार मानता है। उसके मतानुसार सारी बुराइयों की जड़ अज्ञान है। अज्ञान की समाप्ति कानून द्वारा नहीं हो सकती है, क्योंकि कानून केवल बाध्य नियन्त्रण की वस्तु है। शिक्षा द्वारा मनुष्य की चेतना में जागृति उत्पन्न करने के बाद वह स्वयं अपना नियन्त्रण करता है और उसे कानून की छड़ी से हाँकने की आवश्यकता नहीं होती है, राज्य की बुराई व्यक्तियों के आचरण में है और आचरण का सुधार शिक्षा से सम्भव है। इसी प्रकार वह अन्यत्र यह कहता है कि शिक्षा सामाजिक बुराइयों को जड़ से निर्मूल करने का प्रयत्न है। प्लेटो के अनुसार शिक्षा के लक्ष्य बदलते रहते हैं। कभी यह सत्य के विचार की उपलब्धि है,

1. "Art controlled and confined by the state to the moral purpose, will loose its appeal to the emotions and failing to touch the hearer or the reader as art, it will fail to touch him as ethics."

—Barker, p. 115.

कभी अपना वैयक्तिक विकास है, कभी समाज-सेवा की भावना है तो कभी व्यक्ति को समाज के अनुरूप बनाना। इसीलिए बार्कर ने लिखा है कि "प्लेटो के शिक्षा के सिद्धान्त में कार्य के आदर्श और चिन्तन के आदर्श में बड़ी दुविधा है।[1] इस प्रकार लक्ष्य में स्पष्टता न होने से उसकी शिक्षा-पद्धति का प्रयोजन भी स्पष्ट नहीं है।

दार्शनिक राजाओं का शासन (The Rule of Philosopher Kings)—प्लेटो का यह विश्वास है कि शासक जब तक दार्शनिक नहीं होंगे, तब तक राज्यों में शान्ति और सुशासन स्थापित नहीं हो सकता है। उसने शासकों के लिए ५० वर्ष की आयु तक सुदीर्घ प्रशिक्षण की व्यवस्था की है। उसे अपने जीवन में एथेन्स आदि राज्यों के अज्ञानी शासकों के दुष्परिणामों को देखकर यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि संसार में तब तक शान्ति नहीं स्थापित हो सकती, जब तक सच्चे दार्शनिक शासक न बनें। अतः उसने रिपब्लिक में लिखा था—"**हमारे नगर-राज्यों में तब तक कष्टों का अन्त नहीं होगा, जब तक दार्शनिक राजा न होंगे या इस संसार के राजाओं और राजकुमारों में दर्शन की भावना और शक्ति न होगी।**[2]

दार्शनिक शासक की विशेषताएँ—प्लेटो ने यह लिखा है कि शासक में उच्चतम प्राकृतिक गुण होते हैं और वह इनका अधिकतम उपयोग करता है। वह सत्य का अन्वेषक है और तब तक अपना प्रयत्न जारी रखता है, जब तक उसे सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त हो जाता। उसमें तृष्णा तथा ऐन्द्रियिक विषयों को भोगने की लालसा नहीं होती है। उसमें सुन्दर आत्मा के सभी गुण होते हैं। वह मृत्यु से नहीं डरता, उसे 'न्याय, सौन्दर्य और संयम' के विचारों का तथा परम सत् के विचार का और मानवीय जीवन के अन्तिम प्रयोजन या कार्यों का ज्ञान पहले बताई गई शिक्षा-पद्धति के द्वारा होता है। इस प्रकार का ज्ञानी और गुणी व्यक्ति ही प्लेटो की दृष्टि में शासक बनाया जाना चाहिए।

प्लेटो ने दार्शनिकों के शासन को एक शासक होने पर राजतन्त्र का तथा अनेक शासक होने पर **कुलीनतन्त्र** (Aristocracy) का नाम दिया है। उसकी यह विशेषता है कि वह इन्हें निरंकुश शासक बनाता है, जो किसी भी प्रकार के कानूनों से बँधे नहीं होते। यद्यपि उसने **निरंकुश शासन** (Tyranny) को राजतन्त्र का सबसे भ्रष्ट रूप माना है, फिर भी उसने अपने आदर्श राज्य में दार्शनिकों को निरंकुश शासक (Tyrants) माना है। यह उसके सिद्धान्तों में एक बड़ा दोष तथा असंगति है। इस दोष को दूर करने के लिए उसने शासक पर कुछ प्रतिबन्ध लगाकर उसे नियन्त्रित करना चाहा है।

---

1. "In Plato's educational theory there is certain wavering between the ideal of action and that of contemplation."
—E Barker, Plato and his Predecessors, p. 213.

2. "Until philosophers are kings or kings and princes of this world have the spirit and power of philosophy, cities will never rest from their evils."

चार प्रतिबन्ध—प्लेटो के मतानुसार दार्शनिक शासक चार प्रकार के नियमों का पालन करने के लिए बाधित था—(१) दार्शनिक शासक को अपने राज्य में धनी-निर्धन का भेद अथवा सम्पन्नता या निर्धनता को नहीं बढ़ने देना चाहिए, क्योंकि इससे अनेक प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं।

(२) राज्य का आकार इतना अधिक नहीं बढ़ना चाहिए कि उसकी एकता खण्डित होने लगे।

(३) उन्हें न्याय की ऐसी व्यवस्था बनाए रखनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपने निश्चित कार्य का पालन करता रहे।

(४) दार्शनिक शासक शिक्षा-पद्धति में कोई नवीन परिवर्तन नहीं करेगा, अतः प्लेटो अपने दार्शनिक राजा को इन बन्धनों द्वारा एक अपरिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था का संचालक एवं सेवक बनाता है तथा उसकी सत्ता को मर्यादित करता है।

किन्तु दार्शनिक राजा पर उपर्युक्त प्रतिबन्ध होते हुए भी इस अवस्था में कई गम्भीर दोष हैं। ये निम्नलिखित हैं—

दार्शनिक राजाओं के शासन के सिद्धान्त की आलोचना—(i) **अव्यावहारिकता—यह सर्वथा अव्यावहारिक योजना है।** शास्त्रों का तथा लौकिक व्यवहार का पूरा ज्ञान रखने वाले तथा सांसारिक विषयों में अनुराग न रखने वाले दार्शनिक दुर्लभ हैं। तत्व चिन्तन में लीन रहने के कारण वे प्रायः सांसारिक विषयों से पराङ्मुख और लोकव्यवहार से शून्य होते हैं। 'पात्राधारं तैलं तैलाधारं पात्रम्वा' (बर्तन में तेल है या तेल में बर्तन है, इसके लिए तेल-भरे बर्तन को उलटकर देखने वाले) मूढ़ बुद्धि दार्शनिकों की कमी नहीं है। **प्लेटो के बड़े भाई अडीमान्तास ने सुकरात को चेतावनी देते हुए कहा था कि दर्शन के प्रेमी जब ३५ वर्ष तक इसका अध्ययन करेंगे तो वे बिलकुल निकम्मे हो जायेंगे** (रिपब्लिक, पृष्ठ १६०)। इस आयु तक उनके विचार, प्रवृत्तियाँ और स्वभाव परिपक्व हो जाते हैं। उनसे १५ वर्ष तक संसार की ठोकरें खाकर व्यावहारिक ज्ञान सीखने की आशा दुराशामात्र है। ऐसे कोरे दार्शनिक शासन करने के लिए नितान्त अयोग्य हैं। शासन करने के लिए दर्शन की फक्किकाओं का नहीं, किन्तु मनुष्यों के मनोविज्ञान का, कानून का, सैनिक व रणनीति का और अर्थशास्त्र का ज्ञान होना चाहिए, न कि गणित का या 'परम सत्' के विचार का। प्लेटो के दार्शनिक राजा उसके आदर्श राज्य (Ideal State) का शासन करने में भले ही सफल हों, किन्तु व्यावहारिक जगत् में सफल नहीं हो सकते।

(ii) **निरंकुश शासन का समर्थन**—प्लेटो ने दार्शनिक को शासन का अमर्यादित अधिकार देकर निरंकुश शासन का समर्थन किया है। यद्यपि उसने अपने शासन पर चार प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए हैं, किन्तु वे उसकी स्वच्छन्दता को रोकने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। एक्टन के शब्दों में, "**सत्ता मनुष्य को बिगाड़ती है और पूर्ण सत्ता पूर्ण रूप से बिगाड़ती है।**" कौटिल्य ने लिखा है कि **शक्ति मन को दूषित कर देती है** (बलं चित्तं विकरोति, अधि० ७, ३,१४)। सत्ता का मद स्वाभाविक है। मदोन्मत स्वच्छन्द शासकों का स्वेच्छाचारी शासन वही दुष्परिणाम उत्पन्न करने वाला है जिसके निवारण के लिए प्लेटो ने दार्शनिक राजाओं की व्यवस्था की है।

(iii) **नागरिकों को पशुतुल्य बनाना**—दार्शनिक को इच्छानुसार अधिकारों का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता देकर प्लेटो ने राज्य के अन्य सभी व्यक्तियों को जड़ मशीन के पुर्जे बना दिया है, विचारों की स्वतन्त्रता के और स्वशासन के मूल्यवान् अधिकार उनसे छीन लिए हैं। यह यूनानियों के इस विचार के सर्वथा प्रतिकूल है कि राज्य समान अधिकार रखने वाले व्यक्तियों का संगठन है। दार्शनिक राजा द्वारा शासित होने वाले राज्य के प्रजाजन गडरिये द्वारा देखभाल किए जाने वाले पशुओं के रेवड़ की भाँति हैं।

(iv) **अयोग्य व्यक्तियों को शासन देना**—अध्यात्मविद्या और दर्शन का अत्यधिक चिन्तन व्यक्तियों को सनकी और व्यवहारशून्य बना देता है। ऐसे व्यक्ति शासन करने में अयोग्य होते हैं।

(v) **दार्शनिकों के अहंकार का शासन में बाधक होना**—दार्शनिक राजाओं का शासन इसलिए भी सफल नहीं हो सकता कि ये अपने को 'अफलातून' मानते हुए जनता से परामर्श नहीं लेते, उसे हेय समझते हैं, अपने विचारों और सुधारों के उत्साह में जनता की मनोवृत्ति और आकांक्षाओं को नहीं समझते और क्रान्तिकारी परिवर्तनों को प्रस्तावित कर समाज में विक्षोभ उत्पन्न करते हैं। जोवेट (Jowett) के शब्दों में **"दार्शनिक राजा या तो भविष्य में बहुत दूर तक देखने वाला होता है या अतीत में पीछे की ओर देखता है, वर्तमान की वास्तविकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।**[1]

(vi) **विरोधाभासयुक्त होना**—प्लेटो का दार्शनिकों के शासन का विचार परस्पर विरोधी बातों और सिद्धान्तों से परिपूर्ण है। इसमें एक ओर दार्शनिकों को शासन करने के असीम अधिकार दिए गए हैं, दूसरी ओर उनके शासन पर चार प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए हैं। निरंकुश शासन का प्रतिबन्धों से कोई सामंजस्य नहीं हो सकता है। दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए बार्कर ने **इसे रिपब्लिक का सबसे बड़ा विरोधाभास कहा है, यह पत्नियों के साम्यवाद से भी बड़ा विरोधाभास है।**[2]

(vii) **समानता के सिद्धान्त की उपेक्षा**—इसमें यह मान लिया गया है कि केवल दार्शनिक ही ज्ञान और गुण से सम्पन्न होते हैं, राज्य के अन्य वर्गों में इसका अभाव होता है। यह लोकतन्त्र द्वारा स्वीकार किए जाने वाले समानता के आधारभूत सिद्धान्त के प्रतिकूल है। समाज में होनहार प्रतिभाशाली व्यक्ति सभी वर्गों में होते हैं। किन्तु प्लेटो ने इन्हें दार्शनिकों की बपौती और विशेषाधिकार बना दिया है।

---

1. "The philosopher king is apt to be looking into the distant future or back into the remote past and unable to see actions and events of the present." —Jowett.

2. "The greatest paradox of the Republic, greater even than the paradox of communism is the communism of wives."
—Barker, Greek Political Theory, p. 205

(viii) **प्रतिनिधि शासन का विरोध**—प्रतिनिधि शासन की व्यवस्था में जनता शासन करने के लिए अपने प्रतिनिधियों को चुनती है, उसे इन प्रतिनिधियों को हटाने का भी अधिकार रहता है। किन्तु दार्शनिकों के शासन में लोकतन्त्र के इस मौलिक सिद्धान्त को अस्वीकार किया गया है। इन दोषों के कारण यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है।

प्लेटो ने यद्यपि अपने स्वप्नद्रष्टा दार्शनिकों को व्यावहारिक आदर्शवादी बनाने का प्रयत्न किया है, किन्तु इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं है। वह स्वयं सिराक्यूज़ के दियोनिसियस को आदर्श दार्शनिक राजा नहीं बना सका था।

साम्यवाद का सिद्धान्त

प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में न्याय को बनाए रखने के लिए शिक्षा-पद्धति के साथ एक नवीन सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने पर बल दिया है। इसमें साम्यवाद पर बल दिया गया है। इसके अनुसार संरक्षकों तथा सैनिकों को राज्य के हित की दृष्टि से वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार नहीं रखना चाहिए, क्योंकि ये उनके निश्चिन्त और निष्पक्ष भाव से शासन-कार्य करने के स्वकर्त्तव्य के पालन में बाधक होंगे; वे सम्पत्ति और परिवार के झंझटों में फँसे रहने के कारण राज्य के कार्यों की उपेक्षा करेंगे। अतः प्लेटो ने ठीक ढंग से शासन के संचालन के लिए सम्पत्ति और परिवार के क्षेत्र में साम्यवाद की व्यवस्था आवश्यक मानी है। यहाँ पहले उसके सम्पत्तिविषयक साम्यवाद का तथा बाद में परिवारविषयक साम्यवाद का वर्णन किया जायगा।

सम्पत्तिविषयक साम्यवाद—प्लेटो ने सम्पत्तिविषयक साम्यवाद का समर्थन निम्नलिखित आधारों पर किया है—

१. मनोवैज्ञानिक आधार—प्लेटो आत्मा के तीन तत्व या विशेष गुण मानता है; ये हैं—'विवेक, उत्साह और काम'। इनके आधार पर प्लेटो ने समाज को तीन वर्गों में बाँटा है—संरक्षक, सैनिक और उत्पादक। उसके न्याय के विचार के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। अतः सैनिकों और संरक्षकों को उत्पादक वर्ग की आर्थिक वृत्तियों का परित्याग करना चाहिए। ऐसा न करने से वे रक्षक अपने स्वार्थ के लिए भक्षक बन सकते हैं। बुद्धि द्वारा ही मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह राज्य का अंग है और राज्य की सेवा के लिए उसे अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति का त्याग करना चाहिए। मनुष्य अपने वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए अपने कर्त्तव्य भूल जाता है, इस कारण रक्षक भक्षक बन जाता है। प्लेटो ने यह लिखा है कि **पशुओं की देखभाल करने वाले कुत्ते को जब भूख भेड़िया बना सकती है तो यह सैनिकों और संरक्षकों की बुद्धि को भी स्वार्थपरता से दूषित कर सकती है।** बुद्धि निःस्वार्थ होती है। इसका यह अर्थ है कि इससे अनुप्राणित मनुष्य अपने वैयक्तिक स्वार्थ को त्यागकर सामूहिक कल्याण के कार्य में लग जाता है। बुद्धि द्वारा ही मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह राज्य का अंग है और राज्य की सेवा तथा

हित के लिए उसे स्व-अर्थ का या अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति का त्याग करना चाहिए। अतः समाज में विशुद्ध बुद्धि और विवेक को बनाए रखने के लिए साम्यवाद की व्यवस्था आवश्यक है। अतः विशुद्ध बुद्धि और विवेक को बनाए रखने के लिए साम्यवाद समाज में आवश्यक हो जाता है।

२. **राजनीतिक आधार**—इस कारण भी प्लेटो ने साम्यवाद का समर्थन किया है, क्योंकि एक ही वर्ग के हाथ में यदि राजनीतिक और आर्थिक शक्ति चली जाए तो यह राजनीतिक जीवन की विशुद्धता व क्षमता के लिए बहुत घातक होती है। जहाँ-कहीं ऐसा होता है वहाँ राजनीतिक सत्ता रखने वाला वर्ग आर्थिक स्वार्थों की सिद्धि करते हुए बुद्धिमत्ता को और निःस्वार्थ रहने के कर्त्तव्य को भुला देता है। इससे प्रजा वर्ग में असन्तोष उत्पन्न होता है और राज्य दो विरोधी वर्गों में बँट जाता है। अतः राज्य की अखण्डता को बनाए रखने के लिए साम्यवाद आवश्यक है।

३. **दार्शनिक आधार**—इस कारण से इसे विशेष कार्य (Specific Function) के सिद्धान्त पर पुष्ट किया गया है। जिन्हें शासन करने का महत्त्वपूर्ण एवं विशेष कार्य सौंपा गया है, उन्हें अपने कार्य में बाधा डालने वाली सभी सांसारिक वस्तुओं से दूर रहना चाहिए। धन भी उसी प्रकार की वस्तु है। अतः संरक्षकों (Guardians) को इससे पृथक् रहना चाहिए। भारतीय साहित्य में इसी दृष्टि से संन्यासियों को स्वर्ण के स्पर्श से दूर रहने को कहा गया है।

प्लेटो ने अपना साम्यवाद राज्य के दो छोटे-छोटे वर्गों—शासकों तथा सैनिकों तक ही सीमित रखा है। उसके मतानुसार इनके पास कोई सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए। "इनके पास न तो अपने निजी घर होते हैं और न ही अन्य किसी प्रकार की जमीन-जायदाद, चल या अचल सम्पत्ति।" प्लेटो ने शासन करने वाले संरक्षकों के लिए ऐसे शिविरों में रहने की व्यवस्था की है, जो सदैव खुले और सार्वजनिक हों। वह इन्हें रुपया-पैसा, सोना-चाँदी रखने का निषेध करते हुए कहता है—"सारे नगर-निवासियों में केवल इन्हीं के लिए सोने-चाँदी को हाथ में लेना अथवा स्पर्श करना या उनके साथ एक छत के नीचे रहना या आभरणों के रूप में उनको अपने अंगों में धारण करना अथवा सोने-चाँदी के पात्रों का खाने-पीने के लिए उपयोग करना अवैध होगा। इस प्रकार रहते हुए वे अपनी भी रक्षा कर सकेंगे और अपने नगर की भी। किन्तु जब-कभी वे अपनी भूमि, घर और धन उपार्जित कर लेंगे तब वे अपने अन्य नगरवासियों के सहायक बने रहने की अपेक्षा उनसे द्वेष करने लग जाएँगे। उनके जीवन के सारे दिन नागरिकों से घृणा करने में और उनके द्वारा घृणा किए जाने में······ही बीतेंगे और इस प्रकार अन्त में वे अपने तथा राष्ट्र के सर्वनाश का ही मार्ग प्रशस्त करेंगे।[1] राष्ट्र का विध्वंस

---

1. "And they alone of all the citizens may not touch or handle silver or gold, or be under the same roof with them, or wear them, or drink from them. And this will be their salvation, and they will be the saviours of the state. But should they ever acquire homes or lands or money of their own; they will become good housekeepers and

करने वाले इन दुष्परिणामों से बचने के लिए ही प्लेटो यह व्यवस्था करता है कि इसका संचालन करने वाले शासकों तथा संरक्षकों (Guardians) को अपने पास किसी प्रकार की वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं रखनी चाहिए।

साम्यवाद की विशेषताएँ—(१) दार्शनिकों तक सीमित होना—इसकी पहली विशेषता यह है कि यह साम्यवाद सब नागरिकों के लिए नहीं, किन्तु केवल शासकों या संरक्षकों के लिए है। इसका उद्देश्य सारे समाज का कल्याण है, किन्तु यह सारे समाज द्वारा व्यवहार में नहीं लाया जाता है।

(२) इसकी दूसरी विशेषता इसका तपस्यात्मक (Ascetic) स्वरूप है। यह समाज के शासक वर्गों को काँचन और कामिनी का मोह छोड़कर वीतराग संन्यासी की तरह तथा निरन्तर जनकल्याण की भावना में संलग्न रहने के लिए विवश करता है।

(३) तीसरी विशेषता इस साम्यवाद का आर्थिक नहीं, किन्तु राजनीतिक होना है। वर्तमान साम्यवाद का प्रधान उद्देश्य समाज में विद्यमान आर्थिक विषमता दूर करना है, किन्तु प्लेटो इससे तत्कालीन राजनीति के दोष दूर करना चाहता है। उसका यह उद्देश्य है कि भ्रष्टाचार से धन कमाने वाले तथा शासन-कला का ज्ञान न रखने वाले उस समय के शासकों के स्थान पर करों द्वारा वसूल की गई राशि से निश्चित वेतन पाने वाले तथा शासन-कला में सुशिक्षित एवं निर्भीक व्यक्तियों का प्रशासन स्थापित हो।

वर्तमान साम्यवाद से तुलना, समानताएँ और भेद—मैक्सी ने लिखा है कि पश्चिमी जगत् में प्लेटो साम्यवादी विचारों का प्रथम प्रेरणा-स्रोत है और रिपब्लिक में सभी साम्यवादी और समाजवादी विचारों के मूल बीज मिलते हैं। किन्तु यह धारणा पूरी तरह सत्य नहीं है। प्लेटो तथा वर्तमान समय के साम्यवाद में कई समानताओं के कारण यह धारणा उत्पन्न हुई है। दोनों में प्रमुख **समानताएँ** निम्नलिखित हैं—

(१) दोनों राज्य को सर्वोपरि मानते हुए उसके हितों को प्रधानता देते हैं, व्यक्ति के हितों को गौण समझते हैं।

(२) दोनों मनुष्य की स्वार्थप्रधान मौलिक प्रवृत्ति की उपेक्षा करते हैं।

(३) दोनों व्यष्टिवाद पर आधारित अनियन्त्रित आर्थिक प्रतियोगिता को हटाना चाहते हैं।

(४) दोनों राज्य में 'न्याय' की व्यवस्था स्थापित कर राजनीतिक एकता और सामाजिक भाईचारे के भाव को बढ़ाना चाहते हैं।

(५) वर्तमान साम्यवादी समाज के सभी वर्गों की वैयक्तिक सम्पत्ति का पूर्णरूप

---

husbandmen instead of guardians; enemies and tyrants instead of allies of other citizens; hating and being hated, plotting and being plotted against; they will pass their whole lives in much greater terror of internal and of external enemies and the hour of ruin both to themselves and to the rest of the state will be at hand."

—B. Jowett, The Dialogues of Plato, Vol. 2, p. 103-4.

से अन्त करना चाहता है। प्लेटो अपने समाज के केवल दो उच्च वर्गों—संरक्षकों एवं सैनिकों के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति रखने का निषेध करता है।

(६) दोनों सार्वजनिक तथा सामाजिक हित में ही व्यक्ति का हित समझते हैं। इन समानताओं के कारण दोनों में सादृश्य का होना स्वाभाविक है।

किन्तु दोनों में निम्नलिखित भेद यह स्पष्ट करते हैं कि प्लेटो का साम्यवाद आधुनिक साम्यवाद से बहुत भिन्नता रखता है—

(१) प्लेटो का साम्यवाद **राजनीतिक** (Political) है, उसने उस समय के राज्यों में भ्रष्टाचार और कुशासन को दूर करने के लिए इसकी व्यवस्था की थी। वर्तमान साम्यवाद आर्थिक (Economic) है, इसमें पूँजीवाद के कारण समाज में उत्पन्न आर्थिक विषमता को दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

(२) प्लेटो का साम्यवाद अधूरा या **आधा साम्यवाद** (Half Communism) है। यह पूरे समाज के लिए नहीं है, किन्तु उसके अल्पसंख्यक भाग शासक और सैनिक वर्गों के लिए है अतः यह **अभिजाततन्त्रीय** (Aristocratic) है। किन्तु आधुनिक साम्यवाद आर्थिक विषमता को उत्पन्न करने वाले सभी साधनों—भूमि, खानों, कारखानों पर समाज का स्वामित्व स्थापित करना चाहता है, अतः यह समाज के सब वर्गों के लिए होने के कारण **लोकतन्त्रीय** (Democratic) है।

(३) प्लेटो का साम्यवाद **निषेधात्मक** (Negative) है, वह भौतिक धन-सम्पत्ति को शासकों के राजकार्य के संचालन में बाधक समझता है और इस कारण उन्हें सम्पत्ति रखने के अधिकार से वंचित करता है। किन्तु आधुनिक साम्यवाद भौतिक साधनों को बड़ा महत्व देता है और इन्हें सबके जीवन के लिए आवश्यक समझते हुए इनके समान वितरण पर बल देता है, अतः इसका दृष्टिकोण भावात्मक (Positive) है।

(४) प्लेटो के साम्यवाद में सम्पत्ति की सामूहिक व्यवस्था के साथ, स्त्रियों के बारे में भी साम्यवाद की व्यवस्था मानी गई है। वर्तमान साम्यवाद स्त्रियों के सम्बन्ध में इस व्यवस्था को नहीं मानता है।

(५) दोनों का उद्देश्य समाज में न्याय की व्यवस्था स्थापित करना है, तथापि दोनों के 'न्याय' के स्वरूप में अन्तर है। प्लेटो का न्याय सब व्यक्तियों द्वारा अपने कर्त्तव्यों का पालन है; किन्तु आधुनिक साम्यवादी न्याय का अर्थ व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुरूप वेतन देना मानते हैं, इसे दिलाने के लिए साम्यवाद का समर्थन करते हैं।

(६) प्लेटो का दृष्टिकोण आध्यात्मिक और धर्म-प्रधान है; किन्तु वर्तमान साम्यवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास रखते हुए भौतिक जगत् को वास्तविक मानता है, वह किसी आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास नहीं रखता है, धर्म को अफीम समझता है।

(७) आधुनिक साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त हैं—आर्थिक विषमता को दूर करना, उत्पादन के सभी साधनों का राष्ट्रीयकरण और सम्पत्ति का समान वितरण। प्लेटो के साम्यवाद में इनमें से एक भी तत्व नहीं है। अतः टेलर ने यह सत्य ही लिखा है कि **"रिपब्लिक के समाजवाद और साम्यवाद के सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा जाने के**

बावजूद वस्तुतः इस ग्रन्थ में न तो समाजवाद पाया जाता है और न ही साम्यवाद मिलता है।"

प्लेटो के तथा वर्तमान साम्यवाद की तुलना

सं०	प्लेटो का साम्यवाद	सं०	आधुनिक साम्यवाद
१.	यह राजनीतिक व्यवस्था है, इसका उद्देश्य है राज्य के कुशासन तथा भ्रष्टाचार को दूर करना हैं।	१.	यह आर्थिक समानता के उद्देश्य से प्रेरित है।
२.	यह केवल शासक वर्ग और सैनिकों के लिए होने के कारण अधूरा साम्यवाद है।	२.	यह पूरे समाज के लिए होने के कारण समूचा साम्यवाद है।
३.	यह समाज के उच्च वर्गों तक सीमित होने के कारण अभिजाततन्त्रीय (Aristocratic) है।	३.	यह समाज के सभी वर्गों के लिए होने के कारण लोकतन्त्रीय (Democratic) है।
४.	यह शासकों को धन सम्पत्ति से वंचित करने के कारण निषेधात्मक (Negative) है।	४.	यह सब व्यक्तियों के लिए धन के समान वितरण पर बल देने के कारण भावात्मक (Positive) है।
५.	यह सम्पत्ति के साथ स्त्रियों के बारे में साम्यवाद की व्यवस्था करता है।	५.	यह ऐसी व्यवस्था नहीं करता है।
६.	इसके अनुसार न्याय का आशय सब व्यक्तियों द्वारा अपने कर्त्तव्यों का पालन है।	६.	यह न्याय का अर्थ व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुसार मजदूरी या वेतन देना समझता है।
७.	यह आध्यात्मिक है।	७.	यह भौतिकवादी है।
८.	यह धार्मिक है।	८.	यह धर्म को अफीम समझता है।
९.	इसका प्रधान उद्देश्य दार्शनिक राजाओं को धनलोलुपता व स्वार्थपरता से मुक्त रखते हुए निष्पक्ष भाव से शासन का कार्य करने में सहायता देना है।	९.	इसका उद्देश्य आर्थिक विषमता दूर करना, उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण तथा सम्पत्ति का समान वितरण है।
१०.	यह वैयक्तिक सम्पत्ति का विरोधी नहीं है।	१०.	यह वैयक्तिक सम्पत्ति का उन्मूलन करना चाहता है।

अरस्तू द्वारा प्लेटो के सम्पत्तिविषयक साम्यवाद की आलोचना—प्लेटो के प्रमुख शिष्य अरस्तू ने अपने गुरु की इस विषय में कटु आलोचना करते हुए कहा था—

(१) **झगड़ा बढ़ाना**—यह व्यवस्था समाज में झगड़ों और फूट को बढ़ाने वाली

है। साम्यवाद की व्यवस्था में वैयक्तिक सम्पत्ति न होने के कारण व्यक्तिगत स्वार्थ का क्षेत्र सुनिश्चित नहीं होता है। अतः इसमें विवाद अधिक होगा और समाज की उन्नति रुक जाएगी।

(२) **पुरुषार्थ की भावना का लोप**—मनुष्य के हृदय में निजी सम्पत्ति रखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, और इसको बढ़ाने के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहता है, इससे समाज की उन्नति और वृद्धि होती रहती है। किन्तु साम्यवाद में निजी सम्पत्ति न होने के कारण व्यक्ति में पुरुषार्थ की भावना नहीं रहती है, समाज का विकास रुक जाता है।

(३) **परोपकार के काम न करना**—वैयक्तिक सम्पत्ति के कारण व्यक्ति परोपकार के कार्य कर सकता है; मित्रों, अतिथियों, अभ्यागतों अथवा साथियों के प्रति दया और सहायता करने से उसे अत्यधिक आनन्द प्राप्त होता है।

(४) **एकता शिक्षा द्वारा पैदा न करना**—प्लेटो राज्य की एकता तथा उन्नति के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति का अन्त करना चाहता है; किन्तु यह एकता उपयुक्त शिक्षा द्वारा ही स्थापित हो सकती है, न कि साम्यवाद द्वारा।

(५) **समाज की एकता को खतरे में डालना**—प्लेटो के साम्यवाद में अधिकांश नागरिकों पर यह सिद्धान्त लागू न करके राज्य को दो विषम समुदायों में बाँट दिया गया है, इससे राज्य की एकता बनाए रखना असम्भव हो जाता है।

परिवारविषयक अथवा पत्नियों का साम्यवाद—प्लेटो ने संरक्षक एवं सैनिक वर्ग को न केवल वैयक्तिक सम्पत्ति से, किन्तु अलग-अलग घरों में अपना परिवार बनाकर रहने की व्यवस्था से भी वंचित किया है। इस व्यवस्था में उसका यह उद्देश्य था कि शासक सम्पत्ति और स्त्रियों के मोह तथा चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करें। परिवार का मोह कई बार धन के मोह से अधिक प्रबल होता है, अतः प्लेटो अपने शासकों को इस जंजाल से मुक्त कराने के लिए यह व्यवस्था करता है।

प्लेटो ने अपने सिद्धान्त का स्वरूप बताते हुए कहा है—**"संरक्षक स्त्री या पुरुषों में कोई भी अपना निजी घर (परिवार) नहीं बनाएगा (कोई भी किसी के साथ व्यक्तिगत रूप में सहवास नहीं कर सकेगा), स्त्रियाँ सबकी समान रूप से पत्नियाँ होंगी, इनकी सन्तानें भी समान रूप से सबकी होंगी और न तो माता-पिता अपनी सन्तान को जान सकेंगे और न सन्तान माता-पिता को।"**[1] प्लेटो ने अपनी इस योजना की पुष्टि निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर की है—

(i) **परिवार के घातक प्रभाव से राज्य के संरक्षकों को मुक्त करना**—वह परिवार को सब प्रकार की स्वार्थपूर्ण भावनाओं को उत्पन्न करने वाला तथा संकीर्ण विचारों को जन्म देने वाला मानता है। यह मनुष्यों को पारिवारिक चिन्ताओं में डालकर उन्हें कर्त्तव्य-विमुख करता है और समाज में 'न्याय' को स्थापित करने में बाधा डालता

1. "No one man and one woman are to set up hoseu together privately; wives are to be held in common by all so too are the children, and no parent is to know his own child, nor any child his parent."
—Republic.

है, अतः प्लेटो परिवार की व्यवस्था का अन्त करना चाहता है।

(ii) **नारियों की मुक्ति तथा समानाधिकार**—उन दिनों एथेन्स में नारियों की स्थिति बहुत गिरी हुई थी, वे घर की चहारदीवारी में बन्द रहती थीं। उसकी दृष्टि में स्त्रियों का जीवन चूल्हे-चौके में बरबाद हो रहा था। वह नर-नारी की योग्यता में विशेष अन्तर नहीं मानता था और योग्य स्त्रियों को घर की चहारदीवारी से बाहर निकालकर उनकी प्रतिभा और शक्ति का प्रयोग राज्य के हित में करने को उत्सुक था। उसका यह मत था कि प्रकृति ने नारी को नर की भाँति राज्य के सभी कार्य करने में समर्थ बनाया है। उसके मतानुसार "स्त्री प्राकृतिक रूप से राज्य के सभी कार्यों में भाग लेने की योग्यता रखती है।" इसकी पुष्टि उसने एक मनोरंजक किन्तु हीनकोटि के दृष्टान्त से की है। जिस प्रकार कुत्ता अपने स्वामी के जान-माल की रक्षा करता है, उसी प्रकार प्लेटो की व्यवस्था में संरक्षक (Guardians) राज्य के हित की रक्षा करते हैं। उसने रक्षकों की तुलना पहरा देने वाले कुत्तों से की है और उसका यह मत है कि जैसे शिकार के कार्य को कुत्ता एवं कुतिया दोनों कर सकते हैं उसी तरह नर-नारी भी राज्य की रक्षा का कार्य करने में समान रूप से समर्थ हैं।[1] उनमें बल की दृष्टि से भले ही कुछ अन्तर हो, किन्तु योग्यताओं की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। इन दोनों में कोई ऐसा भेद नहीं, जो उनके राजनीतिक जीवन में भाग लेने में बाधा बन सके। प्लेटो स्त्रियों को परिवार की सेवा से मुक्त करके राज्य की सेवा में लगाना चाहता था। इसमें वह स्त्रियों के साम्यवाद के अतिरिक्त कोई अन्य व्यवस्था नहीं कर सकता था, क्योंकि संरक्षकों के लिए वह यह पहले ही मान चुका है कि वे खुले सार्वजनिक शिविर में रहेंगे। उनके पास अपनी पत्नी रखने के लिए कोई पृथक् स्थान या घर न होगा। स्त्री संरक्षकों को भी इसी प्रकार का जीवन बिताना है, अतः इस अवस्था में स्त्रियों के साम्यवाद की व्यवस्था स्वाभाविक थी।

(iii) **उत्तम सन्तान प्राप्त करना**—सुप्रजननशास्त्र की दृष्टि से भी प्लेटो को यह व्यवस्था आवश्यक प्रतीत होती थी। उसका यह मत था कि उत्तम जाति के शिकारी कुत्ते, मुर्गे, घोड़े प्राप्त करने के लिए जैसे शक्तिशाली और उत्तम गुणों वाले नर-मादा का समागम कराया जाता है (रिपब्लिक, पृष्ठ १५४-५५), वैसे ही "मानव समुदाय को श्रेष्ठ अवस्था में बनाए रखना हो तो श्रेष्ठ पुरुषों का श्रेष्ठ स्त्रियों से सहवास अधिक-से-अधिक सम्भव दशाओं में होना चाहिए।[2] और फिर यदि संरक्षकों के समुदाय को पारस्परिक फूट और कलह से यथासम्भव मुक्त रखना हो तो उपर्युक्त प्रबन्ध के उपाय की जानकारी शासकों के अतिरिक्त और किसी को नहीं होनी चाहिए।"

---

1. "The guardians are to function as watchdogs of the herd. Do we separate dogs along lines of sex in the work of hunting and herding."

—Republic.

2. "If we are to keep our flock at the highest pitch of excellence, there should be as many unions of the best of both sexes, and as few of the inferior, as possible, and only the offspring of the better unions should be kept."

—Republic.

(रिपब्लिक, पृ० १५५ ५६)। अपनी योजना को क्रियात्मक रूपरेखा देते हुए उसने यह व्यवस्था की है कि इस प्रकार का सहवास कुछ विशेष अवसरों पर ही हो। **"हमको कुछ उत्सवों और यज्ञों का विधान करना होगा, जिनमें वर-वधुओं का सम्मिलन होगा तथा हमारे कवियों को इस समय सम्पन्न होने वाले विवाहों के अनुरूप स्तोत्रों की रचना करनी होगी।"** ऐसी पद्धति की योजना करनी होगी कि निकृष्ट जन वर-वधू के वरण के अवसर पर शासकों को दोष न देकर दैव को दोष दें। श्रेष्ठ पुरुषों को श्रेष्ठ स्त्रियों के साथ सहवास के अधिक अवसर प्राप्त होने चाहिए। किन्तु सन्तान होने के बाद उनका इससे कोई सम्बन्ध न रहेगा, उनकी देखरेख के लिए नियुक्त स्त्री-पुरुष पदाधिकारी इन बच्चों को राजकीय शिशुगृहों में उन धायाओं के पास पहुँचा देंगे, जो नगर के अलग मुहल्ले में रहती हों। निकृष्ट और सदोष सन्तानों को अज्ञात स्थान में छिपाकर नष्ट कर दिया जाएगा ताकि किसी को यह पता न चले कि उनका क्या हुआ। बच्चों का पालन-पोषण करने वाले पदाधिकारी इसका पूरा प्रयत्न करेंगे कि कोई माता अपने शिशु को न पहचान सके। प्लेटो यह समझता है कि इस व्यवस्था से न केवल उत्तम सन्तान उत्पन्न होगी, किन्तु सारा राज्य एक विशाल कुटुम्ब का रूप धारण कर लेगा, सब 'इदं मम' (यह मेरा है), 'इदं न मम' (यह मेरा नहीं है) शब्दों का प्रयोग एक ही प्रकार से एक ही वस्तु के लिए करने लगेंगे। राज्य में एकता की अनुभूति बढ़ेगी। "जिस तरह उँगली में चोट लगने से सारे शरीर को पीड़ा होती है, इसी तरह राज्य के एक व्यक्ति पर दुःख आ पड़ने पर सारा राष्ट्र उससे दुःखी होगा। (रिपब्लिक, पृष्ठ १६०)। इससे राज्य में सुदृढ़ता और एकता आएगी और यही राज्य की सबसे बड़ी विशेषता है। इससे राज्य को निर्बल बनाने वाले झगड़े समाप्त हो जाएँगे, विद्रोह की सम्भावना मिट जाएगी और शान्ति का अखण्ड साम्राज्य होगा।

अरस्तू द्वारा परिवारविषयक साम्यवाद की आलोचना—प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने इस योजना की भी प्रबल आलोचना सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व की भाँति निम्नलिखित कारणों के आधार पर की थी—

(१) **राज्य की एकता को नष्ट करना**—इससे राज्य न तो कभी विशाल कुटुम्ब का रूप धारण कर सकता है, और न ही परिवार की एकता और सुदृढ़ता को पा सकता है। जब एक बच्चे के एक नहीं, किन्तु सौ माता-पिता होंगे और इनके भी सौ बच्चे होंगे तो इनमें प्रेम की वह प्रगाढ़ता और सम्बन्धों की घनिष्ठता नहीं हो सकती जो एक छोटे परिवार के माता-पिता तथा सन्तान में होती है। अरस्तू के शब्दों में, **"जिस प्रकार थोड़ी-सी मधुर मदिरा बहुत अधिक जल के साथ मिलकर स्वाद-रहित घोल बन जाती है, इसी प्रकार ऐसे समाज में भी (पिता-पुत्र आदि) नामों द्वारा सूचित होने वाली पारिवारिक भावना अवश्य शिथिल हो जाएगी।"** इस समय यह भावना समाज की एकता को बढ़ाती है, इसकी सुदृढ़ता को पुष्ट करती है। प्लेटो की व्यवस्था में यह भावना नष्ट हो जाएगी, राज्य में वह एकता और सुदृढ़ता उत्पन्न नहीं हो सकती है जिसे प्लेटो राज्य के लिए अभीष्ट और आवश्यक समझता है।

(२) **झगड़े बढ़ाना**—इस व्यवस्था से समाज में कलहों की वृद्धि होगी, शान्ति के स्थान पर, स्त्रियों को लेकर झगड़े बहुत अधिक बढ़ जाएँगे।

(३) **बच्चों की उपेक्षा**—जो वस्तु सबकी होती है, उसकी परवाह सबसे कम की जाती है। जब बच्चे सबके समझे जाएँगे तो उनका लालन-पालन वैसे प्रेम, ममता और सावधानी से नहीं हो सकता, जैसे वर्तमान परिवार-व्यवस्था में होता है।

(४) **बच्चों के प्रति ममता**—बच्चों के माता-पिता का नाम गुप्त रखने पर भी आकृति के सादृश्य से माता-पिता की पहचान हो जाएगी। प्लेटो इनके नाम गुप्त रखकर शासकों को जिस ममता और मोह से मुक्त रखना चाहता है, वह इनके पहचान लिए जाने पर अवश्य उत्पन्न हो जाएगी।

(५) **पशु-जगत् के उदाहरणों का ठीक न होना**—उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिए इस व्यवस्था को प्लेटो ने पशु-जगत् के उदाहरणों से पुष्ट करने का प्रयत्न किया, किन्तु पशु-जगत् के नियमों को मानव-समाज पर लागू करना ठीक नहीं है।

(६) **अव्यावहारिकता**—राज्य द्वारा श्रेष्ठ स्त्री-पुरुषों के समागम की योजना सर्वथा अव्यावहारिक है।

(७) **परिवार के गुणों की उपेक्षा**—प्लेटो परिवार को केवल स्वार्थपरता एवं झगड़ों का मूल कारण समझता है, किन्तु इससे समाज को होने वाले लाभों की ओर ध्यान नहीं देता है। परिवार व्यक्तियों को सेवा, सहयोग, प्रेम, स्वार्थ-त्याग, संयम, सदाचार और परोपकार का पाठ पढ़ाता है।

(८) **पारिवारिक आनन्द से वंचित करना**—प्लेटो शासकों को पारिवारिक जीवन से प्राप्त होने वाले आनन्द और लाभ से वंचित कर देता है। अतः उसकी यह योजना सर्वथा अक्रियात्मक, अव्यावहारिक, असम्भव तथा मानव-स्वभाव की मौलिक प्रवृत्तियों के प्रतिकूल है।

क्या प्लेटो प्रथम साम्यवादी था?—पश्चिमी जगत् में साम्यवाद के सिद्धान्तों का सर्वप्रथम प्रतिपादन करने का श्रेय प्लेटो को दिया जाता है। उसने इसके कुछ मौलिक सिद्धान्तों का विवेचन आदर्श राज्य बनाने के बारे में किया था। साम्यवाद वैयक्तिक सम्पत्ति का विरोधी है और भूमि तथा उत्पादन के सभी साधनों पर समाज का स्वामित्व स्थापित करना चाहता है ताकि सब व्यक्ति इस सम्पत्ति का समान रूप से प्रयोग कर सकें। प्लेटो इस सम्पत्ति के साम्यवाद को केवल दार्शनिकों के वर्ग पर ही लागू करता है। पहले यह बताया जा चुका है कि प्लेटो के तथा वर्तमान साम्यवाद में कुछ मौलिक अन्तर हैं, फिर भी मैक्सी ने यह ठीक ही लिखा है "वस्तुतः सब समाजवादी और साम्यवादी विचारों का मूल प्लेटो में मिलता है। यदि वह आज जीवित होता तो प्लेटो क्रान्तिकारियों में सबसे उग्र होता और इसमें कोई संदेह नहीं है कि वह रूस की ओर उसी आशापूर्ण उत्साह से फौरन चला जाता, जिस उत्साह से वह अपने समय में सिराक्यूज़ के पुराने राजा की प्रार्थना पर वहाँ गया था।"[1]

---

1. "Virtually all socialistic and communistic thought has its root in Plato. Were he alived today Plato would be the reddest of Red and would no doubt hastened to Russia with the same expectant enthusiasm he displayed in answering the call of the ancient tyrant of Syracuse."

—Maxey, Political Philosophies, p. 55.

प्रोफेसर जास्जी ने प्लेटो के साम्यवाद और वर्तमान साम्यवाद में तुलना करते हुए लिखा है, "प्लेटो के आदर्श राज्य में तथा रूसी साम्यवादियों के राज्य में कई समानता रखने वाले तत्व हैं। दोनों वैयक्तिक सम्पत्ति को सारी बुराइयों का एकमात्र स्रोत समझते हैं। दोनों सम्पत्ति और निर्धनता को समाप्त करना चाहते हैं। दोनों बच्चों को राज्य द्वारा ऐसी शिक्षा देना चाहते हैं जिसमें माता-पिता की देख-भाल का कोई स्थान नहीं है। दोनों कला और साहित्य को राज्य की शिक्षा का साधन समझते हैं। दोनों सब प्रकार के विज्ञान और विचारधाराओं पर राज्य की दृष्टि से नियन्त्रण स्थापित करना चाहते हैं। दोनों ऐसे राज्य द्वारा प्रचारित कट्टर सिद्धान्त और ऐसा राजकीय धर्म चाहते हैं जिसका सभी नागरिक पूरा पालन करें।" आधुनिक साम्यवादी यदि अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए राज्य की शक्ति का उपयोग करते हैं तो हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्लेटो भी अपने आदर्श राज्य की व्यवस्था को राजा की सहायता से लागू करना चाहता था। वह ऐसे दार्शनिक महामति राजा की खोज में था जो उसके विचारों को साकार रूप प्रदान कर सके। अतः प्लेटो को पहला साम्यवादी विचारक कहा जा सकता है।[1]

प्लेटो का आदर्श राज्य
(Ideal State)

राज्य का स्वरूप—प्लेटो व्यक्ति और राज्य में **पिण्ड और ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध** मानता है। इसका यह अर्थ है कि व्यक्ति में जो गुण और विशेषताएँ थोड़ी मात्रा में पाई जाती हैं, वही विशाल रूप में राज्य में पाई जाती हैं। राज्य व्यक्ति की विशेषताओं का विराट् रूप है।

जिस प्रकार व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले सब कार्य आत्मा से प्रेरणा ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार राज्य के सभी कार्यों की उत्पत्ति उसे बनाने वाले मनुष्यों की आत्माओं से होती है। प्लेटो के शब्दों में, "राज्य किसी वृक्ष से या चट्टान से नहीं, किन्तु उनमें निवास करने वाले व्यक्तियों के चरित्र से बनते हैं।" वीर पुरुषों का राज्य वीर होगा और नपुंसकों का नपुंसक। अतः मनुष्यों के गुणों का अध्ययन उनसे बने

---

1. K. F. Geiser and O. Jaszi, Political Philosophy from Plato to Jeremy Bentham. p. 4,

"The ideal state of Plato and that of Russian Communists have many elements in common; both regard private property as the sole source of all evil; both would eliminate wealth and poverty, both favour a collective education of the children exempted from paternal care; both regard art and culture only as means of state education, both would control all science and ideology in the interest of the state."

राज्यों के अध्ययन से हो सकता है। किन्तु राज्य की संस्थाएँ मानसिक विचारों का परिणाम हैं और इनकी वास्तविक सत्ता मन में ही है। न्याय और कानून की सत्ताएँ कानूनों तथा न्यायाधीश आदि के रूप में भौतिक सत्ता रखती हैं, किन्तु विचारों तथा चिन्तन का परिणाम होने से ये अभौतिक हैं या आध्यात्मिक हैं, मानसिक विचार की कृति हैं। न्याय को स्थूल रूप से राजदण्ड और न्यायालयों के रूप में देखा जाता है; किन्तु वह आध्यात्मिक और मानसिक चिन्तन का परिणाम है। बार्कर के शब्दों में राज्यविषयक चिन्तन में प्लेटो तथा आरिस्टाटल की एक बड़ी देन इसे एक भौतिक सत्ता न समझकर, आन्तरिक एवं आध्यात्मिक सत्ता मानना है।

यदि राज्य की आध्यात्मिक सत्ता है तो उसका स्वरूप समझने के लिए मानवीय आत्मा का स्वरूप समझना आवश्यक है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के सिद्धान्त के अनुसार आत्मा की विशेषताएँ राज्य की विशेषताएँ होंगी। मानवीय आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में प्लेटो ने पिथागोरस के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए इसे त्रिगुणात्मक माना है।

आत्मा में तीन गुण या तत्व हैं—(१) काम अथवा क्षुधा (Appetite), (२) उत्साह (Spirit), (३) विवेक (Reason)। कामतत्व से हम में राग, द्वेष, भूख, प्यास, नाना प्रकार की इच्छाएँ, वासनाएँ आदि उत्पन्न होती हैं। दूसरा तत्व विवेक का है, वह मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त कराने में तथा प्रेम कराने में सहायक होता है। इन दोनों तत्वों का मध्यवर्ती उत्साह, ओज या शौर्य (Spirit) का तत्व है, यह मनुष्यों में लड़ने की भावना, महत्वाकांक्षा, साहस और स्पर्द्धा के भावों को उत्पन्न करता है। ये तीन तत्व प्लेटो के दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त हैं, इसी के आधार पर उसने राज्य को उत्पन्न करने वाले तीन तत्वों का तथा राज्य का निर्माण करने वाले तीन वर्गों का प्रतिपादन किया है।

राज्य का निर्माण करने वाले तीन तत्व तथा वर्ग—जिस प्रकार मानवीय आत्मा का निर्माण तीन तत्वों से हुआ है, उसी प्रकार राज्य को उत्पन्न करने में तीन तत्व सहायक होते हैं—आर्थिक, सैनिक और दार्शनिक।

(१) **आर्थिक तत्व** (Economic Factor)—इसका यह अभिप्राय है कि मनुष्य कामतत्व (Appetite) से सम्बन्ध रखने वाली—भोजन, वस्त्र, निवास आदि की आवश्यकताएँ एकाकी रूप से पूरी नहीं कर सकता, ये अनेक व्यक्तियों के सहयोग से तभी पूर्ण हो सकती हैं जब उन्हें पूरा करने के लिए समाज में अन्न उत्पन्न करने वाले किसानों, मकान बनाने वाले राजों, कपड़ा बुनने वाले जुलाहों आदि की विशेष आर्थिक श्रेणियाँ बन जाएँ। समाज के लिए इस प्रकार का श्रम-विभाजन (Division of Labour) बड़ा महत्वपूर्ण है। समाज के विभिन्न भागों में कार्यों का बँटवारा हो जाने से प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष कार्य को करता है। यही **विशेष कार्य का सिद्धान्त** (Theory of Specific Function) कहलाता है। समाज का विकास होने के साथ-साथ पेशों की संख्या बढ़ती जाती है। इन सबका आर्थिक सहयोग जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक होने के कारण ये राज्य के रूप में संगठित होते हैं। इसमें प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति यदि अपना निश्चित कार्य करता रहे तो राज्य की आवश्यकताएँ भली-भाँति पूर्ण

होती हैं और प्लेटो के मतानुसार यही न्याय है।

(२) **सैनिक तत्व**—आर्थिक तत्व के अतिरिक्त राज्य का निर्माण करने वाला **दूसरा तत्व सैनिक है।** यह आत्मा के गुणों में उत्साह या शौर्य के साथ साम्य रखता है। मनुष्य को केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सन्तोष नहीं होता, उसमें अपने को सुसंस्कृत एवं परिमार्जित बनाने की कुछ आकांक्षाएँ होती हैं। इन्हें पूरा करने के लिए अधिक जनसंख्या और प्रदेश की आवश्यकता होती है। यह प्रदेश युद्ध द्वारा प्राप्त हो सकता है, अतः राज्य का एक कार्य पर्याप्त प्रदेश को उपलब्ध करना तथा उसे अपने अधिकार में बनाए रखना होता है। अतः राज्य की रक्षा के लिए शूरवीर रक्षकों की आवश्यकता होती है। विशेषीकरण (Specialisation) के नियम के अनुसार इस कार्य को करने वाले योद्धाओं का एक विशेष वर्ग होना चाहिए। इनसे राज्य अपनी रक्षा का और अपने प्रदेश के विस्तार का कार्य करता है।

(३) **दार्शनिक तत्व**—राज्य के निर्माण का **तीसरा आधार दार्शनिक तत्व है।** इसका सम्बन्ध आत्मा के विवेक या बुद्धितत्व से है। प्लेटो के मतानुसार सैनिक राज्य का संरक्षक (Guardian) होता है और संरक्षक का स्वभाव रखवाली करने वाले कुत्ते के समान घर वालों के साथ प्रेम करने का तथा चोरों के प्रति शत्रुता रखने का होता है। कुत्ता यह जानता है कि उसे किनके प्रति प्रेम का तथा किनके प्रति शत्रुता का व्यवहार करना है। इसी प्रकार रक्षक भी ज्ञान और विवेक द्वारा शत्रु और मित्र में भेद करके उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करता है, अतः राज्य के रक्षक में विवेक का गुण होना चाहिए, सैनिक योद्धा में यह गुण सामान्य रूप में पाया जाता है, किन्तु इसका विशेष विकास पूर्ण संरक्षक (Perfect Guardian) या शासक में पाया जाता है।

प्लेटो के मतानुसार संरक्षक दो प्रकार के होते हैं—(१) **सहायक या सैनिक संरक्षक** (Auxiliary or Military Guardians)—इनका विशेष गुण शौर्य होता है। इनका प्रधान कार्य लड़ना, युद्ध करना तथा देश की विदेशी आक्रमणों से रक्षा करना तथा उसके प्रदेश का विस्तार करना है।

(२) **दार्शनिक संरक्षक** (Philosopher Guardians)—इनका विशेष गुण विवेक या बुद्धि होता है। ये राज्य के वास्तविक संरक्षक होते हैं। शासक का विवेक विशेष रूप से इस बात में निहित है कि वह बुद्धिमान् हो, शासित होने वाले प्रजाजनों से प्रेम करे, उनका कल्याण अपना कल्याण समझे, उनके अहित में अपना अहित माने। वह अपने विवेक और प्रजा-प्रेम की भावना से राज्य की एकता बनाए रखता है। राज्य के निर्माण में आर्थिक आवश्यकताएँ या कामतत्व (Appetite) मनुष्यों को राज्य के रूप में संगठित होने की प्रेरणा करता है, उत्साह उनको सैनिक संगठन द्वारा सुदृढ़ बनाता है तथा विवेक एक-दूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न करके इस संगठन की एकता और स्थायित्व को सुदृढ़ बनाता है।

दार्शनिक राजा (Philosopher King) **का विचार**—विवेक राजा का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है, अतः विवेक-बुद्धिसम्पन्न दार्शनिक को ही राजा होना चाहिए। किन्तु सभी व्यक्ति दार्शनिक प्रकृति और प्रवृत्ति नहीं रखते हैं। प्लेटो के शब्दों में, **"समूची जनता कभी दार्शनिक नहीं बन सकती।"** अतः शासक वही होना चाहिए जो दार्शनिक

होने की बौद्धिक योग्यता रखे। इसका यह अभिप्राय है कि वह न्याय, सौन्दर्य, संयम (Temperance) के गुणों के मूल विचारों (Ideas) को जानता हो। उसे यह ज्ञात हो कि इस दृश्यमान जगत् की विविध वस्तुओं के पीछे रहने वाला वास्तविक सत् का विचार (Idea of Good) क्या है और सब कार्यों तथा घटनाओं का क्या प्रयोजन है। शासक में विवेक और बुद्धि के गुण की पराकाष्ठा और चरम विकास होना चाहिए। राज्य का नियन्त्रण और संचालन इसी विवेक से होना चाहिए। प्लेटो के मत में विवेक-बुद्धि से सम्पन्न दार्शनिक राजा (Philosopher King) ही सर्वोत्तम शासक है; संसार में तब तक अशान्ति, अराजकता असन्तोष और अव्यवस्था बनी रहेगी, जब तक राज्यों के शासनसूत्र का संचालन दार्शनिक राजा नहीं करेंगे।

राज्य के तीन वर्ग—राज्य के निर्माण के उपर्युक्त तीन तत्वों के आधार पर प्लेटो ने अपने राज्य में तीन वर्गों की सत्ता मानी है: (१) विवेक गुण का प्रतिनिधित्व करने वाले **संरक्षक** (Guardians), (२) उत्साह गुण के प्रतिनिधि **सैनिक या सहायक संरक्षक** (Auxiliary Guardians), (३) काम तथा क्षुधा तत्व अथवा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले **उत्पादक या कृषक**। प्लेटो का वर्गीकरण भारत की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से सादृश्य रखता है। सत्व, रज तथा तमोगुण के आधार पर तथा मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को देखते हुए भारतीय समाज को मनु आदि धर्मशास्त्रकारों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नामक चार वर्णों में बाँटा था। इनमें पहला वर्ण संरक्षकों से, दूसरा सैनिकों तथा तीसरा और चौथा वर्ण कृषकों से मिलता है। एक पश्चिमी विद्वान् उरविक ने यहाँ तक कल्पना की है कि समाज को तीन वर्गों में बाँटने की कल्पना करने की प्रेरणा प्लेटो को भारत से मिली थी।

आदर्श राज्य (Ideal State) **के मौलिक सिद्धान्त**—प्लेटो के मतानुसार आदर्श राज्य के मौलिक सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) **न्याय** (Justice)—यह उसके राज्य का संचालन करने वाला प्राण है। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि इसके सब अंग अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहें।

(२) **राज्य**—यह व्यक्ति का बृहत् रूप है, व्यक्ति की सब विशेषताएँ राज्य में पाई जाती हैं।

(३) **विशेष कार्य का सिद्धान्त**—अपना कर्त्तव्य पालन के लिए यह आवश्यक है कि समाज में श्रम-विभाजन हो, प्रत्येक व्यक्ति अपने विशेष कार्य को अधिक दक्षता और योग्यता से करे।

(४) **शिक्षा का सिद्धान्त**—विभिन्न व्यक्तियों को अपने कार्यों का ज्ञान देने के लिए उसने विशेष शिक्षा-पद्धति की व्यवस्था की है।

(५) **नागरिकों के तीन वर्ग**—आत्मा के तीन तत्वों—काम या क्षुधा (Appetite), उत्साह (Spirit), विवेक (Reason) के आधार पर उसने नागरिकों को उत्पादक वर्ग, सैनिक अथवा सहायक संरक्षक तथा संरक्षक नामक तीन वर्गों में बाँटा है।

(६) **दार्शनिक राजाओं का शासन**—प्लेटो का यह विश्वास है कि शासक

जब तक दार्शनिक नहीं होंगे, तब तक राज्यों में शान्ति और सुशासन स्थापित नहीं हो सकता है।

(७) **साम्यवाद**—दार्शनिकों को सुशासक बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि वे वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार न रखें, कामिनी और काँचन के मोह से मुक्त होकर अपना कर्त्तव्य पालन करें।

(८) **नर-नारियों का समानाधिकार**—अपने राज्य में वह नारियों को घर की चहारदीवारी से बाहर निकालकर शिक्षा, शासन आदि सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार प्रदान करता है।

(९) **आध्यात्मिकता**—प्लेटो का राज्य विशुद्ध आध्यात्मिक और नैतिक लक्ष्य वाला है।

(१०) **आदर्श राज्य**—राज्य का हित सर्वोपरि तथा प्रधान है, व्यक्ति राज्य का अंग मात्र है। प्लेटो के आदर्श राज्य की कल्पना का अभिप्राय यह है कि राज्य उपर्युक्त प्रकार का होना चाहिए। उसने सब देशों और कालों के लिए अपने ग्रन्थ **रिपब्लिक** में एक आदर्श राज्य की रूपरेखा प्रस्तुत की है।

प्लेटो के आदर्श राज्य की योजना के दोष—इसका **पहला** दोष यह है कि उसने राज्य और व्यक्ति की समानता को अत्यधिक अनुचित महत्व दिया है। मानवीय आत्मा के तीन तत्वों के आधार पर राज्य के नागरिकों को तीन वर्गों में बाँटना वस्तु-स्थिति से बहुत भिन्न है। उसका यह विभाजन सर्वथा कृत्रिम और समाज की वास्तविक दशा से भिन्न है।

दूसरा दोष यह है कि प्लेटो ने समष्टिवाद (Collectivism) तथा राज्य को अत्यधिक अनुचित महत्ता प्रदान की है, उसकी तुलना में व्यक्ति को नगण्य समझा है। उसकी स्वतन्त्रता और अधिकारों को बिलकुल कुचल दिया है। हेगल के शब्दों में प्लेटो के राज्य में व्यक्ति की स्वाधीनता का कोई स्थान नहीं है।

तीसरा दोष यह है कि राज्य के बहुसंख्यक उत्पादक वर्ग की शोचनीय उपेक्षा की गई है, वह अन्य दोनों वर्गों के समान इनके लिए विशेष शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं करता।

चौथा दोष प्लेटो का तत्कालीन समाज की एक बड़ी बुराई दास-प्रथा के सम्बन्ध में मौन रहना है।

पाँचवाँ दोष दार्शनिकों को निरंकुश राजसत्ता सौंपना है। इन व्यक्तियों को शिक्षा द्वारा भले ही कितना ही निस्पृह और वीतराग क्यों न बना दिया जाए, किन्तु अनियन्त्रित शक्ति पाने पर मनुष्य के स्वभाव के अनुसार इनमें दोष आना स्वाभाविक है।

छठा दोष यह है कि प्लेटो ने अपने राज्य में शासन के लिए आवश्यक अनेक तत्वों की घोर उपेक्षा की है। वह कानूनों को अनावश्यक मानता है, इसके अतिरिक्त उसने सरकारी पदाधिकारियों की नियुक्ति, न्यायालयों की स्थापना, अपराधियों के दण्ड देने की व्यवस्था का कोई वर्णन नहीं किया।

सातवाँ दोष प्लेटो के आदर्श राज्य की अनेक अव्यावहारिक व्यवस्थाएँ हैं। उसकी अक्रियात्मक व्यवस्थाएँ—दार्शनिक राजाओं का शासन, साम्यवाद, कानूनों की

अनावश्यकता, शासकों को वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार से वंचित करना है। पहले इन सबकी आलोचना की जा चुकी है।

पोलिटिकस (Politicus)—प्लेटो की यह रचना सम्भवतः ३६७-३६१ ई० पू० के बीच में या इसके बाद उस काल में लिखी गई, जब वह सिराक्यूज़ में दियोनिसियस द्वितीय के सुधार में लगा हुआ था। यह रिपब्लिक के प्रकाशित होने के काफी बाद लिखी गई है। इसमें लोकतन्त्र का विरोध पहले जैसा उग्र नहीं है, कानूनों को बिलकुल अनावश्यक और निरर्थक नहीं माना गया। इसमें आदर्श राज्य का पक्षपाती होते हुए भी अब वह व्यावहारिक आदर्शवादी बन गया था। इसमें उसके विचार रिपब्लिक की अपेक्षा तर्कपूर्ण और सुनिश्चित हैं, किन्तु अभी तक दार्शनिक राजाओं के शासन में उसकी आस्था पूर्ववत् बनी हुई है।

'पोलिटिकस' का शब्दार्थ है **राजनीतिज्ञ** (Statesman)। इस ग्रन्थ में प्लेटो ने आदर्श शासक या राजनीतिज्ञ के स्वरूप और कर्त्तव्यों के बारे में अपने विचार संवाद या वार्त्तालाप की शैली में व्यक्त किए हैं।

शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण—कानून को शासन का आधार-स्तम्भ बनाते हुए प्लेटो ने शासन-प्रणालियों के दो वर्गों में छः भेद किए हैं: (क) कानून द्वारा संचालित—(१) एक व्यक्ति का शासन—राजतन्त्र, (२) कुछ व्यक्तियों का शासन—कुलीनतन्त्र (Aristocracy), (३) अनेक व्यक्तियों का शासन—लोकतन्त्र (Democracy)। (ख) दूसरा वर्ग कानून द्वारा संचालित न होने वाले शासकों का है। ये भी तीन हैं—(१) एक व्यक्ति का शासन—निरंकुशतन्त्र (Tyranny), (२) कुछ व्यक्तियां का शासन—अल्पतन्त्र (Oligarchy), (३) बहुत व्यक्तियों का शासन—अतिवादी लोकतन्त्र (Extreme Democracy)। इस वर्गीकरण में प्लेटो के मतानुसार राजतन्त्र इस दृष्टि से श्रेष्ठ है कि कानून द्वारा शासित राज्य की इस व्यवस्था में प्रजा का अधिकतम कल्याण होता है। प्लेटो द्वारा किया गया राज्यों का वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जायगा।
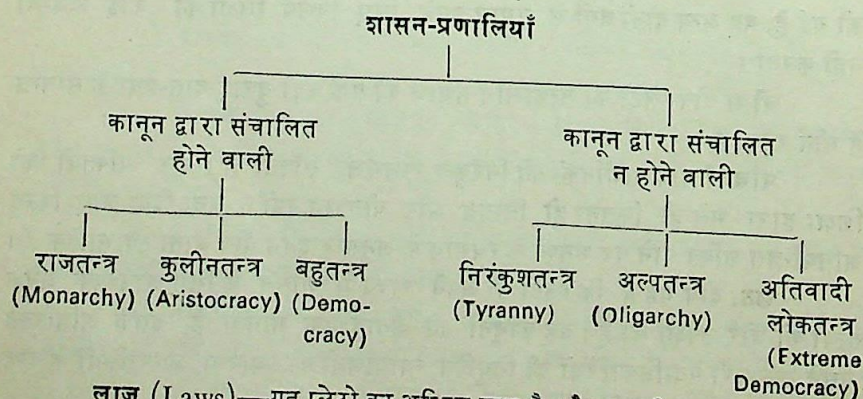
लाज़ (Laws)—यह प्लेटो का अन्तिम ग्रन्थ है और उसकी मृत्यु के एक वर्ष बाद ३४७ ई० पू० में प्रकाशित हुआ था। इसमें यथार्थवाद की मात्रा 'पोलिटिकस' से भी अधिक है। यद्यपि 'रिपब्लिक' अपने विचारों की उड़ान, विषयों के वैविध्य, शैली की

सरसता और प्रवाह तथा प्रभाव की दृष्टि से 'लाज़' की अपेक्षा अधिक महत्व रखती है, किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से 'लाज़' 'रिपब्लिक' की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। प्लेटो सिराक्यूज़ में अपने अनुभव से यह जान चुका था कि दार्शनिक राजा का प्रशिक्षण कितना कठिन है, किन्तु अपनी विफलता से वह निराश नहीं हुआ। उसने यह सोचा कि यदि दार्शनिक राजा का प्रशिक्षण सम्भव नहीं है तो वह सब राज्यों के लिए ऐसी दार्शनिक विधि से शासन करने के नियमों का निर्माण क्यों न करे, जिसके अनुसार राज्यों का शासन आदर्श हो सके। प्लेटो ने यद्यपि अपने पहले ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में प्रतिपादित दार्शनिकों द्वारा राज्य के शासन के विचार को कभी नहीं छोड़ा, किन्तु इसके सम्भव न होने पर दूसरे सर्वोत्तम विकल्प के रूप में उसने दार्शनिक नियमों की संहिता (Code) द्वारा शासन का प्रयत्न किया। यद्यपि यह उसका आदर्श राज्य तो नहीं था, तथापि कुछ घटिया दर्जे का **उप-आदर्श राज्य** (Sub-idea! State) था; यह आदर्श तो नहीं था, पर आदर्श के निकट था। 'लाज़' में प्लेटो ने ऐसे ही कानूनों का संग्रह तैयार किया है। इसकी योजना उसने ३६१ ई० पू० में बनाई थी और सिराक्यूज़ की घटनाओं ने इन नियमों के निर्माण की आवश्यकता उसे तीव्रतापूर्वक अनुभव कराई। इसके परिणामस्वरूप उसने कानूनों का या विधियों (Laws) का निर्माण किया। इसीलिए उसने अपने इस ग्रन्थ को 'लाज़' का नाम दिया।

लाज़ (Laws) का प्रतिपाद्य विषय—प्लेटो के अन्य ग्रन्थों के समान यह भी संवाद शैली में लिखा गया है। 'लाज़' बारह भागों में विभक्त है। पहले दो भागों में संगीत तथा नृत्य का शिक्षा-पद्धति में महत्व बताया गया है। तीसरे में राज्य के ऐतिहासिक विकास का विवरण है और चौथे में राजनीतिशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों का। पाँच से आठ तक के भागों में राज्य के कानूनों, शासन-विधान, पदाधिकारियों, शिक्षा-पद्धति आदि का वर्णन है। नवें से ग्यारहवें भाग तक फौजदारी और दीवानी नियमसंहिताओं (Codes) का वर्णन है। ये भाग 'लाज़' के सर्वोत्तम अंश हैं। इनमें उसने अपने को एक उत्तम कानून-निर्माता और राजनीतिज्ञ सिद्ध किया है। बारहवें भाग में कर्त्तव्यच्युत होने वाले सरकारी अधिकारियों के लिए दण्ड की व्यवस्था है और रात के समय होने वाली एक ऐसी **नैश परिषद्** (Nocturnal Council) का वर्णन है, जो लोगों के नैतिक जीवन का निरीक्षण और नियन्त्रण करती है।

'लाज़' में प्रतिपादित व्यवस्थाएँ और सिद्धान्त

(क) आत्मसंयम का महत्व—प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में न्याय को राज्य का आधार माना है। 'लाज़' में वह न्याय की व्यवस्था स्थापित करने के लिए आत्मसंयम को आवश्यक मानता है, इसके कारण विवेक बिना किसी विघ्न-बाधा के अपना कार्य करता है। यह राज्य की आधारशिला है। जो राज्य आत्मसंयम पर आधारित नहीं होता, वह अपूर्ण अथवा दोषयुक्त होता है।

(ख) कानून का स्वरूप—'लाज़' की एक बड़ी विशेषता कानून के स्वरूप पर प्रकाश डालना और **कानून की सर्वोपरि प्रभुसत्ता** स्थापित करना है। प्लेटो के मतानुसार दो कारणों से कानून की आवश्यकता होती है: (१) प्रत्येक व्यक्ति में सामाजिक हितों

को समझ सकने की क्षमता नहीं होती है। (२) यदि वह सामाजिक हित की बातें समझता है, तो भी अपने वैयक्तिक स्वार्थों और वासनाओं के कारण इनके अनुसार आचरण नहीं करता, अतः सामाजिक हित की सिद्धि के लिए कानून का होना आवश्यक है।

कानून का निर्माण एक नियम-निर्माता या संहिताकार (Lawgiver) द्वारा होना चाहिए। इन कानूनों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए एक नवयुवक शासक होना चाहिए। कानून की सर्वोच्च सत्ता 'लाज़' का बड़ा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। उसका मत है कि राज्य को कानून के अनुसार होना चाहिए, न कि कानून राज्य के अनुकूल हों। सरकार को कानून के सेवक और दास की भाँति आचरण करते हुए राज्य का संचालन करना चाहिए, वह इसमें अपनी इच्छा या सुविधा के अनुसार परिवर्तन नहीं कर सकती। प्लेटो का यह मत है कि जब तक सरकारी अधिकारी, जनता और देव-वाणियाँ प्रस्तावित परिवर्तन का समर्थन न करें और उसकी विशेष आवश्यकता न हो, तब तक कानून में परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

प्लेटो प्रत्येक नए कानून के साथ उसकी प्रस्तावना को आवश्यक मानता है। इससे लोगों को नए-नए कानूनों को बनाने तथा पालन करने के कारणों का ज्ञान हो जाएगा और वे स्वतः प्रसन्नतापूर्वक कानूनों का पालन करेंगे और उसके लिए बल प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहेगी। इसके अतिरिक्त मनुष्य की बुद्धि और स्वभाव को शिक्षा-पद्धति द्वारा ऐसा बनाया जाना चाहिए कि वह कानून का उल्लंघन ही न करे।

(ग) आदर्श उपनिवेश की भौगोलिक स्थिति तथा जनसंख्या—प्लेटो अपने आदर्श उपनिवेश में भौगोलिक परिस्थितियों को बहुत महत्व देता है। उसका मत यह है कि ये निवासियों पर गहरा प्रभाव डालती हैं। वह अपने उपनिवेश को समुद्रतट से दूर, आत्मनिर्भर तथा विदेशी व्यापार से मुक्त रखना चाहता है। यदि यह समुद्रतट के निकट हुआ तो इसके विदेशी व्यापार में लगने, सामुद्रिक शक्ति बनने तथा विदेशियों के सम्पर्क से प्रभावित होकर दूषित होने की सम्भावना है। उसमें जहाज बनाने वाली लकड़ी भी नहीं होनी चाहिए ताकि वहाँ के निवासी जहाज बनाकर दूसरे देशों के साथ व्यापार न करें। प्लेटो सामुद्रिक व्यापार का विरोधी है, क्योंकि यह राज्य के निवासियों में धन कमाने की प्रवृत्ति उत्पन्न करके उनके मन में बेईमानी की आदतों को पैदा कर देता है।

प्लेटो का आदर्श उपनिवेश कृषिप्रधान तथा अपनी आवश्यकताएँ स्वयमेव पूरा करने वाला है। इसकी जनसंख्या उसने ५०४० निश्चित की है। यह उस समय के स्पार्टा के नागरिकों की संख्या (१५००) से अधिक तथा एथेन्स (४,००,०००) से कम थी। इस विशेष निश्चित संख्या को चुने जाने के कई कारण थे : **पहला** कारण यह था कि पिथागोरस के प्रभाव से वह कुछ विशेष संख्याओं के महत्व में विश्वास रखता था। ५०४० ऐसी संख्या है, जो एक से दस तक की सभी संख्याओं से बाँटी जा सकती है। यह १ से ७ तक की सभी संख्याओं का गुणनफल है। **दूसरा** कारण ऐसी संख्या का युद्ध एवं शान्तिकाल में उपयोगी होना था। युद्ध में इस संख्या वाले नागरिकों की व्यूह-रचना प्रत्येक प्रकार से सम्भव है। यह नागरिकों में भूमि बाँटने तथा टैक्सादि वसूल करने में सुविधाजनक है। **तीसरा** कारण बारह का विशेष महत्व रखना तथा ५०४०

का मुख्य भाजक होना था। प्लेटो ने अपने उपनिवेश को बारह जातियों में बाँटा था, साल के १२ महीनों में काम करने के लिए राज्यपरिषद् की बारह समितियाँ बनाई थीं। मुद्रा, नाप-तोल की व्यवस्था भी बारह की संख्या पर आधारित या द्वादशात्मक (Duodecimal) थी। **चौथा** कारण गणित की महत्ता थी ; क्योंकि प्लेटो गणित को अध्यात्म विद्या की सीढ़ी समझता था। उसका यह विचार था कि शासकों को जब बारह का तथा इससे सम्बद्ध विभिन्न संख्याओं का ज्ञान करना पड़ेगा तो वे अध्यात्मवेत्ता हो जाएँगे, शासन अच्छी तरह कर सकेंगे। **पाँचवाँ** कारण यह था कि गणितशास्त्र के आधार पर राज्य को बारह भागों में बाँटकर प्लेटो उनका वर्ष के बारह महीनों के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहता था, वह इन महीनों में होने वाली भगवान् की कृपाओं के साथ इन भागों को संयुक्त करने का इच्छुक था। जब भगवान् की सारी सृष्टि तथा आकाश में दृष्टिगोचर होने वाले ग्रह-नक्षत्र गणित के नियमों से संचालित होते हैं तो राज्य भी इन नियमां से शासित क्यों न हो।

(घ) सम्पत्ति विषयक नियम—'लाज़' के सम्पत्तिविषयक नियम 'रिपब्लिक' के नियमों से बहुत भिन्न हैं। इनमें साम्यवाद का आदर्श छोड़ दिया गया है। प्लेटो संविधानों के तीन भेद करता है—(१) सर्वोत्तम या आदर्श, (२) दूसरे दर्जे का सबसे अच्छा या उप-आदर्श (Sub-ideal), (३) वर्तमान राज्य। सर्वोत्तम राज्य या संविधान में सम्पत्ति के सम्बन्ध में साम्यवाद की व्यवस्था है, मित्रों का सब वस्तुओं पर समान अधिकार होता है, भूसम्पत्ति, स्त्रियाँ और बच्चे सबके समझे जाते हैं। वैयक्तिक सम्पत्ति न होने के कारण 'मेरे-तेरे' का भाव समाप्त होकर सारा राज्य तन-मन से एकता का अनुभव करता है।

किन्तु यह आदर्श क्रियान्वित न होने पर प्लेटो ने उप-आदर्श (Sub-ideal) का वर्णन करते हुए कहा है कि "इसमें जमीन और मकान वैयक्तिक सम्पत्ति के रूप में दिए जाएँगे, खेती साझी नहीं होगी, किन्तु खेतों के वैयक्तिक होने पर भी इनके स्वामियों को यह समझना चाहिए कि ये राज्य के हैं, क्योंकि सम्पत्ति के अधिकार का प्रयोग समाज के हित की दृष्टि से होना चाहिए।" प्लेटो अरस्तू की भाँति वैयक्तिक स्वामित्व को सार्वजनिक उपयोग के लिए ही रखना चाहता था। अतएव वह खेतों पर वैयक्तिक स्वामित्व देते हुए भी इसकी पैदावार से सब नर-नारियों के सामूहिक भोजन का व्यय चलाने का प्रबन्ध करता है। प्रत्येक व्यक्ति के पास भूमि का टुकड़ा अवश्य होना चाहिए। नागरिक न तो व्यापार कर सकते हैं और न दस्तकारी। ये काम विदेशियों द्वारा होने चाहिएँ। नागरिक खेतों के स्वामी हैं, पर खेती का सारा कार्य दासों से कराते हैं। प्लेटो के मतानुसार नागरिकों का एक मात्र कार्य शासन के कार्यों में भाग लेना है। उन्हें धन कमाने के कार्यों में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि ये मनुष्य को सत्पथ से विचलित कर देते हैं और उनके कोमल स्वभाव को नीचतापूर्ण गँवारपन में बदल देते हैं। प्लेटो के मत में दास-प्रथा राज्य के लिए अनिवार्य है।

प्लेटो राज्य की जनसंख्या को ५०४० पर ही स्थायी बनाए रखना चाहता है। यदि जनसंख्या बढ़ने लगे तो जन्म-निरोध के साधनों द्वारा या नए उपनिवेश बसाकर इसे नियन्त्रित करना चाहिए। यदि जनसंख्या घटने लगे तो इसको ५०४० तक बनाए

रखने के लिए अविवाहित पुरुषों को दण्ड देना चाहिए तथा विवाहित व्यक्तियों को पुरस्कृत करना चाहिए।

(ङ) **विवाह और परिवार-विषयक व्यवस्था**—'लाज़' में 'रिपब्लिक' का यह सिद्धान्त तो माना गया है कि स्त्रियों को पुरुषों के समान शिक्षा पाने की तथा सब कार्य और वृत्तियाँ करने की व्यवस्था होनी चाहिए, किन्तु उसमें यह विचार छोड़ दिया गया है कि स्त्रियाँ सबकी सम्पत्ति होनी चाहिएँ, वह स्त्रियों को घर की चहारदीवारी और पर्दे से बाहर निकालना चाहता है। उनकी सारी शिक्षा पुरुषों के समान होनी चाहिए, उन्हें शस्त्र चलाना, युद्ध और घुड़सवारी भी सीखनी चाहिए, ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे पुरुषों की भाँति लड़ाई कर सकें और शत्रु का आक्रमण होने पर रोएँ या छिपें नहीं, किन्तु डटकर उनका सामना करें।

विवाह के विषय में प्लेटो की व्यवस्था बड़ी रोचक है। वह प्रति मास ऐसी धार्मिक सभाओं का आयोजन कराना चाहता है जिनमें उचित आयु में शालीनता के नियमों का पालन करते हुए युवक नृत्यों में अपनी भावी पत्नियों से परिचय प्राप्त करें।वह इसकी भी व्यवस्था करता है कि विवाह से पूर्व भावी वर-वधू एक-दूसरे को नग्नावस्था में देखें और स्वास्थ्य का प्रमाणपत्र लें। उसने यह व्यवस्था की है कि विवाह सदैव विरोधी गुण वालों में होना चाहिए, ताकि विरोधी तत्वों में साम्य स्थापित हो जाए तथा राज्य की एकता सुदृढ़ और पुष्ट हो। विवाहित होने पर पति-पत्नी का यह कर्त्तव्य है कि वे राज्य के लिए सन्तान उत्पन्न करें। प्लेटो को जनसंख्या घटने का बड़ा डर था, अतः उसने इसे बढ़ाने के लिए सन्तानोत्पत्ति पर अधिक बल दिया है। वह अविवाहित रहना अधर्म समझता है। प्लेटो ने वैवाहिक जीवन की पवित्रता और सतीत्व पर बहुत बल दिया है।

विवाह के विषय में प्लेटो का दृष्टिकोण विशुद्ध रूप से भौतिक नहीं, किन्तु नैतिक और धार्मिक है। यद्यपि उपर्युक्त व्यवस्थाएँ 'रिपब्लिक' की व्यवस्थाओं से अधिक उदार हैं, किन्तु इनमें कई दोष हैं। **पहला** दोष राज्य का अत्यधिक नियन्त्रण है। आज-कल यद्यपि भावी वर-वधू के लिए स्वास्थ्य का प्रमाणपत्र लेना उचित समझा जाता है, किन्तु दोनों की नग्न परीक्षा का समर्थन कोई नहीं करता। जन्म-निरोध और सन्तति-निग्रह आजकल आवश्यक समझा जाता है, किन्तु उसके लिए स्त्री-राज्याधिकारियों की नियुक्ति करके विवाह के वैयक्तिक मामले में राज्य का हस्तक्षेप करना वाञ्छनीय नहीं है। **दूसरा** दोष विरोधी गुणों वाले वर-वधू का विवाह है। आधुनिक विचारक वर-वधू में अनुकूल स्वभाव और प्रवृत्तियों को महत्व देते हैं। **तीसरा** दोष यह है कि प्लेटो जनसंख्या को सदैव ५०४० पर स्थिर रखना चाहता है, किन्तु आजकल यह सम्भव नहीं माना जाता कि जनसंख्या सदैव अपरिवर्तनशील रहनी चाहिए। इस विषय में प्लेटो का मत गतिशील (Dynamic) नहीं, किन्तु अप्रगतिशील एवं जड़ (Static) है।

क्या प्लेटो का राजनीतिक चिन्तन मूलतः आदर्शवादी था?

प्लेटो को उसकी उपर्युक्त आदर्श राज्य की योजना के आधार पर यह कहा जाता है कि वह कोरा काल्पनिक चिन्तन करने वाला आदर्शवादी विचारक है। उसकी

रिपब्लिक में वर्णित राज्य सर्वथा काल्पनिक है। उसकी प्रमुख व्यवस्थाएँ दार्शनिक राजाओं का शासन, साम्यवाद, कानूनों की अनावश्यकता, शासकों को वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार से वंचित करना बिलकुल अव्यावहारिक और असम्भव हैं। उसके आदर्श राज्य की इस पृथ्वी पर कहीं सत्ता नहीं है। बार्कर ने इस बारे में ठीक ही लिखा है कि यह एक ऐसे राज्य की कल्पना है जिसकी स्थिति बादलों में है और जो शाम को संध्या की लालिमा की तरह एक क्षण के लिए दृष्टिगोचर होकर रात्रि के अन्धकार में विलीन हो जाता है।

किन्तु प्लेटो पर ऐसा आरोप लगाना यथार्थ नहीं है। यूनानी विचारधारा के गम्भीर अध्येता बार्कर ने इस विषय में लिखा है कि रिपब्लिक ऐसा राज्य नहीं है जिसका अस्तित्व न हो। वह वास्तविक परिस्थितियों पर आधारित है और उसका उद्देश्य यथार्थ जीवन में आवश्यक परिवर्तन लाना या कम-से-कम उसे प्रभावित करना है। प्लेटो के कोरा आदर्शवादी और कल्पनावादी न होने का तथ्य तीन प्रमाणों से पुष्ट होता है।[1]

रिपब्लिक का वास्तविक परिस्थितियों पर आधारित होना—रिपब्लिक की आठवीं तथा नवीं पुस्तकों से स्पष्ट है कि प्लेटो ने अपना चिन्तन उस समय यूनान में प्रचलित विभिन्न शासन-प्रणालियों का गहरा अध्ययन करके इनकी ठोस वास्तविकता के आधार पर किया था। इन पुस्तकों में स्पार्टा के अल्पतन्त्र (Oligarchy) और कीर्तितन्त्र (Timocracy), एथेन्स के लोकतन्त्र और सिराक्यूज़ के निरंकुशतन्त्र (Tyranny) का उल्लेख है। प्लेटो की दृष्टि से ये सब अस्वस्थ (Diseased) शासन-प्रणालियाँ हैं। इन सब में ज्ञान की उपेक्षा और अज्ञान की प्रधानता है। इनमें विवेक (Reason) के अतिरिक्त अन्य दो तत्वों क्षुधा या कामभाव (Appetite) का तथा उत्साह एवं शौर्य (Spirit) के तत्वों का बोलबाला है। इसी कारण इनमें झगड़ों, दलबन्दियों और स्वार्थपरता का साम्राज्य है। प्लेटो इस तरह वर्तमान राज्यों के रोग का निदान और कारण ढूंढ़ने के पश्चात् इसकी चिकित्सा भी बताता है। उसकी सम्मति में राज्यों के रोग की शान्ति विवेक (Reason) या बुद्धि को सर्वोच्च स्थान देने, एक नई शिक्षा-पद्धति स्थापित करने तथा साम्यवाद की प्रणाली द्वारा क्षुधा (Appetite) और उत्साह (Spirit) की भावना को विवेक द्वारा नियन्त्रण में रखने से हो सकती है। रोगों के निदान की भाँति इसका इलाज भी उसने वास्तविक परिस्थितियों के आधार पर तय किया है। सातवीं पुस्तक में बताई गई विभिन्न विषयों की शिक्षा उसकी अकादमी में वस्तुतः दी जाती थी। उसके साम्यवाद (Communism) की प्रणाली यद्यपि इतने विस्तृत और व्यापक रूप में प्रचलित नहीं थी, फिर भी वह अनेक अंशों में स्पार्टा में तथा अन्य राज्यों में पाई जाती थी। अतः बार्कर के मतानुसार रिपब्लिक में राज्यों के रोग का निदान और इलाज दोनों ही केवल किन्हीं पहले से माने हुए दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित नहीं किए गए, अपितु यूनानी जीवन के तथ्यों के आधार पर निर्धारित किए गए हैं।[2]

---

1. बार्कर, ग्रीक पोलिटिकल थियोरी, पृष्ठ, २३९

2. "The Republic is not only a deduction from first principles, it is also an induction from the facts of Greek life."

प्लेटो के कोरी कल्पना के आधार पर उड़ान न लेने का **दूसरा प्रमाण यह है कि उसके रिपब्लिक,** लाज़ तथा पत्रों (Epistles) के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि वह तत्कालीन राजनीति **में क्रियात्मक सुधार करने की तीव्र इच्छा रखता था।** यदि वह राजनीतिक आदर्शवादी (Political idealist) था तो इसके साथ ही वह वास्तविक राजनीतिज्ञ (Actual Politician) भी था। सिराक्यूज़ की यात्रा उसने वहाँ की दशा सुधारने और वहाँ के शासक को दार्शनिक राजा बनाने की दृष्टि से की थी। वह कोरा आदर्शवादी नहीं था, उसने रिपब्लिक में जिन सुधारों का समर्थन किया है, वह उन्हें जल्दी से जल्दी क्रियात्मक रूप देना चाहता है। उसकी व्यावहारिकता इसी से स्पष्ट है कि उसने साम्यवाद की व्यवस्था सारे राज्यवासियों पर लागू न करके, केवल शासक और सैनिक वर्ग तक ही सीमित रखी है ताकि यह शीघ्र ही क्रियारूप में परिणत हो सके। वह रिपब्लिक में जिस नगर-राज्य की स्थापना कर रहा है वह काल्पनिक नहीं, किन्तु एक वास्तविक यूनानी राज्य है। उसका कहना था कि इसकी स्थापना असम्भव नहीं, किन्तु कठिन अवश्य है। राज्य और उसकी सरकार के बारे में जो कुछ कहा गया है, वह केवल दिवास्वप्न मात्र नहीं है; यद्यपि यह कठिन है, किन्तु सम्भव है। यह केवल तभी सम्भव हो सकता है, जब दार्शनिक राजा बनें या राजा दार्शनिक बनें। वह यह मानता था कि दार्शनिक राजाओं से सहयोग मिलने पर अपनी शिक्षण-पद्धति से वह इस आदर्श को क्रियान्वित कर सकता है, इसीलिए उसने दस वर्ष से ऊपर के सभी नागरिकों को शहर से दूर देहात में भेजने तथा इन का जीवन आदर्श शिक्षा-पद्धति के अनुरूप ढालने पर बल दिया है।

तीसरा प्रमाण यह है कि प्लेटो भले ही आदर्शवादी हो, किन्तु वह **आदर्श को व्यवहार के पथ-प्रदर्शन के लिए आवश्यक मानता था** और उसके आदर्शों का पश्चिम के राजनीतिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। प्लेटो ने आदर्श नगर के सम्बन्ध में नवीं पुस्तक के अन्त में लिखा है—"मेरे विचार में पृथ्वी पर तो ऐसा नगर कहीं भी नहीं है। इसका नमूना स्वर्गलोक में स्थित है। इस समय इसकी सत्ता है या नहीं, इन बातों से इसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता है"—(रिपब्लिक, पृ० ३१२-१३)। क्योंकि यह नगर आदर्श विचारों से बना होने से सदैव अमर है और लोगों को सदैव ऐसे नमूने नगर निर्माण करने की प्रबल प्रेरणा देते रहेंगे। आदर्श सदैव ध्रुव तारे की भाँति ऊँचा और हमारा पथप्रदर्शक रहना चाहिए। यदि आदर्श व्यवहार में आ गया तो वह आदर्श नहीं रहेगा। हमारा व्यवहार सदैव आदर्श से बहुत पीछे रहता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम आदर्श को छोड़ दें। सत्य बोलना आदर्श है, दुनिया में झूठ बोला जाता है, किन्तु फिर भी हम "सत्यमेव जयते नानृतम्" को अपना आदर्श बनाते हैं। प्लेटो का राज्य भले ही आदर्श कल्पना, दिवास्वप्न या हवाई महल हो, किन्तु इससे उसकी महत्ता कम नहीं होती। महल पहले हवा में या कल्पना में ही बनाए जाते हैं, बाद में स्थूल सामग्री से उनका निर्माण होता है। सपने और आदर्श न हों तो मनुष्य घोर स्वार्थ और पशुता के पंक में डूबा रहे, ये उसे ऊँचा उठाने तथा अपनी ओर बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। मनुष्य विचारशील प्राणी है, आदर्श उस पर वास्तविक घटनाओं जैसा गहरा प्रभाव डालते हैं।

प्लेटो का मूल्यांकन और प्रभाव—पश्चिम में प्लेटो सुव्यवस्थित राजनीतिक चिन्तन करने वाला पहला विचारक था। २४०० वर्ष बीत जाने पर आज भी उसका प्रभाव अक्षुण्ण है। वह राज्यविषयक दर्शन, सुधार और चिन्तन की सभी क्रान्तिकारी योजनाओं को प्रेरणा देने वाला, वर्तमान साम्यवाद, फासिज़्म और आदर्शवाद को प्रभावित करने वाला है। उसकी रिपब्लिक के नमूने पर आदर्श राज्य स्थापित करने की अनेक योजनाएँ बनी हैं। शिक्षा और सुप्रजननशास्त्र के कार्यक्रमों द्वारा समाज को उन्नत करने की सभी योजनाओं का आदि स्रोत वही है। सर टामस मोर (More), रूसो, आगस्तस कोम्ते तथा ग्रेट ब्रिटेन के आधुनिक आदर्शवादी विचारक ग्रीन और वोसांके प्लेटो से प्रभावित हैं। साम्यवाद, फासिज़्म आदि की विचारधाराओं पर प्लेटो के विचारों की गहरी छाप है। प्लेटो राजनीतिक चिन्तन के शाश्वत प्रश्नों की सुन्दर मीमांसा करने के कारण अब तक अजर अमर बना हुआ है और जब तक मानव-समाज में राज्य की सत्ता रहेगी तब तक उसका यही स्थान बना रहेगा। पिछली चौबीस शताब्दियों के इतिहास में विशाल राज्यों को बनाने वाले प्रतापी राजाओं, शक्तिशाली सम्राटों, कुशल राजनीतिज्ञों की कमी नहीं रही, किन्तु इनमें से किसी का भी राजनीतिक विचारों पर इतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना प्लेटो का पड़ा है। उसकी रचनाएँ २४ शताब्दियाँ बीत जाने के बाद आज भी आदर के साथ पढ़ी जाती हैं, इनसे प्रेरणा ग्रहण की जाती है और इनके आधार पर अपने मतों की पुष्टि की जाती है। किसी विचारक की अमरता और महत्ता का इससे अधिक प्रबल कोई दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता है।

सारांश

पश्चिमी जगत् में राजनीतिक चिन्तन की विचारधारा का श्रीगणेश करने वाले सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने रिपब्लिक, पोलिटिकस या स्टेट्समैन और लाज़ (Laws) नामक तीन ग्रन्थों में अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। इनमें रिपब्लिक सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं—

न्याय का सिद्धान्त—आजकल न्याय का अर्थ न्यायाधीश द्वारा कानून के अनुसार अपराधियों को दण्ड देना समझा जाता है। किन्तु प्लेटो के मतानुसार न्याय का अर्थ केवल इतना ही है कि मनुष्य अपने उन सब कर्त्तव्यों का पूरा पालन करे, जिनका पालन समाज के प्रयोजन पूरा करने की दृष्टि से आवश्यक है। प्लेटो इस प्रसंग में उस समय यूनान में प्रचलित चार धारणाओं का खण्डन करते हुए कहता है कि शासन करना एक कला है। कला का लक्ष्य उन वस्तुओं के दोष दूर करना है जिनके साथ उनका सम्बन्ध होता है। शासन का लक्ष्य प्रजा का कल्याण करना है।

प्लेटो के मतानुसार राज्य के चार गुण हैं: बुद्धिमत्ता, साहस, संयम और न्याय। बुद्धिमत्ता राज्य के शासक का, साहस सैनिक का और संयम उत्पादक वर्ग का गुण है। न्याय सारे समाज और राज्य में फैला हुआ है। इसका निवासस्थान अपना निश्चित कर्त्तव्य पूरा करने वाले प्रत्येक नागरिक के मन में है। न्याय के दो रूप हैं: सामाजिक और वैयक्तिक। सामाजिक रूप में न्याय समाज के विभिन्न वर्गों से उनके

कर्त्तव्यों का पालन कराता है और उनमें सामंजस्य तथा एकता बनाए रखना है। वैयक्तिक रूप में न्याय प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने स्वभाव के अनुकूल कार्य करना है। प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों को अपना ही कार्य करना चाहिए और दूसरे वर्ग के कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। प्लेटो समाज के तीन वर्गों की तुलना सोने, चाँदी और लोहे से करते हुए कहता है कि जिस प्रकार इन धातुओं में परिवर्तन सम्भव नहीं है, उसी प्रकार विभिन्न वर्गों के कार्यों में भी कोई हेर-फेर नहीं होना चाहिए। ऐसा होने पर समाज में बड़ी गड़बड़ और अव्यवस्था मच जाएगी।

प्लेटो का न्याय का सिद्धान्त उस समय की दृष्टि से भले ही उपयोगी हो, किन्तु इसे वर्तमान परिस्थितियों में निम्नलिखित दोषों के कारण स्वीकार करना उचित नहीं है—

(i) प्लेटो के न्याय में कानून का विचार न होना, इसका केवल नैतिक धारणा मात्र होना।
(ii) व्यक्ति का एकांगी विकास करना।
(iii) दार्शनिक राजाओं को असीम अधिकार प्रदान करना।
(iv) एकीकरण और जातिवाद की दूषित प्रवृत्ति।
(v) व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर का अभाव।
(vi) श्रमिकों को राजनीति से पृथक् करना।
(vii) गुणों की कसौटी का अभाव।
(viii) वर्तमान समय के लिए अनुपयोगी होना।

शिक्षा का सिद्धान्त—प्लेटो ने न्याय का अर्थ राज्य के विविध वर्गों और व्यक्तियों द्वारा अपने कर्त्तव्यों और धर्मों का पालन करना बताया है। यह तभी हो सकता है जब मनुष्यों को अपने कर्त्तव्यों का पूरा ज्ञान हो। उन्हें यह ज्ञान समुचित शिक्षा-पद्धति द्वारा ही दिया जा सकता है। अतः प्लेटो ने शिक्षा का इतने विस्तार से रिपब्लिक में वर्णन किया है कि रूसो ने इसे शिक्षाशास्त्र पर लिखी गई सर्वोत्तम पुस्तक कहा है। प्लेटो के समय में एथेन्स और स्पार्टा की दो प्रकार की शिक्षा-पद्धतियाँ प्रचलित थीं। उसने इन दोनों की अच्छी बातों को लेकर अपनी शिक्षा-पद्धति का निर्माण किया है। इसमें स्पार्टा के शारीरिक और एथेन्स के मानसिक व बौद्धिक प्रशिक्षण का समन्वय किया गया है। उसने १० से २० वर्ष तक की आयु की प्रारम्भिक शिक्षा में भावनाओं द्वारा चरित्र-निर्माण, व्यायाम और संगीत को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इस शिक्षा की परीक्षा में उत्तीर्ण होने वालों के लिए २० से ३० वर्ष तक की उच्च शिक्षा की और इसके बाद ३० से ४० वर्ष की आयु तक की उच्च शिक्षा के दूसरे स्तर की व्यवस्था की है। उच्च शिक्षा में प्लेटो गणित, भूमितिशास्त्र, ज्योतिष, संगीत और दर्शनशास्त्र के अध्ययन पर बहुत बल देता है। गणित को युद्ध में उपयोगी होने के कारण उच्च शिक्षा में बहुत अधिक बल दिया गया है। ३० वर्ष की आयु तक शिक्षा पाने के बाद वह दार्शनिकों और शासकों के लिए १०-१५ वर्ष तक की व्यावहारिक शिक्षा की व्यवस्था करता है। प्लेटो की शिक्षा-पद्धति की प्रधान विशेषताएँ मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित होना, शरीर और आत्मा के विकास पर समान रूप से बल देना, व्यक्ति को शिक्षा द्वारा उत्तम नागरिक बनाना और उच्च शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था करना है।

प्लेटो की शिक्षा-पद्धति के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(i) इसका क्षेत्र शासक वर्ग तक सीमित होना। (ii) शिक्षा का एकांगी होना,

नाटक, काव्य, चिकित्सा और कानून को शिक्षा में कोई स्थान न देना। (iii) गणित को अनुचित महत्व देना। (iv) शिक्षाक्रम का लम्बा होना। (v) आत्मनिरर्भरता का अभाव। (vi) व्यक्ति के विकास की उपेक्षा। (vii) शिक्षा पर राज्य का अनुचित नियन्त्रण। (viii) शिक्षा के उद्देश्य का स्पष्ट न होना।

दार्शनिक राजाओं का शासन—प्लेटो का यह विश्वास है कि शासक जब तक दार्शनिक नहीं होंगे तब तक राज्यों में शान्ति और सुशासन स्थापित नहीं हो सकता है, क्योंकि दार्शनिक शासक में उच्चतम प्राकृतिक गुण होते हैं। उसे परम तत्व का और मानवीय जीवन के अन्तिम उद्देश्य का ज्ञान शिक्षा-पद्धति द्वारा होता है। अतः ऐसा सच्चा ज्ञानी और गुणी व्यक्ति ही उत्तम शासक बन सकता है। प्लेटो के आदर्श राज्य में दार्शनिक शासक को अपने राज्य में धनी-निर्धन का भेद नहीं बढ़ने देना चाहिए। राज्य के आकार को नहीं बढ़ाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति से अपना निश्चित कर्त्तव्य पालन कराते रहना चाहिए और शासन-पद्धति में कोई नया परिवर्तन नहीं करना चाहिए।

दार्शनिक राजाओं के शासन के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(i) इसका अव्यावहारिक होना। (ii) निरंकुश शासन का समर्थन करना। (iii) नागरिकों को पशुतुल्य बनाना। (iv) अयोग्य व्यक्तियों को शासन देना। (v) दार्शनिकों के अहंकार का शासन में बाधक होना। (vi) विरोधाभासयुक्त होना। (vii) समानता के सिद्धान्त की उपेक्षा। (viii) प्रतिनिधि शासन का विरोध।

साम्यवाद का सिद्धान्त—प्लेटो ने अपनी नवीन सामाजिक व्यवस्था में राज्य के हित की दृष्टि से दार्शनिक राजाओं और सैनिकों के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार रखने का विरोध किया है। उसने साम्यवाद की इस व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक और दार्शनिक आधार पर समर्थन किया है। उसके शब्दों में समाज के शासक और सैनिक वर्गों के पास अपनी निजी जमीन-जायदाद रुपया-पैसा नहीं होना चाहिए। उसके साम्यवाद की तीन बड़ी विशेषताएँ हैं—(क) यह सब नागरिकों के लिए नहीं, किन्तु शासकों के लिए है। (ख) यह तपस्यात्मक है और शासक वर्ग को काँचन कामिनी के मोह से मुक्त रखने को विवश करता है। (ग) यह आर्थिक नहीं, किन्तु राजनीतिक है।

प्लेटो का साम्यवाद कुछ अंशों में वर्तमान साम्यवाद से मिलता है—दोनों राज्य को सर्वोपरि मानते हैं। मनुष्य की स्वार्थ-प्रधान प्रवृत्ति की उपेक्षा करते हैं। आर्थिक प्रतियोगिता को हटाना चाहते हैं। किन्तु दोनों में कई महत्त्वपूर्ण भेद भी हैं। प्लेटो का साम्यवाद समाज के शासक वर्ग और सैनिकों तक सीमित है। वह सम्पत्ति के साथ स्त्रियों के बारे में भी साम्यवाद की व्यवस्था करता है। वैयक्तिक सम्पत्ति का विरोधी है और इसका उद्देश्य केवल मात्र राजनीतिक अर्थात् राज्य में कुशासन और भ्रष्टाचार को दूर करना है। अरस्तू ने प्लेटो के साम्यवाद की कटु आलोचना की है।

पत्नियों का साम्यवाद—प्लेटो ने शासकों के लिए अलग घरों में अपना परिवार बनाकर रहने की व्यवस्था का इस दृष्टि से विरोध किया है कि शासक स्त्रियों के मोह तथा घर की चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने शासन के कर्त्तव्य का पूरा पालन कर सकें।

प्लेटो निम्नलिखित कारणों के आधार पर इस व्यवस्था की पुष्टि करता है—(१) परिवार के घातक प्रभाव से शासकों को मुक्त करना। (२) नारियों की मुक्ति तथा समान अधिकार। (३) उत्तम सन्तान प्राप्त करना।

अरस्तू ने प्लेटो के पारिवारिक साम्यवाद की आलोचना निम्नलिखित कारणों के आधार पर की है—इससे राज्य की एकता नष्ट होगी, झगड़े बढ़ेंगे, बच्चों की

उपेक्षा होगी। यह अव्यावहारिक व्यवस्था परिवार में विकसित होने वाले गुणों की उपेक्षा करती है और व्यक्तियों को पारिवारिक आनन्द से वंचित करती है।

प्लेटो का आदर्श राज्य—इसका निर्माण आर्थिक, सैनिक और दार्शनिक तत्वों से होता है। न्याय या सब नागरिकों द्वारा स्वकर्त्तव्यपालन इसका मूल तत्व है। इसमें दार्शनिक राजाओं का शासन होता है और उनके लिए वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार न रखने की व्यवस्था इसलिए आवश्यक है कि वह सब प्रकार के मोह से मुक्त होकर अपना शासन-कार्य कर सके।

शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण—प्लेटो ने 'पोलिटिकस' नामक अपने ग्रन्थ में कानून द्वारा संचालित होने वाली राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और बहुतन्त्र की तथा कानून द्वारा संचालित न होने वाली निरंकुशतन्त्र, अल्पतन्त्र, अतिवादी लोकतन्त्र की छः शासन-प्रणालियों का वर्णन किया है। वह लोकतन्त्र का विरोधी है और राजतन्त्र को इस दृष्टि से श्रेष्ठ मानता है कि इसमें प्रजा का अधिकतम कल्याण होता है।

प्रश्न

(१) प्लेटो के मतानुसार न्याय का क्या अभिप्राय है ?

(२) "रिपब्लिक शिक्षा पर लिखा गया सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है।" प्लेटो द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-व्यवस्था का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (राजस्थान, १९७७-१९७९)

(३) "प्लेटो की शिक्षा की अवधारणा न्याय की पूर्वस्थिति थी।" आप इस कथन से सहमत हैं या असहमत ? अपने दृष्टिकोण के समर्थन में कारण दीजिए। (राजस्थान, १९७८)

(४) दार्शनिक राजाओं के शासन की व्यवस्था प्लेटो ने किन कारणों के आधार पर की है ? इस सिद्धान्त की आलोचना कीजिए।

(५) प्लेटो के साम्यवाद के सिद्धान्त का परिचय दीजिए।

(६) "प्लेटो प्रथम साम्यवादी था।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? (राजस्थान, १९७९)

(७) प्लेटो के साम्यवाद की वर्तमान साम्यवाद से तुलना कीजिए।

(८) प्लेटो के आदर्श राज्य की अवधारणा की विवेचना कीजिए।

(९) प्लेटो का राजनीतिक चिन्तन मूलतः आदर्शवादी था। इसकी विवेचना कीजिए। (राजस्थान, १९७८)

(१०) प्लेटो ने किन कारणों के आधार पर परिवारविषयक साम्यवाद का समर्थन किया है और अरस्तू ने उसकी क्या आलोचना की है ?

दूसरा अध्याय

अरस्तू (३८४ ई०पू० से ३२२ ई०पू०)

जीवन-चरित्र—पाश्चात्य जगत् में प्लेटो द्वारा प्रारम्भ किए गए राजनीतिक तत्व-चिन्तन को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय उसके प्रधान शिष्य अरस्तू को है। अरस्तू का जन्म एथेन्स के उत्तर में २०० मील दूर स्तागिरा (Stagira) के छोटे से नगर में हुआ था। उसका पिता निकोमाख्स मैसिडोन (Macedon) के राजा एवं सिकन्दर के दादा के दरबार में राजवैद्य था। बचपन में अरस्तू को अपने पिता से रोगियों की चिकित्सा करने की वैज्ञानिक पद्धति तथा जीवशास्त्रीय विषयों का आरम्भिक परिचय मिला। अपनी आयु के १७वें वर्ष में वह प्लेटो की कीर्ति से आकृष्ट होकर एथेन्स में उसकी शिक्षण संस्था अकादमी (Academy) में सम्मिलित हुआ। उसने जीवन के अगले बीस वर्ष (३६७—३४७ ई०पू०) यहाँ अपने गुरु के चरणों में बैठकर विद्याभ्यास में बिताए। प्लेटो अपने शिष्य की प्रतिभा से बहुत प्रसन्न था। उसे वह अपनी अकादमी का दिमाग कहा करता था। प्लेटो की मृत्यु पर ३४७ ई०पू० में जब उसका उत्तराधिकारी निश्चित करने का समय आया तो विदेशी होने के कारण अरस्तू को यह पद नहीं मिला और प्लेटो का शिष्य स्प्यूसिप्पस इसके लिए चुना गया।

प्लेटो की मृत्यु के बाद अरस्तू एथेन्स छोड़ने के लिए विवश हुआ। वह अपने सहपाठी जेनोक्रेतास के साथ लघु एशिया के एरमस नामक नगर में चला गया और यहाँ उसने अकादमी (Academy) की शाखा की स्थापना की। उसे यहाँ नियन्त्रित करने वाला अतार्नियस (Atarneus) का राजा हर्मेइयस (Hermeias) था। वह अरस्तू का बड़ा भक्त था। उसने अपनी भानजी तथा गोद ली हुई बेटी पीथियास की शादी भी अरस्तू के साथ की और उसे दहेज में बहुत सम्पत्ति प्रदान की। यहाँ अरस्तू के तीन वर्ष (३४७--३४४ ई०पू०) बड़े आनन्द के साथ बीते। इसके बाद वह सम्भवतः जलचर प्राणियों के अध्ययन के लिए लेस्बोस टापू के मितिलेन (Mytilene) नामक नगर में चला गया।

३४२ ई०पू० उसे सिकन्दर के पिता फिलिप (३५९—३३६ ई०पू०) ने अपने पुत्र के प्रशिक्षण के लिए मैसिडोनिया की राजधानी पेल्ला में बुलाया। उसने १३ वर्ष की आयु के अपने लड़के को 'सुसंस्कृत दार्शनिक' बनाने का कार्य अरस्तू को सौंपा। अरस्तू छः वर्ष तक (३४२—३३६ ई०पू०) यहाँ रहा। सिकन्दर को शिक्षा देना शेर के बच्चे को साधना था। मैसिडोनिया के राजदरबार का वातावरण भी उसके अनुकूल नहीं था। फिर भी सिकन्दर ने उसे 'पिता' समझा और अरस्तू ने उसे होमर के काव्यों में वर्णित वीर पुरुष बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। ३३५ ई०पू० में सिकन्दर ने

राजगद्दी पर बैठते ही अपने गुरु के विध्वस्त नगर को पुनः बनवा दिया। जब सिकन्दर विश्व-विजय के लिए निकला तो अरस्तू को मैसिडोनिया में रहना निरर्थक मालूम हुआ और वह एथेन्स लौट आया। उसने अपने जीवन के अन्तिम १३ वर्ष (३३५--३२२ ई० पू०) एथेन्स में ही बिताए।

एथेन्स लौटने पर अरस्तू ने अपने गुरु की अकादमी या शिक्षण संस्था जैसा एक नया विद्यापीठ स्थापित किया। इसे ल्यूकिओन (Lukeion) या लाइसियम (Lyceum) कहा जाता है, क्योंकि यह लिसियस नामक यूनानी देवता के मन्दिर के निकटवर्ती उद्यान में अवस्थित था। अरस्तू की आदत बैठकर पढ़ाने की नहीं थी, वह प्रायः शिष्यों के साथ घूमते हुए उनके प्रश्नों का उत्तर देता था और इसी प्रकार पढ़ाया करता था। अतः **उसे भ्रमणशील दार्शनिक** (Peripatetic Philosopher) तथा उसके विद्यालय को **पर्यटक विद्यालय** (Peripatetic School) या **भ्रमणशील दार्शनिक का विद्यालय** भी कहते थे।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में अरस्तू को अनेक राजनीतिक परिवर्तन देखने पड़े। ३२८ ई० पू० में सिकन्दर ने उसके भतीजे कैलिस्थेनीज़ (Callisthenes) को मरवा दिया। इससे उसके विद्यालय में सिकन्दर-विरोधी वातावरण उत्पन्न हो गया। ३२३ ई० पू० में सिकन्दर की मृत्यु का समाचार पाते ही एथेन्स ने यूनानी राज्यों की स्वतन्त्रता की घोषणा की तथा सिकन्दर की ओर से यूनान में शासक बनाए गए अन्तिपातेर (Antipater) के शासन के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। अरस्तू अन्तिपातेर का मित्र था। अतः उसे अपनी प्राण-रक्षा के लिए एथेन्स से भागकर युबोइया (Euboea) टापू के खाल्किस (Chalcis) नगर में शरण लेनी पड़ी। भागते समय उसने कहा था "मैं एथेन्सवासियों को दर्शन के विरुद्ध दूसरी बार अपराध करने का मौका नहीं दूँगा।" उसका यह अभिप्राय था कि एथेन्सवासी एक बार सुकरात को विषपान द्वारा प्राणदण्ड देने का अपराध कर चुके थे, वह दुबारा स्वयमेव एथेन्सवासियों द्वारा अपने दार्शनिक विचारों के लिए दण्डित नहीं होना चाहता था। अरस्तू के एथेन्स से भागने के बाद उस पर यह आरोप लगाया गया कि उसने हर्मेइयस की प्रशंसा में लिखी कविता में धर्म-विरुद्ध बातों का प्रतिपादन किया है। डायोजिनीस लएर्तियस ने लिखा है कि उसे अन्तिम समय में इतनी निराशा हुई कि उसने विषपान द्वारा आत्महत्या कर ली। अरस्तू के प्राणान्त के समय भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य अपने राज्य की स्थापना कर रहा था।

अरस्तू की रचनाएँ—अरस्तू सर्वतोमुखी प्रतिभा का विलक्षण व्यक्ति था। उसने तर्कशास्त्र, प्राणिशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, मनोविज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, अध्यात्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, भाषणकला, लेखनकला और काव्यकला पर अनेक ग्रन्थ लिखे। **उसके बनाए ग्रन्थों की संख्या ४०० के लगभग बताई जाती है। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से यह समूचा ग्रन्थ-संग्रह ३५०० पृष्ठों के १२ खण्डों में छपा है। वह अपने समय के ग्रीक ज्ञान-विज्ञान का विश्वकोश था।** दुर्भाग्यवश उसकी अनेक रचनाएँ लुप्त हो चुकी हैं। उपलब्ध रचनाओं में भी रचनाशैली की वह प्रौढ़ता, प्रांजलता, सुसम्बद्धता, रोचकता तथा प्रवाह दिखाई नहीं देता जो प्लेटो की रचनाओं में है। ये ग्रन्थ सम्भवतः अरस्तू द्वारा अथवा उसके शिष्यों द्वारा लिखे गए उसके व्याख्यानों के

नोट (Lecture Notes) मात्र हैं। अरस्तू ने इनका अन्तिम रूप में संशोधन नहीं किया, इसीलिए इनमें अनेक असंगतियाँ और विरोध पाए जाते हैं। राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से उसकी सबसे महत्वपूर्ण रचना 'पॉलिटिक्स' में इस प्रकार के अनेक दोष हैं।

पॉलिटिक्स (Politics)—यह राजनीतिशास्त्र पर अरस्तू की महत्वपूर्ण रचना है। यह आठ पुस्तकों में विभक्त है। ये आठ पुस्तकें विषय की दृष्टि से तीन भागों में बाँटी जा सकती हैं |

(१) **पहले भाग** में पहली, दूसरी तथा तीसरी पुस्तकें आती हैं। **पहली पुस्तक** में राज्य को जन्म देने वाली कुटुम्ब व्यवस्था, राज्य के स्वरूप, इसके उद्गम और आन्तरिक संगठन का वर्णन किया गया है। **दूसरी पुस्तक** में प्लेटो जैसे विचारकों द्वारा प्रतिपादित आदर्श राज्यों की तथा स्पार्टा, क्रीट, कार्थेज आदि उस समय के वास्तविक राज्यों की समीक्षा तथा आलोचना की गई है। **तीसरी पुस्तक** में राज्यों के वर्गीकरण, नागरिकता और न्याय के स्वरूप का वर्णन है।

(२) **दूसरे भाग** में चौथी, पाँचवीं तथा छठी पुस्तकें आती हैं। **चौथी पुस्तक** में विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों का प्रतिपादन है। **पाँचवीं पुस्तक** में विभिन्न शासन-प्रणालियों में होने वाले वैधानिक परिवर्तनों और क्रान्ति के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। **छठी** पुस्तक में उन उपायों का वर्णन है, जिनसे लोकतन्त्रों तथा अल्पतन्त्रों को सुस्थिर बनाया जा सकता है।

(३) **तीसरे भाग** में सातवीं तथा आठवीं पुस्तकें आती हैं। **सातवीं पुस्तक** में राजनीतिक आदर्शों तथा शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना है। **आठवीं पुस्तक** में युवकों में प्रशिक्षण की सामान्य योजना, शारीरिक प्रशिक्षण, संगीत की शिक्षा के उद्देश्यों तथा उपायों का वर्णन है।

यद्यपि पॉलिटिक्स अरस्तू की प्रौढ़तम आयु की कृति है, किन्तु यह भी अन्य रचनाओं के समान सम्भवतः उसके व्याख्यानों के नोट मात्र हैं। फिर भी इसका प्रतिपाद्य विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है और यह कई शताब्दियों से राजनीतिक चिन्तन का प्रेरणा-स्रोत बना हुआ है, अतः जेलर (Jeller) ने लिखा है कि यह "**हमारे प्राचीन-काल से उपलब्ध होने वाली सबसे मूल्यवान् निधि है।**" पॉलिटिक्स के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

अरस्तू के राज्य सम्बन्धी विचार : राज्य का प्रादुर्भाव और विकास—अरस्तू ने पॉलिटिक्स की पहली पुस्तक के द्वितीय खण्ड में राज्य के विकास और स्वरूप का सुन्दर प्रतिपादन किया है। उसके मतानुसार राज्य का प्रादुर्भाव कुछ मानवीय आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए होता है, क्योंकि मनुष्य एकाकी रूप में रहते हुए अपनी सब आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकता। वह सामाजिक या राज्य में रहने वाला प्राणी है। जो मनुष्य दूसरों के साथ नहीं रह सकता है, वह या तो पशु है या देवता।[1] राज्य

---

1. "The man is by nature a political animal. The being who cannot live in association with his fellows, or who has no need to do this, is, Aristotle says, either on the one hand a beast, or on the other a God."
—Dunning, p. 56.

का पूर्ण विकास तीन दशाओं में से गुजरते हुए होता है।

इसकी **पहली दशा** वंश के विस्तार की है। मानव-जाति को विनाश से बचाने की आवश्यकता पूरी करने के लिए नर-नारी मिलकर कुटुम्ब बनाते हैं। शरीर के पालन-पोषण के लिए आवश्यक वस्तुओं को उत्पन्न करने के लिए ये कुटुम्ब दास रखते हैं, इस प्रकार स्वामी-सेवक के सम्बन्ध की उत्पत्ति होती है।

दूसरी दशा में कुटुम्बों का समुदाय या समूह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ग्राम का रूप धारण करता है। आपसी झगड़ों को निपटाने के लिए ग्राम-पंचायत का निर्माण होता है, गाँव के मेलों तथा उत्सवों द्वारा उसकी धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

तीसरी दशा में अनेक ग्रामों के सम्मिलन से नगर-राज्य (City State) का जन्म होता है। राज्य सैनिक संगठन बनाकर अपने निवासियों की विदेशी आक्रमणों से रक्षा करता है, न्याय का कार्य ग्राम-पंचायत की अपेक्षा अधिक क्षमता और सुन्दर रीति से करता है, इसमें विद्याओं और कलाओं का विकास होता है, यह मनुष्य की बौद्धिक और नैतिक शक्तियों को विकसित करने की आवश्यकता पूरी करता है। अतः **नगर-राज्य मनुष्यों का अन्तिम और पूर्ण एवं श्रेष्ठतम समुदाय है।** यह उसे **पूर्ण जीवन बिताने में सहायक होता है।**[1] राज्य के निर्माण तक की उपर्युक्त तीनों दशाओं तथा इनके उद्देश्यों का परिचय निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाएगा—

सं०	दशा	उद्देश्य
१.	कुटुम्ब अथवा गृहस्थी	प्रजनन तथा अल्पतम आवश्यकताओं की पूर्ति = क
२.	ग्राम	क + न्याय के लिए ग्राम-पंचायत तथा धार्मिक उत्सव के लिए = ख
३-	नगर-राज्य या पोलिस (Polis)	क + ख + (न्याय तथा सैनिक संरक्षण, विद्या तथा कलाओं का विकास)

राज्य का स्वरूप और विशेषताएँ—राज्य एक स्वाभाविक प्राकृतिक समुदाय है। राज्य का विकास-क्रम स्पष्ट करने के साथ-साथ अरस्तू राज्य के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाली कुछ मौलिक विशेषताओं का प्रतिपादन करता है। ये निम्नलिखित हैं—

१. पहली विशेषता राज्य का प्राकृतिक (Natural) **होना है**—प्लेटो तथा अरस्तू से पहले सोफिस्ट यह मानते थे कि राज्य मनुष्यों द्वारा बनाया गया एक कृत्रिम (Artificial) समुदाय है, उसे मनुष्यों ने आपस में समझौता (Contract) करके बनाया है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के कानूनों का पालन करने के लिए मनुष्य के पास कोई स्वाभाविक आधार नहीं रहता है, क्योंकि मनुष्य इनका पालन केवल दण्ड के भय से या पुरस्कार की आशा से करता है। किन्तु मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है, वह केवल उन्हीं नियमों का पालन पूरी तरह कर सकता है, जो उसे बुद्धिसंगत प्रतीत हों।

1. "Polis is the last and the perfect association. Originating in the bare needs of living, it exists for the shaping of complete life."

—Politics.

यह केवल उन्हीं कार्यों के और नियमों के लिए सम्भव है, जिन्हें उसकी बुद्धि अपने लिए हितकर समझे। यदि उसे कानूनों का पालन बुद्धि द्वारा अपने हितों के प्रतिकूल प्रतीत हो तो वह इनका उल्लंघन करने में कोई संकोच नहीं करेगा, केवल दण्ड का भय उसे ऐसा करने से नहीं रोक सकता है। वस्तुतः प्रबल नैतिक शक्ति ही उसे कानूनों का पालन करने के लिए बाध्य कर सकती है। अरस्तू से पहले सोफिस्टों ने राज्य को प्राकृतिक या स्वाभाविक न मानकर मनुष्यों द्वारा बनाया गया एक कृत्रिम संगठन माना था। इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसे मान लेने पर राज्य के कानूनों का पालन कराने में समर्थ किसी भी नैतिक शक्ति की सत्ता को अस्वीकार करना पड़ता है। इसके विपरीत अरस्तू ने राज्य को प्राकृतिक मानते हुए उसको वह नैतिक शक्ति प्रदान की है, जिससे नागरिक उसके कानूनों का पालन करें। अरस्तू का यह कहना है कि विवेकशील मनुष्य बुद्धि द्वारा अपने हित की वृद्धि करना अपना नैतिक दायित्व समझता है। यह हित राज्य में ही पूरा हो सकता है, अतः वह राज्य के नियमों का पालन करता है। इस प्रकार राज्य के नियमों का पालन करने का एक नैतिक आधार बन जाता है और मनुष्य अपने हित की दृष्टि से इनका पालन करने लगते हैं।

राज्य को प्राकृतिक मानने का एक महत्वपूर्ण कारण उसका कुटुम्ब से शनैः-शनैः स्वाभाविक रूप से विकसित होना है, उसके विकास की प्रक्रिया पहले स्पष्ट की जा चुकी है। कोई भी व्यक्ति कुटुम्ब को कृत्रिम नहीं मानता। सोफिस्ट भी यह कहने का दुस्साहस नहीं कर सकते कि परिवार मनुष्य पर कृत्रिम रूप से थोपी हुई व्यवस्था है। यह मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का परिणाम है। अतः यह मनुष्य के विकास में सहायक है। इसका अर्थ यह है कि राज्य मनुष्य को उस उद्देश्य की पूर्ति की क्षमता प्रदान करता है, जिसके कारण वह शेष सृष्टि से भिन्न समझा जाता है। मनुष्य की शेष सृष्टि से भिन्नता उसके बुद्धिमान् होने और भाषणकलासम्पन्न प्राणी होने में है। **अरस्तू के मतानुसार जब कोई वस्तु विकसित होकर चरम विकास को प्राप्त हो जाए तथा जिस कार्य के लिए प्रकृति ने उसका निर्माण किया, उसको भली-भाँति सम्पादन कर सके तो उस स्थिति को उसका वास्तविक या स्वाभाविक रूप माना जाना चाहिए।**[1] राज्य में मनुष्य को पशुओं से पृथक् करने वाले बौद्धिक और नैतिक गुणों के विकास का अवसर मिलता है, अतः राज्य प्राकृतिक है।

२. नगर-राज्य का चरम और श्रेष्ठ राजनीतिक संगठन होना—अरस्तू की दृष्टि से नगर-राज्य मानव-समाज का सर्वोत्तम समुदाय है। प्रत्येक समुदाय किसी हित की सिद्धि के लिए बनाया जाता है। अतः राज्य को मानव के सबसे बड़े हित—बौद्धिक और नैतिक विकास की सिद्धि के लिए होना चाहिए। इसलिए उसे सर्वोत्तम समुदाय मानना चाहिए। **राज्य को सर्वोत्तम समुदाय मानने का पहला कारण यह**

1. "The nature of things consists in their end or consummation, for what each thing is when its growth is completed we call it the nature of that thing." —Politics.

है कि यह सामाजिक विकास का चरम रूप है। कुटुम्ब से आरम्भ होने वाला विकास नगर-राज्य के रूप में परिपूर्णता को प्राप्त करता है। इसे श्रेष्ठ मानने का दूसरा कारण यह है कि इसमें मनुष्य की जितनी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं, उतनी किसी अन्य समुदाय में नहीं होती हैं। कुटुम्ब तथा ग्राम केवल कुछ भौतिक आवश्यकताएँ ही पूरी करते हैं, किन्तु मनुष्य की सभी आध्यात्मिक और बौद्धिक आवश्यकताएँ नगर-राज्य से पूर्ण होती हैं।

३. राज्य का आत्मनिर्भर होना—अरस्तू इसे सब वस्तुओं के विषय में आत्मनिर्भरता की पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ कहता है। आत्मनिर्भरता का अर्थ सामान्यतः अपनी सब आवश्यकताएँ स्वयमेव पूरा करना होता है। कुटुम्ब तथा ग्राम द्वारा मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति अधूरे रूप में होती है, राज्य द्वारा न केवल इनकी पूर्ति पूर्णरूप से होती है, अपितु इनके साथ-ही-साथ मनुष्य की उच्चतर प्रकृति की तथा बौद्धिक और नैतिक आवश्यकताएँ भी पूरी होने लगती हैं, अतः राज्य में मनुष्य को किसी प्रकार का अभाव नहीं रहता।

४. राज्य का एकत्व और बहुत्व (Unity and Plurality in State)—प्लेटो ने राज्य के एकत्व पर बहुत बल दिया है। वह समूचे राज्य को एक विशाल परिवार बनाना चाहता था। किन्तु अरस्तू इससे सहमत नहीं है। उसका कहना है कि राज्य में यदि ऐसी एकता होगी तो वह-राज्य ही नहीं रहेगा, वस्तुतः राज्य का स्वरूप बहुत्व में ही है। वह विभिन्न प्रकार के तत्वों से मिलकर बनता है। यदि इसकी भिन्नता का अन्त करके एकता स्थापित की जाए, तो राज्य का ही अन्त हो जाएगा। राज्य के ये विविध तत्व विभिन्न प्रकार के कार्य करते हुए उसे अधिक उन्नत, उत्कृष्ट और समृद्ध बनाते हैं। राज्य में एकता होनी चाहिए, किन्तु यह कठोर अनुशासन के द्वारा व्यक्तियों के विभिन्न भेदों का अन्त करके स्थापित नहीं होनी चाहिए, अपितु विभिन्न प्रकार के समुचित संगठन द्वारा स्थापित होनी चाहिए।

५. राज्य व्यक्ति से पूर्ववर्ती है (State is prior to individual)—राज्य का निर्माण व्यक्तियों से मिलकर होता है। अतः इससे यह कल्पना होती है कि पहले व्यक्ति होते हैं और बाद में वे मिलकर राज्य का निर्माण करते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही यह बात सही हो, किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अरस्तू राज्य को व्यक्ति से पूर्ववर्ती मानता है। इस विषय में उसका यह कहना है कि प्रकृति की दृष्टि से राज्य को व्यक्ति से पहले माना जाना चाहिए। अरस्तू प्रकृति शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में करता है। किसी वस्तु की प्रकृति से उसका अभिप्राय उसके चरम उद्देश्य से है, जिसके लिए उसका निर्माण किया जाता है। कोई वस्तु शनैः-शनैः विकास द्वारा अपने चरम उद्देश्य को प्राप्त करती है। इस दृष्टि से विचार करें तो राज्य का उद्देश्य उत्तम जीवन बिताना है। इस उद्देश्य को पाने की दृष्टि से ही व्यक्ति राज्य के रूप में संगठित होते हैं। यदि ऐसा न हो तो व्यक्ति कभी राज्य के रूप में इकट्ठे न हों। राज्य पूर्णता का प्रतीक है। उसमें परिवार और व्यक्ति सम्मिलित हैं और उसके अंग हैं। राज्य समष्टि (Whole) है, इसलिए उसकी सत्ता व्यष्टि (Part) से पहले होनी चाहिए। इसको स्पष्ट करते हुए अरस्तू ने लिखा है—"**प्रकृति की व्यवस्था में नगर-राज्य परिवार और व्यक्ति से पूर्व-**

वर्ती है, क्योंकि समष्टि आवश्यक रूप से अपने अंगों से पूर्ववर्ती है। यदि समूचा शरीर नष्ट हो जाए तो उसका कोई अंग पांव या हाथ अलग जीवित नहीं रह सकता है।"[1]

६. राज्य का सजीव शरीर के तुल्य होना—अरस्तू प्लेटो की भाँति राज्य को व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं मानता है, किन्तु वह राज्य की एक ऐसे महाप्राणी या महाशरीर के रूप में कल्पना करता है जिसके विभिन्न अंग उसमें रहने वाले व्यक्ति और नागरिक हैं। ये सब व्यक्ति मिलकर राज्य रूपी विराट् शरीर की समष्टि (Organic Whole) का निर्माण करते हैं। जिस प्रकार शरीर के अंगों में एक चेतना होती है, पैर में कांटा लगने पर शरीर में दर्द होता है और उसके प्रतिकार का फौरन उपाय किया जाता है, यही स्थिति राज्य में होनी चाहिए। राज्य में किसी भी व्यक्ति के पीड़ित और दुःखी होने पर राज्य के सभी व्यक्तियों को उसकी पीड़ा का अनुभव होना चाहिए और उसके प्रतिकार के उपाय किये जाने चाहिएँ। जिस प्रकार हाथ और पैर की सत्ता शरीर से पृथक् रूप में नहीं है, उसी प्रकार व्यक्ति राज्य से पृथक् होकर उत्तम जीवन नहीं बिता सकता है। व्यक्ति के विकास के लिए राज्य अनिवार्य है। राज्य के अभाव में व्यक्ति अपना कोई विकास नहीं कर सकता है, उसमें जड़ता और निर्जीवता आ जाएगी।

राज्य का उद्देश्य और कार्य—अरस्तू का यह विचार है कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य की अधिकतम भलाई करना है, अतः इसका कर्त्तव्य है कि व्यक्ति को भला और सद्गुणी बनाने का तथा उसके नैतिक और बौद्धिक गुणों के विकास का प्रयत्न करे। उसने लिखा है कि **राज्य की सत्ता उत्तम जीवन के लिए है, न कि केवल जीवन व्यतीत करने के लिए।"** (पॉलिटिक्स, ३--१६)।

राज्य यह कार्य शिक्षा द्वारा कर सकता है। वर्तमान समय में अधिकांश राज्य नागरिकों को बौद्धिक शिक्षा प्रदान करते हैं। प्लेटो और अरस्तू इससे सन्तुष्ट नहीं हैं, वे नागरिकों को नैतिक शिक्षा प्रदान कर उसे सच्चरित्र और सद्गुणी नागरिक बनाना चाहते हैं। आजकल यह कार्य धार्मिक संस्थाओं का समझा जाता है, पुराने यूनानी राज्यों में धार्मिक कार्य राज्य की ओर से ही होते थे, अतः वहाँ राज्य और धर्म में कोई भेद नहीं था।

दास-प्रथा-सम्बन्धी विचार—यूनानी जगत् में होमर के समय से दास-प्रथा समाज का एक आवश्यक अंग थी। खेती-बाड़ी और आर्थिक उत्पादन-कार्य दासों द्वारा होता था। अरस्तू से पहले एण्टीफोन आदि कुछ सोफिस्ट (Sophist) विचारकों ने मानवीय समानता के आधार पर इसका विरोध किया था, किन्तु अरस्तू ने निम्नलिखित कारणों के आधार पर दास-प्रथा के औचित्य का समर्थन किया है—

(१) **यह प्रकृति की स्वाभाविक व्यवस्था और प्राकृतिक प्रथा है**, क्योंकि प्रकृति में यह नियम सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है कि उत्कृष्ट (Superior) प्राणी निकृष्ट प्राणी पर शासन करता है, उनके शरीर का शासक है। विषमता प्रकृति का नियम है।

---

1. "The Polis is prior in the order of nature to the family and the individual, since the whole is necessarily prior to the part. If the whole body be destroyed, there will not be a foot or a hand."

—Politics, p. 60.

कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए पैदा होते हैं और कुछ शासित होने के लिए, कुछ आज्ञा देने के लिए जन्म लेते हैं और कुछ आज्ञा पालन करने के लिए। आज्ञा देने वाले स्वामी और आज्ञा पालन करने वाले दास होते हैं।[1] मनुष्य-समाज में जो व्यक्ति विवेक-शक्ति से शून्य है तथा शारीरिक शक्ति रखता है, वह दास होता है तथा जो विवेक-शक्ति से सम्पन्न होता है, वह स्वामी होता है।[2] शासक और शासित के प्राकृतिक नियम तथा विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ प्रदान करने की व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि दास-प्रथा एक प्राकृतिक (Natural) संस्था है।

(२) दास-प्रथा इस दृष्टि से भी न्यायोचित है कि **यह स्वामी और सेवक दोनों के लिए तथा समाज के लिए लाभप्रद है।** विवेक-शक्ति से सम्पन्न स्वामियों को दासों की आवश्यकता इसलिए है कि वे इनकी सहायता से अपने बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकास कर सकें, इनका विकास तभी हो सकता है जब मनुष्य के पास अवकाश हो। यह अवकाश उसे तभी मिल सकता है जब दास उसकी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए श्रम करें; अन्यथा उसे यह श्रम करना पड़ेगा, उसका सारा समय इसमें लग जाएगा और वह उत्तम जीवन के लिए आवश्यक गुणों का विकास नहीं कर सकेगा।[3]

(३) दास-प्रथा इसलिए भी आवश्यक है कि **यह दासों के जीवन के विकास के लिए भी आवश्यक है।** अरस्तू दास को विवेकशून्य प्राणी मानता है, उसकी स्थिति बच्चे की तरह है, यदि बालक को माँ-बाप का संरक्षण और प्रशिक्षण न प्राप्त हो तो उसका समुचित विकास नहीं हो सकता और वह अत्यधिक खाने से या अभक्ष्य भक्षण से और अकरणीय कार्यों से अपने को हानि पहुँचा सकता है, उसी तरह दास भी विवेक-शक्तिसम्पन्न न होने के कारण अपना अहित कर सकता है, अतः उसकी सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वामी के संरक्षण में रहे।

दास-प्रथा के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण व्यवस्थाएँ—दास-प्रथा का समर्थक होने पर भी अरस्तू ने इसके सम्बन्ध में कुछ ऐसी महत्वपूर्ण व्यवस्थाएँ की हैं कि इनसे दास-प्रथा द्वारा होने वाले अन्यायों का तथा इसके दोषों का कुछ अंश तक प्रतिकार

1. "There are those whose high endowment of reason fits them to command and direct; there are those whose slight endowment fits them only to comprehend and carry out orders. The former are by nature masters; the latter are by nature slaves." —Dunning, p. 58.

2. "By virtue of the principle, the soul rules the body and by virtue of it the master who possesses the rational faculty of the soul, rules the slave who possesses only bodily powers and the faculty of understanding the directions given by another's reason." —Politics p. 175.

3. "A man can no more live the good life without slaves than he can produce music without an instrument. Thus slavery is justified from the point of view of the master by the exercise of virtue which it makes possible for him." —Foster, p. 138.

हो जाता है। ये व्यवस्थाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **पहली व्यवस्था यह है कि स्वामी और दास के हित समान हैं।** इस प्रथा का उद्देश्य दोनों का हित करना है, अतः स्वामी को अपनी सत्ता और अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। उसे दास के साथ मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए।

(२) **दूसरी व्यवस्था यह है कि दासों को मुक्त करने का प्रबन्ध किया जाए।** उसने स्वयमेव अपने जीवन में अनेक दासों को मुक्त किया था।

(३) **तीसरी व्यवस्था उसकी यह धारणा थी कि दासता प्राकृतिक गुणों के कारण होती है, इसका कोई कानूनी आधार नहीं है और यह जन्ममूलक भी नहीं है।** यह आवश्यक नहीं कि दास का बेटा दास हो, यदि उसमें विवेक-शक्ति हो तो वह दास नहीं है। वह स्वयमेव यह भी मानता है कि गुणों के आधार पर दास-अदास में भेद करना बहुत कठिन है। दास-प्रथा को गुणमूलक बनाकर उसने इसकी उग्रता और कठोरता को कम कर दिया है।

(४) **उसकी चौथी महत्वपूर्ण व्यवस्था यह है कि युद्ध में विजय मात्र से किसी व्यक्ति को दास नहीं बनाया जा सकता है।** प्राचीन काल में युद्ध बन्दियों को गुलाम बनाने की प्रथा थी। अरस्तू ने सैद्धान्तिक दृष्टि से इसका विरोध किया। वह विजेता को विजितों को दास बनाने का अधिकार देने वाली रूढ़ि को तथा इस प्रकार प्रचलित होने वाली कानूनी दासता (Legal Slavery) की व्यवस्था को अमान्य ठहराता है। उसका यह मत है कि युद्ध जीतने वाला अधिक शक्तिशाली अवश्य होता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह अधिक गुणों वाला तथा उत्कृष्ट विवेक वाला हो; युद्ध में ऐसे व्यक्ति भी पकड़े जा सकते हैं, जो इन्हें बन्दी बनाने वाले व्यक्तियों की तुलना में नैतिक और बौद्धिक गुणों की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट हों। ऐसे व्यक्ति दास नहीं बनाए जाने चाहिएँ। इन्हें दास बनाने वाली व्यवस्था मान्य नहीं हो सकती है। कई बार युद्ध अन्यायपूर्ण कारणों से छेड़ा जाता है। ऐसे युद्ध में बन्दियों को दास बनाना सर्वथा अन्यायपूर्ण है।

(५) **पाँचवीं व्यवस्था यह है कि यूनानियों को दास नहीं बनाया जा सकता, केवल असभ्य अर्थात् यूनानियों से भिन्न जाति के व्यक्ति ही दास हो सकते हैं।**[1] विद्या और बुद्धि की दृष्टि से यूनानी अपने को अन्य जातियों से उत्कृष्ट समझते थे और उत्कृष्ट गुणों वाले व्यक्तियों को अरस्तू दास होने योग्य नहीं मानता था।

दास प्रथा की आलोचना

अरस्तू द्वारा दास-प्रथा का समर्थन कई कारणों से दोषपूर्ण प्रतीत होता है। इसकी आलोचना प्रधान रूप से अग्रलिखित कारणों के आधार पर की जाती है।

---

1. "Finally, the principle he lays down is the logical foundation of the widespread feeling among the Greeks that they ought to hold in slavery only persons of other races, for the inherent intellectual superiority of Hellenes over barbarians was one of the primary and universal axioms of Greek thought." —Dunning, p. 59.

(१) **समानता और स्वतन्त्रता की धारणाओं के प्रतिकूल होना**—अरस्तू की यह व्यवस्था वर्तमान समय में सब मनुष्यों को समान और स्वतन्त्र मानने के मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। रौस ने अरस्तू की इस विषय में आलोचना करते हुए कहा है कि **उसके अनुसार मानव-जाति को गुणों के आधार पर तथा शासक-शासित के आधार पर दो वर्गों में बाँटने का समर्थन नहीं किया जा सकता है।**[1] मनुष्यों के नैतिक और बौद्धिक गुणों में अन्तर अवश्य होता है, किन्तु इसके आधार पर कुछ व्यक्तियों को शासक बनाना और कुछ व्यक्तियों को शासित बनाना उचित नहीं प्रतीत होता है।

(२) **दासों का बुद्धिहीन न होना**—अरस्तू दासों को बुद्धिशून्य और विवेक से रहित होने के कारण शासित मानता है और इस आधार पर दास-प्रथा को उचित ठहराता है। किन्तु दास वस्तुतः बुद्धिशून्य नहीं होते हैं। वह स्वयमेव यह मानता है कि इनमें स्वामी के आदेश समझने और पालन करने की बुद्धि होनी चाहिए, उसका यह भी कहना कि दास, दास के रूप में नहीं, किन्तु मनुष्य के रूप में अपने स्वामी का मित्र हो सकता है। मनुष्य होने के कारण उसमें विवेक, बुद्धि, आदि के गुण अवश्य होंगे। अतः उसे इनसे रहित समझते हुए मनुष्यों का दो भागों में वर्गीकरण सर्वथा कृत्रिम और अस्वाभाविक है तथा इसके आधार पर दास-प्रथा को न्यायोचित ठहराना सर्वथा अयुक्तियुक्त है। इस विषय में बार्कर ने यह सत्य ही लिखा है—**"यदि दास को किसी भी दृष्टि से मनुष्य समझा जाता है तो उसे सभी दृष्टियों से मानव मानना चाहिए और यदि उसे मनुष्य मान लिया जाए तो यह उसे पूर्ण रूप से विवेक-बुद्धिशून्य दास मानने की उस धारणा का खण्डन करता है, जिसके आधार पर अरस्तू ने उसे दास बनाए रखना न्यायोचित ठहराया है।"**

(३) **श्रम को दण्डित करना**—प्रो० मेकलवेन ने अरस्तू की आलोचना करते हुए कहा है कि उसने दास-प्रथा के सिद्धान्त से श्रमिकों के श्रम को दण्डित किया है। यूनान में समाज की सम्पत्ति, वैभव और उत्कर्ष का आधार दासों द्वारा किया जाने वाला श्रम था। अरस्तू नागरिकों के लिए अवकाश (Leisure) और श्रम न करना आवश्यक समझता है, किन्तु उन्हें यह अवकाश और जीवन की सब सुविधाएँ और भौतिक सम्पत्ति अपने श्रम से प्रस्तुत करने वाले दासों को नागरिकता के अधिकार से वंचित करता है। श्रम का इससे अधिक और क्या अपमान हो सकता है। यह समाज के लिए अतीव उपयोगी कार्य करने वाले दासों को दण्डित करना है।

(४) **दासों को स्वतन्त्र नागरिकों से पृथक करने वाली कसौटी का अभाव**—अरस्तू ने लिखा है—दासों के शरीर की बनावट और उनकी प्रकृति से उन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है। कुछ दास लड़ाइयों में जीतकर बन्दी बनाए जाने वाले व्यक्ति होते हैं और उनके बच्चे भी दास हो जाते हैं, किन्तु युद्ध में कभी भी कोई देश हार सकता है और यूनान जैसे शक्तिशाली देश भी पुराने जमाने में ईरान और

1. "What cannot be commended in Aristotle's views, however, is his cutting of the human race in two with a hatchet." —Ross.

रोम से पराजित किए गए थे। अरस्तू की परिभाषा के अनुसार हराए जाने पर उन्हें भी दास माना जाना चाहिए। अरस्तू की इस विषय में सबसे बड़ी कमी यह है कि उसने दासों और नागरिकों को पृथक् करने के लिए कोई सर्वमान्य मापदण्ड या कसौटी निर्धारित नहीं की है, इस दृष्टि से अरस्तू का यह विचार दोषपूर्ण है।

(५) **अरस्तू के सिद्धान्त में दास न तो मनुष्य रहता है और न ही पशु बनता है**—अरस्तू कभी तो दास को केवल एक जीवित सम्पत्ति (Animate Chattel) तथा उत्पादन का यन्त्र मात्र मानता है और उसे हर प्रकार के मानव-अधिकार से वंचित कर देता है। उसे अपने स्वामी का एक अंग मानता है। किन्तु कभी उसे मनुष्य मानकर स्वामी का मित्र बना देता है। इस प्रकार दास की कोई निश्चित स्थिति नहीं रह पाती है। मेकलवेन के शब्दों में वह पशु तो बना दिया जाता है, किन्तु मानवता से भी उसे मुक्त नहीं किया जाता है। बार्कर ने यह ठीक ही लिखा है कि यदि उसे हर प्रकार के मानव-अधिकारों से वंचित रखना है तो फिर उसे पशु ही रहने देना चाहिए था।

(६) **अरस्तू का दासताविषयक सिद्धान्त सामयिक समस्याओं का हल मात्र है**—अरस्तू के समय में एथेन्स तथा स्पार्टा में दासों को मुक्त करने के आन्दोलन प्रबल हो रहे थे। स्पार्टा में बहुत से दास स्वाधीन कर दिए गए थे। सोफिस्ट लोग दासों की स्वतन्त्रता का समर्थन कर रहे थे। यूनानियों की सारी अर्थव्यवस्था दास-प्रथा पर आधारित थी, अतः सोफिस्टों का आन्दोलन यूनानियों के लिए खतरे की घंटी था। वे चाहते थे कि उन्हें दासता के समर्थन का सैद्धान्तिक आधार मिले। अरस्तू ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करके उस समय की समस्या को हल किया और समय की माँग पूरी की। वस्तुतः उसकी यह कल्पना तत्कालीन सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक दास-प्रथा को उचित ठहराने का प्रयास था, न कि कोई वास्तविक सिद्धान्त।

(७) **जातीय अभिमान की भावना**—अरस्तू की दासता के विचारों में जातीय अभिमान की भावना स्पष्ट रूप से झलकती है। उसका यह कहना है कि यदि लड़ाई में यूनानियों से भिन्न जंगली या बर्बर जातियाँ हार जाएँ तो उन्हें दास बनाया जा सकता है, किन्तु बौद्धिक दृष्टि से उत्कृष्टता रखने वाले यूनानियों को लड़ाई में हारने पर भी दास नहीं बनाया जा सकता है। एक ओर तो वह युद्ध में बन्दियों को दास बनाने की प्रथा का समर्थन इस आधार पर करता है कि यह विजेताओं की उत्कृष्ट बौद्धिक क्षमता का प्रमाण है और दूसरी ओर वह यूनानियों को लड़ाई में हारने पर भी दास बनाने का विरोध करता है। यह स्पष्ट रूप से उसके यूनानी जाति को सर्वश्रेष्ठ मानने के अहंकार को सूचित करता है। गोम्पेज़ ने इस विषय में ठीक ही लिखा है कि **दास-प्रथा के समर्थन के लिए यहाँ जातीय अहंकार की युक्ति को प्रस्तुत किया गया है।**

वस्तुतः दास-प्रथा के सम्बन्ध में अरस्तू ने अपने यथार्थवाद के कारण मध्यमार्ग का अवलम्बन किया है। उस समय यूनान में एक ओर ऐसे विचारक थे जो राष्ट्रीय अर्थ-

---

1. "Pride of race was here enlisted on behalf of the defence of slavery." —Prof. Theodor Gomperz.

व्यवस्था की दृष्टि से दासों को रखना, इन्हें युद्धों में पकड़कर बन्दी बनाना सर्वथा न्यायोचित समझते थे। दूसरी ओर सोफिस्टों का यह मत था कि स्वतन्त्रता प्रत्येक प्राणी का जन्मसिद्ध अधिकार है, दासों की व्यवस्था समाज में नहीं होनी चाहिए। किन्तु यदि इसका उन्मूलन कर दिया जाता तो समूची यूनानी अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती। उस समय मशीनों के अभाव में सामुद्रिक और औद्योगिक राज्यों में आर्थिक उत्पादन का सारा कार्य दास करते थे। दासों की संख्या कोरिन्थ में ४,६०,०००, एजिना (Aegina) में ४,७०,००० तथा एट्टिका में ३०९ ई० पू० की जनगणना के अनुसार चार लाख थी। इन दासों के श्रम के कारण ही नागरिकों को अपने बौद्धिक और नैतिक गुणों के विकास का तथा शासन-कार्यों में भाग लेने का अवसर मिलता था। अतः अरस्तू इस प्रथा के समूलोन्मूलन के पक्ष में नहीं था। फिर भी उसने युद्धों द्वारा दास बनाने की प्रथा का विरोध किया, इसी तरह कानूनी अथवा परम्परा गत दास-प्रथा का विरोध किया और इसे केवल नैतिक आधार पर ही न्यायोचित ठहराया, क्योंकि उसकी दृष्टि में विवेक शून्य दास अपने स्वामी का वशवर्ती रहने से उसके नैतिक गुणों और योग्यताओं से लाभ उठाता है।

सम्पत्ति और परिवार सम्बन्धी विचार—अरस्तू सम्पत्ति और परिवार को मानव-समाज के लिए आवश्यक संस्थाएँ मानता है। प्लेटो राज्य के संरक्षकों के लिए इसका उन्मूलन करना चाहता है, किन्तु अरस्तू इसका घोर विरोधी है।

सम्पत्तिविषयक विचार—उसने पॉलिटिक्स की प्रथम पुस्तक के ८वें से ११वें अध्याय तक इस विषय का विशद विवेचन किया है। उसके मतानुसार सम्पत्ति का उद्देश्य जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करना है। ये आवश्यकताएँ निम्न प्रकार की आजीविकाओं से पूरी की जाती हैं—पशुपालन, शिकार, डकैती, मछलियाँ पकड़ना, खेती और व्यापार। **मनुष्यों की सबसे अधिक संख्या अपनी जीविका कृषि से प्राप्त करती है। इसे अरस्तू सर्वश्रेष्ठ व्यवसाय या वृत्ति मानता है। वह धनोपार्जन के दो** स्वरूप मानता है—प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक। प्राकृतिक स्वरूप का अर्थ है मनुष्यों की आवश्यकताओं को पूरा करने वाला धनोपार्जन। यह उसी सीमा तक होना चाहिए जहाँ तक वह हमारी आवश्यकताओं को पूरा कर सके। किन्तु जब इसमें सीमा का कोई विचार नहीं रखा जाता और इसका लक्ष्य केवल धन कमाना और अपरिमित सम्पत्ति का संग्रह करना हो तो यह बिलकुल अप्राकृतिक और निन्दनीय हो जाता है।

सूदखोरी को वह इसी दृष्टि से बहुत बुरा मानता है, क्योंकि इसमें रुपये द्वारा अपनी आवश्यकता नहीं पूरी की जाती, किन्तु दूसरे की बेबसी और गरीबी का लाभ उठाते हुए पैसे द्वारा अधिक पैसे को पैदा किया जाता है। अरस्तू के शब्दों में, **"धन कमाने का सबसे घृणित उपाय सूद लेना है और इसका घृणित होना बुद्धिसंगत है,** क्योंकि इसमें मुद्रा का उपयोग करने वाली विनिमय की पद्धति से लाभ कमाने के स्थान पर स्वयं मुद्रा से ही लाभ प्राप्त किया जाता है। **मुद्रा का प्रचलन विनिमय के साधन के रूप में हुआ था, न कि सूद के द्वारा धन बढ़ाए जाने के लिए। अतएव धन कमाने के उपायों में सूद लेना सबसे अधिक अप्राकृतिक उपाय है।"**

डनिंग ने अरस्तू के सम्पत्तिविषयक विचारों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है

कि उसने उत्पादन और विनिमय के आरम्भिक विचारों को स्पष्टता के साथ रखा है, मुद्रा के प्रधान प्रयोजन का वर्णन बड़े सुन्दर रूप से किया है, किन्तु वह पूँजी के महत्व को नहीं समझ सका, अतः सूद के सम्बन्ध में उसका विचार बड़ा बेहूदा है। इसके साथ ही उसका दूसरा दोष डकैती को जीविकोपार्जन की स्वाभाविक वृत्ति मानना है।

अरस्तू ने सम्पत्ति के वितरण के सम्बन्ध में भी सुन्दर विवेचन किया है। उसके मतानुसार वस्तुतः समाज में धन के दूषित वितरण ने ही आर्थिक विषमता को जन्म दिया है, धनी-निर्धन का भेद किया है, भीषण असन्तोष और साम्यवाद आदि क्रान्तिकारी विचारधाराओं को उत्पन्न किया है। इसके सम्बन्ध में अरस्तू ने तीन प्रकार की वैकल्पिक व्यवस्थाओं का वर्णन किया है—

(१) भूसम्पत्ति वैयक्तिक हो, किन्तु इसका उपयोग सामूहिक हो, सब लोग इसका समान रूप से उपभोग कर सकें।

(२) सम्पत्ति सामूहिक हो, पर इसका उपयोग वैयक्तिक हो।

(३) सम्पत्ति सामूहिक हो, इसका उपभोग भी सामूहिक हो।

अरस्तू इन तीनों में से पहले विकल्प के पक्ष में है। वह सम्पत्ति को वैयक्तिक रखते हुए इसका उपभोग समाज की भलाई के लिए करना चाहता है, इसे वह मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक तथा स्वाभाविक मानता है। सम्पत्ति मनुष्य को आनन्द प्रदान करती है; उसमें परोपकार, दया, दाक्षिण्य, उदारता आदि सद्गुणों का विकास करती है। परिवार का भी वह इसी आधार पर समर्थन करता है और इसीलिए वह प्लेटो के साम्यवाद का विरोधी है।

वैयक्तिक परिवार को समाप्त करने की प्लेटो की योजना की आलोचना— पहले यह बताया जा चुका है कि प्लेटो वैयक्तिक परिवार को स्वार्थपरता का मूल मानते हुए इसको समाप्त करके दार्शनिक शासकों का स्त्रियों पर ऐसा सामूहिक अधिकार स्थापित करना चाहता है, जिसमें बच्चे राज्य द्वारा पाले जाएँ और एक आयु के सभी पुरुष और स्त्रियाँ उनके माता-पिता, भाई-बहन समझे जाएँ। अरस्तू निम्न कारणों के आधार पर इसकी आलोचना करता है—

(१) परिवार मानव-समाज की प्राकृतिक, स्वाभाविक और आवश्यक व्यवस्था है। राज्य का मूलरूप परिवार में ही निहित है। पहले यह बताया जा चुका है कि आरम्भ में परिवार था, परिवारों के समूह से ग्राम बना और ग्रामों के समूह से राज्य। परिवार की जिस संस्था से राज्य का निर्माण होता है, उसका राज्य से कैसे लोप हो सकता है?

(२) मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए जिस प्रकार सम्पत्ति की आवश्यकता होती है, वैसे ही परिवार भी आवश्यक है।

(३) परिवार नैतिक गुणों के विकास की दृष्टि से आवश्यक है। इसमें व्यक्ति उदारता, स्वार्थ-त्याग, परोपकार, संयम आदि सद्गुणों का विकास करता है।

(४) प्लेटो यह समझता है कि राज्य जब एक विशाल परिवार का रूप धारण करेगा तभी उसमें 'मेरे-तेरे' के सब झगड़े मिट जाएँगे, राज्यवासियों में प्रेम बढ़ेगा। वैयक्तिक परिवार न रहने पर सब छोटे बच्चे राज्य की बड़ी आयु के व्यक्तियों के पुत्र

समझे जाएँगे। अरस्तू ने इस व्यवस्था की खिल्ली उड़ाते हुए कहा है कि इस प्रकार अनेक व्यक्तियों की सन्तान होने पर पुत्र को वह प्रेम और संरक्षण नहीं मिलेगा जो आजकल वैयक्तिक परिवार में बच्चे को अपने माँ-बाप से मिलता है। **प्रेम का क्षेत्र जितना ही अधिक विस्तृत होता है, उसकी गहराई तथा प्रगाढ़ता की मात्रा उतनी ही कम हो जाती है।** जो सबका बच्चा होता है, वह किसी से भी अधिक स्नेह नहीं प्राप्त कर सकता है। प्लेटो की व्यवस्था में प्रत्येक नागरिक के हजार बच्चे होंगे तथा प्रत्येक बच्चे के हजार पिता होंगे। इनमें कभी वैसा प्रेम नहीं हो सकता, जैसा वैयक्तिक परिवार वाले माता-पिता और बच्चों में पाया जाता है। अरस्तू ने इस स्थिति पर क्रूर व्यंग्य करते हुए लिखा है—"**प्लेटो की पद्धति के अनुसार किसी का पुत्र होने की अपेक्षा किसी व्यक्ति का वास्तविक चचेरा भाई होना अधिक अच्छा है**"—क्योंकि इसे अपनी सन्तान न होने पर भी परिवार में जितना स्नेह, दुलार, संरक्षण और सुरक्षा प्राप्त होती है, उतनी प्लेटो के बेटे को भी नहीं मिल सकती। अरस्तू के मतानुसार बच्चों की देखभाल के लिए राज्य की ओर से स्थापित शिशुशालाएँ (Nurseries) और धाएँ माँ-बाप तथा परिवार का स्थान नहीं ले सकती हैं।

सम्पत्तिविषयक अथवा आर्थिक साम्यवाद की आलोचना—प्लेटो के साम्यवाद की आलोचना में अरस्तू ने निम्नलिखित तर्क दिए हैं—

(१) सम्पत्ति के सामूहिक होने की व्यवस्था में जो व्यक्ति कठोर परिश्रम के करने वाले होंगे, उन्हें यह शिकायत होगी कि उन्हें अपने परिश्रम के अनुपात में कम प्रतिफल मिलता है और कम परिश्रम वाले को अधिक मिलता है।

(२) मनुष्य तभी अधिक क्षमता, परिश्रम तथा लगन के साथ कार्य करते हैं, जब उन्हें वैयक्तिक लाभ प्राप्त होने की सम्भावना होती है। यदि उन्हें इसकी सम्भावना नहीं होती है तो वे अधिक परिश्रम और क्षमता के साथ काम नहीं करते हैं।

(३) सामूहिक सम्पत्ति और सामूहिक उपभोग सब प्रकार के झगड़ों की जड़ होते हैं। यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'साझे की हंडिया चौराहे पर ही फूट जाती है।'

(४) वैयक्तिक सम्पत्ति मनुष्य को बड़ा आनन्द और गर्व प्रदान करती है।

(५) वैयक्तिक सम्पत्ति के कारण समाज में जो झगड़े होते हैं, उनका कारण सम्पत्ति का वैयक्तिक होना नहीं है, किन्तु मानवीय प्रकृति की दुष्टता है। शिक्षा द्वारा यदि मानवीय प्रकृति को सुधार दिया जाए तो ये झगड़े नहीं उत्पन्न होंगे।

(६) प्लेटो यदि साम्यवाद को अच्छा समझता है तो वह इसे राज्य के शासक और सैनिक-वर्ग तक ही क्यों सीमित करता है, इसे उत्पादक एवं कृषक-वर्ग पर क्यों नहीं लागू करता?

(७) वैयक्तिक सम्पत्ति से प्राप्त होने वाले आनन्द से शासक-वर्ग को वंचित करना अनुचित और अन्यायपूर्ण है।

(८) इतिहास और मानव-जाति का पुराना अनुभव प्लेटो के साम्यवाद का पोषक नहीं है, क्योंकि ऐसा साम्यवाद इतिहास में कहीं नहीं पाया जाता।

अरस्तू की इस आलोचना में कई दोष हैं: **पहला दोष यह है कि अरस्तू यह मानकर चलता है कि प्लेटो का साम्यवाद सब लोगों के लिए है**; वस्तुतः वह केवल

सैनिक और शासक-वर्ग तक सीमित है। **दूसरा दोष** यह है कि अरस्तू का यह कथन ठीक नहीं है कि साम्यवाद की व्यवस्था इतिहास में कभी प्रचलित नहीं रही। यूनान के इतिहास में सम्पत्ति पर समाज अथवा राज्य के स्वामित्व के कई उदाहरण मिलते हैं। एथेन्स जैसे राज्य में वनों तथा खानों की सम्पत्ति पर व्यक्ति का नहीं, अपितु राज्य का अधिकार माना जाता था। क्रीट के टापू में भूसम्पत्ति सार्वजनिक समझी जाती थी, राज्य के दासों द्वारा जोती जाती थी और इसकी आमदनी से वहाँ के भोजनालयों का व्यय चलाया जाता था। स्पार्टा में भूमि पर वैयक्तिक अधिकार समझा जाने पर भी इससे होने वाली आय से सब व्यक्तियों के सामूहिक भोजनालय का व्यय चलाया जाता था। स्पार्टा और क्रीट के उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यूनान में सम्पत्ति और समाज पर सामूहिक स्वामित्व होने के कई उदाहरण विद्यमान थे और अरस्तू का इस विषय में यह कहना ठीक नहीं है कि साम्यवाद की व्यवस्था इतिहास में पहले कभी प्रचलित नहीं रही है। **तीसरा दोष अरस्तू द्वारा प्लेटो के साम्यवाद को अत्यधिक महत्व देना है।** वस्तुतः प्लेटो शिक्षा द्वारा ही दार्शनिक शासकों के अधःपतन को रोकना चाहता है। शिक्षा इसकी मुख्य औषधि है और साम्यवाद पूरक अथवा आनुषंगिक औषधि। अरस्तू ने गलती से इसे मुख्य मान लिया है। ऐसी गलतियों को ध्यान में रखते हुए प्लेटो तथा अरस्तू के ग्रन्थों के प्रसिद्ध अंग्रेजी अनुवादक जोवेट (Jowett) ने लिखा है—प्लेटो की **रिपब्लिक** और **लाज** पर अरस्तू की आलोचनाएँ भ्रान्तियों तथा असंगतियों से भरी हुई हैं।

नागरिकता सम्बन्धी विचार—राज्य (Polis) नागरिकों का समुदाय है। किन्तु नागरिक किसे कहते हैं? अरस्तू ने इसका उत्तर पॉलिटिक्स की तीसरी पुस्तक में दिया है। नागरिकता की व्याख्या करने से पूर्व उसने इस विषय में उस समय प्रचलित तीन मतों का खण्डन किया है—

(क) **निवासमूलक मत**—नागरिकता (पोलीतीस) किसी विशेष **राज्य या स्थान में निवास से** नहीं मिल सकती, यदि ऐसा होता तो किसी राज्य में रहने वाले विदेशी व्यापारी और दास भी उसके नागरिक समझे जाते।

(ख) **कानूनी अधिकारमूलक मत**—किसी पर **अभियोग चलाने का अधिकार** रखने वाले व्यक्ति भी नागरिक नहीं कहला सकते, क्योंकि संन्धि द्वारा यह अधिकार विदेशियों को भी दिया जा सकता है।

(ग) **वंशपरम्परामूलक मत**—किसी **नागरिक की सन्तान** होने से भी कोई व्यक्ति नागरिक नहीं बन सकता, क्योंकि यह लक्षण पुराने राज्यों के विषय में तो ठीक हो सकता है, किन्तु नए राज्यों के आरम्भिक नागरिकों पर लागू नहीं हो सकता।

अतः नागरिकता का निर्धारण निवास, कानूनी अधिकार या जन्म द्वारा नहीं होता। अरस्तू के मतानुसार वह **व्यक्ति नागरिक है जो "स्थायी रूप से न्याय के प्रशासन में तथा राजकीय पदों के धारण करने में भाग लेता है।"**[1] लोकतन्त्र के लिए वह

---

1. "The citizen is a man who shares in the administration of justice and in the holding of office." —Politics.

इस लक्षण को कुछ अधिक स्पष्ट बताते हुए कहता है कि वह व्यक्ति नागरिक है जो राज्य के न्याय सम्बन्धी तथा (कानून पर) विचार सम्बन्धी कार्यों में कुछ समय के लिए भाग लेता है।

नागरिकता

नागरिक के गुण—अरस्तू नागरिकता के लिए यह आवश्यक शर्त निर्धारित करता है कि उसे राज्य के न्याय (Judicial) एवं कानून बनाने (Legislative) के काम में भाग लेना चाहिए।[1] इस लक्षण के अनुसार शासन के कार्यों में भाग लेने के लिए नागरिक में आवश्यक मानसिक योग्यता, पर्याप्त मात्रा में बुद्धि का विकास, नैतिक भावना और व्यावहारिकता होनी चाहिए। अरस्तू के शब्दों में नागरिक के लिए इन गुणों की उत्कृष्टता और परिपूर्णता होना (Excellence) आवश्यक है। **इसके लिए उसे शासक और शासित की दोनों अवस्थाओं का अनुभव प्राप्त होना चाहिए।** उसके मतानुसार अच्छा शासक बनने के लिए पहले शासित होना आवश्यक है, इस विषय में वह एक पुरानी कहावत को उद्धृत करता है कि **आप तब तक अच्छे शासक नहीं हो सकते, जब तक आप पहले शासित न रहे हों।**[2] इस प्रकार के गुण प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति के पास पर्याप्त अवकाश हो। ऐसा अवकाश दासों, कारीगरों, मजदूरों आदि विभिन्न वर्गों के पास नहीं होता है। अतः वह इन्हें नागरिक नहीं मानता है। उसके मतानुसार निम्नलिखित प्रकार के व्यक्ति नागरिक नहीं हो सकते हैं।

नागरिकता से वंचित व्यक्ति

(१) **दास**—गुलाम केवल शारीरिक परिश्रम का ही कार्य करते हैं और सदैव शासित रहते हैं। इन्हें प्रशासन में कोई पद ग्रहण करने का अवसर नहीं मिलता है, अतः इनके मानसिक, नैतिक, बौद्धिक गुणों का विकास नहीं होता है और न ही इनके लिए इनके पास पर्याप्त समय होता है। अतः उसने दासों को नागरिकता पाने के योग्य नहीं माना।

(२) **मजदूर**—ये यद्यपि राज्य की सत्ता को बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं, फिर भी ये नागरिक नहीं हैं क्योंकि मजदूर और श्रमिक सदैव दूसरों के आदेशों पर काम करते हैं। इनमें आदेश देने की क्षमता नहीं होती है। साथ ही इनके पास इतना अवकाश भीं नहीं होता है कि ये अपने शासन सम्बन्धी राजनीतिक कार्यों को कर सकें।

(३) **स्त्रियाँ**—अरस्तू अपने गुरु प्लेटो के नर-नारियों की समानता के विचार से सहमत नहीं है। वह स्त्रियों को नागरिकता के अधिकारों से वंचित करता है, क्योंकि उसके मतानुसार **पुरुष स्त्री की अपेक्षा अधिक अच्छा आदेश देने वाला है।**

---

1. "The citizen, he says, is one who participates in the functions of jurer and legislator either or both." —Dunning, p. 64.
2. "You cannot be a ruler unless you have first been ruled." —(Politics)

स्त्री का काम आदेशों को मानना और मौन रहना है। चुप रहने में ही नारी की गरिमा है जबकि पुरुष का इसमें कोई गौरव नहीं है।[1] अतः नागरिक के आवश्यक गुण स्त्रियों में न होने के कारण वह इन्हें भी नागरिक नहीं मानता है।

(४) **बच्चे**—इनमें नागरिकता के लिए आवश्यक बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकास नहीं होता है। ये आदेश ग्रहण करने वाले हैं। अतः ये भी नागरिक नहीं हो सकते हैं।

(५) **बूढ़े व्यक्ति**—इनमें राज्य के उत्तरदायित्व पूरा करने की क्षमता नहीं होती है। सैनिक के रूप में वे राज्य की रक्षा नहीं कर सकते हैं। अतः अरस्तू इन्हें भी नागरिकता से वंचित करता है।

(६) **निर्धन व्यक्ति**—ये सदैव अपनी आजीविका कमाने में लगे रहते हैं। इनके पास नागरिकता के गुणों को विकसित करने के लिए समय नहीं होता है। इन्हें शासन का कोई अनुभव नहीं होता है, अतः ये भी नागरिक नहीं हो सकते हैं।

(७) सूदखोरी जैसे अनुचित अप्राकृतिक उपायों से सम्पत्ति प्राप्त करने वाले व्यक्ति भी नागरिक नहीं बन सकते हैं।

अरस्तू ने उपर्युक्त व्यक्तियों को नागरिकता से वंचित करके राज्य की अधिकांश जनता को शासन के कार्यों में भाग लेने से रोक दिया है, अतः उसका नागरिकता का विचार बड़ा सीमित और दोषपूर्ण है।

नागरिकता सम्बन्धी विचार के दोष तथा सीमाएँ

(१) **सीमित और संकीर्ण होना**—उपर्युक्त सात प्रकार के वर्गों को नागरिकता के अधिकार से वंचित करके अरस्तू ने जनसंख्या के अधिकांश भाग को नागरिक नहीं माना है। वह दासों, मजदूरों, बूढ़ों, स्त्रियों, बच्चों, व्यापारियों को नागरिक बनने के योग्य नहीं समझता है। श्रमिक राज्य की व्यवस्था के मूल आधार हैं। उन्हें नागरिकता के आधार से वंचित करने का कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता है। बार्कर ने इस बारे में ठीक ही लिखा है कि **बहुजन सुलभ नागरिकता का नीचा आदर्श प्लेटो और अरस्तू के उस भव्य आदर्श से कहीं मूल्यवान है जिसे मुट्ठी-भर लोग ही पा सकते हैं।"**

(२) **प्रतिनिधिमूलक लोकतंत्र का विरोधी होना**—अरस्तू का नागरिकता का विचार अतीव अनुदार और मुट्ठी-भर कुलीन लोगों को शासन की शक्ति का अधिकार देने के कारण कुलीन लोगों तक सीमित और अभिजाततन्त्रीय (Aristocratic) है। यह

---

1. "But those who must labour in order to live are too dependent on the commands of others to develop the capacity themselves to command. Freedom from concern about the necessities of life is indispensable to the proper performance of political duties. The male is by nature better fitted to command than the female. Woman's glory is in silence but this is not equally the glory of man."
—Politics, p. 20.

विचार वर्तमान प्रतिनिधिमूलक लोकतन्त्रीय राज्यों के मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल होने से अमान्य प्रतीत होता है।

(३) **वर्तमान राज्यों के लिए अनुपयुक्त होना**—अधिक जनसंख्या रखने वाले वर्तमान राज्यों में अरस्तू के नागरिकता के विचार को लागू नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इसमें शासन और न्याय का कार्य सभी नागरिकों द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है।

(४) **विदेशी उपनिवेशों की जनता को अधिकार से वंचित करना**—अरस्तू के लक्षण के अनुसार विदेशों में बसाए गए उपनिवेशों की समूची जनता भी इस अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकती है, क्योंकि उपनिवेशों में रहने वाले व्यक्ति शासन करने वाली सभा और न्यायालयों के सदस्य नहीं बन सकते हैं।

(५) **मुट्ठी-भर धनियों को अधिकार देना**—इसमें नागरिकता का अधिकार मुट्ठी-भर धनी व्यक्तियों को ही दिया गया है। वे सब कानूनों का निर्माण अपने वर्ग के हितों की दृष्टि से करेंगे और इसका दुष्परिणाम निर्धन वर्ग को भोगना पड़ेगा। राज्य का लक्ष्य अधिकांश व्यक्तियों का हित साधन है, यह तभी सम्भव है जब इसमें अधिकतम व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हो सके। अरस्तू की व्यवस्था में शासन करने पर शक्ति मुट्ठी-भर व्यक्तियों तक सीमित होने के कारण यह बहुसंख्यक जनता के शोषण का साधन बन सकती है।

इन दोषों के होते हुए भी अरस्तू का नागरिकता का विचार आधुनिक विचार की अपेक्षा अधिक उदात्त है। वह प्रत्येक नागरिक के लिए शासन में भाग लेना आवश्यक समझता है।

कानून का स्वरूप—प्लेटो ने आदर्श दार्शनिक शासक प्राप्त न होने की दशा में कानून को सर्वोच्च स्थान देते हुए लाज (Laws) में इसका विस्तृत प्रतिपादन किया है। अरस्तू ने भी इसे राज्य में महत्वपूर्ण मानते हुए इसके स्वरूप की मीमांसा की है। उसके मतानुसार कानून दो प्रकार का है—(१) **विशेष** (Particular) और (२) **सार्वभौम** (Universal)।

विशेष कानून किसी विशेष राज्य के नागरिकों के लिए होता है और लिखित तथा अलिखित रूप में दो भेदों वाला होता है।

सार्वभौम कानून प्रकृति का नियम है। **प्राकृतिक कानून** का अभिप्राय आचरण के ऐसे सामान्य सिद्धान्त हैं जो बुद्धि द्वारा निश्चित किए गए हैं। बुद्धि द्वारा निश्चित होने के कारण ये सदैव पालन करने योग्य होते हैं। कानून वस्तुतः किसी देश की जनता की सामूहिक (Collective) तथा परिपक्व बुद्धि और अनुभव का निचोड़ होते हैं, अतः नागरिकों को कानून का सदैव पालन करना चाहिए।

अरस्तू के मतानुसार कानून स्थायी तथा अपरिवर्तनशील होना चाहिए। वह एथेन्स की तत्कालीन पार्लियामेंट—इक्लेसिया (Ecclesia) को ऐसा कोई अधिकार नहीं देना चाहता था जिससे वह कानूनों में कोई परिवर्तन कर सके। उसका यह मत था कि यह अपनी राजाज्ञाओं (Decress) द्वारा कानून में परिवर्तन करके एथेन्स को बहुत हानि पहुँचा रही है, अतः वह कानून में मौलिक परिवर्तनों का विरोधी है।

कानून की सर्वोच्च सत्ता—अरस्तू राज्य में कानून को सर्वोच्च सत्ता प्रदान करता है।[1] सरकार को इसे स्वीकार करना चाहिए और कानून के वश में रहना चाहिए। सरकार को स्वार्थहीन बनाए रखने के लिए कानून का शासन (Rule of Law) अवश्य होना चाहिए। इससे शासन में व्यक्तियों का मनमानापन नहीं आ सकता। अरस्तू के सामने इस विषय में एथेन्स का उदाहरण था। एथेन्स के मैजिस्ट्रेट सदैव कानून के वशवर्ती रहते थे, क्योंकि वहाँ प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार था कि वह कानून तोड़ने वाले मैजिस्ट्रेट पर अभियोग चला सके। यह **अवैधता का अभियोग** (Graphe Paranomon) कहलाता था। इसकी नंगी तलवार सदैव सिर पर लटकने के कारण मैजिस्ट्रेटों को हमेशा कानून का पालन करना पड़ता था और कानून की सर्वोच्च प्रभुता बनी रहती थी। अरस्तू ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है—"**ठीक प्रकार से बनाए गए कानून ही अन्तिम प्रभु** (Final Sovereign) **होने चाहिएँ। प्रत्येक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का शासन केवल उन्हीं विषयों में सर्वोच्च होना चाहिए, जिनमें कानून ने कोई स्पष्ट घोषणा न की हो।**"

कानून के अस्पष्ट या अधूरा होने की दशा में ही अरस्तू शासकों को अपनी इच्छानुसार शासन का अधिकार देता है; सामान्यतः वह कानून के शासन को सर्वोच्च स्थान देता है। कानून की यह विशेषता है कि यह मानव की राग-द्वेष की भावनाओं से सर्वथा मुक्त है, अतः यह किसी एक नागरिक के शासन से अधिक अच्छा है।[2] पश्चिम के राजनीतिक चिन्तन को अरस्तू की सबसे बड़ी देन सम्भवतः कानून की प्रभुसत्ता का विचार है।

न्यायविषयक विचार—प्लेटो की भाँति अरस्तू भी न्याय को राज्य के लिए बहुत महत्वपूर्ण मानता है, किन्तु दोनों के स्वरूप में कुछ भिन्नता है। अरस्तू न्याय को सद्गुणों का समूह मानता है। प्रत्येक व्यक्ति के न्यायप्रिय होने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने समुदाय के अन्य सदस्यों के प्रति नैतिक कर्त्तव्यों का पूरा पालन करे। न्याय के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अरस्तू इसके दो भेद करता है:

पहला भेद सामान्य न्याय (General Justice) है। इससे उसका आशय पड़ोसी के प्रति किए जाने वाले भलाई के सभी कार्यों से है। अच्छाई के सब कार्यों—सभी सद्गुणों तथा सम्पूर्ण साधुता (Righteousness) को अरस्तू सामान्य न्याय समझता है।

दूसरा भेद विशेष न्याय (Particular Justice) है। इसका सम्बन्ध भलाई के विशेष रूपों से है, जिसके आधार पर हम दूसरों के साथ न्यायोचित व्यवहार करते हैं। इसको अरस्तू पुनः दो उपभेदों में बाँटता है। ये निम्नलिखित हैं—

---

1. "Where laws have no authority, there is no constitution. The law ought to be supreme over all." —Politics.

2. "Law (as the pure voice of God and Reason) may thus be defined as Reason free from all passion. Law contains no element of passion, but such an element must always be present in the human mind. The rule of law is therefore preferable to that of a single citizen." —Politics.

(क) वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice)—इसका अर्थ यह है कि राज्य अपने नागरिकों में राजनीतिक पदों, सम्मानों तथा अन्य लाभों या पुरस्कारों का बँटवारा न्यायपूर्ण रीति से करे। क्योंकि इसके विषम वितरण से अर्थात् किसी वर्ग-विशेष को ही सभी राजकीय पदों के दिए जाने से राज्य में गम्भीर दोष उत्पन्न हो सकते हैं। अतः अरस्तू इन्हें आनुपातिक समानता के आधार पर वितरित करना चाहता है। इसी को वितरणात्मक न्याय कहा जाता है।

(ख) संशोधनात्मक न्याय (Rectificatory Justice)—यह न्याय एक नागरिक के दूसरे नागरिक के साथ पारस्परिक सम्बन्ध को नियन्त्रित करता है। राज्य के विभिन्न सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार में उत्पन्न होने वाले दोषों को दूर करके उनका संशोधन करता है। ये व्यवहार ऐच्छिक और अनैच्छिक रूप से दो प्रकार के होते हैं। ऐच्छिक व्यवहारों का उदाहरण विभिन्न प्रकार के समझौते हैं। जब कोई पक्ष समझौते की कोई शर्त तोड़ता है तो राज्य दूसरे पक्ष के साथ इस प्रकार होने वाले अन्याय का अपने न्यायालयों द्वारा संशोधन करता है। अनैच्छिक व्यवहार में जब एक नागरिक दूसरे को कोई हानि पहुँचाता है तो राज्य हानि उठाने वाले नागरिक की उस हानि की पूर्ति करके उसके साथ न्याय कराता है।

अरस्तू के न्यायविषयक विभिन्न भेदों और प्रकारों को निम्नलिखित चार्ट से आसानी से समझा जा सकता है—
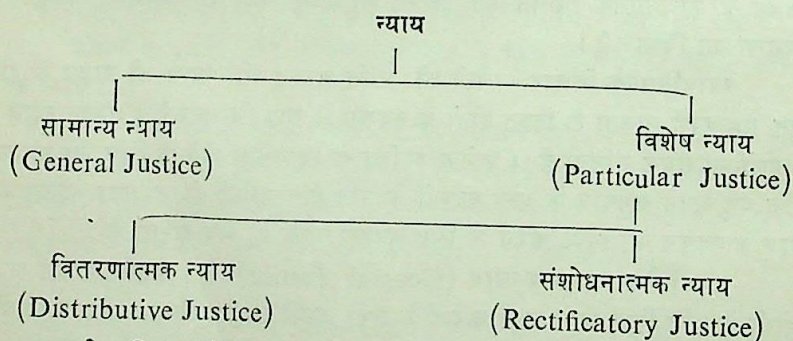
उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्लेटो और अरस्तू के न्याय के विचार में कई भेद हैं—

पहला भेद यह है कि प्लेटो के मतानुसार न्याय का अर्थ है व्यक्तियों द्वारा अपनी योग्यता के अनुसार राज्य में अपने निश्चित कार्य करना। किन्तु अरस्तू के वितरणात्मक न्याय का अर्थ है, राज्य को प्रदान की गई अपनी वैयक्तिक योग्यता और धनराशि के आधार पर उससे पद और धन ग्रहण करना।

दूसरा भेद यह है कि प्लेटो के न्याय का विचार कर्त्तव्यमूलक है, वह राज्य की विभिन्न श्रेणियों के विविध प्रकार के कर्त्तव्य मानता है। किन्तु अरस्तू का विचार अधिकारमूलक है। वह राज्य के प्रति कार्यों की आनुपातिक समानता (Proportional equality) के आधार पर नागरिकों को पद और सम्मान प्रदान करता है।

तीसरा भेद यह है कि अरस्तू के न्याय की कल्पना प्लेटो की कल्पना की अपेक्षा

अधिक सुस्पष्ट और विशद है। प्लेटो केवल न्याय के सामान्य रूप का वर्णन करता है, किन्तु अरस्तू उसके उपर्युक्त विभिन्न भेदों द्वारा उसके स्वरूप पर अधिक प्रकाश डालता है।

संविधानों का वर्गीकरण
(Classification of Constitutions)

अरस्तू ने वैज्ञानिक शुद्धता के साथ राज्य और सरकार में भेद करते हुए विभिन्न संविधानों का सुन्दर वर्गीकरण किया है। संविधान राज्य की सर्वोच्च शक्ति की व्यवस्था करता है और यह बताता है कि यह शक्ति किसमें रहती है। अरस्तू के शब्दों में, **"संविधान या पोलितेइया नगर के शासन के पदों और विशेषतया सबसे उच्च प्रभुपद** (Sovereign) **का संगठन है।"**[1] अतः संविधान का स्वरूप इस बात से निश्चित होता है कि उसमें अन्तिम शासन-सत्ता कहाँ रहती है। राज्य का निर्माण व्यक्तियों के कुछ सामान्य हितों की पूर्ति के लिए होता है, अतः वास्तविक या सच्ची सरकार उसे ही कहना चाहिए, जहाँ जनता के सामान्य हितों की पूर्ति तथा सिद्धि हो।

अरस्तू ने विभिन्न संविधानों या शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण दो सिद्धान्तों के आधार पर किया है—

(क) अन्तिम शासन-सत्ता कितने व्यक्तियों में निहित है; एक व्यक्ति में, कुछ व्यक्तियों में या सामान्य जनता में।

(ख) शासन का उद्देश्य जनता के सामान्य हितों की रक्षा करना है या विशेष वर्गों के स्वार्थों की।[2] इसकी कसौटी यह है कि अमुक शासन प्रकृत और विशुद्ध प्रकार का है या विकृत अथवा दूषित प्रकार का। अरस्तू का यह भी कहना है कि पदों से लाभ उठाने के लिए व्यक्ति इन पर सदा बने रहना चाहता है।[3] इन दो सिद्धान्तों के आधार पर अरस्तू ने विभिन्न शासन-प्रणालियों को छः भागों में बाँटा है, इसे निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

1. "A constitution is organization of a polis in respect of its offices generally, but especially in respect of that particular office which is sovereign of the state." —Aristotle in Politics.

2. "Those constitutions which consider the common interest are right constitutions .... Those constitutions which consider only the personal interests of the rulers are all wrong constitutions or perversions of the right forms." —Politics.

3. "Moved by the profits to be derived from office and the handling of public property, men want to hold office continuously." —Politics.

सत्ता का स्थान	विशुद्ध संविधान	विकृत संविधान
एकजन	राजतन्त्र (Monarchy)	निरंकुशतन्त्र या तानाशाही (Tyranny)
अल्पजन	अभिजाततन्त्र (Aristocracy)	अल्प या धनिकतन्त्र (Oligarchy)
बहुजन	सर्वजनतन्त्र (Polity)	प्रजातन्त्र (Democracy)

१. **राजतन्त्र** (Monarchy)—जब शासन-शक्ति एक व्यक्ति में निहित हो तो उसका प्रकृत या स्वाभाविक रूप राजतन्त्र होता है। राजतन्त्र में राजा का लक्ष्य प्रजा की सामान्य भलाई होता है। यह आदर्श व्यवस्था है। इसमें शासक को सद्‌गुणों से युक्त होना चाहिए। यह शासन-प्रणाली सर्वोत्तम आदर्श होने पर भी क्रियात्मक नहीं है, क्योंकि ऐसा सर्वसद्‌गुणसम्पन्न शासक मिलना दुर्लभ है और यदि वह मिल जाए तो यह आवश्यक नहीं कि उसका उत्तराधिकारी भी इसी प्रकार का होगा।

२. **तानाशाही या निरंकुशतन्त्र** (Tranny)—जब शासन-शक्ति एक व्यदित में निहित हो तो उसका विकृत रूप तानाशाही या निरंकुशतन्त्र होता है।[1] राजतन्त्र सर्वसद्‌गुणसम्पन्न शासक पर आधारित शासन है। ऐसा शासक मिलना दुर्लभ है, अतः राजतन्त्र विकृत होकर तानाशाही में परिणत हो जाता है। इसका लक्ष्य सार्वजनिक भलाई नहीं, किन्तु स्वार्थसिद्धि बन जाता है। इसमें शक्ति, धोखाधड़ी तथा स्वार्थलिप्सा का साम्राज्य होता है।

३. **अभिजाततन्त्र** (Aristocracy)—जिस राज्य में शासन-सत्ता कुछ कुलीन व्यक्तियों के हाथ में हो और शासन-सत्ता का प्रयोग सामान्य लोकहित के लिए किया जाता हो, उसे अभिजाततन्त्र कहते हैं। यह भी राजतन्त्र की भाँति स्थायी नहीं है और इसका पतन शीघ्र हो जाता है।

४. **अल्प या धनिकतन्त्र** (Oligarchy)—अभिजाततन्त्र में कुछ कुलीन व्यवितयों के हाथ में शासन-सत्ता होती है। जब इसका पतन होता है तो यह विकृत होकर अल्पतन्त्र में परिणत हो जाता है। इसमें कुछ धनी व्यक्ति लोकहित के लिए नहीं, अपितु स्वार्थसिद्धि के लिए शासन करने लगते हैं।[2] प्रायः यह कुछ धनी व्यक्तियों का शासन होता है, अतः इसे धनिकतन्त्र भी कहा जाता है।

५. **सर्वजनतन्त्र** (Polity)—सर्वजनतन्त्र या पोलितेइया का अर्थ सारी जनता का तथा सारी जनता के हित के लिए किया जाने वाला शासन है। अरस्तू की दृष्टि में वही शासन-व्यवस्था सर्वोत्तम है, जिसमें मध्यम वर्ग की प्रभुता हो। इस दृष्टि से सर्वजन-

---

1. "Tyranny is the perversion of kingship. Tyranny is a government by a single person directed to the interest of that person.
—Politics.

1. "Oligarchy is the perversion of Aristocracy. It is directed to the interest of the well-to-do."
—Politics.

तन्त्र सर्वश्रेष्ठ शासन है।

६. **प्रजातन्त्र** (Democracy)—जिस समय सर्वजनतन्त्र दूषित होता है, तब वह प्रजातन्त्र में परिणत हो जाता है। अरस्तू के मतानुसार प्रजातन्त्र का अर्थ है केवल निर्धनों के हित के लिए जनता का शासन।[1] इसमें शासन का संचालन कानून के अनुसार न होकर सभी की अपनी-अपनी इच्छानुसार होता है। अरस्तू इसका कटु आलोचक है, किन्तु वह इसके कुछ गुणों को भी स्वीकार करता है। अरस्तू के मतानुसार प्रजातन्त्र का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें निरपेक्ष समानता के तत्व पर बल दिया जाता है। इसमें धनी और निर्धन, अनपढ़ और पढ़े-लिखे, विद्वान् और मूर्ख समान समझे जाते हैं। अधिकारों की समानता और स्वतन्त्रता शीघ्र ही नियन्त्रण के अभाव में उच्छृङ्खलता और अराजकता में परिणत हो जाती है। अतः अरस्तू प्रजातन्त्र का आलोचक है।

सर्वोत्तम संविधान—उपर्युक्त शासन-प्रणालियों में से कौनसी श्रेष्ठ है? अरस्तू इसका उत्तर यथार्थवादी दृष्टिकोण से देता है। वह ऐसी शासन-प्रणाली की खोज करता है जो कोरे आदर्श की दृष्टि से सर्वोत्तम न हो, किन्तु व्यावहारिक रूप से सामान्य व्यक्तियों द्वारा क्रियात्मक रूप धारण कर सके।

अरस्तू के मतानुसार समाज में अत्यधिक सम्पन्नता और निर्धनता—दोनों बुरी हैं और अनेक दोषों को उत्पन्न करती हैं। **अतः आदर्श शासन-प्रणाली की विशेषता मध्यममार्गी होना है**। अरस्तू मध्यम मार्ग का भक्त है। अतः वह उस शासन-प्रणाली को श्रेष्ठ मानता है जिसमें मध्यम वर्ग की प्रधानता हो। ऐसी शासन-प्रणाली को सर्वजनतन्त्र (Polity) का नाम दिया है। यह उत्कृष्टता व्यावहारिक दृष्टि से है, आदर्श की दृष्टि से वह राजतन्त्र को श्रेष्ठ मानता है।

वर्गीकरण की विशेषताएँ

(१) **राजनीतिक परिवर्तनों का कालचक्र घटित होना**—प्लेटो की भाँति अरस्तू ने यह माना है कि विभिन्न संविधानों और शासन-व्यवस्थाओं के परिवर्तन नियमित रूप से होते रहते हैं। जिस प्रकार गाड़ी का पहिया (चक्र) घूमता है उसी प्रकार शासन-प्रणालियों का चक्र भी एक नियमित गति से घूमता है। यह चक्र राजतन्त्र से आरम्भ होता है; शीघ्र ही उसके विकृत रूप निरंकुशतन्त्र या तानाशाही में बदल जाता है। इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होने पर पहले अभिजाततन्त्र और इसके बाद इसका विकृत रूप अल्प या धनिकतन्त्र आता है। इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होने पर सर्वजनतन्त्र (Polity) और इसके विकृत होने पर प्रजातन्त्र आने पर एक चक्र पूरा होता है। प्रजातन्त्र के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने पर पुनः राजतन्त्र स्थापित होने से नया चक्र शुरू हो जाता है।

---

1. "Democracy is the perversion of Polity. It is directed to the interest of the poorer classes." —Politics.

(२) **सामाजिक तत्वों के साथ सम्बन्ध**—अरस्तू ने अपनी शासन-प्रणाली का विभिन्न सामाजिक तत्वों से सम्बन्ध स्थापित किया है। उसके मतानुसार राजतन्त्र, तानाशाही, अभिजाततन्त्र और धनिक तन्त्र में धनियों की प्रमुखता रहती है किन्तु सर्वजनतन्त्र और प्रजातन्त्र में निम्न वर्ग की प्रधानता होती है।

आलोचना

अरस्तू के संविधानों और राज्यों के वर्गीकरण की आलोचना विभिन्न विद्वानों ने अनेक कारणों के आधार पर की है। इसके मुख्य कारण निम्न-लिखित हैं—

(१) **संख्यामूलक वर्गीकरण का अवैज्ञानिक होना**—गार्नर तथा वानमहल ने अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए कहा है कि यह वर्गीकरण संख्या पर आधारित है, इसका मूल तत्व यह है कि प्रभुशक्ति का प्रयोग कितने व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। शासन-प्रणालियों के वर्गीकरण का यह आधार ठीक नहीं है क्योंकि वानमहल ने लिखा है कि **इसका सम्बन्ध राज्य के गठन से नहीं, अपितु गणित से है और यह वर्गीकरण गुणविषयक न होकर संख्याविषयक है।**

यह आलोचना सर्वथा युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि शासन-पद्धति में संख्या का अपना विशेष महत्व है। इसके आधार पर ही यह पता लगाया जा सकता है कि किसी राज्य में कितनी राजनीतिक जागरूकता है। इसके साथ ही अरस्तू का वर्गीकरण केवल संख्या पर नहीं, अपितु शासन करने वाले व्यक्तियों के उद्देश्य पर भी आधारित है। इस दृष्टि से उसने शासन-व्यवस्था के स्वाभाविक और विकृत रूपों का वर्णन किया है।

(२) **राज्य और सरकार में कोई भेद न मानना**—यह कहा जाता है कि अरस्तू ने राज्य (State) और सरकार (Government) में कोई भेद नहीं माना है और उसका वर्गीकरण वस्तुतः राज्यों का वर्गीकरण नहीं है अपितु सरकारों का वर्गी-करण है। गार्नर ने इस दृष्टि से अरस्तू की आलोचना करते हुए लिखा है, **"उन्होंने राज्य तथा सरकार में कोई अन्तर नहीं माना है और अन्तिम विश्लेषण में यह वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण नहीं, अपितु सरकारों का वर्गीकरण है और इसीलिए राज्य के रूपों के विवेचन में उसका कोई उचित स्थान नहीं हो सकता है।"**

(३) **अरस्तू के राजतन्त्र और अभिजाततन्त्र का प्लेटो के आदर्श राज्य की तरह काल्पनिक होना**—डनिंग के मतानुसार अरस्तू ने अपने राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र का चित्र प्लेटो द्वारा वर्णित आदर्श राज्य से कम काल्पनिक (Fanciful) नहीं खींचा है।[1] **राजतन्त्र वस्तुतः एक (देवतातुल्य) पूर्ण व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला शासन है।**

---

1. "Aristotle's conceptions of royalty and aristocracy are hardly less idealistic and fanciful than Plato's. Royalty is substantially the rule of the one perfect man; aristocracy is the rule of the few perfect men, not easily to be distinguished in their attributes from Plato's."
—Dunning, p. 72

कुलीनतन्त्र ऐसे कुछ पूर्ण व्यक्तियों का शासन है जो अपने गुणों में प्लेटो के दार्शनिकों और संरक्षकों से मिलते हैं। डनिंग ने ठीक ही लिखा है कि यदि अरस्तू ने प्लेटो की शैली में केवल आदर्श संविधानों का वर्णन किया होता तो उसके तथा प्लेटो के संविधानों में कोई अन्तर न रहता। अरस्तू ने व्यावहारिक और वास्तविक राज्यों को भी ध्यान में रखते हुए विकृत और दूषित राज्यों का उल्लेख किया है, अतः अरस्तू के विधान अधिक वास्तविक प्रतीत होते हैं।

(४) **वर्गीकरण की अस्पष्टता**—अरस्तू के संविधानों या सरकारों के स्वरूप कहने को संख्या और उद्देश्य पर आधारित हैं, किन्तु वस्तुतः किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों पर आधारित नहीं हैं। उसके सिद्धान्त परिवर्तनशील हैं, इस कारण एक प्रकार के अन्दर कई सिद्धान्तों का मिश्रण हो जाता है। डनिंग के अनुसार अरस्तू के लिए निश्चित रूप से यह बताना कठिन है कि अमुक सरकारें अमुक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। विशेष रूप से **सर्वजनतन्त्र (Polity) और मिश्रित अभिजाततन्त्र को अलग करना कठिन है। लोकतन्त्र के विभिन्न रूप और धनिकतन्त्र भी आपस में एक-दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं।**[1] अतः उसके विभिन्न प्रकारों का कोई निश्चित स्पष्ट रूप नहीं है।

(५) **लोकतन्त्र को समुचित स्थान न देना**—अरस्तू ने अपने वर्गीकरण में लोकतन्त्र को समुचित स्थान और महत्व नहीं दिया है। वह इसे सबसे अव्यवस्थित और अनियन्त्रित शासन मानता है, किन्तु आधुनिक युग में लोकतन्त्र अधिकांश विचारकों द्वारा सर्वश्रेष्ठ शासन-पद्धति मानी जाती है। अतः लोकतन्त्र के बारे में अरस्तू के विचार को सही नहीं माना जा सकता है।

(६) **परिवर्तन चक्र का त्रुटिपूर्ण होना**—अरस्तू ने गाड़ी के पहिये की तरह शासन-व्यवस्थाओं के परिवर्तन चक्र (Cycle of change of constitutions) को निरन्तर गतिशील माना है और कहा है कि ये शासन-पद्धतियाँ निरन्तर एक-दूसरे के बाद निश्चित क्रम से बदलती रहती हैं। राज्यों की शासन-व्यवस्था में ऐसे परिवर्तन होते रहते हैं, यह बात इतिहास से पुष्ट नहीं होती है। उदाहरणार्थ—१७७६ में संयुक्त राज्य अमेरिका में जो लोकतन्त्र स्थापित हुआ था, वह वहाँ २०० वर्ष बीत जाने पर आज तक प्रचलित है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यही बात अन्य अनेक देशों की शासन-प्रणाली के बारे में कही जा सकती है, अतः अरस्तू का परिवर्तन चक्र का सिद्धान्त सत्य नहीं है।

(७) **वर्तमान राज्यों पर लागू न होना**—अरस्तू का वर्गीकरण वर्तमान राज्यों के लिए सही नहीं है, क्योंकि अरस्तू नगर-राज्यों की शासन-प्रणालियों का वर्णन करता है और ये नगर-राज्य अब समाप्त हो चुके हैं। वस्तुतः अरस्तू के शिष्य सिकन्दर ने ही यूनान के नगर-राज्यों का अन्त करते हुए अपने साम्राज्य का निर्माण किया था। वर्तमान समय के संसदीय (Parliamentary), अध्यक्षात्मक (Presidential), एकात्मक

---

1. "Polity and the mixed aristocracy are especially difficult to disentangle, and various shades of democracy and oligarchy approach perplexingly near to both."
—Dunning, p. 76.

(Unitary), संघात्मक (Federal) राज्यों का अरस्तू कोई वर्णन नहीं करता है। फिर भी अरस्तू के वर्गीकरण की वर्तमान युग के लिए बड़ी उपयोगिता है।

अरस्तू के वर्गीकरण की वर्तमान संदर्भ में उपयोगिता—अरस्तू का विभिन्न प्रकार के राज्यों का वर्गीकरण नगर-राज्यों की समाप्ति हो जाने पर भी कुछ अंशों में अब तक उपयोगी बना हुआ है और वह विभिन्न शासन-प्रणालियों में उत्पन्न होने वाले दोषों का सही निदान करता है और ऐसे शाश्वत सत्यों का निर्देश करता है जो आज भी उपयोगी हैं और जिनका वर्तमान समय में गहरा प्रभाव पड़ा है। इन्हें अरस्तू की राजनीति के शाश्वत तत्व कहा जा सकता है। ये निम्नलिखित हैं—

(१) **पहला तत्व विचारों की स्वतन्त्रता और सत्ता का समन्वय** (Reconciliation of liberty and authority) है। स्वतन्त्रता तथा समानता को अत्यधिक महत्व देने वाले अराजकतावादियों जैसे विचारक राज्य की सत्ता को वैयक्तिक विकास और स्वतन्त्रता के लिए घातक समझते हैं, वे उच्छृंखलता में ही स्वाधीनता के दर्शन करते हैं; किन्तु अरस्तू इसका घोर विरोधी था। उसने अतिगामी (Extreme) लोकतन्त्र की प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए लिखा था—लोकतन्त्र को बहुसंख्या का शासन समझा जाता है और स्वतन्त्रता तथा समानता का यह अर्थ लगाया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता है। अतः लोकतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं का अनुसरण करता है। किन्तु यह बुरी बात है। क्योंकि संविधान की अधीनता में रहने वाले जीवन को दासता नहीं समझा जा सकता, वह उच्चता और कल्याण (का जीवन) है।" (पॉलिटिक्स, ५/९)। वह राज्य में **ही उच्चतम भलाई का जीवन बिताना सम्भव समझता था। अतः राज्य के नियमों में रहना व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक नहीं, किन्तु अत्यन्त उपयोगी है।**

(२) **दूसरा शाश्वत तत्व कानून की सर्वोच्च सत्ता** (Sovereignty of law) का है। कानून निष्पक्ष एवं परिपक्व बुद्धि का परिणाम होने के कारण राज्य के संचालन और दृढ़ता के लिए अत्यावश्यक है। आजकल भी कानून के शासन (Rule of law) को असाधारण महत्व दिया जाता है।

(३) **तीसरा तत्व लोकमत का महत्व** है;—अरस्तू जनता की सामान्य बुद्धि (Common Sense) को विशेषज्ञों की सम्मति से अधिक महत्व देता था। उसका कहना था कि प्रशासन के जटिल प्रश्नों के सम्बन्ध में जनता भले ही अपना बहुमूल्य निर्णय न दे सके, किन्तु उसमें यह सामान्य बुद्धि 'विशेषज्ञों की अपेक्षा अधिक कि शासन करने का अधिकार किन व्यक्तियों को दिया जाना चाहिए' इसे उसने दो सुन्दर उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है, "राजनीति में सामान्य जनता का निर्णय उसी प्रकार वैध और महत्वपूर्ण होता है, जैसे संगीत की प्रतियोगिताओं और सहभोजों में संगीत के कलाकार और खाना बनाने वाले नहीं, अपितु संगीत सुनने तथा भोज खाने वाले इस बारे में अपना निर्णय देने के लिए सर्वोत्तम

समझे जाते हैं।"[1] भारतीय परम्परा के अनुसार पंचों में परमेश्वर का वास है, उनका निर्णय ईश्वरीय निर्णय की भाँति निभ्रान्ति और यथार्थ होता है। अरस्तू इसे मानता था और आज भी लोकतन्त्र का समर्थन इसी तर्क के आधार पर किया जाता है।

(४) **चौथा तत्व प्रभुसत्ता** (Sovereignty) **का है।** आजकल यह राज्य की मौलिक विशेषता समझी जाती है। अरस्तू ने सर्वप्रथम इसका बीज रूप में प्रतिपादन किया। वह इसे राज्य में एक ऐसी निश्चित मानवीय सत्ता के रूप में स्वीकार करता है, जिसकी इच्छा अन्तिम कानून होती है; यद्यपि वह इस प्रभुसत्ता को भी कानून के बन्धन में बंधा हुआ स्वीकार करता है, किन्तु फिर भी इसे उन अवस्थाओं में कानून बनाने का अधिकार देता है जब "कानून अपर्याप्त या अनुचित हो। (पॉलिटिक्स ३/१५) इस अधिकार द्वारा अरस्तू ने १९वीं शताब्दी के प्रसिद्ध विधिशास्त्री आस्टिन की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का सूत्र रूप में निर्देश किया है।

(५) **शासन के तीन अंगों का विचार—पाँचवाँ तत्व राज्य के विचारक** (Deliberative), कानून का निर्माण करने वाले (Legistative) तथा न्याय का कार्य करने वाले (Judicial) तीनों अंगों का सुस्पष्ट वर्णन है। इससे वर्तमान राजनीति में राज्य की **तीनों शक्तियों को पृथक् और स्वतन्त्र रखने के सिद्धान्त** (Theory of Separation of Powers) को बड़ा बल मिला है।

(६) **आर्थिक तत्वों का महत्व—छठा तत्व** राजनीति पर आर्थिक और भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव को महत्व देना है। उसके लोकतन्त्र और धनिकतन्त्र के वर्गीकरण का आधार आर्थिक है। उसने धनी-निर्धन के वर्ग-संघर्ष का सुन्दर चित्रण किया है। राज्य के लिए अत्यधिक सम्पन्नता और दरिद्रता को अभिशाप माना है। अरस्तू ने इस विषय में माँतेस्क्यू तथा कार्ल मार्क्स के विचारों को प्रभावित किया है।

(७) **मध्यम वर्ग का महत्व—सातवाँ तत्व** मध्यम मार्ग का विचार है। **इसी से वर्तमान समय में अनेक प्रकार के राजनीतिक नियन्त्रणों और सन्तुलनों** (checks and balances) **का विचार उत्पन्न हुआ है।**

(८) **बुद्धि की प्रधानता—आठवाँ तत्व** राज्य के सम्बन्ध में यह उदात्त विचार है कि वह बुद्धि द्वारा शासित होता है, उसका लक्ष्य उत्तम जीवन है। राज्य का उद्देश्य यह नहीं है कि वह अपने प्रदेश का विस्तार करे, किन्तु **उसका यह प्रयोजन है कि नागरिकों में सद्गुणों की वृद्धि, न्याय का वितरण तथा ज्ञान का प्रसार करे।**

(९) **उदारवाद का समर्थन—नवाँ तत्व** उदार लोकतन्त्र (Liberal Democracy) का समर्थन है। अरस्तू यद्यपि लोकतन्त्र के अतिगामी (Extreme) रूप का तथा भीड़ द्वारा शासन करने वाले लोकतन्त्र का विरोधी है, किन्तु उसके साथ ही वह सब प्रकार के अधिनायकों और तानाशाहों के शासन का भी उग्र विरोधी है।

---

1. "The verdict of the general public is valid in politics, just as it is in musical contests and in banquets, not the musician and the cook, but they who hear the music and eat the dinner are best qualified to render judgment." —Dunning, p. 70.

वह सब प्रकार के शासन में कानून की सर्वोच्च सत्ता का समर्थक होने के कारण वैध शासन (Constitutional government) का पक्षपाती है।

बार्कर ने लिखा है यदि यह प्रश्न किया जाए कि अरस्तू के राजनीतिशास्त्र (Politics) की योरोप के विचार को सबसे बड़ी देन क्या है तो इसका उत्तर एक शब्द में संक्षिप्त करके दिया जा सकता है, और वह शब्द है वैधानिकता (Constitutionalism)। पॉलिटिक्स की तीसरी पुस्तक में प्रतिपादित यह सिद्धान्त इंगलैण्ड के सुप्रसिद्ध वृहत् अधिकार-पत्र (Magna Carta) के इस सिद्धान्त से गहरा सादृश्य रखता है कि "राजा सदैव कानून के अधीन है और इसका वशवर्ती बना रहेगा।" मध्यकालीन एवं आधुनिक योरोप में राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन के स्थान पर वैध शासन का समर्थन करने वाले राजनीतिक विचारकों का एक प्रबल प्रेरणा-स्रोत अरस्तू की सुप्रसिद्ध कृति 'राजनीतिशास्त्र' रहा है।

अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचार

यूनान के नगर-राज्यों में क्रान्तियों द्वारा शासन-प्रणाली में बहुत परिवर्तन होता रहता था। अरस्तू ने पाँचवीं पुस्तक में इनका सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इनके कारणों पर प्रकाश डाला है तथा इनका प्रतिकार करने के महत्वपूर्ण उपाय सुझाए हैं।

क्रान्ति का स्वरूप—शासन-व्यवस्था में परिवर्तन का नाम ही क्रान्ति या विप्लव है। इसके मुख्य प्रकार ये हैं—

(क) किसी स्थापित शासन-पद्धति के स्थान पर दूसरे प्रकार की शासन-प्रणाली स्थापित करना, जैसे जनतन्त्र (Democracy) के स्थान पर धनिकतन्त्र (Oligarchy) को अथवा धनिकतन्त्र के स्थान पर जनतन्त्र को स्थापित करना।

(ख) इसमें क्रान्तिकारी दल शासन-पद्धति को यथापूर्व रखते हुए शासन-कार्य अपने सदस्यों के हाथ में ले लेता है।

(ग) कई बार क्रान्ति किसी शासन-पद्धति को बदलने के लिए नहीं, किन्तु उसकी मात्रा को परिवर्तित करने के लिए होती है जैसे जनतन्त्र को अधिक या कम जनतन्त्रात्मक बनाना।

(घ) कई बार क्रान्तिकारी दल शासन-पद्धति के किसी एक ही अंग को बदलने का प्रयत्न करता है।

क्रान्ति के कारण—अरस्तू ने क्रान्ति के कारणों को तीन भागों में बाँटा है—(क) मूल कारण, (ख) सामान्य कारण और (ग) विभिन्न शासन-प्रणालियों में क्रान्तियों के विशेष कारण।

(क) **मूल कारण**—अरस्तू क्रान्ति का मूल कारण विषमता को मानता है। क्रान्ति का मूल कारण समानता की भावना है। समानता दो प्रकार की होती है—संख्यात्मक समानता और आनुपातिक समानता। अरस्तू योग्यता सम्बन्धी समानता को आनुपातिक समानता (Proportionate equality) समझता है। सब लोग इस बात पर सहमत हो जाते हैं कि निरपेक्ष न्याय योग्यता के अनुपात में होना चाहिए। कुछ

लोगों का विचार है कि यदि मनुष्य किसी एक बात में समान हों तो सभी बातों में समान होना चाहिए। जब वे मनुष्यत्व की दृष्टि से समान हैं तो उनके अधिकारों, धन-सम्पत्ति आदि में समानता होनी चाहिए; किसी प्रकार की विषमता नहीं होनी चाहिए। दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों का यह मत है कि यदि कोई व्यक्ति एक बात में—कुल या धन की दृष्टि से दूसरों से बढ़-चढ़कर है तो वह अन्य बातों में भी बढ़कर होना चाहिए। इन विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष के कारण विद्रोह होते हैं। अरस्तू इस स्थिति में होने वाली मनोदशा को क्रान्ति का मुख्य कारण मानता है।

(ख) **सामान्य कारण**—अरस्तू ने साधारण क्रान्तियों के निम्नलिखित सामान्य कारण बताए हैं—

(१) **शासकों की धृष्टता तथा लाभ की लालसा**—जब शासक धृष्टतावश जनता के हितों की परवाह न करते हुए अपना घर भरने लगते हैं तो शासकों के विरुद्ध तथा उस शासन-प्रणाली के विरुद्ध जनता विद्रोह कर देती है।

(२) **सम्मान की लालसा**—जब शासक किसी को अनुचित रूप से बिना योग्यता या कारण के सम्मानित या अपमानित करते हैं तो जनता रुष्ट होकर विद्रोह कर देती है।

(३) **किसी प्रकार की उत्कृष्टता का होना भी** क्रान्ति का कारण होता है। जब किसी राज्य में एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का गुट अन्य व्यक्तियों से अधिक उत्कृष्ट और शक्तिशाली हो जाता है तो वह शासन-सत्ता अपने हाथ में ले लेता है। ऐसी परिस्थितियों में राजतन्त्र तथा वंशपरम्परा से चलने वाले अनेक तन्त्र उत्पन्न होते हैं। इसलिए एथेन्स तथा आर्गोस नामक राज्यों में यह परिपाटी प्रचलित थी कि शक्तिशाली बनने वाले व्यक्ति को राज्य से निर्वासित कर दिया जाता था।

(४) **भय** दो प्रकार से व्यक्तियों को क्रान्ति के लिए बाधित करता है—अपराध से बचने के लिए और अन्याय का प्रतिकार करने के लिए। उदाहरणार्थ, रोड्स टापू के राज्य में जनता वहाँ के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों पर अभियोग चलाने की धमकियाँ दे रही थी, इनसे बचने के लिए उन्होंने जनता के खिलाफ विद्रोह किया।

(५) **घृणा भी क्रान्ति को जन्म देती है।** उदाहरणार्थ, धनिकतन्त्र में तब क्रान्ति होती है जब धनीशासक बहुसंख्या रखने वाली किन्तु अधिकारों से वंचित दरिद्र जनता को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। ऐसे समय में जनतन्त्रों में जनता विद्रोह करती है।

(६) **राज्य के किसी अंग में अनुपात से अधिक असाधारण वृद्धि के कारण भी** क्रान्ति होती है।

(७) **निर्वाचन सम्बन्धी षड्यन्त्र** भी क्रान्ति उत्पन्न करते हैं। उदाहरणार्थ, हेराइया नामक राज्य में चुनावों में बड़े षड्यन्त्र और कुचक्र चलते थे। इनके कारण इनका परिणाम पहले से ही निश्चित हो जाता था। इस दोष को दूर करने के लिए यहाँ पर्ची या गुटिका (Lot) की पद्धति को अपनाकर निर्वाचन में क्रान्ति की गई।

(८) **प्रमाद** भी क्रान्ति का कारण होता है। जनता अपने आलस्य और उपेक्षा के कारण ऐसे व्यक्तियों को सत्तारूढ़ होने देती है जो वर्तमान शासन के प्रति निष्ठावान्

नहीं होते और वे शासन को बदल देते हैं।

(९) **राष्ट्र में समानता न रखने वाले विजातीय तत्व** भी क्रान्ति उत्पन्न करते हैं। राज्य में निवास करने वाली विभिन्न जातियों में एकता की अनुभूति आवश्यक है। ऐसा अनुभव न करने वाले विजातीय तत्व विदेशी शत्रुओं के साथ आसानी से मिलकर राज्य के लिए संकट पैदा कर देते हैं।

(१०) क्रान्ति **क्षुद्र घटनाओं के गम्भीर परिणामों एवं पारिवारिक विवादों** से भी होती है। अरस्तू ने उसके अनेक मनोरंजक उदाहरण दिए हैं। सिराक्यूज़ नामक राज्य में शासनसत्तारूढ़ दो नवयुवकों के प्रणय सम्बन्धी कलह ने नगर को दो दलों में विभक्त कर दिया।

(११) राष्ट्र के किसी विभाग की ख्याति या **शक्ति में वृद्धि** भी शासन-व्यवस्था को जनतन्त्र या धनिकतन्त्र की ओर झुका सकती है। अरस्तू ने कहा है कि जो तत्व (व्यक्ति, अधिकारी या जाति) राज्य की शक्ति में वृद्धि करता है, उसकी प्रवृत्ति विद्रोह करने की ओर हो सकती है।

(१२) क्रान्तियों का एक कारण **राज्य में परस्पर विरोधी वर्गों** (दरिद्र एवं धनी आदि) का राज्य में सन्तुलित होना भी है। जहाँ एक पक्ष दूसरे पक्ष से अधिक प्रबल होता है तो निर्बल पक्ष प्रबल पक्ष के साथ लड़ाई मोल नहीं लेता है। किन्तु जब दोनों पक्षों की शक्ति बराबर होती है, दोनों को अपनी विजय होने की आशा होती है, तब वे विद्रोह करके सत्ता हस्तगत करने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ मध्यम वर्ग प्रबल होता है, वहाँ ऐसी क्रान्तियाँ नहीं होती हैं।

(ग) **विभिन्न शासन-प्रणालियों में क्रान्तियों के विशेष कारण—प्रजातन्त्र** में क्रान्ति तीन कारणों से होती है: **पहला** कारण धनियों के साथ किया जाने वाला अत्याचार है। कई जनतन्त्रों में अपने जोशीले भाषणों से लोकप्रियता पाने वाले जनान्दोलक (Demogogues) नेता साधारण जनता को धनियों के विरुद्ध भड़काते हैं, उनके साथ अन्यायपूर्ण बर्ताव करते हैं और अन्त में उन्हें क्रान्ति के लिए विवश करते हैं। **दूसरा** कारण लोकनायक जनान्दोलक नेताओं का सेनापति बनकर सारी सत्ता अपने हाथ में लेना तथा तानाशाह बन जाना है। **तीसरा** कारण जनान्दोलक नेताओं का जनता की लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए शासन की शक्ति को हथियाना है।

धनिकतन्त्रों में क्रान्ति के दो बड़े कारण जनता के साथ अन्यायपूर्ण बर्ताव तथा शासक-वर्ग के आपसी झगड़े तथा दलबन्दियाँ होती हैं।

कुलीनतन्त्रों में क्रान्ति का कारण यह है कि इनके शासन में भाग लेने वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत सीमित होती है। अधिकांश जनता इस शासन से रुष्ट होकर इसके विरुद्ध विद्रोह कर देती है।

क्रान्तियों के प्रतिकार के उपाय—क्रान्तियों के कारणों का सूक्ष्म विश्लेषण करने के बाद अरस्तू ने इनके निवारण के निम्न उपायों पर प्रकाश डाला है—

(१) **जनता में कानून के पालन की तथा उसके प्रति सम्मान बढ़ाने की भावना उत्पन्न करनी चाहिए,** क्योंकि कानूनों की अवहेलना करने की भावना अज्ञात भाव से राष्ट्र में प्रविष्ट होकर उसको नष्ट कर देती है। अतः कानूनों की अवज्ञा करने के छोटे-

छोटे कार्यों का शुरू में ही विरोध करना चाहिए।

(२) **शासकों का जनता के साथ व्यवहार बहुत अच्छा होना चाहिए,** मताधिकारवंचित और निर्धन जनता के प्रति कोई अनुचित व्यवहार, उनके सम्मान को ठेस लगाने वाला कार्य अथवा किसी प्रकार का कोई अन्याय नहीं किया जाना चाहिए।

(३) **विषमता क्रान्ति की जननी है,** अतः शासन का लक्ष्य सदैव समानता का व्यवहार होना चाहिए।

(४) **एक व्यक्ति या वर्ग में अधिक शक्ति केन्द्रित नहीं होने देनी चाहिए,** यह सभी वर्गों में बँटी रहनी चाहिए। किसी व्यक्ति को अधिक सम्मान या बढ़ावा नहीं देना चाहिए, ताकि इससे अन्य व्यक्तियों में ईर्ष्या उत्पन्न न हो। विभिन्न नियमों के निर्माण द्वारा किसी व्यक्ति को अधिक शक्तिशाली होने से रोकना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो ऐसे व्यक्ति को राज्य से निर्वासित कर देना चाहिए।

(५) **राज्य के पदों को धनोपार्जन या वैयक्तिक लाभ का साधन नहीं बनने देना चाहिए।** जब पदों से आर्थिक लाभ नहीं होगा तो जनता इसके लिए लालायित नहीं होगी।

(६) सार्वजनिक सम्पत्ति व्यक्तियों द्वारा न हड़पी जा सके, इसकी विशेष व्यवस्था की जानी चाहिए। इसका हस्तान्तरीकरण (Transfer) सब नागरिकों के सम्मेलन के समक्ष होना चाहिए।

(७) **जनतन्त्र में धनवानों के साथ उदार बर्ताव होना चाहिए।** ऐसी व्यवस्था करना आवश्यक है कि उनकी सम्पत्ति का विभाजन न हो तथा उनकी जागीरों की आय सुरक्षित रहे। इसके साथ ही धनिकतन्त्र में निर्धन लोगों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। शासन के जिन पदों से धन की प्राप्ति हो सकती है, वे उन्हें दिए जाने चाहिएँ।

(८) धनिकतन्त्र तथा सर्वजनतन्त्र (Polity) में शासक-पद पाने के लिए आर्थिक योग्यता की शर्त रहती है। किन्तु कालचक्र से धनी निर्धन तथा निर्धन धनी हो जाते हैं, अतः धनिकतन्त्र में अधिकांश लोगों की आर्थिक योग्यता बढ़ जाए तो वह स्वयमेव जनतन्त्र में बदल जाएगा। ऐसी क्रान्ति रोकने के लिए अरस्तू का यह सुझाव है कि कुछ समय बाद सामाजिक योग्यता की जाँच हो, इसके अनुसार पदाधिकार के लिए निश्चित आर्थिक योग्यता भी बदलती रहनी चाहिए ताकि राज्य के विभिन्न दलों की स्थिति यथापूर्व बनी रहे।

(९) प्रतिष्ठित तथा गण्यमान्य व्यक्तियों में विवाद उत्पन्न नहीं होने देने चाहिएँ क्योंकि ये राज्य में पारिवारिक और वंशपरम्परा से चलने वाली दलबन्दियों की भावनाएँ उत्पन्न करके क्रान्ति के बीज बोते हैं।

(१०) किसी शासन-प्रणाली की स्थिरता के लिए आवश्यक है कि शिक्षा-पद्धति उस शासन-पद्धति के अनुरूप हो।

(११) मनुष्य अपने वैयक्तिक जीवन की परिस्थितियों के कारण भी क्रान्तिकारी होते हैं। अतः एक ऐसा राजकीय अधिकारी नियत करना चाहिए जो यह देखे कि लोग अपना जीवन शासन-व्यवस्था के अनुकूल रखें।

अरस्तू का क्रान्तियों का यह विवेचन इतना सुन्दर, प्रामाणिक और विशद है कि

मैक्सी ने लिखा है कि वर्तमान राजनीतिशास्त्र क्रान्ति रूपी विष के प्रतिकार के लिए इससे अधिक विश्वसनीय उपायों का निर्देश नहीं कर सकता है।

आदर्श राज्य
(Ideal State)

पॉलिटिक्स की सातवीं पुस्तक में अरस्तू प्लेटो के ग्रन्थ लाज(Laws) से प्रेरणा ग्रहण करता हुआ अपने आदर्श राज्य (Ideal State) का एक सुन्दर चित्र उपस्थित करता है। उसकी दृष्टि में व्यवहार में आ सकने वाला सर्वोत्तम संविधान तो मध्यम वर्ग को प्रधानता देने वाली पॉलिटी (Polity) या सर्वजनतन्त्र है। परन्तु इसका विकास सभी राज्यों में सम्भव नहीं है; इसके विकास के लिए कुछ विशेष परिस्थितियों का होना आवश्यक है। ये जिस राज्य में सम्भव हों, वही अरस्तू का सर्वोत्तम आदर्श राज्य है। शासन का उद्देश्य व्यक्ति को उत्तम जीवन बिताने के लिए साधन प्रस्तुत करना है। अतः वही राज्य सर्वोत्तम होता है जिसमें व्यक्ति को ये सुविधाएँ प्राप्त हों। अरस्तू ने अपने आदर्श राज्य में निम्न विशेषताएँ मानी हैं—

(क) जनसंख्या—यह न तो बहुत अधिक और न बहुत कम होनी चाहिए। जनसंख्या के अधिक होने से कानून की व्यवस्था बनाए रखना बहुत कठिन होता है। बहुत कम जनसंख्या में यह दोष है कि यह अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने में समर्थ नहीं होगी। नागरिक कार्यों को उचित रीति से करने के लिए आवश्यक है कि सब नागरिक एक-दूसरे को वैयक्तिक रूप से जानते हों और इनकी अधिकतम संख्या उतनी ही होनी चाहिए, जितनी राज्य को आत्मनिर्भर बनाने के लिए तथा उसकी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए पर्याप्त हो।

(ख) प्रदेश—राज्य की भूमि न बहुत विशाल और न बहुत छोटी होनी चाहिए। वह इतनी अवश्य हो कि उससे जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकें, उस पर निवास करने वाली जनता संयम और उदारता से परिपूर्ण जीवन बिता सके। राज्य की भूमि शत्रुओं के लिए दुष्प्रवेश्य तथा किसी ऊँचे स्थान या चोटी से भली प्रकार देखी-भाली जा सकने वाली होनी चाहिए, क्योंकि ऐसी भूमि की रक्षा सरलता से होती है। यह ऐसे स्थान पर होनी चाहिए कि जहाँ जल और स्थल के दोनों मार्गों से आसानी से पहुँचा जा सके और वह सुविधाजनक व्यापारिक केन्द्र हो।

(ग) नागरिकों का स्वभाव—अरस्तू अपने आदर्श राज्य के नागरिकों के स्वभाव में बुद्धिमत्ता और ओज (Spirit) के दोनों गुणों का समन्वय करना चाहता है। इससे वे स्वतन्त्र रूप में रहते हुए अच्छी प्रकार से अपना राजनीतिक विकास कर सकते हैं।

(घ) राज्य के आवश्यक वर्ग—आदर्श राज्य में छः प्रकार की आवश्यकताएँ मुख्य हैं—भोजन, कला-कौशल, हथियार, सम्पत्ति, सार्वजनिक देवपूजा तथा सार्वजनिक हित का निर्धारण। इनके लिए प्रत्येक राज्य में छः प्रकार के कार्य करने वाले वर्ग होने चाहिएँ—कृषक, शिल्पी, योद्धा, सम्पत्तिशाली वर्ग, पुरोहित तथा सार्वजनिक हितों का

निर्धारण करने वाले निर्णायक। इन छः वर्गों में से अरस्तू कृषक एवं शिल्पी वर्ग को नागरिक का दर्जा नहीं देता। शेष वर्गों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था करता है कि नागरिक युवावस्था में देश की रक्षा और सेना का कार्य करें, अधेड़ अवस्था में राज्य के शासन-सम्बन्धी विषयों का चिन्तन करें और बुढ़ापे में सार्वजनिक देवपूजा और पुरोहिताई के काम करें। प्लेटो एक व्यक्ति को एक काम देना चाहता था; किन्तु अरस्तू एक ही व्यक्ति को उसकी अवस्थानुसार तीन कार्य देता है। अरस्तू यह भी चाहता है कि भू-सम्पत्ति सब नागरिकों में बाँट दी जाए। ऐसी व्यवस्था मिस्र और क्रीट में थी, यह वहाँ की सब लोगों के एकसाथ एक स्थान पर सहभोजन (Common Meals) की पद्धति से सूचित होता है। भूमि दो प्रकार की होनी चाहिए—राजकीय (Public demenses) तथा वैयक्तिक। राजकीय भूमि की आय से सार्वजनिक देवपूजा का तथा सहभोजन (Common Meals) का व्यय चलना चाहिए ताकि राज्य में एकता बढ़ सके। इस पर दासों तथा वर्बर व्यक्तियों द्वारा खेती कराई जानी चाहिए।

(ङ) **राज्य की स्थिति**—नगर-राज्य में बस्ती का स्थान निम्न बातों पर ध्यान रखते हुए चुनना चाहिए—(१) सार्वजनिक स्वास्थ्य, (२) राजनीतिक सुविधा, (३) सैनिक आवश्यकताएँ। नगर को बसाते हुए सौन्दर्य का और सैनिक आवश्यकताओं का ध्यान रखना चाहिए। राज्य का प्रदेश दो भागों में बँटा होना चाहिए—(i) विशेष बस्ती या शहर तथा (ii) इसके चारों ओर का प्रदेश। बस्ती में पूजा-गृह, पार्क, व्यायामशालाएँ, बाजार, बन्दरगाह आदि सार्वजनिक स्थान होने चाहिएँ। आदर्श राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए प्लेटो की भाँति अरस्तू शिक्षा-पद्धति पर बल देता है।

उसने आदर्श राज्य में सरकार के तीन तरह के कार्य करने वाली तीन संस्थाओं का वर्णन किया है—(१) शासन सम्बन्धी विषयों पर विचार एवं निर्णय करने के लिए असेम्बली; सब नागरिक इसके सदस्य होते थे। (२) शासन करने वाले अधिकारी। (३) न्यायालय। ऐसी व्यवस्था से लोकतन्त्र में बड़ी अस्थिरता आ जाती है, अतः वह इस दोष को दूर करने के लिए यह व्यवस्था करता है कि नागरिक कुछ सम्पत्ति रखने पर ही शासन के कार्यों में भाग ले सकें।

अरस्तू ने मध्यम मार्ग का और व्यावहारिकता का अनुसरण करते हुए प्लेटो के आदर्श राज्य के दोषों से बचने का प्रयत्न किया है। प्लेटो के मुख्य दोष ये थे—राज्य का अत्यधिक काल्पनिक होना, दार्शनिक राजाओं का शासन, कानून का अभाव, ऐतिहासिक आधार का अभाव, अपनी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार एक व्यक्ति द्वारा सैनिक, उत्पादक या संरक्षक में से एक ही कार्य करना। अरस्तू ने अपने आदर्श राज्य में इन सब दोषों को दूर कर दिया है।

आदर्श राज्य की विशेषताएँ—अरस्तू के आदर्श राज्य की निम्न विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) वह प्लेटो की भाँति राज्य की एकता (Unity) पर अत्यधिक बल नहीं देता और इसे स्थापित करने के लिए वैयक्तिक सम्पत्ति और परिवार की व्यवस्था का उन्मूलन नहीं करता है।

(२) उसका नागरिक प्लेटो के नागरिक की भाँति राज्य में पूर्णरूप से विलीन

नहीं होता, किन्तु राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ अपने ध्येय को प्राप्त करता है। अरस्तू के आदर्श राज्य के श्रेष्ठ जीवन में तथा व्यक्ति के श्रेष्ठ जीवन में कोई भेद नहीं है।

(३) अरस्तू ने अपने राज्य के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से यह नहीं बताया कि वह प्लेटो के राज्य की भाँति कोरा काल्पनिक आदर्श राज्य है या क्रियात्मक रूप में लाया जा सकने वाला आदर्श राज्य। किन्तु उसके वर्णन से यही प्रतीत होता है कि वह इसे व्यावहारिक और क्रियात्मक रूप देना चाहता है।

अरस्तू तथा प्लेटो के आदर्श राज्यों की तुलना—अरस्तू के आदर्श राज्य की उपर्युक्त विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि उसने ऐसे राज्य की कल्पना की जो प्लेटो के आदर्श राज्य के पहले बताए गए दोषों से मुक्त है। उसका राज्य कोरे दार्शनिक राजाओं का राज्य नहीं है, इसमें कानून का भी अभाव नहीं है, व्यक्ति राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पूरा पालन करता है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्लेटो और अरस्तू द्वारा प्रतिपादित आदर्श राज्यों (Ideal States) में बड़ा अन्तर है। **प्लेटो व्यावहारिकता की चिन्ता न करते हुए एक सर्वथा काल्पनिक आदर्श राज्य का विवेचन करता है जबकि अरस्तू कोरे आदर्श राज्य के स्थान पर एक व्यावहारिक राज्य का प्रतिपादन करता है।** प्लेटो की दृष्टि से अरस्तू का राज्य उत्कृष्ट कोटि का नहीं हो सकता है। इसीलिए सुप्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री सैबाइन ने यह सत्य ही लिखा है कि **अरस्तू का सर्वोत्तम राज्य प्लेटो का द्वितीय श्रेणी का राज्य है।**

शिक्षा-पद्धति

आदर्श राज्य के निर्माण और स्थायित्व के लिए उपयुक्त शिक्षा-पद्धति परम आवश्यक है। शिक्षा-पद्धति के बारे में प्लेटो का यह सिद्धान्त था कि राज्य के सैनिकों को एक प्रकार की तथा संरक्षकों को दूसरे प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए। किन्तु अरस्तू इससे सहमत नहीं है, वह सब नागरिकों के लिए एक जैसी शिक्षा की व्यवस्था करता है। इसका उद्देश्य इन्हें उत्तम नागरिक बनाना है, इसी प्रकार वे उत्तम नागरिक बन सकेंगे। नागरिकों को आज्ञा पालन करने की तथा शासन करने की शिक्षा दी जानी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास होना चाहिए।

शिक्षा मानवीय विकास के स्वाभाविक क्रम को देखते हुए इसके अनुसार होनी चाहिए। इसमें सर्वप्रथम शरीर-सम्बन्धी शिक्षा होनी चाहिए, इसके बाद शरीर के साथ उत्पन्न होने वाले क्रोध, इच्छा, कामना आदि तत्वों का प्रशिक्षण होना चाहिए और इसके बाद विकसित होने वाली विवेक-बुद्धि का प्रशिक्षण सबसे अन्त में होना चाहिए।

अरस्तू बच्चे का जन्म होने के बाद से उसकी शारीरिक और नैतिक शिक्षा की विस्तृत व्यवस्था करता है। शैशव की **पहली** अवस्था में वह इसके समुचित भोजन तथा अंग संचालन की व्यवस्था करता है। इसे ठण्ड का अभ्यासी बनाने पर बल देता है ताकि वह कष्टों को सहन करने वाला बन सके। **दूसरी** अवस्था पाँच वर्ष तक

की है। इसमें बच्चों के शारीरिक गठन की ओर बहुत ध्यान देना चाहिए, उन पर पढ़ाई का बोझ नहीं डालना चाहिए, उनके अंगों के संचालन एवं विकास के लिए मनोरंजक खेलों का प्रबन्ध होना चाहिए। उन्हें ऐसी कहानियाँ सुनानी चाहिएँ और ऐसे खेल कराने चाहिएँ, जो उन्हें भावी जीवन के लिए तैयार करने में सहायक हों। बच्चों को कुसंगति से बचाना चाहिए, क्योंकि बचपन में पड़े हुए संस्कार गहरे होते हैं। शिक्षा की तीसरी अवस्था ५ से ७ वर्ष तक की है। इस आयु के बच्चों को अश्लील तथा बुरी वस्तुओं के प्रभाव से बचाना चाहिए। ७ वर्ष तक के बच्चे की शिक्षा घर में माँ-बाप के पास होनी चाहिए।

७ वर्ष के बाद शिक्षा दो खण्डों में विभक्त की गई है—**पहला** खण्ड ७ से १४ वर्ष तक का काल तथा **दूसरा** १४ से २१ वर्ष तक का काल है। शिक्षा का उद्देश्य प्रकृति की कमियों को दूर करना तथा मनुष्य को पूर्ण बनाना है। शिक्षा राज्य के नियन्त्रण में सब नागरिकों के लिए एक जैसी होनी चाहिए। इसमें ऐसे विषयों का समावेश हो जो उपयोगी तथा नैतिक भावना उत्पन्न करने वाले हों। पढ़ाई, लिखाई और चित्रकला उपयोगी विषय होने के कारण पढ़ाए जाने चाहिएँ। व्यायाम का प्रशिक्षण साहस पैदा करने के लिए आवश्यक है। १६-१७ वर्ष तक हल्का व्यायाम करवाया जाना चाहिए, क्योंकि इस अवस्था में कठोर तथा उग्र व्यायाम शारीरिक विकास को अवरुद्ध कर देता है।

संगीत की शिक्षा कई दृष्टियों से महत्व रखती है। इसमें मनुष्यों के हृदयों को प्रसन्न करने की क्षमता है। अतः बच्चों को इसकी शिक्षा दी जानी चाहिए। संगीत मनुष्य के नैतिक जीवन के विकास में भी बहुत सहायक है। संगीत हमारे चरित्र और आत्मा पर भी प्रभाव डालता है। ओलिम्पस जैसे कुछ राग आत्मा को उत्साह से भर देते हैं, उत्साह आत्मा के चारित्रिक अंश से सम्बन्ध रखने वाला मनोवेग है। उत्तम संगीत हमारे मन में उचित प्रकार के कामों के प्रति आनन्द की भावना उत्पन्न करने के कारण भलाई को प्रादुर्भूत करता है। संगीत की राग-रागिनियों और लयों का मनुष्य की आत्मा के साथ सहज सम्बन्ध है। अरस्तू इसे आत्मा का गुण मानता है। अतः उसका यह मत है कि जब तक संगीत की शिक्षा नहीं होगी तब तक मनुष्य की आत्मा का पूर्ण विकास नहीं हो सकेगा।

अरस्तू की शिक्षा-पद्धति के गुण—(१) इसका सबसे बड़ा गुण मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित होना है। यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर आधारित है।

(२) दूसरा गुण नागरिक को राज्य के उपयोगी अंग के रूप में ढालना है, ताकि वह राज्य के विकास में पूरा सहयोग दे सके।

(३) तीसरा गुण यह है कि यह शिक्षा मध्यम मार्ग का अनुसरण करती है। अरस्तू शरीर और मन की सभी शक्तियों का सन्तुलित विकास करना चाहता है। वह स्पार्टा की भाँति केवल शारीरिक शिक्षा को अपना लक्ष्य नहीं बनाता।

शिक्षा-पद्धति के दोष—अरस्तू की शिक्षा-पद्धति के कुछ दोष भी हैं—(क) वह बौद्धिक शिक्षा को बहुत देर में १४ वर्ष बाद शुरू करता है। वर्तमान शिक्षाशास्त्री इतनी दूर से आरम्भ करना ठीक नहीं समझते। (ख) अरस्तू की शिक्षा में संगीत को

आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है, किन्तु साहित्य के अध्ययन की उपेक्षा की गई है।

प्लेटो और अरस्तू की शिक्षा-पद्धतियों में एक बड़ा अन्तर यह है कि अरस्तू २१ वर्ष तक शिक्षा को समाप्त कर देता है, प्लेटो इसे संरक्षकों के लिए ३५ वर्ष तक चाहता है और शिक्षा को जीवन के अन्तिम समय तक चलने वाली प्रक्रिया समझता है। वह 'अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्' के सिद्धान्त का समर्थक है।

अरस्तू का मध्यम मार्ग का सिद्धान्त
(Theory of Mean)

प्लेटो का राजनीतिक चिन्तन आदर्शवाद की पृष्ठभूमि पर था। उसके द्वारा प्रतिपादित राजनीति सम्बन्धी विचार व्यावहारिक दृष्टि से निरुपयोगी थे। परन्तु अरस्तू यथार्थवादी है। वह प्लेटो के समान अतिवादी नहीं था, अपितु मध्यम मार्ग (Golden Mean) का अनुसरण करने वाला था।

बुद्ध की मज्झिम प्रतिपदा की तरह अरस्तू मध्यम मार्ग का परम भक्त था। उसके शब्दों में, "मध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाला जीवन ही अनिवार्य रूप से श्रेष्ठ जीवन है और यह मध्यम मार्ग भी ऐसा है जिसको प्राप्त कर लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव है।" उसने विभिन्न क्षेत्रों में मध्यम मार्ग को अपनाने पर बल दिया, यह बात विभिन्न क्षेत्रों में उसके विचारों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाएगी।

दास-प्रथा के सम्बन्ध में अरस्तू ने अपने यथार्थवाद के कारण मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया है। उस समय यूनान में एक ओर ऐसे विचारक थे, जो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की दृष्टि से दासों को रखना, इन्हें युद्धों में पकड़कर बन्दी बनाना सर्वथा न्यायोचित समझते थे। दूसरी ओर सोफिस्टों का यह मत था कि स्वतन्त्रता प्रत्येक प्राणी का जन्मसिद्ध अधिकार है, दासों की व्यवस्था समाज में नहीं होनी चाहिए। किन्तु उस समय यदि दास-प्रथा का उन्मूलन कर दिया जाता तो समूची यूनानी अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती। अतः अरस्तू इस प्रथा के समूलोन्मूलन के पक्ष में नहीं था। फिर भी अपने मध्यम मार्ग के सिद्धान्त को अपनाते हुए उसने युद्धों द्वारा दास बनाने की प्रथा का विरोध किया, इसी तरह कानूनी (Legal) अथवा वंशपरम्परागत दास-प्रथा का विरोध किया।

अरस्तू उस शासन-प्रणाली को श्रेष्ठ मानता है जिसमें मध्यम वर्ग की प्रधानता हो।[1] नगर-राज्य में तीन वर्ग पाए जाते हैं—(१) अत्यन्त सम्पन्न, (२) अत्यन्त निर्धन, (३) इन दोनों के बीच का मध्यवित्त वर्ग। इनमें मध्यम स्थिति सर्वोत्तम है। अपने इस कथन के समर्थन में वह निम्नलिखित युक्तियाँ देता है—(i) अत्यन्त धनी, रूपवान् और बलवान् व्यक्तियों का झुकाव बलात्कारों तथा महान् अपराधों की ओर होता है।

1. "The best form of political society is one where power is vested in the middle class." —Politics.

दूसरी ओर अत्यन्त निर्धन और निर्बल व्यक्तियों की प्रवृत्ति धूर्त्तता और तुच्छ अपराधों की ओर होती है। ये दोनों प्रकार के व्यक्ति विवेक का अनुसरण नहीं करते। अतः इनकी प्रधानता वाले शासन दोषपूर्ण होते हैं। राज्य का लक्ष्य तो यथासम्भव एक बराबर और एक-से मनुष्यों का समाज होता है और मध्यवित्त लोगों में ऐसा होना सबसे अधिक सम्भव है।

(ii) मध्यम वर्ग वाला नगर अधिक सुरक्षित होता है, क्योंकि यह सब प्रकार की दलबन्दियों से मुक्त होता है। यह धनी या निर्धन वर्ग को अतिवादी (Extremist) होने से रोकता है।[1]

(iii) मध्यम वर्ग की महत्ता का एक प्रमाण यह है कि प्राचीन यूनान में सोलन, लाइकरगस आदि श्रेष्ठ नियम-निर्माता मध्यम वर्ग में ही उत्पन्न हुए थे।[2]

(iv) धनी और निर्धन मध्यम वर्ग पर समान रूप से विश्वास करते हैं, किन्तु वे एक-दूसरे पर विश्वास नहीं करते हैं।

इन सब कारणों से मध्यम वर्ग की प्रधानता रखने वाली शासन-प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है। मैक्सी ने यह ठीक ही कहा है कि यद्यपि मध्यम वर्ग के लोगों में बुद्धि की प्रखरता नहीं होती, वे राज्य की स्थापना के लिए आदर्श नहीं हो सकते, फिर भी इतिहास में होने वाले परिवर्तनों को देखते हुए सुदृढ़ता की दृष्टि से अरस्तू की शासन-व्यवस्था उचित प्रतीत होती है। अरस्तू के मतानुसार मध्यम मार्ग की दृष्टि से सर्वोत्तम शासन-व्यवस्था सर्वजनतन्त्र (Polity) है।

अरस्तू ने आदर्श राज्य की व्यवस्था के सम्बन्ध में भी मध्यम मार्ग के सिद्धान्त को अपनाया है। उसने मध्यम मार्ग और व्यावहारिकता का अनुसरण करते हुए प्लेटो के आदर्श राज्य के विभिन्न दोषों से बचने का प्रयत्न किया है।

अरस्तू की शिक्षा-पद्धति भी मध्यम मार्ग का अनुसरण करती है। वह शरीर और मन की सभी शक्तियों का सन्तुलित विकास करना चाहता है, स्पार्टा की भाँति शारीरिक शिक्षा पर बल नहीं देता है।

अरस्तू तथा प्लेटो की तुलना

मौलिक भेद—अरस्तू तथा प्लेटो की पद्धति में, विचारों में और दृष्टिकोण में आकाश-पाताल का अन्तर है। इन दोनों की पद्धति में निम्नलिखित आधारभूत भेद

---

1. "It is clear that the middle type of constitution is the best. It is one type free from faction. Where the middle class is large, there is least likelihood of faction and dissension among the citizens."
—Politics.

2. "It must also be considered a proof of its value, that the best legislators have come from the middle class. Solon was one, Lycurgus was another and same is true of Charondas and most of other legislators."
—Politics.

दृष्टिगोचर होते हैं—

(१) प्लेटो कल्पनावादी (Imaginative), हवाई योजनाएँ बनाने वाला (Utopian) और कल्पना-गगन में उन्मुक्त उड़ान भरने वाला है। इसके विपरीत अरस्तू यथार्थवादी, क्रियात्मक, व्यावहारिक और भूतल की वास्तविकताओं से बँधा हुआ है। प्लेटो जहाँ कल्पना को वास्तविकता से अधिक महत्व देता है, वहाँ अरस्तू काल्पनिक विचारों का खण्डन करते हुए ठोस प्राकृतिक और वास्तविक तथ्यों के आधार पर अपने राजनीतिशास्त्र का निर्माण करना चाहता है।

(२) प्लेटो की विचार-पद्धति निगमनात्मक (Deductive) है, वह सामान्य से विशेष नियमों की कल्पना करता है। अरस्तू उद्गमनात्मक (Inductive) पद्धति का प्रवर्त्तक है, वह विशेष घटनाओं और परिस्थितियों के निरीक्षण के आधार पर सामान्य नियम बनाता है। उदाहरणार्थ, प्लेटो पहले न्याय आदि गुणों के कुछ विशेष दार्शनिक रूप तय कर लेता है और फिर इन्हें अपने आदर्श राज्य में लागू करता है, इनके विषय में सामान्य व्यवस्थाएँ करता है। वह सचाई, भलाई, सौन्दर्य आदि अमूर्त विचारों का विश्लेषण करते हुए सूक्ष्म से स्थूल की ओर तथा सामान्य से विशेष की ओर बढ़ता है। अरस्तू दृश्यमान जगत् के वास्तविक पदार्थों को अपने विचार का आधार बनाते हुए स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। वह तत्कालीन यूनानी नगर-राज्यों के शासन-विधानों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर राज्यविषयक सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करता है। अतः वे प्लेटो के विचारों की अपेक्षा अधिक सुस्पष्ट, सुनिश्चित, व्यावहारिक और क्रमबद्ध हैं।

(३) दोनों में उपर्युक्त मौलिक अन्तर होने के कारण स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि **प्लेटो एक ऐसे अतिमानव (Superman) की खोज में है, जो आदर्श राज्य की सृष्टि करे; किन्तु अरस्तू ऐसे अतिविज्ञान (Superscience) का अन्वेषण करना चाहता है, जो राज्य को अच्छे-से-अच्छा बना सके।** प्लेटो अपने दार्शनिक राजाओं द्वारा आदर्श राज्य का निर्माण करना चाहता है, किन्तु अरस्तू एक ऐसा शास्त्र बना देना चाहता है, जिसमें निर्धारित नियमों का अनुसरण करते हुए आदर्श राज्य की सृष्टि हो सके।

(४) प्लेटो कल्पनावादी होने के कारण क्रान्तिकारी (Radical) विचारक है और अरस्तू व्यवहार को प्रधानता देने के कारण रूढ़िवादी (Conservative) दार्शनिक है।

(५) अरस्तू और प्लेटो का एक अन्य मौलिक अन्तर यह है कि अरस्तू ने राजनीतिक विचारों को नैतिक विचारों से पृथक् किया है। प्लेटो की रचनाओं में दोनों प्रकार के विचार पूर्ण रूप से मिश्रित हैं। वह राजनीति को नीतिशास्त्र का अंग मानता है।

(६) कल्पनाशील होने के कारण प्लेटो की शैली काव्यात्मक, सरस तथा समन्वयात्मक है। इसके विपरीत अरस्तू की शैली निरीक्षण पर आधारित होने के कारण विश्लेषणात्मक, शुष्क और नीरस है।

(७) प्लेटो वेदान्तियों की भाँति एकत्ववादी है। वह राज्य की एकता को सुदृढ़

बनाने की दृष्टि से राज्य के शासकों तथा संरक्षकों (Guardians) के लिए वैयक्तिक परिवार और सम्पत्ति की व्यवस्था का अन्त करना चाहता है। किन्तु अरस्तू नानात्व या वैविध्य का भक्त है, वह परिवार और सम्पत्ति द्वारा विभिन्नता बनाए रखने के पक्ष में है।

(८) प्लेटो दार्शनिकों के शासन को सर्वोत्तम समझता है। किन्तु अरस्तू यह मानता है कि कोई एक शासन-प्रणाली सर्वत्र और सदैव सर्वोत्तम नहीं हो सकती है। यह मनुष्यों की आवश्यकताओं और परिस्थितियों पर निर्भर होती है।

(९) प्लेटो का यह विश्वास है कि राजनीतिक सत्ता कुछ थोड़े से बुद्धिमान् और धनी व्यक्तियों के हाथ में होनी चाहिए। किन्तु अरस्तू यह मानता है कि सर्वोत्तम राज्य वही हो सकता है, जिसमें सभी नागरिक राजनीतिक जीवन में अधिकतम भाग लें।

(१०) प्लेटो दार्शनिकों के शासन को सर्वोत्तम समझने के बाद दूसरे दर्जे की सर्वोत्तम (Second best) व्यवस्था कानून का शासन (Rule of Law) मानता है, किन्तु अरस्तू पहले को अव्यावहारिक समझते हुए दूसरे दर्जे के सर्वोत्तम शासन (Second best) को सर्वश्रेष्ठ (best) मानता है।

प्लेटो और अरस्तू के मौलिक भेदों को निम्नलिखित तालिका से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—

प्लेटो	अरस्तू
(१) कल्पनावादी, हवाई योजनाएँ बनाने वाला और कल्पना जगत् में उन्मुक्त उड़ान लेने वाला है।	(१) यथार्थवादी, क्रियात्मक, व्यावहारिक और भूतल की वास्तविकताओं से बँधा हुआ है।
(२) निगमनात्मक विचार-पद्धति का जन्मदाता है।	(२) उद्गमनात्मक विचार-पद्धति का जन्मदाता है।
(३) आदर्श राज्य की सृष्टि के लिए अतिमानव (दार्शनिक राजा) की खोज करने वाला है।	(३) आदर्श राज्य की सृष्टि के लिए अति-विज्ञान (निर्धारित नियमों का शास्त्र) का अन्वेषण करने वाला है।
(४) क्रान्तिकारी विचारक है।	(४) रूढ़िवादी विचारक है।
(५) यह राजनीति को नीतिशास्त्र का अंग मानता है। इसकी रचनाओं में दोनों प्रकार के विचार पूर्ण रूप से मिश्रित हैं।	(५) यह नीतिशास्त्र को राजनीतिशास्त्र का अंग मानता है। इसने राज-नीतिक विचारों को नीतिशास्त्र से पृथक् किया है।
(६) काव्यात्मक, सरस और समन्वया-त्मक शैली।	(६) शुष्क, नीरस और विश्लेषणात्मक शैली।
(७) यह एकत्ववादी है।	(७) यह नानात्व या वैविध्य का भक्त है।
(८) दार्शनिक राजाओं का शासन सर्वोत्तम समझता है।	(८) समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली प्रणाली को सर्वोत्तम समझता है।

(९) यह राजनीतिक सत्ता को कुछ थोड़े बुद्धिमान् और धनी व्यक्तियों के हाथ में देना चाहता है।

(९) यह राजनीतिक सत्ता को सभी नागरिकों के हाथ में देना चाहता है।

(१०) यह दार्शनिक के शासन को कानून की अपेक्षा श्रेष्ठ मानता है।

(१०) यह कानून के शासन को सर्वश्रेष्ठ शासन मानता है।

मौलिक सादृश्य—उपर्युक्त विरोधों के होते हुए भी इन दोनों की मौलिक समानताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) दोनों को नैतिक जीवन के प्रति गहरी आस्था है।

(२) दोनों को न्याय की व्यवस्था तथा बुद्धिमत्ता के प्रति अगाध अनुराग है।

(३) दोनों शिक्षा द्वारा मनुष्य को सुधारने में अमिट विश्वास रखते हैं।

(४) दोनों उत्तम जीवन की प्राप्ति को अपना ध्येय समझते हैं।

(५) राज्य को मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक मानते हैं।

(६) समाज का निर्माण न्याय, तर्क एवं बुद्धि के आधार पर करना चाहते हैं।

राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में अरस्तू की देन

हम जब अरस्तू के राजनीतिक विचारों का गम्भीर अनुशीलन करते हैं तो इसमें कुछ ऐसे विचार मिलते हैं, जो आज भी उतने ही सत्य हैं जितने आज से २२०० वर्ष पहले थे और आगे भी चिरन्तन सत्य बने रहेंगे। राजनीतिक विचारों के विकास पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा है। उसकी राजनीति के **शाश्वत तत्व तथा महत्वपूर्ण देनें** निम्नलिखित हैं—

(१) **अरस्तू का पहला उल्लेखनीय विचार स्वतन्त्रता और सत्ता का समन्वय** (Reconciliation of liberty with authority) है। स्वतन्त्रता तथा समानता को अत्यधिक महत्व देने वाले अराजकतावादियों जैसे कुछ विचारक राज्य को व्यक्ति के विकास तथा स्वतन्त्रता के लिए घातक समझते हैं, वे उच्छृङ्खलता को ही स्वाधीनता मानते हैं। किन्तु अरस्तू इसका घोर विरोधी था। उसने उग्र लोकतन्त्र की प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए लिखा था—"लोकतन्त्र को बहुसंख्या का शासन समझा जाता है और समानता तथा स्वतन्त्रता का यह अर्थ लगाया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता है। अतः लोकतन्त्र में प्रत्येक अपनी इच्छाओं का अनुसरण करता है। किन्तु यह बुरी बात है, क्योंकि संविधान की अधीनता में रहने वाले जीवन को दासता नहीं समझा जा सकता है।" व्यक्ति राज्य में ही उच्चतम भलाई का जीवन बिताना सम्भव समझता है। अतः राज्य के नियमों में रहना व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक नहीं, किन्तु अत्यन्त उपयोगी है।

(२) **दूसरा शाश्वत तत्व कानून की सर्वोच्च सत्ता** का है। आजकल भी कानून के शासन को असाधारण महत्व दिया जाता है। पहले इसका प्रतिपादन किया जा चुका है।

(३) **तीसरा तत्व लोकमत की महत्ता** है। वह जनता की सामान्य बुद्धि

(Common Sense) को विशेषज्ञों की सम्मति से अधिक महत्व देता था।

(४) **चौथा तत्व प्रभुसत्ता** का है। आजकल यह राज्य की मौलिक विशेषता समझी जाती है।

(५) **पाँचवाँ तत्व राज्य के विचारात्मक, विधान निर्माण करने वाले तथा न्याय का कार्य करने वाले तीन अंगों** का सुस्पष्ट वर्णन है। इससे वर्तमान राजनीति-शास्त्र में राज्य की तीन शक्तियों को पृथक् और स्वतन्त्र रखने के सिद्धान्त को बड़ा बल मिला है।

(६) **छठा तत्व राजनीति में आर्थिक और भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव** को महत्व देना है। उसने धनी-निर्धन के वर्ग-संघर्ष का सुन्दर चित्रण किया है। राज्य के लिए अत्यधिक सम्पन्नता और दरिद्रता को अभिशाप माना है।

(७) **सातवाँ तत्व उसका मध्यम मार्ग का विचार** है। इसी से वर्तमान समय में अनेक प्रकार के राजनीतिक नियन्त्रणों और सन्तुलनों का विचार उत्पन्न हुआ है।

(८) **आठवाँ तत्व राज्य के सम्बन्ध में यह उदात्त विचार है कि वह बुद्धि द्वारा शासित होता है,** उसका लक्ष्य उत्तम जीवन है। राज्य का उद्देश्य अपने प्रदेशों का विस्तार करना नहीं, अपितु नागरिकों में सद्‌गुणों की वृद्धि, न्याय का वितरण और ज्ञान का प्रसार करना है।

(९) **नवाँ तत्व उदार लोकतन्त्र का समर्थन है**। अरस्तू सब प्रकार की शासन-प्रणालियों में कानून की सर्वोच्च सत्ता का समर्थक होने के कारण वैध (Constitutional) शासन-पद्धति का पक्षपाती है।

बार्कर ने लिखा है कि यदि यह प्रश्न किया जाए कि **अरस्तू के राजनीतिशास्त्र की योरोप की विचारधारा को सबसे बड़ी देन क्या है तो इसका उत्तर एक शब्द में संक्षिप्त करके दिया जा सकता है और वह शब्द है 'वैधानिकता'** (Constitutionalism)। मध्यकालीन एवं आधुनिक योरोप में राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन के स्थान पर वैध शासन का समर्थन करने वाला राजनीतिक विचारों का एक प्रबल प्रेरणास्रोत अरस्तू की सुप्रसिद्ध पुस्तक **राजनीति** (Politics) रही है।

अरस्तू का प्रभाव—अरस्तू का तत्कालीन यूनानी और परवर्ती रोमन विचार-धारा पर कोई बड़ा प्रभाव नहीं पड़ा। १३वीं शताब्दी में डेढ़ हजार वर्ष की उपेक्षा के बाद योरोपियन विद्वान् पुनः अरस्तू की ओर आकृष्ट हुए। सन्त थामस एक्विनास (Saint Thomas Acquinas) ने अपनी शिक्षाओं में अरस्तू की राजनीति और सन्त आगस्टाइन की **देवनगरी** (City of God) के विचार का समन्वय किया। इससे मध्यकालीन योरोप की धारा में पहली बार अरस्तू के इन मौलिक सिद्धान्तों का समावेश हुआ कि कानून ही सर्वोच्च शासक है, सरकार को कानून का वशवर्ती होना चाहिए, जनता शासकों का चुनाव कर सकती है और उनके शासन की जाँच कर सकती है। सन्त थामस एक्विनास से प्रेरणा ग्रहण करके रिचर्ड हूकर ने अरस्तू के विचारों का समर्थन किया और हूकर से जॉन लॉक ने उन विचारों को ग्रहण किया, इससे बर्क ने प्रेरणा ग्रहण की और इंगलैण्ड तथा योरोप के अन्य राजनीतिक विचारकों को प्रभावित किया।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अरस्तू योरोप में वैधानिक शासन (Constitutional Government) की विचारधारा का **प्रथम** प्रवर्त्तक है। उसने मारसिलियो के Defensor Pacis, दांते के De Monarchia तथा मेकियावेली के Prince पर बहुत प्रभाव डाला। फ्रेंच विचारक माँतेस्क्यू अपने शक्ति-पार्थक्य (Separation of Powers) के सिद्धान्त के लिए अरस्तू का ऋणी है। कार्ल मार्क्स के इतिहास की आर्थिक व्याख्या के तथा आर्थिक घटनाओं के राजनीति पर पड़ने वाले प्रभाव के सिद्धान्त पर अरस्तू के विचारों की स्पष्ट छाप है।

अरस्तू का मूल्यांकन—अरस्तू के उपर्युक्त प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि पश्चिम में वास्तविक रूप में राजनीतिक चिन्तन का श्रीगणेश करने वाला तथा इसे विज्ञान का रूप देने वाला अरस्तू था। उससे पहले प्लेटो ने यद्यपि इस प्रकार का चिन्तन किया था, किन्तु वह आदर्श-प्रधान था। अरस्तू का लक्ष्य और दृष्टिकोण व्यावहारिक एवं यथार्थवादी था, उसने वास्तविक रूप में स्थापित किए जा सकने वाले आदर्श राज्य का प्रतिपादन किया। उसे इस बात का भी श्रेय है कि उसने राजनीतिशास्त्र को स्वतन्त्र विज्ञान का रूप प्रदान किया और इसमें निरीक्षण और तथ्यों का संकलन तथा वर्गीकरण करके इनके आधार पर राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्तों और नियमों को निश्चित करने का प्रयत्न किया। अतः मैक्सी ने अरस्तू को **राजनीतिशास्त्र का विशद विवेचन करने वाला पहला वैज्ञानिक** (First Political Scientist) कहा है।

सारांश

प्लेटो द्वारा आरम्भ किए गए राजनीतिक चिन्तन को वैज्ञानिक रूप देने का कार्य उसके प्रमुख शिष्य अरस्तू ने किया। यह उत्तरी यूनान का रहने वाला और सुप्रसिद्ध विजेता सिकन्दर का गुरु था। इसने अपने समय में विभिन्न प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों का अध्ययन किया और इसके बनाए ग्रन्थों की संख्या ४०० है। राजनीतिक चिन्तन का उसका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ पॉलिटिक्स है। इसके प्रमुख विचार निम्नलिखित हैं—

१. राज्य की उत्पत्ति तथा विकास—अरस्तू का मत है कि मनुष्य अकेला रहते हुए अपनी सब आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता है। वह सामाजिक प्राणी है। राज्य का विकास तीन दशाओं में गुजरकर होता है: पहली दशा परिवार की है, दूसरी दशा में कई परिवार मिलकर गाँव का रूप धारण करते हैं और तीसरी दशा में कई गाँवों से मिलकर नगर-राज्य की उत्पत्ति होती है। यह मनुष्यों का अन्तिम पूर्ण और सर्वश्रेष्ठ समुदाय है और उत्तम जीवन बिताने में सहायक होता है। राज्य में मनुष्य को उसे पशुओं से अलग करने वाले बौद्धिक और नैतिक गुणों के विकास का अवसर मिलता है। राज्य सजीव शरीर के तुल्य है। राज्य का उद्देश्य मनुष्य की अधिकतम भलाई करना, उसे भला और सद्गुणी बनाना है।

२. दास-प्रथा सम्बन्धी विचार—अरस्तू दास-प्रथा को सर्वथा स्वाभाविक और प्राकृतिक मानता है। उसका कहना है कि विषमता प्रकृति का नियम है। कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए और कुछ शासित होने के लिए पैदा होते हैं। आज्ञा देने वाले

स्वामी और आज्ञापालन करने वाले दास होते हैं और यह व्यवस्था दासों के जीवन के विकास के लिए भी आवश्यक है।

अरस्तू ने दास-प्रथा को उचित मानते हुए भी कुछ व्यवस्थाओं द्वारा इसकेदोषों का आंशिक प्रतिकार किया है। उसके मतानुसार दासों को मुक्त किया जाना चाहिए और स्वामी को दास के साथ मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए। दास के बेटे के लिए दास होना जरूरी नहीं है और लड़ाई में जीतने मात्र से किसी को दास नहीं बनाया जा सकता है और यूनानियों को कभी दास नहीं बनाया जाना चाहिए।

अरस्तू की दास-प्रथा निम्नलिखित कारणों से उचित नहीं प्रतीत होती है—(क) यह समानता और स्वतन्त्रता की धारणाओं के प्रतिकूल है। (ख) दास वस्तुतः बुद्धिशून्य नहीं होते हैं। (ग) दासों को स्वतन्त्र नागरिकों से पृथक् करने वाली कोई कसौटी नहीं है। अरस्तू के सिद्धान्त में जातीय अभिमान की भावना है, यह उसकी सामयिक समस्याओं का हल मात्र है। अतः अरस्तू द्वारा दास-प्रथा का समर्थन उचित नहीं प्रतीत होता है।

अरस्तू के सम्पत्ति और परिवारविषयक विचार प्लेटो से भिन्न हैं और उसने अपने गुरु के सम्पत्ति और परिवारविषयक साम्यवाद की आलोचना की है।

३. नागरिकताविषयक विचार—अरस्तू के मतानुसार वह व्यक्ति नागरिक है जो स्थायी रूप से न्याय के प्रशासन में तथा राजकीय पदों के ग्रहण करने में भाग लेता है। नागरिक को शासक और शासित दोनों अवस्थाओं का अनुभव प्राप्त होना चाहिए। उसने अपने नागरिकता के उपर्युक्त लक्षण से दासों, मजदूरों, स्त्रियों, बच्चों, निर्धन व्यक्तियों को नागरिकता के अधिकारों से वंचित कर दिया है। अतः उसका नागरिकता का विचार बड़ा सीमित और संकीर्ण है, लोकतन्त्र का विरोधी और वर्तमान राज्यों के लिए अनुपयोगी है और सारी शासन-सत्ता मुट्ठी-भर धनियों को प्रदान करता है।

कानून

अरस्तू ने कानून को भगवान् और बुद्धि की पवित्र वाणी मानते हुए इसे समाज में सर्वोच्च स्थान दिया है, क्योंकि यह सब प्रकार की दोषपूर्ण मानवीय वासनाओं से मुक्त होता है। उसके शब्दों में ठीक प्रकार से बनाए गए कानून ही अन्तिम प्रभु होने चाहिए।

संविधानों का वर्गीकरण

अरस्तू ने विभिन्न संविधानों का वर्गीकरण दो सिद्धान्तों के आधार पर किया है—(क) अन्तिम शासन-सत्ता कितने व्यक्तियों में निहित है । (ख) शासन का उद्देश्य जनता के सामान्य हितों की रक्षा करना है या विशेष वर्गों के हितों की। इस दृष्टि से संविधान विशुद्ध और विकृत नामक दो प्रकारों के होते हैं। जब एक व्यक्ति में सत्ता निहित होती है तो विशुद्ध रूप राजतन्त्र का और विकृत रूप तानाशाही का रूप धारण करता है। कुछ व्यक्तियों के हाथों में सत्ता निहित होने पर इसका विशुद्ध रूप अभिजाततन्त्र है और विकृत रूप धनिकतन्त्र। (ग) बहुत से व्यक्तियों में अन्तिम सत्ता निहित होने पर इसका विशुद्ध रूप सर्वजनतन्त्र और विकृत रूप प्रजातन्त्र होता है।

क्रान्ति सम्बन्धी विचार

अरस्तू शासन-व्यवस्था में परिवर्तन को क्रान्ति का नाम देता है और क्रान्ति के कारणों को तीन भागों में बाँटता है—मूल कारण, सामान्य कारण और विशिष्ट शासन-प्रणालियों में क्रान्ति के विशेष कारण। इन कारणों की विस्तृत विवेचना के बाद वह क्रान्तियों के प्रतिकार के उपाय भी बताता है। इनमें प्रमुख उपाय निम्नलिखित हैं—(क) जनता में कानून के पालन की तथा उसके प्रति सम्मान बढ़ाने की भावना उत्पन्न करनी चाहिए। (ख) शासकों का जनता के साथ व्यवहार बहुत अच्छा होना चाहिए। (ग) विषमता क्रान्ति की जननी है। अतः प्रजा से सदैव समानता का व्यवहार रखना चाहिए। (घ) एक व्यक्ति या वर्ग में अधिक शक्ति केन्द्रित नहीं होने देनी चाहिए। (ङ.) राज्य के पदों को वैयक्तिक लाभ का साधन नहीं बनने देना चाहिए। (च) जनतन्त्र में धनवानों के साथ उदार बर्ताव होना चाहिए।

आदर्श राज्य

अरस्तू उसी राज्य को आदर्श समझता है जहाँ व्यक्ति को उत्तम जीवन बिताने की सब सुविधाएँ प्राप्त हों। इसकी जनसंख्या न तो बहुत अधिक हो और न बहुत कम हो। इसका प्रदेश ऐसा होना चाहिए कि उससे जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। ये ऐसी जगह पर होना चाहिए जिसे एक पहाड़ी के शिखर से भली-भाँति देखा जा सके। राज्य की एकता को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इस प्रकार अरस्तू का राज्य प्लेटो के राज्य से सर्वथा भिन्न है; क्योंकि प्लेटो व्यावहारिकता की चिन्ता न करते हुए एक काल्पनिक आदर्श राज्य का विवेचन करता है जबकि अरस्तू कोरे आदर्श राज्य के स्थान पर एक व्यावहारिक राज्य का प्रतिपादन करता है। प्लेटो की दृष्टि से अरस्तू का राज्य उत्कृष्ट कोटि का नहीं हो सकता है; इसीलिए यह कहा जाता है कि अरस्तू का सर्वोत्तम राज्य प्लेटो का द्वितीय श्रेणी का राज्य है।

मध्यम मार्ग का सिद्धान्त

अरस्तू ने मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए उस शासन-प्रणाली को श्रेष्ठ माना है जिसमें मध्यम वर्ग की प्रधानता हो। उसमें न तो बहुत धनी और न ही निर्धन व्यक्ति रहते हों। ऐसा राज्य दलबन्दियों से भी मुक्त होता है।

अरस्तू तथा प्लेटो की तुलना

(i) प्लेटो कल्पनावादी हवाई योजनाएँ बनाने वाला है; इसके विपरीत अरस्तू यथार्थवादी, व्यावहारिक और क्रियात्मक है। (ii) प्लेटो की विचार-पद्धति सामान्य से विशेष नियमों की कल्पना करने की है और अरस्तू की विशेष घटनाओं और परिस्थितियों के निरीक्षण के आधार पर सामान्य नियम बनाने की है। (iii) प्लेटो क्रान्तिकारी और अरस्तू रूढ़िवादी विचारक है। (iv) प्लेटो आदर्श राज्य की सृष्टि के लिए दार्शनिक राजा की खोज करता है और अरस्तू आदर्श राज्य की स्थापना के लिए एक नवीन विज्ञान का अन्वेषण करता है। (v) प्लेटो की शैली काव्यात्मक, सरस, समन्वयात्मक है; अरस्तू की शैली शुष्क, नीरस और विश्लेषणात्मक है। (vi) प्लेटो

एकत्ववादी है और अरस्तू वैविध्य का भक्त है। (vii) प्लेटो दार्शनिक राजाओं का शासन सर्वोत्तम समझता है, अरस्तू समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली प्रणाली को सर्वोत्तम मानता है। (viii) प्लेटो दार्शनिकों के शासन को कानून के शासन की अपेक्षा उत्कृष्ट समझता है। अरस्तू कानून के शासन को सर्वश्रेष्ठ शासन मानता है।

अरस्तू की देन

राजनीति में अरस्तू के प्रमुख योगदान हैं—कानून की सर्वोच्च सत्ता का विचार, स्वतन्त्रता सत्ता का समन्वय, लोकमत की महत्ता, प्रभुसत्ता का विचार, राजनीति पर आर्थिक और भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव, मध्यम मार्ग का विचार, राज्य का लक्ष्य उत्तम जीवन को मानना तथा लोकतन्त्र का समर्थन।

प्रश्न

(१) अरस्तू द्वारा प्रतिपादित राज्यों के वर्गीकरण का परीक्षण कीजिए। वर्तमान सन्दर्भ में यह कितना उपयोगी है? (राजस्थान, १९७९)

(२) नागरिकताविषयक अरस्तू के विचारों को स्पष्ट कीजिए एवं उसकी सीमाओं की व्याख्या कीजिए। (राजस्थान, १९७९)

(३) अरस्तू के राज्यों के वर्गीकरण की संक्षेप में व्याख्या कीजिए। (राजस्थान, १९७७; गोरखपुर, १९७६)

(४) सम्पत्ति तथा दासता पर अरस्तू के विचारों की व्याख्या कीजिए। (गोरखपुर, १९७८)

(५) अरस्तू के राज्य सिद्धान्त का विवेचन कीजिए। राज्य किन अर्थों में इसके लिए प्राकृतिक एवं अनिवार्य है? (गोरखपुर, १९७७)

(६) अरस्तू द्वारा किए गए संविधानों के वर्गीकरण की व्याख्या कीजिए। (गोरखपुर, १९७६)

(७) क्रान्ति पर अरस्तू के विचारों की विवेचना कीजिए। (गोरखपुर, १९७५)

(८) अरस्तू का सर्वोत्तम राज्य प्लेटो का दूसरी श्रेणी का राज्य है, स्पष्ट कीजिए। (गोरखपुर, १९७४)

तीसरा अध्याय

सन्त थामस एक्विनास [१२२५—१२७४ ई०]

जीवन-चरित्र—मध्यकालीन भारत के शंकराचार्य की भाँति प्रतिष्ठा पाने वाले दार्शनिक शिरोमणि, पोपों द्वारा सन्त और चर्च के आचार्य अथवा विद्वान् या डॉक्टर (Doctor) घोषित किए जाने वाले थामस एक्विनास का जन्म एक उच्च कुल में नेपल्स और रोम के मध्यवर्ती स्थान एक्विनो में रहने वाले एक कुलीन जमींदार (Count) के घर में हुआ। माण्टी कास्सिनी के मठ में आरम्भिक शिक्षा पाने के बाद उसने पाँच वर्ष तक नेपल्स विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई। बचपन से ही वैराग्यप्रधान धार्मिक प्रवृत्ति होने के कारण एक्विनास सम्पन्न परिवार में जन्म लेने पर भी उस समय के प्रसिद्ध समाजसेवी संन्यासी वर्ग—फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय—का साधु बनना चाहता था। माता-पिता ने जब उसे इस मार्ग से विमुख करना चाहा तो वह स्वामी दयानन्द की भाँति घर से भाग निकला, किन्तु माता-पिता ने रास्ते में ही पकड़वाकर उसे एक किले में बन्दी बनाकर रखा, उसे घर न छोड़ने के लिए नाना प्रकार के प्रलोभन दिए गए। कहा जाता है कि एक बार जब उसे किले में रहते हुए सांसारिक विषय-भोग में फँसाने के लिए उसके पास एक सुन्दर लड़की भेजी गई तो एक्विनास ने पास के चूल्हे में जलती हुई एक लकड़ी उठाकर उस पर इस ढंग से फेंकी कि वह उठकर भाग गई। इसी समय उसने धार्मिक जीवन बिताने के अपने दृढ़ निश्चय को दीवार पर क्रास का चिह्न बनाकर प्रकट किया। उसके सम्बन्धियों को यह विश्वास होने लगा कि वह अपने निश्चय पर अटल है। अन्त में उसकी बहन का दिल पसीजा और उसने किले से भागने में उसकी सहायता की।

इसके बाद अपने गुरु एल्बर्टस मैगनस की खोज में १५०० मील पैदल चलकर एक्विनास पेरिस पहुँचा (१२४५ ई०)। किन्तु उस समय तक उसका गुरु कोलोन जा चुका था, अतः एक्विनास ने वहाँ जाकर उसके चरणों में बैठकर उस युग का समूचा ज्ञान प्राप्त किया। इसके बाद वह पेरिस में अध्यापन करता रहा। उसने शेष जीवन अध्ययन में, ईसाइयत तथा धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में, ग्रन्थ प्रणयन में और अरस्तू की रचनाओं पर टीकाएँ लिखने में, धार्मिक मनन एवं चिन्तन में बिताया।

समन्वयवाद की विचारधारा—एक्विनास का विशेष महत्व इस बात में है कि उसने दो पुराने आचार्यों—**अरस्तू और आगस्टाइन के दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में एकता स्थापित की।** एक्विनास अरस्तू की बातों को सही मानते हुए भी अन्तिम सत्य नहीं मानता था, वह यह समझता था कि ईसाई धर्म द्वारा प्रतिपादित सत्य उस ज्ञान को पूरा करने वाला है। इस प्रकार उसने प्राचीन यूनान

की बुद्धिवादी विचारधारा का ईश्वरीय ज्ञान अथवा इलहाम पर बल देने वाली ईसाई विचारधारा के साथ समन्वय किया। एक्विनास को इस बात का श्रेय है कि उसने अपने से पहले चली आने वाली विभिन्न विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करके उन्हें एक पद्धति का रूप प्रदान किया।

वह मध्ययुग की समन्वयवादी विचारधारा का सर्वोत्तम व्याख्याता है। उससे पहले भौतिक क्षेत्र में यूनानी, रोमन और ईसाई सभ्यताओं का मिश्रण हो चुका था, उसने बौद्धिक क्षेत्र में यूनान के बुद्धिवाद और ईसाई धर्म की श्रद्धा का समन्वय किया। उसके समन्वयवादी प्रयास से राजनीतिशास्त्र का एक नए रूप में जन्म हुआ। उसने अरस्तू की राजनीति को सिसरो, आगस्टाइन और बाइबल के विचारों से मिलाकर उसका कायाकल्प कर दिया, उसके विचार मध्यकालीन योरोप के दर्शन का अंग बने।

एक्विनास की रचनाएँ—उसके राजनीतिक विचारों का परिचय देने वाले मुख्य ग्रन्थ **राजाओं के नियम** (De Regimine Principum), **अरस्तू की राजनीति पर व्याख्याएँ** (Commentaries on the Politics of Aristotle) और **धर्मशास्त्र का संक्षेप** (Summa Theologica) हैं। ४७ वर्ष की अल्प आयु में मृत्यु हो जाने के कारण उसका पहला और तीसरा ग्रन्थ अधूरे रह गए थे, इन्हें बाद में उसके शिष्यों ने पूरा किया। इनमें प्रतिपादित प्रधान राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं—

१. राज्यविषयक विचार—आगस्टाइन आदि ईसाई विचारकों का यह मत था कि मनुष्य के आरम्भिक पाप (Original sin)[1] के कारण राज्य, सम्पत्ति और दास-प्रथा की उत्पत्ति हुई। एक्विनास ने इसके सर्वथा विपरीत अरस्तू का अनुसरण

---

1. आरम्भिक पाप ईसाइयत का एक विशेष शब्द है और बाइबल की पहली पुस्तक 'जेनिसिस' (Genesis) में प्रतिपादित एक कहानी की ओर संकेत करता है। इसमें 'सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए यह बताया गया है कि भगवान् ने मानव-जाति की वंशपरम्परा को आरम्भ करने वाले आदम और हव्वा को उत्पन्न किया, उन्हें अदन नामक स्वर्ग के फल-फूलों से भरे हुए एक बड़े सुन्दर बगीचे में रखा, उस समय उन्हें किसी प्रकार का ज्ञान नहीं था और वे नंगे घूमते रहते थे। भगवान् ने उन्हें वहाँ सब प्रकार के आनन्दों का उपभोग करने की पूरी स्वतन्त्रता इस शर्त के साथ दे रखी थी कि वे वहाँ ज्ञान तथा अमरता देने वाले दो पेड़ों के फलों को कभी न खाएँ। एक बार उस बगीचे में ईश्वर का कट्टर विरोधी शैतान साँप का रूप धारण करके आया, उसने हव्वा को मीठी-मीठी बातों में फुसलाकर ज्ञान और अमरता के पेड़ों के फल खाने को कहा। हव्वा ने आदम को इसके लिए तैयार किया, दोनों ने ज्ञान का फल खाया ही था कि भगवान् उस बगीचे में आया। अब आदम और हव्वा अपने नंगेपन का ज्ञान होने के कारण अपने को पत्तों से ढकने लगे और छिपने लगे। भगवान् को यह बहुत बुरा लगा कि आदम और हव्वा ने ज्ञान के पेड़ का फल न खाने के उसके आदेश का उल्लंघन किया है, उसने उन दोनों को स्वर्ग के उद्यान से निकलने, भूलोक पर जाने, अपने परिश्रम से आजीविका कमाने का शाप दिया; आदम ने हव्वा की प्रेरणा से निषिद्ध पेड़ के फल को चखा था, अतः हव्वा के लिए उसने एक अन्य दण्ड की भी व्यवस्था की कि वह सन्तानोत्पादन के समय भीषण प्रसूतिव्यवस्था झेला करेगी। मनुष्य-जाति का श्रीगणेश करने वाले आदम-हव्वा द्वारा भगवान् द्वारा निषिद्ध पेड़ के फल को खाना ईसाइयत में आदिम या आरम्भिक पाप (original sin) कहा जाता है, सब मनुष्य इसी कारण पापी हैं और उस पाप का फल भोग रहे हैं, इसीलिए उनका स्वर्ग से पतन हुआ है।

करते हुए यह कहा था कि इनमें से पहली दो संस्थाएँ—राज्य और सम्पत्ति—मनुष्य के लिए सर्वथा स्वाभाविक हैं, यदि मनुष्य का पतन न हुआ होता तो भी वे मानव-समाज में पाई जातीं। **राजाओं के नियम** (De Regimine Principum) में अरस्तू के मौलिक सिद्धान्तों को अपनाते हुए उसने यह सिद्ध किया कि मनुष्य अपने स्वभाव के कारण सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है, उसकी सामाजिक सत्ता सबके कल्याण के लिए राज्य को आवश्यक बना देती है और नगर-राज्य (City-State) आत्मनिर्भर और पूर्ण संगठित होना चाहिए। राज्य के ये तीनों विचार अरस्तू से लेते हुए भी वह उसके नगर-राज्यविषयक विचार में संशोधन करके उसे पूर्ण बनाता है। **एक्विनास** इसे अपूर्ण समझते हुए यह कहता है कि कई नगर-राज्यों से मिलकर बनने वाले 'प्रान्त' में आत्मनिर्भरता की मात्रा अधिक हो सकती है, क्योंकि इसमें शत्रुओं से प्रतिरक्षा करने के अधिक साधन उपलब्ध हो सकते हैं। इसे उसने राज्य (Regnum) का नाम दिया है।

एक्विनास मध्ययुगीन विचारकों में राष्ट्रीय राज्य (National State) **के आधुनिक विचार का समर्थन करने वाला था।** उसका यह मत था कि रीति-रिवाजों की एकता तथा समानता राज्य का उत्तम आधार होती है। ऐसी एकता विशाल साम्राज्य की अपेक्षा छोटे राज्यों में अधिक मात्रा में पाई जाती है। वह राज्य में पाई जाने वाली राजनीतिक सत्ता का अन्तिम मूल स्रोत ईश्वर को मानता है। इसके समर्थन में बाइबल का यह प्रमाण देता है कि **"संसार में भगवान् के अतिरिक्त कोई दूसरी शक्ति नहीं है।"** किन्तु बाइबल के वाक्यों के अतिरिक्त वह अपनी स्थापना को अरस्तू के इन आध्यात्मिक सिद्धान्तों से भी पुष्ट करता है कि भगवान् जगत् का अन्तिम कारण तथा इसे पहली गति प्रदान करने वाला (prime mover) है। इस विषय में एक्विनास आगस्टाइन का यह तर्क भी उपस्थित करता है कि भगवान् योग्य जातियों को राजनीतिक सत्ता प्रदान करता है।

२. दास-प्रथा सम्बन्धी विचार—एक्विनास ने अरस्तू और आगस्टाइन की भाँति दास-प्रथा का समर्थन किया है। अरस्तू ने इसकी पुष्टि मनुष्यों की बौद्धिक योग्यताओं के भेद के आधार पर की थी। **आगस्टाइन इसे पापियों को दण्ड देने की व्यवस्था मानता है। एक्विनास इसके समर्थन में एक नवीन तर्क यह उपस्थित करता है कि यह प्रथा सैनिकों में वीरता की भावना को भरने के लिए बनाई गई है।** युद्ध में पराजित होने पर सैनिक दास बना लिए जाते हैं, अतः इसका उद्देश्य उन्हें युद्ध में अधिक-से-अधिक वीरता को प्रदर्शित करने के लिए प्रोत्साहित करना है ताकि वे विजयी हों तथा दास न बनें। इस मत के समर्थन में उसने रोमन इतिहास से तथा बाइबल के पूर्वार्द्ध या ओल्ड टेस्टामेण्ट की डिट्रानमी नामक पुस्तक से कुछ प्रमाण दिए हैं।

३. शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण—एक्विनास शासन के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण अरस्तू के आधार पर करता है। अरस्तू की भाँति वह सबकी भलाई और हित चाहने वाली शासन-प्रणालियों को अच्छा और न्यायपूर्ण, तथा केवल शासक का हित करने वाली शासन-प्रणालियों को निकृष्ट बतलाता है। अरस्तू के अनुसार राज्य का लक्ष्य सद्गुणी जीवन (Virtuous life) की प्राप्ति है। किन्तु एक्विनास के मतानुसार

राज्य का उद्देश्य ऐसे सद्‌गुणी जीवन की प्राप्ति करना है जिससे मनुष्य को मोक्ष मिल सके।

राजतन्त्र का समर्थन—राजतन्त्र और लोकतन्त्र प्रणालियों में अरस्तू का झुकाव लोकतन्त्र की ओर था। किन्तु एक्विनास निम्नलिखित कारणों से राजतन्त्र को श्रेष्ठ समझता है—

(क) जिस प्रकार विश्व में एक ईश्वर का शासन है, शरीर के विभिन्न अंगों पर हृदय का साम्राज्य है, मधुमक्खियों पर रानी मक्खी का शासन होता है; वैसे ही राज्य में एक व्यक्ति का शासन होना उचित है।

(ख) समाज की सबसे बड़ी भलाई इस बात में है कि उसमें एकता (Unity) और शान्ति बनी रहे, यह राजतन्त्र में ही सम्भव है। मध्यकाल की अशान्त और अराजक परिस्थिति में शान्ति स्थापित करने की सामर्थ्य रखने वाले राजतन्त्र को श्रेष्ठ माना जाना स्वाभाविक था।

(ग) विभिन्न राज्यों के क्रियात्मक अनुभव से यह सिद्ध होता है कि राजतन्त्र की प्रणाली श्रेष्ठ है। जहाँ प्रजातन्त्र प्रणाली है, वहाँ अनेक प्रकार के झगड़े, फूट और दलबन्दियाँ दिखाई देती हैं। किन्तु राजतन्त्रों में सर्वत्र शान्ति और समृद्धि दिखाई देती है। निर्वाचित राजतन्त्र सर्वश्रेष्ठ होता है। राजा पर शपथ द्वारा यह बन्धन लगाना चाहिए कि वह शासन का कार्य संविधान के अनुसार करेगा।

किन्तु राजतन्त्र का बड़ा दोष इसका तानाशाही (Tyranny) में और अत्याचारी शासन में परिणत हो जाना है। एक्विनास इससे सहमत नहीं है। उसका यह विश्वास है कि यह बुराई राजतन्त्र की अपेक्षा प्रजातन्त्रों में अधिक पाई जाती है।

४. राज्य के कार्य—यूनानी, रोमन तथा ईसाई धर्म के विचारकों का समन्वय करते हुए एक्विनास ने राज्य के कार्यों का निर्धारण किया है। ये कार्य निम्नलिखित हैं—

(क) **अरस्तू का अनुसरण करते हुए उसने राज्य का प्रधान कार्य प्रजाजनों के लिए उत्तम जीवन बिताने की परिस्थितियों को उत्पन्न करना तथा राज्य में एकता और शान्ति बनाए रखना माना है।** इसके लिए बाह्य शत्रुओं तथा आक्रान्ताओं से राज्य की रक्षा होनी चाहिए। कानूनों के पालन करने के लिए पुरस्कारों की और दण्ड की व्यवस्था द्वारा जनता को नियन्त्रण में रखना चाहिए।

(ख) **राज्य का दूसरा कार्य सड़कों को सुरक्षित और चोर-डाकुओं के उपद्रवों से मुक्त बनाए रखना है।** एक्विनास ने यह विचार रोम के साम्राज्य से ग्रहण किया है।

(ग) **राज्य का तीसरा कार्य राजा द्वारा अपने राज्य के लिए विशेष मुद्रा-पद्धति का चलाना तथा भार और तौल की समुचित प्रणाली निश्चित करना है।** एक्विनास ने यद्यपि ये विचार मध्ययुग की तत्कालीन परिस्थितियों से ग्रहण किए थे, किन्तु वह इनका समर्थन बाइबल के प्रमाणों के आधार पर करता है।

(घ) **राज्य का चौथा कार्य दरिद्रों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी लेना है।** यह विशुद्ध रूप से ईसाई धर्म का विचार है, प्राचीन यूनान और रोम में यह विचार नहीं पाया जाता है।

५. कानून का विचार—कानून की मीमांसा करते हुए एक्विनास ने अरस्तू,

स्टोइक, सिसरो, आगस्टाइन तथा रोमन विधिशास्त्रियों के विचारों का समन्वय किया है तथा वर्तमान युग को इस विषय में बड़ी महत्वपूर्ण देन दी है। यूनानी विचारधारा कानून को विवेक-बुद्धि (Reason) का परिणाम समझती थी, यह किसी व्यक्ति-विशेष की इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं थी। रोमन विधिशास्त्र कानून को या तो बुद्धि का परिणाम मानता था अथवा सम्राट् आदि किसी व्यक्ति-विशेष की इच्छा की अभिव्यक्ति। एक्विनास ने कानून का लक्षण करते हुए इसे विवेक-बुद्धि का परिणाम तथा इच्छा की अभिव्यक्ति माना। उसके मतानुसार, **"कानून सामान्य हित के लिए विवेक-बुद्धि की वह व्यवस्था है, जो उस व्यक्ति द्वारा उद्घोषित की जाती है, जिसके हाथ में किसी समाज की देखभाल का अधिकार होता है।"**[1] कानून के इस लक्षण में अरस्तू की भाँति विवेक-बुद्धि को स्वीकार किया गया है, किन्तु अरस्तू विवेक-बुद्धि को और कानून को पर्याय मानता था, उसके कानून की कल्पना में व्यक्ति की इच्छा का कोई स्थान नहीं था। एक्विनास ने इच्छा के तत्व को भी अपने लक्षण में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। **किन्तु व्यक्ति की इच्छा कई बार स्वेच्छाचारी और अत्याचारपूर्ण हो सकती है, अतः इस पर नियन्त्रण रखने के लिए वह यह आवश्यक समझता था कि इस इच्छा का उद्देश्य सब लोगों के हित या कल्याण की सिद्धि होनी चाहिए।**

कानून के चार भेद—एक्विनास ने कानून (Lex) को चार वर्गों में बाँटा है—(१) शाश्वत कानून, (२) प्राकृतिक कानून, (३) मानवीय कानून, (४) दैवी कानून। इन्हें निम्नलिखित चार्ट से प्रकट किया जा सकता है—
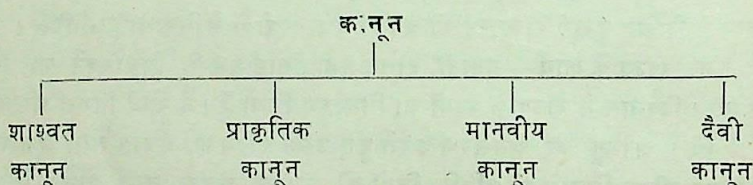
(क) शाश्वत कानून (Lex oeterna, Eternal Law)—शाश्वत कानून विश्व के नियन्त्रण की वह योजना या व्यवस्था है, जो विधाता के मन में है। यह सारा जगत् सृष्टि का निर्माण करने वाले भगवान् की बुद्धि द्वारा परिकल्पित योजना के अनुसार संचालित हो रहा है।[2] मानवीय बुद्धि उसका पूरा ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है।

(ख) प्राकृतिक कानून (Lex naturalis, Natural Law)—ये सामान्य रूप से सत्-असत् को पहचानने के नियम हैं। मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि द्वारा इनका ज्ञान प्राप्त करता है।[3] सब मनुष्यों के विवेकशील और बुद्धिमान् होने के कारण ये नियम

---

1. "An Ordinance of reason for the common good, promulgated by him who has the care of a community." —Acquinas.
2. "Eternal law is God's Divine Wisdom, directing all actions and movements." —Acquinas.
3. "The natural law is nothing else than the law of rational creatures in the eternal law." —Acquinas.

सार्वभौम तथा एकरूप होने चाहिएँ। किन्तु एक्विनास का कहना है कि मानवीय कल्याण की दृष्टि से इनमें संशोधन और परिवर्तन होता रहता है। उदाहरणार्थ, मानव-समाज में पहला प्राकृतिक नियम तो सम्पत्ति के संयुक्त स्वामित्व का तथा सामान्य स्वतन्त्रता का था। किन्तु मानवीय जीवन के उपयोगी होने के तर्क के आधार पर वैयक्तिक सम्पत्ति और दास-प्रथा भी प्राकृतिक नियम माने जाने लगे। मनुष्य में कुछ स्वाभाविक इच्छाएँ हैं, जैसे समाज में रहना, आत्मरक्षा करना, सन्तानोत्पादन, बच्चों को शिक्षित बनाना, सत्य का अन्वेषण और बुद्धि को विकसित करना। प्राकृतिक कानून मनुष्य की इन इच्छाओं की अधिकतम पूर्ति की व्यवस्था करता है।

(ग) **मानवीय कानून** (Human Law)—ये मनुष्य द्वारा समाज में शान्ति-पूर्ण जीवन बनाए रखने के लिए बनाई गई दण्ड-व्यवस्थाएँ हैं, इनके भय से समाज में शान्ति बनी रहती है। मानवीय कानून का निर्माण प्राकृतिक कानून के आधार पर होता है। इन दोनों में इतना गहरा सम्बन्ध है कि यदि कोई मानवीय कानून प्राकृतिक कानून के प्रतिकूल है तो इसे कानून नहीं, अपितु कानून का विकार मानना चाहिए।

(घ) **दैवी कानून** (Divine Law)—ये बाइबिल के पुराने और नए धर्म-नियमों (Old and New Testaments) में प्रतिपादित की गई देववाणियाँ और ईश्वरीय व्यवस्थाएँ हैं। इनसे मनुष्य अपनी अपूर्ण बुद्धि को पूरा बनाता है और अपने चरम लक्ष्य—परम आनन्द की ओर अग्रसर होता है।[1]

एक्विनास के चार प्रकार के कानूनों में शाश्वत और दैवी कानून का सम्बन्ध धर्म से तथा प्राकृतिक और मानवीय कानून का सम्बन्ध राजनीति से है।

एक्विनास के कानून का विचार बहुत महत्वपूर्ण है। उससे पहले कानून व्यक्तित्व-शून्य (Impersonal) था, बुद्धि और प्रकृति पर आधारित था, यूनानी इसे विशुद्ध विवेक समझते थे। उसने प्रकृति के कानून को ईश्वरीय इच्छा से अभिन्न माना, उसमें इच्छा के तत्व का समावेश किया, मानवीय बुद्धि और ईश्वरीय ज्ञान अथवा इलहाम में भेद किया। आजकल कानून शासक का आदेश मात्र समझा जाता है, उसके लिए नैतिक होना आवश्यक नहीं है। किन्तु एक्विनास कानून को राजसत्ता का आदेश मानते हुए भी उसके लिए दो शर्तें आवश्यक मानता है—वह बुद्धिसम्मत होना चाहिए और समाज के संरक्षक द्वारा सामाजिक हित की दृष्टि से बनाया जाना चाहिए। उसके कानूनविषयक विचारों ने लॉक और हॉब्स की विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला।

६. **न्यायविषयक विचार**—न्याय के विषय में एक्विनास ने प्रधान रूप से रोमन विधिशास्त्रियों के मत का अनुसरण करते हुए कहा है कि यह **"प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने अधिकार देने की निश्चित और सनातन इच्छा है।"** किन्तु इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उसने अरस्तू का यह मत मान लिया है कि न्याय का मौलिक तत्व समानता है। यह समानता दो प्रकार से निश्चित होती है—

(क) **प्रकृति के आधार पर**—जैसे जब कोई व्यक्ति धन की अमुक राशि देता है

1. "Divine law is the system of commands of God's will communicated to men by revelation."

तो उसे ठीक उतनी ही राशि वापिस दी जानी चाहिए।

(ख) **मानवीय आधार पर**—जब किसी समाज में प्रचलित रीति-रिवाज द्वारा अथवा राजा के आदेश द्वारा दो वस्तुओं में समानता निश्चित की जाए। लिखित मानवीय कानूनों को एक्विनास न्याय और अधिकारों का मूल मानता है, बशर्ते कि ये प्राकृतिक कानूनों के प्रतिकूल न हों। यदि ये प्रतिकूल होंगे तो व्यक्ति इनके पालन के लिए बाध्य नहीं होंगे।

७. **राज्य और चर्च के सम्बन्ध**—इस विषय में एक्विनास का मत यह है कि मानव-जीवन के दो लक्ष्य हैं : पहला लक्ष्य भौतिक सुख की प्राप्ति और उत्तम जीवन को व्यतीत करना है। इसकी प्राप्ति राज्य द्वारा होती है। यहाँ तक उसका मत अरस्तू से मिलता है। दूसरा लक्ष्य पारलौकिक सुख—आत्मा की मुक्ति और परलोक में अनन्त आनन्द की प्राप्ति है। इसकी प्राप्ति का साधन चर्च है। इन दोनों में संसार का भौतिक सुख गौण और परलोक का सुख प्रधान है। अतः भौतिक सुख की प्राप्ति का मुख्य साधन होने से राज्य गौण और पारलौकिक सुख की प्राप्ति का साधन होने से चर्च मुख्य है, चर्च की तुलना में राज्य घटिया दर्जे का तथा कम महत्व रखने वाला संगठन है; अतः चर्च को समाज में सर्वोच्च स्थान देना चाहिए। चर्च की यह प्रधानता एक अन्य कारण से भी है। उच्चतम सत्य तर्क एवं बुद्धि से नहीं, किन्तु श्रद्धा तथा विश्वास से जाने जाते हैं; इन विषयों में चर्च ही अन्तिम प्रमाण है, अतः वह राज्य से श्रेष्ठ है।

राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह अपना शासन इस ढंग से करे कि भगवान् की इच्छा पूरी हो तथा धर्म की वृद्धि हो। राज्य के अधिकारियों को चर्च के दैवी कानून के तथा पुरोहितों के शासन में रहना चाहिए।

जहाज का रूपक—एक्विनास ने इन दोनों का सम्बन्ध जलपोत के रूपक से स्पष्ट किया है। राज्य रूपी जहाज पर राजा बढ़ई की भाँति है, उसका प्रधान कार्य आवश्यक मरम्मत द्वारा यात्रा के समय जहाज को ठीक बनाए रखना है; किन्तु चर्च का कार्य जहाज के चालक का है जो इसे लक्ष्य की ओर ले जाता है। जिस प्रकार जहाज पर बढ़ई चालक के अनुशासन में रहता है, उसी प्रकार राज्य को चर्च के नियन्त्रण में रहना चाहिए। यदि कोई शासक चर्च के आदेशों की अवहेलना करता है, तो उसे चर्च से बहिष्कृत कर देना चाहिए तथा उसकी प्रजा को उसके प्रति भक्ति की शपथ से भी मुक्त करना चाहिए। पुरोहित के पास सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शक्ति है। अब शासकों का कर्त्तव्य है कि वे सांसारिक लड़ाई-झगड़ों में तथा पारलौकिक मुक्ति के विषय में पोप के आदेशों का पालन करें। एक्विनास पोप की सर्वोच्च प्रभुता का प्रबल समर्थक है।

चर्च की सर्वोपरि सत्ता—थामस एक्विनास यद्यपि विवेक, बुद्धि और तर्कशक्ति (Reason) को बड़ा महत्व देता था, फिर भी उसका यह विश्वास था कि सब महान् सत्यों का ज्ञान श्रद्धा से ही प्राप्त हो सकता है। अतः उसकी यह धारणा थी कि चर्च धार्मिक विश्वास के सभी मामलों में अन्तिम प्रमाण होना चाहिए। उसे किसी भी भौतिक या सांसारिक शक्ति से अधिक महत्व और मान्यता दी जानी चाहिए। राजनीतिक शासक का यह कर्त्तव्य है कि वह भगवान् की इच्छा के पालन और वर्धन की दृष्टि से

अपने सांसारिक मामलों का प्रशासन करे। इस दृष्टि से राज्य के कर्मचारियों को सदैव पादरियों और चर्च के दैवी कानून के वशवर्ती रहना चाहिए। गैटिल के शब्दों में, **"यदि कोई राजा चर्च के आदेशों की अवहेलना करता है तो उसे ईसाई धर्म से बहिष्कृत कर देना चाहिए और उसके प्रजाजनों को राजा के आदेशों का पालन करने के कर्त्तव्य से मुक्त कर देना चाहिए। पादरियों की सत्ता लौकिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में सर्वोच्च है। सांसारिक और धार्मिक एवं मुक्ति सम्बन्धी मामलों में पोप के आदेशों का पालन अन्य सभी शासकों की अपेक्षा अधिक किया जाना चाहिए।"**[1] धर्म की सत्ता सर्वोपरि है। राजाओं को उसके आगे नतमस्तक होना चाहिए। इसीलिए फोस्टर ने एक्विनास के विचारों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि एक्विनास के लिए **"चर्च सामाजिक संगठन का मुकुट है। वह लौकिक संगठन का प्रतिद्वन्द्वी नहीं, अपितु उसको पूर्ण बनाने वाला है।"**[2] वस्तुतः वह सन्त पाल के इस कथन से सर्वथा सहमत है कि भगवान् के अतिरिक्त कोई शक्ति नहीं है।[3] पृथ्वी पर चर्च इस शक्ति का प्रतिनिधि है; अतः उसकी सत्ता सर्वोपरि है।

अरस्तू तथा एक्विनास के विचारों की तुलना—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि एक्विनास का प्रधान कार्य ईसाइयत के धार्मिक सिद्धान्तों का अरस्तू के दार्शनिक विचारों के साथ समन्वय करना था। इसके लिए उसने अरस्तू के विचारों का खण्डन नहीं किया, किन्तु उसने इन्हें पूर्ण रूप से सत्य भी नहीं माना। ये उसी हद तक सत्य थे, जहाँ तक श्रद्धारहित मानवीय बुद्धि पहुँच सकती है। बाद में उत्पन्न होने वाले ईसाई धर्म ने बुद्धि द्वारा खोजे गए इन सत्यों को खण्डित नहीं किया, किन्तु पूर्ण बनाया। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा।

अरस्तू ने मनुष्य का उद्देश्य ऐहिक सुख की प्राप्ति माना था। एक्विनास इसे स्वीकार करते हुए कहता है कि **मनुष्य का इससे भी बड़ा लक्ष्य पारलौकिक आनन्द और मुक्ति प्राप्त करना है, जिसकी तुलना में ऐहिक सुख गौण है।** अरस्तू ने कहा था कि समाज और राज्य को व्यक्ति के लिए उत्तम जीवन बिताने की परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिएँ। एक्विनास इससे सहमत है कि भौतिक जीवन का उद्देश्य उत्तम है, किन्तु वह इससे भी बड़ा उद्देश्य पारलौकिक जीवन और मोक्ष को समझता है तथा उसकी प्राप्ति के लिए चर्च को आवश्यक मानता है। कानून को अरस्तू बुद्धि का परिणाम

---

1. "If a ruler ignored the decrees of the church he should be excommunicated and his subjects absolved from all necessity of obedience. The authority of the priest was temporal as well as spiritual, the Pope was to be obeyed above all rulers, in matters of worldly welfare as well as in those which relate to salvation."
—Gettel, History of Political Thought, p. 122.

2. "For Acquinas the Church is the crown of social organization, not a rival organization to the secular, but its completion."
—Foster, M. B., Masters of Political Thought, p. 241-42.

3. "There is no power but of God."

मानता है, किन्तु एक्विनास इसके साथ सहमति रखते हुए कानून में भगवान् द्वारा दिए गए शाश्वत और दैवी कानून को भी सम्मिलित करता है। उसने अरस्तू के प्राकृतिक जगत् को माना, किन्तु उससे भी अधिक ऊँचा भगवान् की कृपा का साम्राज्य स्वीकार किया। इस प्रकार उसने अरस्तू के अधिकांश विचार स्वीकार करते हुए ईसाइयत के विचारों को उनसे ऊँचा स्थान दिया। उसने अपने सिद्धान्तों के ऐसे **प्रासाद का निर्माण किया, जिसकी दीवारें अरस्तू की विचारधारा की थीं, किन्तु शिखर ईसाई धर्म का था।**[1]

उसने कुछ अंशों में ईसाइयत के प्रचलित विचारों को छोड़कर अरस्तू के विचार माने। तत्कालीन ईसाई सांसारिक जीवन को नीची दृष्टि से देखते थे, इससे मुक्ति पाना अपना चरम लक्ष्य समझते थे। एक्विनास इस लक्ष्य से सहमत होते हुए भी अरस्तू के उत्तम जीवन के लक्ष्य को अधिक उपयोगी समझता था। ईसाई विचारक राज्य को अस्वाभाविक संस्था समझते थे। उनके मतानुसार जब आदम ज्ञान से वर्जित वृक्ष का फल खाकर पापी बना तो मानव-समाज में पापों और अपराधों की वृद्धि हुई और मनुष्यों को नियन्त्रण में रखने के लिए तथा दण्ड देने के लिए राज्य की उत्पत्ति हुई, अतः राज्य मनुष्य की प्रकृति के प्रतिकूल है। एक्विनास इसके सर्वथा विपरीत अरस्तू का अनुसरण करते हुए राज्य को मनुष्य के लिए सर्वथा स्वाभाविक मानता था। किन्तु अरस्तू के विचारों का अनुसरण करते हुए भी एक्विनास उसका अन्धानुकरण नहीं करता है। अरस्तू थोड़ी आबादी वाले नगर-राज्य को आदर्श राजनीतिक संगठन समझता था, किन्तु एक्विनास इससे सहमत नहीं है।

एक्विनास का मूल्यांकन—जब एक्विनास कोलोन में एल्बर्टस के पास विद्याध्ययन कर रहा था तो उसके सहपाठी उसके चुपचाप रहने तथा भारी डीलडौल के कारण 'गूँगा बैल' कहकर उसका मजाक उड़ाया करते थे। उस समय गुरु ने भविष्यवाणी की थी कि जब यह बैल रंभाएगा तो सारी दुनिया ध्यान से सुनेगी। बाद में ऐसा ही हुआ। रोमन कैथोलिक चर्च में सेंट आगस्टाइन के बाद उसकी रचनाएँ सबसे अधिक आदर के साथ पढ़ी जाती हैं। **राजनीति के क्षेत्र में उसकी सबसे बड़ी देन अरस्तू की कृतियों और विचारों का पुनरुज्जीवन है। कई शताब्दियों से विस्मृत इस यूनानी दार्शनिक का परिचय मध्ययुगीन योरोप को उस युग के 'अरस्तू' कहलाने वाले एक्विनास के माध्यम से हुआ।** एक्विनास से इन सिद्धान्तों को हूकर ने, हूकर से लॉक ने और लॉक से बर्क ने ग्रहण किया। इनसे वैधानिक शासन के आधुनिक विचारों का विकास हुआ। मध्ययुगीन तथा अर्वाचीन राजनीतिक विचारधारा पर एक्विनास का गहरा प्रभाव पड़ा।

एक्विनास का महत्व और देनें—एक्विनास अपने युग का महान् दार्शनिक और विचारक था। डनिंग ने उसे बारहवीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ विचारक कहा है और लिखा

---

1. "In every department of philosophy Acquinas sets as it were a Christian coping upon a Greek substructure."

—Foster, p. 241.

है कि उसके माध्यम से राजनीतिशास्त्र ने विज्ञानों की श्रेणी में पुनः अपना स्थान ग्रहण किया।[1] फोस्टर ने उसे विश्व का एक महान् दार्शनिक माना है। उसकी महत्वपूर्ण देनें निम्नलिखित हैं—

(१) **विधि का विवेचन और विश्लेषण**—एक्विनास ने कानून को चार वर्गों में बाँटकर उसकी बड़ी विस्तृत विवेचना की है। उसने अपने से पूर्ववर्ती सभी प्रमुख विचारकों के कानून सम्बन्धी विचारों का ऐसा सुन्दर संश्लेषण और समन्वय किया कि इसका आगामी दार्शनिकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। डनिंग ने यह ठीक ही लिखा है कि **उसका विधि का सिद्धान्त एक ऐसी प्रणाली है जिसके माध्यम से अरस्तू, स्टोइक, सिसरो, रोम के शाही विधिशास्त्रियों और सन्त आगस्टाइन के सिद्धान्तों का समन्वय करके उन्हें एक पूर्ण रूप दिया गया तथा उन्हें वर्तमान समय तक पहुँचाया गया।"**[2] एक्विनास की कानून सम्बन्धी धारणा का हॉब्स, लॉक और रूसो पर प्रभाव पड़ा।

(२) **राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की व्याख्या**—मध्ययुग में चर्च ने सार्वभौम (Universal) विश्वव्यापी भावना पर आधारित ईसाई राज्य पर अधिक बल दिया था। एक्विनास ने इसका विरोध किया और इसके स्थान पर राष्ट्रीयता को उच्च स्थान दिया। उसकी विचारधारा ने मेकियावेली पर प्रभाव डाला। मर्रे ने यह ठीक ही लिखा है कि **"सन्त थामस एक्विनास ने राष्ट्रीय राज्य के विकास में बहुत अधिक योगदान दिया है।"**

(३) **जनकल्याणकारी राज्य का विचार**—एक्विनास की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसने कानून का लक्षण करते हुए और राजा के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करते हुए लोक कल्याण की भावना पर बहुत बल दिया है। पहले यह बताया जा चुका है कि उसने अपने कानून के लक्षण में यह लिखा है कि **कानून विवेक से प्रेरित लोक कल्याण हेतु राजा द्वारा जारी किया गया आदेश है।**[3] डनिंग के मतानुसार एक्विनास का पुराने विचारकों से एक स्पष्ट भेद यह है कि **वह राज्य के शासक का यह कर्त्तव्य मानता है कि वह निर्धन व्यक्तियों के भरण-पोषण की पूरी व्यवस्था करे।**[4]

(४) **समानता का सिद्धान्त**—एक्विनास ने अपनी रचनाओं में मानव-मात्र की

---

1. "He is the greatest of the later scholastics and perhaps of all scholastics. Through him politics enters once more into the circle of the sciences." —Dunning, p. 191

2. "St. Thomas's theory of law and justice is the channel through which the doctrines of Aristotle, the Stoics, Cicero, the Roman Imperial jurists and St. Augustine, blended into a rounded whole, were transmitted to modern times." —Dunning, p. 192.

3. "Law is an ordinance of reason for the common good."
—Acquinas, Summa Theologica, Book II, Ch. I, p. 90.

4. 'The Thomist theory is the most distinctly differentiated from that of the ancients by ascribing to the ruler of the state the duty of providing for the poor." —Dunning, p. 203.

समानता पर बड़ा बल दिया है और इसके लिए चार प्रबल युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं—

(क) सब मनुष्य ईश्वर से पैदा होने के कारण समान हैं।

(ख) सब मनुष्यों में समान रूप से आत्मा की सत्ता है।

(ग) सब मनुष्यों का लक्ष्य एक ही है।

(घ) सब मनुष्यों की आकांक्षाएँ भी एक जैसी हैं।

उसने समानता के सिद्धान्त के आधार पर यहूदियों और मुसलमानों के साथ अच्छा व्यवहार करने पर बल दिया है।

(५) **विधि की सर्वोच्च सत्ता**—अरस्तू की भाँति एक्विनास ने कानून को सर्वोपरि स्थान देते हुए संविधानवाद (Constitutionalism) को पुष्ट किया है। प्राकृतिक विधि (Natural Law) का प्रतिपादन करते हुए उसने स्पष्ट शब्दों में यह मत रखा है कि यदि मानवीय विधि प्राकृतिक विधि के प्रतिकूल है तो वह मान्य नहीं हो सकती है। इसी दृष्टि से उसने सत्ता के मनमाने ढंग से प्रयोग का विरोध किया है और निरंकुश शासन को सबसे अधिक निकम्मी शासन-पद्धति माना है।

(६) **समन्वयवाद** (Synthesis)—एक्विनास के दर्शन का एक प्रधान तत्व विरोधी विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करना है। अरस्तू की विचारधारा नास्तिक थी, इसके सर्वथा विरोध में ईसाइयत की विचारधारा आस्तिक थी। एक्विनास ने अपनी रचनाओं में परस्पर विरोधी विचारधाराओं का अपने बुद्धिकौशल से सुन्दर समन्वय स्थापित किया। ईसाई विचारक सांसारिक जीवन को हेय दृष्टि से देखते थे, इससे मुक्ति पाना अपना चरम लक्ष्य समझते थे। उनकी दृष्टि में राज्य अस्वाभाविक और अप्राकृतिक संस्था थी। अरस्तू ने मानव-जीवन के विकास के लिए इसे आवश्यक संस्था माना था। एक्विनास ने दोनों दृष्टिकोणों में समन्वय करते हुए राज्य को सांसारिक जीवन के लिए तथा चर्च को आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक माना। अरस्तू के विचारों को मध्य-कालीन ईसाइयत में प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करने के कारण एक्विनास को **मध्ययुग का अरस्तू** कहा जाता है, उसने अरस्तू के विचारों का ईसाई धर्म के विचारों के साथ समन्वय किया, अतः उसे अरस्तू के विचारों को ईसाइयत का रूप देने का (Christianization of Aristotelianism) काम करने वाला कहा जाता है। एबेन्स्टाइन ने लिखा है कि **जिस प्रकार आगस्टाइन की विचारधारा प्लेटो और ईसाइयत का मिश्रण है, उसी प्रकार थामस एक्विनास की विचारधारा अरस्तू के तथा ईसाइयत के विचारों का समन्वय है।**[1]

सारांश

एक्विनास मध्ययुगीन यूरोप के महान् दार्शनिक थे। उन्होंने दो पुराने आचार्यों अरस्तू और आगस्टाइन के दर्शनशास्त्र और ईसाइयत के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में

1. "Augustianism is the fusion of Plato and Christianity. Thomism is the synthesis of Aristotle and Christianity."

—Ebenstein.

समन्वय स्थापित किया। वे समन्वयवादी विचारधारा के सर्वोत्तम व्याख्याता हैं।

उन्होंने राज्यविषयक अरस्तू के मत को स्वीकार करते हुए भी उसके नगर-राज्य के विचार में संशोधन करके उसे पूर्ण बनाया। वह कई नगर-राज्यों से मिलकर बनने वाले संगठन को राज्य का नाम देते हैं। उन्होंने **राष्ट्रीय राज्य** (National State) के विचार का समर्थन किया। दास-प्रथा का उद्देश्य सन्त आगस्टाइन ने पापियों को दण्ड देने की व्यवस्था माना था। एक्विनास के मतानुसार यह प्रथा सैनिकों में वीरता की भावना को भरने के लिए बनाई गई थी।

एक्विनास ने शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण अरस्तू के आधार पर करते हुए राजतन्त्र का समर्थन किया है।

एक्विनास का कानून का विचार बड़ा महत्वपूर्ण है। उसने इसका लक्षण करते हुए कहा है कि "कानून सामान्य हित के लिए विवेक-बुद्धि की वह व्यवस्था है जो उस व्यक्ति द्वारा उद्घोषित की जाती है जिसके हाथ में किसी समाज की देखभाल का अधिकार होता है।" वह कानून को चार वर्गों में बाँटता है—(१) शाश्वत कानून, (२) प्राकृतिक कानून, (३) मानवीय कानून, (४) दैवी कानून।

राज्य और चर्च में वह चर्च की सर्वोपरि सत्ता मानता है, राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपना शासन इस ढंग से करे कि भगवान् की इच्छा पूरी हो तथा धर्म की वृद्धि हो। उसने जहाज के रूपक से चर्च की सत्ता को सर्वोच्च बताया है। उसकी दृष्टि में चर्च सामाजिक संगठन का ताज है।

एक्विनास की महत्वपूर्ण देनें ये हैं—(१) विधि का विवेचन और विश्लेषण, (२) राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की व्याख्या, (३) जनकल्याणकारी राज्य का विचार, (४) समानता का सिद्धान्त, (५) विधि की सर्वोच्च सत्ता, (६) समन्वयवाद।

प्रश्न

(१) एक्विनास को समन्वयवाद की विचारधारा का प्रवर्तक क्यों कहा जाता है ?

(२) एक्विनास के दास-प्रथा तथा राज्यविषयक विचारों का परिचय दीजिए।

(३) एक्विनास के कानून सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डालिए। (गोरखपुर, १९७६)

(४) कानून एवं इसके वर्गीकरण पर थामस एक्विनास के विचारों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए। (राजस्थान, १९७९)

(५) चर्च एवं राज्य के सम्बन्ध पर थामस एक्विनास के विचारों की विवेचना कीजिए। (राजस्थान, १९७८)

(६) एक्विनास के लिए चर्च "सामाजिक संगठन का ताज है, वह लौकिक संगठन का प्रतिद्वन्द्वी नहीं वरन् उसकी पूर्णता है।" इस सन्दर्भ में चर्च तथा राज्य के सम्बन्धों को बताइए।

चौथा अध्याय

मेकियावेली [१४६९—१५२७ ई०]

इटली का चाणक्य: मेकियावेली का जीवन-परिचय—प्राचीन भारतीय राजनीति के चिन्तन में कूटनीति के सम्बन्ध में जो स्थान चाणक्य का है, उसी प्रकार का स्थान पाश्चात्य राजनीति के चिन्तन में इटली के मेकियावेली का है, अतः मेकियावेली को 'इटली का चाणक्य' कहा जाता है। इस कूटनीतिज्ञ राजनीतिशास्त्री का जन्म इटली में पुनर्जागरण (Renaissance) के आन्दोलन में अग्रणी फ्लोरेन्स नगर के एक सम्पन्न कुल में १४६९ ई० में हुआ। समुचित शिक्षा ग्रहण करने के बाद २५ वर्ष की आयु में उसने अपने गणराज्य के गृह एवं विदेश कार्यालय में एक साधारण क्लर्क के रूप में नौकरी आरम्भ की। चार वर्ष में ही वह उन्नति करते हुए वहाँ के द्वितीय उच्चपद पर पहुँचा और १५१२ ई० तक इस पद पर बना रहा। इस समय उसकी योग्यता से प्रभावित होकर उसे फ्लोरेन्स राज्य का राजदूत बनाकर विशेष कार्य करने के लिए विदेशी राज्यों में भेजा गया। इससे उसे फ्रांस के लुई द्वादश, पवित्र रोमन सम्राट् मेक्सिमिलियन प्रथम, पोप जूलियस द्वितीय के दरबारों में जाने का तथा वहाँ की कूटनीति के दाँव-पेचों और राजनीतिक षड्यन्त्रों के अध्ययन का स्वर्ण अवसर मिला।

१५१२ ई० में फ्लोरेन्स के गणराज्य में प्रबल राजनीतिक परिवर्तन के साथ मेकियावेली के बुरे दिन आ गए। १४९४ ई० से पहले तक फ्लोरेन्स में मेदिची (Medici) नामक व्यापारी परिवार का शासन था। इस वर्ष फ्रेंच सेनाओं के आगमन पर यहाँ क्रान्ति हो गई और इस परिवार को फ्लोरेन्स से निर्वासित होना पड़ा। यहाँ फ्रांस की पक्षपाती सरकार सत्तारूढ़ हुई, यह १५१२ ई० तक शासन करती रही। मेकियावेली इसी सरकार का कर्मचारी था और फ्रेंचों का प्रबल समर्थक था। १५१२ ई० में मेदिची परिवार ने स्पेन के राजा के सहयोग से पुनः फ्लोरेन्स की शासन-सत्ता अपने हाथ में ली और मेकियावेली को इस परिवार के शासन के विरुद्ध षड्यन्त्र के सन्देह में जेल की हवा खानी पड़ी। मित्रों के प्रयत्नों से जेल से उसकी रिहाई इस शर्त पर हुई कि वह सार्वजनिक जीवन में कोई भाग नहीं लेगा। अपने जीवन के शेष पन्द्रह वर्ष उसने केसियानो नामक स्थान के फार्म में समाज-सेवा और लेखन-कार्य करते हुए व्यतीत किए।

रचनाएँ—इन्हीं दिनों प्राचीन रोमन ग्रन्थों का अनुशीलन करते हुए उसने सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक लिवी (५९ ई० पू० से १७ ई० पू०) द्वारा लिखी गई रोमन इतिहास की पुस्तक पर **'इतिहास की दस पुस्तकों पर व्याख्याएँ'** (Discourses on the First Ten Books of Livy) नामक ग्रन्थ लिखना शुरू किया। इसमें उसका यह उद्देश्य था कि प्राचीन काल के शासन और राजनीति के सिद्धान्तों का अध्ययन एवं

अनुशीलन करते हुए वर्तमान राजनीति में इनका उपयोग किया जाए। अतः उसने अपने अनुभवों और विचारों को पुष्ट करने वाले प्रमाणों को प्राचीन साहित्य से ढूँढ़कर अपना लेखन-कार्य आरम्भ किया। उसने उस समय फ्लोरेन्स पर शासन करने वाले परिवार के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति गुइलिआनो मेदिची को भेंट करने के लिए अपने सम्पूर्ण अध्ययन और परिणामों का निचोड़ संक्षेप में देने के उद्देश्य से १५१३ ई० में **प्रिंस** (The Prince) नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक लिखी।

उसके ग्रन्थों में **प्रिंस** (The Prince) नामक पुस्तक सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह कुल २६ अध्यायों में विभक्त है। अध्ययन की सुविधा के लिए इन २६ अध्यायों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। इनमें से अन्तिम तथा तीसरा भाग सबसे अधिक महत्व रखता है। इस भाग में उसने अपने राजनीतिविषयक दर्शन की विशद व्याख्या की है और राजा को नीतिसम्बन्धी शिक्षाएँ भी दी हैं। पुस्तक का मुख्य उद्देश्य **एक राजा के**—विशेष रूप से नया प्रदेश जीतने वाले राजा के लिए अपनी सत्ता सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक उपायों और साधनों का वर्णन करना है। मेकियावेली की कूटनीति सम्बन्धी शिक्षाओं को दृष्टि में रखते हुए उसकी तुलना आसानी से चाणक्य के साथ की जा सकती है।

युग का शिशु—मेकियावेली

प्रायः यह देखा जाता है कि प्रत्येक प्रतिभासम्पन्न और अध्ययनशील विचारक अपने **युग का शिशु** (Child of his Times) होता है। **युग का शिशु होने का यह तात्पर्य है कि अपने समय की परिस्थितियों का उस पर थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य पड़ता है और वह उस समय की समस्याओं का कोई-न-कोई समाधान निकालने का प्रयत्न करता है।** इस दृष्टिकोण से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि मेकियावेली ही क्या, अपितु प्लेटो, अरस्तू आदि भी अपने युग के शिशु थे। लेकिन अन्य विचारकों की अपेक्षा समकालीन समस्याओं ने मेकियावेली का ध्यान अपनी ओर अत्यधिक आकृष्ट किया था। अतः सुप्रसिद्ध अमेरिकन विचारक तथा राजनीतिक दर्शन के सिद्धान्तों का इतिहास लिखने वाले **डनिंग ने उसे पूरे अर्थों में अपने युग का शिशु** (Child of his Times) **कहा है।**[1] उसके प्रत्येक विचार में इटली की तत्कालीन परिस्थितियों की स्पष्ट छाप और झलक मिलती है। उसको प्रभावित करने वाली राजनीतिक और बौद्धिक परिस्थितियाँ निम्नलिखित थीं—

१. शक्तिशाली राजतन्त्रों की स्थापना—जब मेकियावेली का आविर्भाव हुआ तो चर्च में पोप की निरंकुश सत्ता को नियन्त्रित करने वाला परिषदीय आन्दोलन (Ounciliar Movement) समाप्त हो चुका था। इंगलैण्ड में हेनरी सप्तम ने, फ्रांस

1. "In no system of political philosophy is the influence of an environment more manifest than in that of Machiavelli. The brilliant Florentine was in the fullest sense the child of his times."

—Dunning, p. 285.

में लुई एकादश, चार्ल्स अष्टम व लुई द्वादश ने तथा स्पेन में फर्डिनैण्ड ने सामन्तों और उनकी प्रतिनिधि सभाओं का दमन करते हुए शक्तिशाली और निरंकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchies) स्थापित किए थे। उस समय राज्य और चर्च के क्षेत्र में शक्तिशाली वीर पुरुषों की निरंकुश सत्ता का युग था। इस परिस्थिति ने मेकियावेली द्वारा लिखे गए 'प्रिंस' को बहुत प्रभावित किया।

२. **राष्ट्रीयता की भावना**—इस समय इंगलैण्ड, फ्रांस और स्पेन के राज्य राष्ट्रीयता की भावना के आधार पर सुदृढ़, संगठित और शक्तिशाली बने थे। मेकियावेली को इस विषय में फ्रांस का प्रत्यक्ष अनुभव था। इन शक्तिशाली राज्यों की तुलना में इटली पाँच राज्यों में बँटा हुआ था—दक्षिण में नेपल्स का राज्य था, मध्य इटली में रोमन चर्च के प्रदेश, मीलान की डची, वेनिस और फ्लोरेन्स के गणराज्य थे। **मेकियावेली इन सभी राज्यों का एकीकरण फ्रांस की भाँति एक राष्ट्रीय राजा (National Monarch) की अध्यक्षता में करना चाहता था।** 'प्रिंस' के अन्तिम अध्याय में उसने इटली की दुर्दशा पर आँसू बहाते हुए मेदिची घराने के गुइलिआनो से यह आशा प्रकट की है कि **वह इटली का एकीकरण करे और मूसा की भाँति उसे विदेशी बर्बरों की दासता से मुक्त करे।** उसका यह मनोवांछित कार्य ३५० वर्ष बाद १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कावूर और गैरीबाल्डी ने पूरा किया।

३. **कूटनीति का प्रभाव**—उस समय पोप इटली के एकीकरण का विरोधी था। वह अपनी सत्ता सुदृढ़ करने के लिए इटली में विदेशी राजाओं और सेनाओं को बुला रहा था। १४९४ ई० में मेकियावेली के सरकारी नौकरी में प्रवेश के साथ फ्रांस के राजा चार्ल्स अष्टम का इटली पर आक्रमण हुआ और उसकी मातृभूमि फ्रांस, स्पेन और जर्मनी के आपसी झगड़ों का अखाड़ा बन गई। **इस समय इटली के छोटे-छोटे राज्य अपनी रक्षा मुख्य रूप से कूटनीति एवं कपट के साधनों से ही कर सकते थे।** मेकियावेली के कार्यकाल (१४९८—१५१२) के चौदह वर्षों में यह नीति पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी और उसकी रचनाओं के प्रत्येक पृष्ठ पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

४. **पुनर्जागरण** (Renaissance)—यह आन्दोलन योरोप में इटली से और इटली में मेकियावेली की मातृभूमि फ्लोरेन्स से आरम्भ हुआ था। इसके कारण कला, दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में मध्यकालीन आदर्शों का परित्याग करके यूनानी और रोमन आदर्शों को अपनाया जा रहा था। धर्म और नैतिकता के क्षेत्र में भी यही दशा थी। उस समय के इस बौद्धिक आन्दोलन की विशेषता मध्ययुग के विचारों से मुक्ति पाना था। मेकियावेली ने इस बौद्धिक स्वतन्त्रता के कारण मध्ययुग के धार्मिक और नैतिक विचारों की मर्यादा से ऊपर उठते हुए प्राचीन रोमन ऐतिहासिकों का अध्ययन करके उदाहरणों से अपने सिद्धान्तों की पुष्टि की और अपने निराले विचार लोगों के सामने रखे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डनिंग का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि **"यह प्रतिभासम्पन्न फ्लोरेन्सवासी (मेकियावेली) वास्तविक अर्थ में अपने युग का शिशु था।"**

श्री जोन्स ने मेकियावेली पर पुनर्जागरण के प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा

है कि "उनकी कृतियों में उनके युग (पुनर्जागरण) के बहुत सही दर्शन होते हैं।"[1] व्यक्ति का महत्व, प्रकृति का महत्व और उसका सौन्दर्य, व्यक्ति का असीम विकास और पूर्णता, जन्म के आधार पर व्यक्ति की उच्चता का मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति का तिरस्कार, बौद्धिक तर्कवाद, जगत् की वास्तविकता का निरूपण, उद्गमन पद्धति का अनुसरण, राष्ट्रीयता की भावना, स्वर्ग के स्थान पर मानवीय उद्देश्यों की उपलब्धि का औचित्य आदि ऐसी बातें हैं जिनका समर्थन मेकियावेली ने अपने विचारों और कृतियों में किया है और ये सारी की सारी बातें पुनर्जागरण के युग की हैं अतः उन्हें अपने युग का शिशु कहा जा सकता है और इन सब बातों में वे पुनर्जागरण के प्रतिनिधि हैं।

५. नैतिकता और राजनीति का पृथक्करण—मेकियावेली का युग घोर नैतिक पतन का युग था। सैबाइन के शब्दों में **उस समय सभी संस्थाएँ अपने नैतिक पतन की ओर अग्रसर हो रही थीं। राजनीति में भ्रष्टाचार, निर्दयता, धोखाधड़ी, छल-कपट का बोलबाला था। विश्वास और सचाई बचपने की बातें मानी जाती थीं** और इनका प्रयोग केवल शिष्टाचार के नाते किया जाता था। शक्ति और चालाकी सफलता की सीढ़ी बन चुकी थी। यह ऐसा युग था जिसके बारे में अरस्तू ने कहा था, "जब मानव विधि और न्याय से मुक्त हो जाता है तो वह जानवर से भी बदतर हो जाता है।" इस समय धर्मधुरन्धर पोपों का आचरण नैतिक दृष्टि से पतन की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। पोपों के विलासी जीवन और कुकर्मों ने लोगों के हृदयों में धर्म के प्रति विश्वास और श्रद्धा समाप्त कर दी थी। मेकियावेली ने पोप एलेक्जेण्डर षष्ठ का उदाहरण देते हुए लिखा था कि उसने जीवन-भर धोखा देने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं किया है। सावानेरोला जैसे कुछ सन्त चर्च में सुधार की माँग कर रहे थे। किन्तु उस समय न केवल इनकी आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज थी, अपितु पोपों द्वारा इसके दमन का भी प्रयत्न किया जाता था। मेकियावेली की मातृभूमि फ्लोरेन्स पर जब फ्रांस ने अधिकार किया तो फ्रांस के राजा ने पोप को खुश करने के लिए चर्च की बुराइयों को दूर करने की आवाज उठाने वाले इस सन्त को बन्दी बना लिया और जीवित जला दिया। उस समय जब ईश्वर के प्रतिनिधि पोपों ने धर्म और नैतिकता को तिलांजलि दे दी थी तो राजाओं से इन आदर्शों का पालन करने की दुराशा मात्र थी। वे खुल्लमखुल्ला नैतिक और धार्मिक नियमों का उल्लंघन कर रहे थे। मेकियावेली पर इन परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा। उसने तत्कालीन वास्तविक परिस्थितियों के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि राजनीति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। शक्ति ही सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है। अतः उसने राजाओं को यह सलाह दी कि राज्य के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए धर्म और नीति के सिद्धान्तों का बलिदान करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए। छल से, बल से जैसे भी हो अपने राज्य की सुरक्षा और विस्तार करना चाहिए। इस दृष्टि से मेकियावेली अपने युग का प्रतिनिधि था।

६. मानव की दानव के रूप में कल्पना—मेकियावेली के युग का इटली और योरोप इतना अधिक भ्रष्टाचारी और पतित था कि मेकियावेली ने मानव-स्वभाव के बारे

1. W. T. John's 'Masters of Political Thought', p. 26-27.

में बड़ी बुरी धारणा बनाई। उस समय के राजा और पोप सदैव संघर्ष और षड्यन्त्रों में लगे रहते थे। अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए वे कोई भी घृणित, अनैतिक, धर्मविरुद्ध कार्य करने में कोई संकोच नहीं करते थे। ऐसे मनुष्यों को देखकर मेकियावेली ने यह परिणाम निकाला कि मानव स्वभाव से ही दानव और दुष्ट तथा स्वार्थी प्रवृत्तियों वाला और दुर्गुणों से परिपूर्ण है। मनुष्य की सभी सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों और कार्यकलापों का मूल प्रेरणा-स्रोत उसकी घोर स्वार्थ भावना है। 'प्रिंस' के १७वें अध्याय में उसने लिखा था, "**मनुष्य किसी से तभी तक प्रेम करते हैं, जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध होता है······जब तक आपको सफलता मिलती है वे पूर्ण रूप से आपके बने रहेंगे। वे आपके लिए उस समय तक अपने जीवन, रक्त, सम्पत्ति, बच्चों का बलिदान करने के लिए तत्पर रहेंगे, लेकिन जैसे ही उनके लिए आपकी आवश्यकता समाप्त हो जाती है वे आपके विरुद्ध हो जाते हैं······व्यक्ति स्वभाव से ईर्ष्यालु और महत्वाकांक्षी होता है।**"

मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचार

मेकियावेली के राजनीतिक सिद्धान्तों की विवेचना करने से पूर्व हमें यह देख लेना चाहिए कि मानव-स्वभाव के विषय में उसने क्या विचार प्रकट किए हैं, क्योंकि सरकार का स्वरूप इसका निर्माण करने वाले मनुष्यों के स्वभाव से ही निर्धारित होता है। मेकियावेली ने अपने शासन के स्वरूप का जो महल खड़ा किया है, वह मानव-स्वभाव के आधार पर ही है।

मेकियावेली ने मानव-स्वभाव का जो विवेचन अपनी पुस्तक में किया है, वह अनिवार्य रूप से तत्कालीन इटली के निवासियों के स्वभाव एवं चरित्र पर आधारित है। प्लेटो मनुष्य को स्वभावतः सद्गुणी (Virtuous), भला, दैवी प्रवृत्तियाँ रखने वाला समझता था, किन्तु मेकियावेली मानव को दानव समझता था, वह उसकी प्रवृत्ति या स्वभाव घोर स्वार्थी और दुष्ट मानता है। उसके मतानुसार मनुष्य की सब सामाजिक और राजनीतिक चेष्टाओं और क्रियाओं का मूल प्रेरणा-स्रोत घोर स्वार्थवाद की भावना है। मनुष्य सभी कार्य अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए तथा अपने को लाभ पहुँचाने के लिए करता है। 'प्रिंस' के १७वें अध्याय में लिखा है—"**सामान्य रूप से मनुष्यों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे कृतघ्न, चंचल, झूठे, कायर और लोभी होते हैं।[1] जब तक आपको सफलता मिलती है, वे पूर्ण रूप से आपके बने रहेंगे। वे आपके लिए उस समय तक अपने रक्त, सम्पत्ति, जीवन और बच्चों को बलिदान करने के लिए तैयार रहेंगे, जब तक इनकी आवश्यकता दूर रहती है। ज्योंही वह आवश्यकता निकट आती है तो वे आपके विरुद्ध विद्रोह कर देते हैं।**"······"**मनुष्य किसी से तभी तक प्रेम करते हैं, जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध होता है, जब उनका स्वार्थ सिद्ध नहीं होता तो वे विद्रोह**

---

1. "Generally speaking, he says, men are ungrateful, fickle, deceitful, cowardly and avaricious." —Dunning, p. 304.

कर देते हैं।" मनुष्य प्रायः दुर्बल, अज्ञानी और दुष्ट होते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर ही भले बनते हैं। 'डिस्कोर्सेज़' (Discourses) नामक ग्रन्थ में भी उसने मानव की दानवता का विस्तार से प्रतिपादन किया है।

हॉब्स की तरह वह यह मानता है कि मनुष्य में असीम और अनन्त इच्छाएँ हैं, इनकी पूर्ति के लिए ही वह सब कार्य करता है। **उसकी एक बड़ी इच्छा सम्पत्ति रखने की होती है। मनुष्य पिता की मृत्यु का दुःख भूल जाते हैं, पर पैतृक सम्पत्ति का छीना जाना कभी नहीं भूलते।**[1] अतः वह राजा को यह उपदेश देता है कि मनुष्यों को प्राणदण्ड भले ही दे, किन्तु उनकी सम्पत्ति न छीने। अपने भौतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए वे स्वतन्त्रता, सम्पत्ति और स्वशासन की आकांक्षा रखते हैं।

इसके अलावा मानवीय स्वभाव का एक और तत्व भी महत्वपूर्ण है और वह है—भय। मेकियावेली का विचार है कि **भय प्रेम से भी बढ़कर मानव-जीवन को प्रभावित करता है।** अतः राजा को प्रजावत्सल ही नहीं, अपितु ऐसा होना चाहिए कि लोग उससे सदा डरते रहें। जब तक वे डरेंगे, तभी तक राजा से प्रेम करेंगे और उसके आदेशों को मानेंगे। **एक कुशल शासक मानव-प्रकृति की निर्बलताओं को दृष्टि में रखकर कपट और छल का प्रयोग करके, अपने को शक्तिशाली और भयंकर रखते हुए भी अच्छा शासक बन सकता है।**

सांसारिक सुख की इच्छा के कारण मनुष्य लाभ व हिंसा आदि दुर्गुणों की ओर प्रवृत्त होता है। यह सुख सम्पत्ति से प्राप्त होता है। सम्पत्ति का उपभोग करने के लिए ही मनुष्य स्वतन्त्रता और स्वराज्य चाहता है। सामान्य जनता अपने जीवन और सम्पत्ति की रक्षा चाहती है। प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों का उद्देश्य आदर्श समाज की आध्यात्मिक उन्नति करना था, ईसाई धर्म का प्रचार होने पर राज्य को परलोक को सुधारने और इसे प्राप्त करने की परिस्थिति को उत्पन्न करने का साधन समझा गया। किन्तु मेकियावेली ने राज्य के उद्देश्य की आधुनिक कल्पना को सामने रखा, जिसके अनुसार सांसारिक समृद्धि को बढ़ाना एवं सुख की सृष्टि करना ही राज्य का प्रधान प्रयोजन है।

नैतिकता और धर्म-सम्बन्धी विचार

राजनीति का नैतिकता और धर्म से पृथक्करण—मेकियावेली के विचार की एक प्रधान विशेषता राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के प्रभाव से सर्वथा मुक्त, पृथक् और स्वतन्त्र करना है। इस दृष्टि से वह सर्वथा मौलिक विचारक और प्राचीन एवं मध्यकालीन विचारकों से सर्वथा भिन्न था। सोफिस्टों (Sophists) के अतिरिक्त सभी यूनानी विचारक—सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू नैतिक जीवन को बहुत महत्व देते थे। चर्च के विचारक ईश्वरीय नियमों तथा ईश्वरीय ज्ञान में अगाध श्रद्धा

---

1. "Men more readily forget the death of a father than the loss of a patrimony." —Dunning, p. 305.

रखते थे, उनका समूचा राजनीतिक चिन्तन धर्म से अनुप्राणित था।

किन्तु मेकियावेली मध्ययुग का **पहला ऐसा विचारक था जिसने राजनीति में स्पष्ट रूप से नैतिकता के सिद्धान्तों को तिलांजलि दी, उसने धर्म को धता बताते हुए अर्धचन्द्र देकर उसे राजनीतिक क्षेत्र में प्रभुता के पद से वंचित किया** और इस प्रकार प्राचीन तथा मध्यकाल से चली आने वाली धर्मप्रधान राजनीतिक विचारधारा से इसे अलग किया। वह 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की कहावत को चरितार्थ करते हुए कहता है कि शक्ति और सत्ता प्राप्त करने और सुदृढ़ बनाने के लिए सब प्रकार की अनीति, कुकर्म, अधर्म, पाप, विश्वासघात, हत्या, हिंसा और क्रूरता जायज है। यद्यपि राजनीति में व्यावहारिक रूप से इस सिद्धान्त का पालन अनादिकाल से हो रहा है, तथापि इसे नग्न सत्य के रूप में सर्वप्रथम मेकियावेली ने ही घोषित किया। उसका यह कहना है कि राजा के लिए धर्म द्वारा प्रतिपादित शुचिता और पवित्रता का जीवन भले ही सराहनीय हो, किन्तु इतिहास में उसी राजा को अधिक सफलताएँ मिली हैं, जिसने धार्मिक जीवन को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। अतः राजा को ऊपर से दयालु, विश्वासी, धार्मिक और सच्चा होने का ढोंग करते हुए आवश्यकता पड़ने पर निर्दयी, विश्वासघाती, अधार्मिक और झूठा बनने के लिए तैयार रहना चाहिए। उसने इसे पोप अलेक्जेण्डर षष्ठ के उदाहरण से पुष्ट करते हुए कहा है कि उसने लोगों को धोखा देने के सिवाय कुछ भी नहीं किया।

वह धोखा और ढोंग राजा के लिए जरूरी समझता है और कहता है कि राजा में जहाँ एक ओर शेर का साहस होना चाहिए, वहाँ दूसरी ओर लोमड़ी की धूर्तता, मक्कारी और चालाकी भी आवश्यक है। वह यह समझता है कि सांसारिक सफलता सबसे बड़ा लक्ष्य है, उसके मतानुसार अनैतिक साधनों का अपनाना अनुचित नहीं, किन्तु आवश्यक है। लक्ष्य की सफलता साधनों को पवित्र या न्यायोचित बना देती है। उसने क्रूरता, विश्वासघात आदि जघन्य कृत्य करने वालों के अनेक उदाहरण 'प्रिंस' में दिए हैं। यही गनीमत है कि मेकियावेली ने सफलता पाने के लिए किए जाने वाले जघन्य कृत्य को एक बार ही करने को कहा है। उसके कथनानुसार एक बार स्वार्थसिद्धि हो जाने के बाद फिर धूर्ततापूर्ण अनैतिक कार्यों के स्थान पर ऐसे कार्य किए जाने चाहिएँ जिनसे प्रजा को लाभ ही लाभ हो। यह व्यवस्था भी उसने राज्य को सुदृढ़ बनाए रखने की दृष्टि से की है।

मेकियावेली ने **घोर अनैतिक कार्यों का समर्थन तथा नीतिशास्त्र से राजनीतिशास्त्र का पृथक्करण तीन कारणों के आधार पर किया है—**

(१) **राज्य का हित सर्वोच्च होना**—यूनानी दार्शनिकों की भाँति वह राज्य को सर्वोत्तम और सर्वोच्च संगठन समझता है। राज्य के हित सब व्यक्तियों के हितों से ऊपर हैं; अतः "जब राज्य की सुरक्षा संकट में हो तो इस बात का कोई विचार नहीं करना चाहिए कि क्या न्यायोचित है या क्या अन्यायपूर्ण, क्या दयालुतापूर्ण है या

क्या निर्दयतापूर्ण, क्या गौरवपूर्ण है या क्या निर्लज्जतापूर्ण।"[1]

(२) **यथार्थवादी दृष्टिकोण—दूसरा** कारण उसका यथार्थवादी दृष्टिकोण तथा 'वस्तुओं के वास्तविक सत्य तक पहुँचने की आकांक्षा' है। वह मनुष्य को घोर स्वार्थी मानता है। राजनीति की प्रधान प्रेरणा स्वार्थसिद्धि है, अतः इसकी पूर्ति के लिए किया गया प्रत्येक कार्य न्यायोचित है। जब उस समय ईसाई जगत् में सबसे बड़े धर्मगुरु समझे जाने वाले पोप अलेक्जेण्डर षष्ठ के सम्बन्ध में मेकियावेली का यह मत था कि उसने जीवन-भर धोखा देने के सिवाय कोई दूसरा कार्य नहीं किया तो अन्य व्यक्तियों के नैतिक आचार की कल्पना स्वयमेव की जा सकती है।

(३) **वीरपूजा की भावना—तीसरा** कारण उसका शक्ति को और वीर पुरुषों को असाधारण महत्व देना है। शक्ति प्राप्त करने वाले पुरुषों को वह वन्दनीय समझता था, अतः शक्ति प्राप्त करने के लिए किसी भी उपाय का अवलम्बन करना उचित समझता था। उसके इस दृष्टिकोण के कारण, धार्मिक प्रभाव से सर्वथा मुक्त, कोरी सांसारिक सफलता को महत्व देने वाले भौतिक और धर्महीन राजनीतिशास्त्र का जन्म हुआ।

मेकियावेली का धर्म के प्रति दृष्टिकोण—राज्य की आवश्यकता के लिए धर्म-विरुद्ध कार्यों का प्रबल समर्थक होने पर भी वह राजनीतिक दृष्टि से धर्म को बड़ा उपयोगी समझता है, क्योंकि **धर्म के भय से लोग राज्य के नियमों का पालन करते हैं।** उसका यह मत है कि **"धार्मिक नियमों का पालन गणराज्यों की महत्ता का कारण होता है, इनकी उपेक्षा राज्यों के विनाश को उत्पन्न करती है।...जो राजा और गणराज्य अपने को बनाए रखना चाहते हैं, उन्हें धार्मिक विधियों की पवित्रता को सुरक्षित रखना चाहिए, इनके प्रति उचित श्रद्धा का व्यवहार करना चाहिए।"** राज्य में धर्म की महत्ता उसकी दृष्टि में इसलिए है कि यह सभ्य समाज का आधार है, लोग शासकों द्वारा बनाए हुए नियमों की कई बार उपेक्षा करते हैं, किन्तु धर्म के दैवीय नियमों को ईश्वरीय आदेश समझकर उनका उल्लंघन नहीं करते।

सामान्य रूप से धर्म का समर्थक होते हुए भी वह ईसाइयत का कड़ा आलोचक है। वह यह मानता है कि ईसाइयत के नम्रता आदि के गुणों को अपनाने पर बल देने वाले धार्मिक सिद्धान्तों ने इटलीवासियों को भीरु तथा दब्बू बना दिया है।

मेकियावेली के समय के पोप अव्वल दर्जे के धूर्त और दुराचारी थे। वह उनका विरोधी केवल इसलिए नहीं था कि वे अधार्मिक थे, किन्तु इसलिए भी था कि वे इटली की एकता में बाधक थे; अतः वह पोपों का विरोधी था। चर्च और धर्म के सम्बन्ध में उसकी यह धारणा थी कि यह राज्य से स्वतन्त्र और उसके ऊपर अधिकार रखने वाला तथा उसे नियन्त्रित करने वाला नहीं होना चाहिए, किन्तु उसके उद्देश्यों को पूरा करने

1. "Where the safety of one's country is at stake, there must be no consideration of what is just or unjust, merciful or cruel, glorious or shameful; on the contrary, everything must be disregarded save that course which will save her life and maintain her independence."
—Dunning, p. 300.

वाला होना चाहिए तथा इसे राज्य के अधीन रहना चाहिए।

आलोचना—मेकियावेली ने धर्म और नीतिशास्त्र की घोर उपेक्षा की है। वह इनका उपयोग उसी हद तक वांछनीय समझता था, जहाँ तक ये राजा के लिए या राज्य के लिए उपयोगी हों। इटली की तत्कालीन परिस्थितियों से उसकी दृष्टि इतनी सीमित और मर्यादित हो चुकी थी कि वह मानव-समाज में इनका सही महत्व आंकने में सर्वथा असमर्थ था। इस विषय में सैबाइन ने सत्य ही लिखा है—**"यह निश्चित है कि १६वीं शताब्दी के आरम्भ में मेकियावेली ने योरोपीय विचारधारा को बिलकुल गलत रूप में चित्रित किया। उसकी दो पुस्तकें लिखे जाने के दस वर्ष के भीतर ही प्रोटेस्टैण्ट धार्मिक सुधार आन्दोलन के कारण राजनीति और राजनीतिक चिन्तन मध्ययुग की अपेक्षा धर्म से अधिक सम्बद्ध हो गया।"**[1] मेकियावेली का ऐसा विचार इटली की सामयिक परिस्थितियों के कारण था। यदि वह किसी दूसरे देश में होता या धर्मसुधार आन्दोलन के बाद लिखता तो वह धर्म की ऐसी उपेक्षा न करता।

राज्य का प्रादुर्भाव और स्वरूप

मानव-स्वभाव की दानवता और दुष्टता में अगाध विश्वास रखने के कारण वह राज्य के आविर्भाव का कारण मनुष्य का स्वार्थ समझता है। व्यक्ति शक्ति का पुजारी है, अतः वह अपनी शक्ति और राज्य को बढ़ाना चाहता है। राज्य की मुख्य विशेषता इसका निरन्तर विस्तार करना है। कोई राज्य स्थिर नहीं रह सकता, उसका विस्तार होना अवश्यम्भावी है।

'प्रिंस' में पहले राज्य की प्राप्ति के उपायों का प्रतिपादन प्राचीन ईरान, रोम तथा यूनान के इतिहास में महत्वपूर्ण कार्य करने वाले साइरस, रोमुलस, डेरियस के उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। इन्होंने अपनी योग्यता और साधनों से राज्य का निर्माण किया था। राज्य प्राप्त कर लेने के बाद राजा अपनी शक्ति बढ़ाने की कभी न पूरी होने वाली तृष्णा के कारण राज्य-विस्तार के लिए बाधित है। रोमन गणराज्य के इतिहास के आधार पर उसने गणराज्यों की शक्ति का विस्तार करने के लिए निम्न पाँच बातें आवश्यक मानी हैं—

(१) नगर की जनसंख्या में वृद्धि करना।
(२) मित्रों की प्राप्ति।
(३) विजित प्रदेशों में उपनिवेश बसाना।
(४) किलों पर घेरे डालने की नीति के स्थान पर खुले मैदानों में जमकर

1. "At all events it is certain that Machiavelli misrepresented completely the state of European thought at the beginning of the sixteenth century. . . . His two books were written within ten years of the day on which Martin Luther nailed his thesis to the door of the Church in Wittenberg and it was the effect of the Protestant Reformation to involve politics and political thought more closely with religion."
—Sabine, p. 352.

लड़ाई करने की नीति अपनाना।

(५) सुशिक्षित सेना को रखना।

राज्य की महत्ता का आधार वह भौतिक शक्ति तथा छल-कपट दोनों को ही समझता था। इन दोनों में छल-कपट अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि शक्ति कपट के बिना अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं होती, किन्तु कपट शक्ति के बिना भी सफल हो जाता है।

राजा का कर्त्तव्य और आचरण

प्लेटो का आदर्श नरेश कामिनी-काँचन के मोह से ऊपर उठा हुआ दार्शनिक राजा था, किन्तु मेकियावेली का **आदर्श राजा वह है जो किन्हीं भी उपायों से राजनीतिक शक्ति प्राप्त करके उसका निरन्तर विस्तार करता है।** उसने प्रिंस में राजा को अपना राज्य बनाए रखने की बहुमूल्य शिक्षाएँ दी हैं। इस विषय में उसकी **मुख्य शिक्षाएँ** निम्नलिखित हैं—

(१) **मनुष्य मानवीयता और पशुता के अंशों से मिलकर बनता है, उसमें दैवी तथा आसुरी—दोनों प्रकार के तत्व विद्यमान हैं।** अतः राजा को इन दोनों के साथ व्यवहार करने के उपायों का ज्ञान होना चाहिए।

(२) **राजा में शेर की शूरता और लोमड़ी की चालाकी होनी चाहिए** ताकि वह शेर की तरह दूसरों के फन्दों में फँसने से तथा लोमड़ी की तरह भेड़ियों द्वारा उठाए जाने से बच सके।[1]

(३) मनुष्य स्वभावतः बुरा होता है और वह स्वयं धर्म के अनुसार आचरण नहीं करता, अतः राजा के लिए भी मनुष्यों के साथ धर्म का पालन आवश्यक नहीं है।

(४) **राजा को ऊँचे दर्जे का बहुरूपिया और ढोंगी होना चाहिए, उसे शत्रुओं को मारकर उनके लिए आँसू बहाने चाहिएँ।**

(५) राजा को ऊपर से यह दिखाना चाहिए कि वह दयालु है, वचनों का पालन करने वाला, सच्चा और धार्मिक है, किन्तु उसे वास्तव में ऐसा होना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर वह क्रूरता, विश्वासघात, अधर्म और अनीति के सभी अनैतिक कार्य कर सके।[2]

---

1. "Since a prince should know how to use the beast's nature wisely, he ought of beasts to choose both the lion and the fox; for the lion cannot guard himself from the toils, nor the fox from the wolves. He must therefore be a fox to discern the toils, and a lion to drive off wolves." —The Prince, Chap. 18.

2. "Therefore it is unnecessary for a prince to have all the good qualities I have enumerated, but it is very necessary to appear to have them. And I shall dare to say this also that to have them and always observe them is injurious, and that to appear to have

(६) प्रत्येक राजा को दयालु होते हुए भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई उसकी क्षमाशीलता का अनुचित लाभ न उठाए।

(७) नए राज्यों में नरेश को क्रूर होने से नहीं डरना चाहिए; प्रजा में राजा का आतंक सदैव बना रहना चाहिए।

(८) राजा को अपने वचनों का पालन उसी समय तक करना चाहिए, जब तक उसे कोई हानि या घाटा न हो।

(९) राजा को यशोलाभ प्राप्त करने के लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिए और ऐसी कोशिश की जानी चाहिए कि वह प्रजा की घृणा का पात्र न बने। इससे बचने के लिए राज्य के नागरिकों की सम्पत्ति नहीं छीननी चाहिए, स्त्रियों का सतीत्व भंग नहीं करना चाहिए।

(१०) उसे उपयुक्त समय पर प्रतिवर्ष प्रजा के मनोरंजन के लिए मेलों की व्यवस्था करनी चाहिए।

(११) राजा को दण्ड आदि देने का अप्रिय कार्य अपने अफसरों द्वारा कराना चाहिए, क्योंकि इसके कारण होने वाली बदनामी अफसरों पर पड़ेगी। इसके विपरीत प्रजा को प्रसन्न करने वाले कार्य—पुरस्कारों, उपाधियों का वितरण स्वयं करना चाहिए, ताकि वह जनता में अधिक लोकप्रिय हो।

(१२) राजा को साहित्य और संगीत का संरक्षक, कलाकारों का सम्मान करने वाला तथा गुणग्राहक होना चाहिए।

(१३) राजा को मन्त्रियों के चुनने में बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए, चापलूसों से बचा रहना चाहिए।

(१४) उसे प्रजा का दिमाग बड़ी योजनाओं में लगाए रहना चाहिए।

(१५) जब वह किसी नए राज्य पर अधिकार करे तो उसे वहाँ के पुराने संविधान तथा नियमों में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए।

शासन-पद्धति के विभिन्न प्रकार

प्रायः मेकियावेली राजतन्त्र का पक्षपाती समझा जाता है। इस धारणा का मुख्य आधार उसका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रिंस' (The Prince) है। इसमें उसने राजा को आवश्यकता पड़ने पर समस्त नैतिक बन्धनों से ऊपर उठकर शक्तिशाली राज्य स्थापित करने के लिए उपयुक्त परामर्श दिए हैं। वह फ्रांस, स्पेन तथा इंगलैण्ड के सुदृढ़ एवं शक्तिशाली राजतन्त्रों का प्रशंसक था। इटली के अनेक राज्यों में विभक्त होने के कारण वह इसके उद्धार के लिए भी यहाँ प्रबल राजतन्त्र की स्थापना को

---

them is useful; to appear merciful, faithful, humane, religious, upright and to be so, but with a mind so framed that should you require not to be so, you may be able and know how to change to the opposite."
—Dunning, p. 34.

आवश्यक समझता था।

किन्तु वह राजतन्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ शासन-व्यवस्था नहीं समझता था; यह बात 'डिस्कोर्सेज़' में उसके विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों के वर्गीकरण और इनके गुण-दोषों के विवेचन से स्पष्ट होती है। इस वर्गीकरण में वह अरस्तू का अनुसरण करता है। उसके मतानुसार शासन-प्रणालियों के तीन मुख्य भेद निम्नलिखित हैं—

१. राजतन्त्र (Monarchy)
२. कुलीनतन्त्र (Aristocracy)
३. वैध प्रजातन्त्र (Constitutional Monarchy)

इसके तीन विकृत रूप ये हैं—

१. तानाशाही (Tyranny)
२. अल्पजनतन्त्र या धनिकतन्त्र (Oligarchy)
३. प्रजातन्त्र (Democracy)

मेकियावेली मिश्रित शासन-प्रणाली (Mixed Government) **को सर्वोत्तम तथा सबसे अधिक स्थिर समझता है।** उसने 'प्रिंस' में राजतन्त्र का विवेचन किया है और **'डिस्कोर्सेज़'** में गणराज्य का।

गणराज्य के गुण—डनिंग के मतानुसार अरस्तू की भाँति उसका झुकाव गणराज्य प्रणाली की ओर है। उसके मत में जहाँ सामान्य रूप से आर्थिक समानता पाई जाती हो, वहाँ गणराज्य (Commonwealth) की प्रणाली न केवल सर्वोत्तम है, किन्तु इस अवस्था में केवल यही पद्धति सम्भव हो सकती है। **वह निम्नलिखित कारणों के आधार पर गणराज्य को राजतन्त्र से उत्कृष्ट समझता है—**

(१) अरस्तू की भाँति उसकी भी यह धारणा है कि समग्र रूप से जनता एक राजा से अधिक समझदार होती है। उसके निर्णय अच्छे होते हैं। जनता का निर्णय ईश्वर का निर्णय होता है।

(२) अधिकारियों का चुनाव और व्यक्तियों का सम्मान करने में जनता का निर्णय सामान्य रूप से ठीक होता है।

(३) राजा भले ही राजनीतिक और कानूनी संस्थाओं की स्थापना करने में अधिक सफल हो, किन्तु उन्हें बनाए रखने की क्षमता गणराज्य में अधिक होती है।

(४) गणराज्य राजाओं की अपेक्षा सन्धियों के पालन का कार्य अधिक सफलतापूर्वक कर सकते हैं, क्योंकि राजा जब चाहे अपनी सन्धि भंग कर सकता है, किन्तु गणराज्यों में सन्धियों को पुष्ट अथवा भंग करने के लिए सब नागरिकों की सहमति आवश्यक होती है। दूसरे देश सन्धि-पालन के लिए राजतन्त्र की अपेक्षा गणराज्य पर अधिक भरोसा रख सकते हैं।

(५) गणराज्य इसलिए भी श्रेष्ठ है कि इसमें सभी व्यक्तियों को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है।

गणराज्य के दोष—मेकियावेली गणतन्त्र के गुणों के साथ उसके दोषों को भी समझता है तथा उनके निवारण के लिए अग्रलिखित कुछ उपायों का भी निर्देश करता है—

(१) **गणराज्यों का पहला दोष यह है कि संकटकाल की परिस्थितियों का सामना करने की सामर्थ्य उनमें नहीं होती।** ऐसे समय में गणराज्यों में शक्तिशाली व्यक्ति का शासन होना चाहिए।

(२) **दूसरा दोष गणराज्य में सरकारी पदों पर किसी भी एक व्यक्ति का नियन्त्रण न होने से इनका अन्यायी हो जाना है।** गणराज्य में ऐसे अधिकारियों के कार्यों की जाँच करने और दण्ड देने की व्यवस्था होनी चाहिए।

(३) **तीसरा दोष दलबन्दी का है।** गणराज्यों में ऐसा होना स्वाभाविक है। उसके मतानुसार प्रत्येक दल को अपने विचारों को प्रकट करने में पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिए। यदि इसे रोका जाएगा तो असन्तोष की आग किसी भी समय विद्रोह के रूप में फूट सकती है। दलबन्दी के कारण राज्य में फूट न पड़े, इसके लिए यह आवश्यक है कि राज्य की जनसंख्या एक ही जाति की हो। विजातीय तत्व होने से उनकी संस्कृति एवं सामाजिक परम्पराएँ भिन्न होंगी। इनके पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न होने वाली अव्यवस्था गणराज्य को विघटित कर देगी, अतः गणराज्य में सजातीय तत्वों (Homogeneous elements) की प्रधानता होनी चाहिए।

राजतन्त्र के सम्बन्ध में उसका यह विचार है कि निर्वाचित राजतन्त्र स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाए रखने का सबसे प्रभावशाली साधन है। इसमें कुलीनतन्त्र की अपेक्षा आन्तरिक झगड़े कम होते हैं। वह भूमिपति सामन्तों या जमीन रखने वाले सरदारों द्वारा संचालित की जाने वाली शासन-प्रणाली (Gentilnomini) का घोर विरोधी है। सामन्तों के पास स्वतन्त्र शक्ति एवं दुर्ग होने से सामाजिक व्यवस्था और शासन का चलाना असम्भव हो जाता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि शासन-प्रणाली के सम्बन्ध में मेकियावेली का विचार है कि विभिन्न समयों और विभिन्न परिस्थितियों में विविध प्रकार की शासन-प्रणालियाँ उपयुक्त होती हैं, कोई शासन-प्रणाली सब परिस्थितियों के लिए ठीक नहीं होती। विभिन्न शासन-प्रणालियों में उसका झुकाव समानता रखने वाले नागरिकों के गणराज्य की ओर है।

कानून का विचार

मध्ययुग में ईश्वरीय (Divine) और प्राकृतिक कानून (Natural Law) की सत्ता स्वीकार की जाती थी। मेकियावेली इन दोनों को नहीं मानता है। वह मानव का केवल एक ही उद्देश्य शक्ति और सत्ता को प्राप्त करना मानता है, अतः उसे मोक्ष की प्राप्ति में सहायक ईश्वरीय कानून को मानने की आवश्यकता नहीं है।

प्राकृतिक कानून का अभिप्राय यह है कि न्यायोचित मानवीय आचरण और व्यवहार के कुछ शाश्वत नियम हैं, इनका पालन प्रत्येक भले आदमी को करना चाहिए। मेकियावेली इनको भी नहीं मानता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में मनुष्य का उद्देश्य शक्ति और ख्याति की प्राप्ति है और उसके चरित्र का मूल्यांकन और आचरण के नियमों का निर्धारण इसी दृष्टि से किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के कानूनों के विचार को न मानते हुए भी, मेकियावेली राज्य द्वारा नागरिकों के आचरण के नियन्त्रण के लिए बनाए गए नियमों तथा कानूनों की महत्ता को स्वीकार करता है। उसके मत में **"राज्य की स्थापना और संरक्षण इसके कानून की उत्कृष्टता पर निर्भर है। नागरिकों के सब गुणों का मूलस्रोत कानून है।** राजतन्त्र में भी स्थायी शासन की सबसे बड़ी शर्त यह है कि यह कानून द्वारा नियन्त्रित होना चाहिए।" मेकियावेली इस बात पर बड़ा बल देता है कि सरकारी अधिकारियों द्वारा किए जाने वाले हिंसा के अवैध कार्यों को रोकने के लिए कानूनी व्यवस्था होनी चाहिए। शक्ति का परम उपासक होते हुए भी मेकियावेली यह समझता था कि इसके प्रयोग की सीमाएँ हैं, राज्य केवल बल या भय पर आधारित नहीं होता, उसको सुप्रतिष्ठित करने के लिए कानून भी आवश्यक है। अतः राज्य के लिए बुद्धिमान् कानून-निर्माता होना चाहिए। वह कानून के नियमों द्वारा न केवल नागरिकों के कार्यों का नियन्त्रण करता है, किन्तु उनमें नैतिक गुणों के विकास का और चरित्र-निर्माण का भी कार्य करता है।

मेकियावेली के विचारों की विशेषताएँ

१. मध्ययुगीन विचारधारा से विच्छेद—उसके विचारों की पहली और बड़ी विशेषता यह है कि उसके विचार प्राचीन व मध्यकालीन विचारों की परम्परा से सर्वथा भिन्न हैं, उसके साथ डनिंग के शब्दों में, **मध्ययुग की विचार-पद्धति की समाप्ति और आधुनिक विचारों का सूत्रपात होता है।**[1] मध्ययुग में राजनीतिशास्त्र के विचारकों ने प्रधान रूप से इन समस्याओं तथा प्रश्नों पर विचार किया था—धर्मसत्ता और राजसत्ता का पारस्परिक सम्बन्ध, दो शक्तियों और दो तलवारों का सिद्धान्त, राजकीय मामलों में तथा राजाओं और सम्राट् के धार्मिक मामलों में पोप द्वारा हस्तक्षेप करने के अधिकार तथा दोनों के अधिकार-क्षेत्र, राज्य पर पोपों की प्रभुता के दावों के पक्ष-विपक्ष में दी जाने वाली प्रधान युक्तियों का खण्डन-मण्डन, पीटर द्वारा पोप को चर्च का अधिकार दिए जाने के दावे की तथा कान्स्टैण्टाइन द्वारा चर्च को राज्य का दान करने के तर्कों की समीक्षा।

किन्तु मेकियावेली की रचनाओं में उपर्युक्त विचारों में से एक भी विचार नहीं पाया जाता है। उसने कहीं भी दो शक्तियों के सिद्धान्त की तथा मध्ययुग के अन्य विषयों की चर्चा नहीं की। उसके ग्रन्थ पढ़ते हुए हमें यह प्रतीत नहीं होता कि हम मध्ययुग में हैं। ऐसा लगता है कि हम सर्वथा नए युग और नए लोक में आ गए हैं।

२. ऐतिहासिक पद्धति—मध्ययुग में धार्मिक और राजनीतिक सभी प्रकार की समस्याओं का चिन्तन स्कालेस्टिक (Scholastic) पद्धति के आधार पर किया जाता था, पूर्व पक्ष के रूप में विरोधी पक्ष की सभी युक्तियों को देने के बाद उत्तर पक्ष के रूप

1. "It is quite as accurate to say that he ends the mediaeval era that he begins the modern." —Dunning, p. 324.

में उनका खण्डन प्रबल तर्कों के आधार पर किया जाता था। मेकियावेली ने इस पद्धति का परित्याग करते हुए ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया। उसका यह मत था कि सभी देशों और कालों में मनुष्य का स्वभाव एक जैसा रहता है, वह एक ही प्रकार के उद्देश्यों से संचालित होता है तथा उसकी एक ही प्रकार की समस्याओं का समाधान भूतकाल के गम्भीर अनुशीलन से हो सकता है और इसके आधार पर आगे होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी भी की जा सकती है। उसने इस दृष्टि से प्राचीन यूनान और रोम के इतिहास का अध्ययन किया, लिवी के रोमन इतिहासविषयक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी और 'प्रिंस' में अपने प्रत्येक मन्तव्य को रोम और यूनान के प्राचीन इतिहास के उदाहरणों से पुष्ट किया। मेकियावेली ने अपने समय की परिस्थितियों को देखते हुए पहले से कुछ सिद्धान्त निश्चित कर लिए हैं और इनके समर्थन के लिए वह प्राचीन इतिहास से प्रमाणों को ढूँढ़ता है।

३. **संकीर्ण दृष्टिकोण, केवल शासन-कला का प्रतिपादन**—अरस्तू और मेकियावेली दोनों ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method) का अनुसरण करते हैं, किन्तु दोनों में एक बड़ा अन्तर यह है कि अरस्तू शासन-प्रबन्ध के विषयों का प्रतिपादन करते हुए भी राजनीतिशास्त्र के मौलिक प्रश्नों का तत्वचिन्तन करता है; किन्तु मेकियावेली का दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित है, उसका तत्वदर्शन केवल इस बात तक सीमित है कि शासन की प्राप्ति और उसका संचालन किस प्रकार होना चाहिए और इसमें भी वह शासक के दृष्टिकोण से ही विचार करता है। उसके 'प्रिंस' में इस बात का प्रतिपादन है कि किसी व्यक्ति को किन उपायों से राज्य लेना चाहिए और किन विधियों से उसको सुदृढ़ एवं विस्तृत बनाया जाना चाहिए। उसके ग्रन्थ 'डिस्कोर्सेज़' (Discourses) में इसका विवेचन है कि एक स्वतन्त्र नगर गणराज्य तथा साम्राज्य का निर्माण किस प्रकार कर सकता है।

४. **राजनीति का नैतिकता और धर्म से पृथक्करण**—मेकियावेली के विचार की प्रधान विशेषता राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के प्रभाव से सर्वथा मुक्त, पृथक् और स्वतन्त्र करना है। उससे पहले के विचारकों का राजनीतिक चिन्तन धर्म से अनुप्राणित था। किन्तु मेकियावेली मध्ययुग का पहला ऐसा विचारक है, जिसने राजनीति में स्पष्ट रूप से नैतिकता के सिद्धान्तों को तिलांजलि दी, धर्म को धता बताते हुए अर्धचन्द्र देकर उसे इस क्षेत्र में प्रभुता के पद से वंचित किया। वह 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहता है कि शक्ति और सत्ता प्राप्त करने और सुदृढ़ बनाने के लिए सब प्रकार की अनीति, अधर्म, कुकर्म, पाप, विश्वासघात, हत्या, हिंसा और क्रूरता जायज़ है।

मेकियावेली के विचारों की अन्य विशेषताएँ **बुद्धिवाद** (Rationalism) और **व्यक्तिवाद** (Individualism) हैं। उससे पहले राजनीति के सब प्रश्नों का निर्धारण प्रमाणवाद के तथा बाइबल और ईसाई धर्माचार्यों (Church Fathers) के वचनों के आधार पर किया जाता था। उसने प्रमाणवाद की उपेक्षा कर बुद्धि और विवेक की कसौटी से ही सब प्रश्नों पर विचार करना शुरू किया। वह व्यक्ति के साम्पत्तिक अधिकारों का भी प्रबल समर्थक था।

मेकियावेली की विचारधारा के दोष—मेकियावेली की विचारधारा के दोष निम्नलिखित हैं—

(१) **इसका पहला दोष एकांगी दृष्टिकोण है।** मनुष्य में देव और दानव दोनों के अंश हैं, किन्तु दानवीय अंश को प्रधानता देते हुए उसने उसके मानवीय या दिव्यांश की उपेक्षा की है, उसकी अच्छाइयों की ओर दृष्टिपात नहीं किया।

(२) **दूसरा दोष धर्म और नीति की घोर उपेक्षा है।** वह इनका उपयोग उसी हद तक वांछनीय समझता था जहाँ तक ये राजा के लिए या राज्य के लिए उपयोगी हों। इटली के उस समय के वातावरण के कारण उसका दृष्टिकोण इतना सीमित और मर्यादित हो चुका था कि वह मानव-समाज में धर्म और नीति का सही महत्व आंकने में सर्वथा असमर्थ था।

(३) **तीसरा दोष ऐतिहासिक पद्धति का गलत प्रयोग है।** उसने भूतकालीन इतिहास के निष्पक्ष और तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अपने मन्तव्य और सिद्धान्त निश्चित नहीं किए, किन्तु अपने अनुभव से कुछ सिद्धान्त निश्चित कर लेने पर, इन्हें पुष्ट करने के लिए उसने इतिहास में से उदाहरण ढूंढ़े।

(४) **चौथा दोष राजनीतिशास्त्र के मौलिक प्रश्नों की उपेक्षा है।** उसने अपने दोनों ग्रन्थों में राज्य के स्वरूप, उद्देश्य व शासन के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों पर कोई प्रकाश नहीं डाला। वह राज्यविषयक आधारभूत प्रश्नों के सम्बन्ध में सर्वथा मौन है। उसका 'प्रिंस' मुख्य रूप से इस बात की चर्चा करता है कि राजा राज्य को किस प्रकार हस्तगत करे, अपनी सत्ता सुदृढ़ बनाने के लिए किन उपायों का अवलम्बन करे तथा अपने प्रदेश की वृद्धि और संरक्षण कैसे करे। 'डिस्कोर्सेज़' (Discourses) में गणराज्यों द्वारा प्रादेशिक विस्तार तथा संरक्षण के एवं इसे सुरक्षित रखने के उपायों का ही वर्णन है।

आधुनिक राजनीतिशास्त्र का जनक (पिता) मेकियावेली : उसकी देनें

मेकियावेली को आधुनिक राजनीतिशास्त्र का जनक या पिता कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि उसके विचारों ने आधुनिक राजनीतिक विचारों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। उसके राजनीतिक चिन्तन में गम्भीर दोषों के होते हुए भी उसने राजनीतिशास्त्र को कई महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय देनें दी हैं जिनके कारण उसे आधुनिक राजनीति का जनक कहा जाता है। उसकी ये देनें निम्नलिखित हैं—

१. **धर्मनिरपेक्ष राजनीतिशास्त्र**—उसकी पहली देन राजनीति का धर्म और नीतिशास्त्र से सम्बन्ध विच्छिन्न करना है। उससे पहले धर्म न केवल राजनीति से संयुक्त था, किन्तु कई बार उस पर हावी भी हो जाता था। उसने सर्वप्रथम धर्मनिरपेक्ष (Secular) राजनीतिशास्त्र को जन्म दिया।

२. **वैयक्तिक और सार्वजनिक नैतिकता में भेद और दोहरा नैतिक मानदण्ड (Double Standard of Morality)**—उसकी दूसरी देन वैयक्तिक और सार्वजनिक नैतिकता में भेद स्थापित करना और दोहरे नैतिक मानदण्ड का निर्माण करना था।

वैयक्तिक रूप से अपने स्वार्थ के लिए झूठ बोलना, विश्वासघात, क्रूरता, चोरी और हत्या महापाप हैं, किन्तु राज्य के हित की दृष्टि से ये सब कार्य न्यायोचित हैं। उसके इस सिद्धान्त का यह परिणाम हुआ कि राजनीति और देश-भक्ति के नाम पर सभी प्रकार के कुकर्म किए जाने में कोई दोष नहीं समझा जाने लगा।

३. यथार्थवाद (Realism)—उसकी तीसरी देन यथार्थवाद की थी। राजनीतिशास्त्र का इतिहास लिखने वाले एक **सुप्रसिद्ध अमेरिकन लेखक गैटिल** (Gettel) **ने उसे पहला यथार्थवादी कहा है**। वह यह विश्वास करता था कि राज्य की सत्ता केवल अपने लिए ही है, इसे केवल अपने संरक्षण और संवर्द्धन के लिए सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करने का अधिकार है। इसके साथ ही उसने अपने यथार्थवाद के कारण राजनीतिक अध्ययन को नई दिशा प्रदान की। उससे पहले इसका अध्ययन बाइबल के वचनों, ईसाई धर्मगुरुओं के ग्रन्थों के आधार पर होता था। यह केवल हवाई चिन्तन था। उसने इसका सम्बन्ध वास्तविक परिस्थितियों के साथ जोड़ा और इनके अध्ययन के आधार पर राजनीतिक चिन्तन प्रारम्भ किया। वह अरस्तू के बाद राजनीति के सिद्धान्त और व्यवहार में सामंजस्य स्थापित करने वाला पहला विचारक था।

४. राज्य की प्रभुसत्ता का विचार—उसकी **चौथी देन राज्य सम्बन्धी नवीन सिद्धान्त थे**। वस्तुतः राज्य की वर्तमान कल्पना का जन्मदाता उसी को मानना चाहिए। सैबाइन (Sabine) के मतानुसार, "**सर्वोच्च राजनीतिक संस्था के रूप में 'राज्य' शब्द का प्रयोग आधुनिक भाषाओं में उसी की रचनाओं द्वारा शुरू हुआ**। वह राज्य को ऐसी संगठित शक्ति मानता था, जो अपने प्रदेश में सर्वोच्च अधिकार रखती है और पड़ोसी राज्यों में प्रादेशिक विस्तार की नीति ग्रहण करती है। राज्य के प्रदेश में रहने वाले सभी व्यक्ति और संस्थाएँ राज्य द्वारा नियन्त्रित होती हैं। वह शासक की शक्ति को अविभाज्य और अखण्ड मानता था। इस प्रकार उसने राज्य की प्रभुसत्ता के विचार (Sovereignty) का बीजारोपण किया।"[1]

५. मानव-स्वभाव की दुष्टता का सिद्धान्त—पाँचवीं देन मानव-स्वभाव की दुष्टता का सिद्धान्त था। इसके आधार पर बाद में विचारकों ने कई महत्वपूर्ण परिणाम निकाले। हॉब्स ने मेकियावेली की भाँति मनुष्य को दुष्ट मानते हुए यह कहा कि इस कारण से दुःखी मनुष्य अपनी प्राकृतिक अवस्था में दुःखी था। इससे मुक्ति पाने के लिए उसने एक सामाजिक समझौते (Social Contract) द्वारा राज्य का निर्माण किया।

---

1. "Machiavelli more than any other political thinker created the meaning that has been attached to the state in modern political usage. Even the word itself, the name of a sovereign political body appears to have been made current in the modern languages largely by his writings. The state as an organised force, supreme in its own territory and pursuing a conscious policy of aggrandizement in its relations with other states, became not only the typical modern political institution, but increasingly the most powerful institution in modern society."

—Sabine, p. 351.

६. राष्ट्रीयता का सिद्धान्त—उसकी छठी देन राष्ट्रीयता का सिद्धान्त (Principle of Nationality) था। वह इटली के विभिन्न राज्यों का एकीकरण फ्रांस और स्पेन की भाँति एक शक्तिशाली राजा के नेतृत्व में करना चाहता था। उसका कहना था, "एक राष्ट्र तब तक कभी संयुक्त और सुखी नहीं हो सकता, जब तक कि वह एक शासक को न माने।"

७. आधुनिक ऐतिहासिक पद्धति का जन्मदाता डनिंग के मतानुसार मेकियावेली ने अपने विचारों के प्रतिपादन में और राजनीतिक निष्कर्षों को निकालने में अपने समय से सर्वथा भिन्न पद्धति का प्रयोग किया है। उसकी रचनाओं में मध्ययुग के विचारकों और विधिशास्त्रियों की बाल की खाल निकालने वाली सूक्ष्म तथा शुष्क दार्शनिक युक्तियों का, बाइबल के प्रमाणों का कोई उल्लेख नहीं है। यह बात मेकियावेली के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रिंस' और उससे केवल ५० वर्ष पहले लिखे गए रोजेलिनस की रचना 'मोनार्किया' की तुलना करने से स्पष्ट हो जाएगा। दोनों में ऐसा आकाश-पाताल का महान् अन्तर है कि यह नहीं प्रतीत होता है कि दोनों एक ही युग की रचना हैं। मोनार्किया में हमें बार-बार धार्मिक और लौकिक सत्ताओं के सिद्धान्त की, पोप और सम्राट् के सम्बन्धों की आध्यात्मिक और लौकिक शक्तियों के संघर्ष की, सम्राट् कान्स्टैण्टाइन के दान की चर्चा मिलती है किन्तु मेकियावेली की रचनाओं में इनका कोई वर्णन नहीं है। वह न तो ईसाइयत के तथा चर्च के सुप्रसिद्ध विद्वानों (चर्च फादर्स) की सम्मतियों का उल्लेख करता है और न ही ईसाई धर्म के कानून के किसी ग्रन्थ का उद्धरण देता है। उसकी रचना अपने समकालीन राजनीतिक सिद्धान्त की पद्धति से उसी प्रकार सर्वथा भिन्न थी, जैसे कोलम्बस की पृथ्वी को गोल मानने की कल्पना उस समय के भूगोलशास्त्र की चिरकाल से स्वीकृत पद्धति से मौलिक भेद रखती थी।[1]

मेकियावेली की सम्मति में राजनीतिशास्त्र की सही पद्धति ऐतिहासिक पद्धति थी। उसका विश्वास था कि सब स्थानों और सब कालों में मनुष्य की प्रकृति एक जैसी रहती है। वे एक जैसे उद्देश्यों से प्रेरित होकर काम करते हैं और अपनी समस्याओं का समाधान भी एक जैसे उपायों से करते हैं। अतः अतीत का अध्ययन वर्तमान समय की आवश्यकताओं पर पूरा प्रकाश डाल सकता है और इसके आधार पर हम आगामी इतिहास के बारे में सही भविष्यवाणी कर सकते हैं। उसने अपनी रचनाओं में यूनान और विशेष रूप से रोम के इतिहास को आधार बनाया है। उसकी यह ऐतिहासिक पद्धति उस समय प्रचलित सूक्ष्म तर्क करने वाली दार्शनिक पद्धति (Scholastic Philosophy) से सर्वथा भिन्न थी। पिछली पद्धति यह मानकर चलती थी कि ग्रीस तथा रोम के नास्तिक एवं ईसाइयत के आस्तिक युग में बड़ी चौड़ी खाई है और ग्रीस व रोम का इतिहास एवं अनुभव मनुष्य जाति के लिए बिलकुल बेकार है क्योंकि उन्हें भगवान् के

---

1. "His work was as completely disserved from the long accepted system of political theory as the contemporary work of Columbus was from the long accepted system of Geography."

—Dunning, p. 291.

ज्ञान का अथवा इलहाम का कोई लाभ नहीं मिला था। मेकियावेली की ऐतिहासिक पद्धति वर्तमान युग में एक सुप्रतिष्ठित पद्धति है। इसका श्रीगणेश करने के कारण मेकियावेली को आधुनिक युग का जन्मदाता माना जाता है।

८. **राज्य की आधुनिक स्थिति का वर्णन**—अरस्तू के बाद मेकियावेली पहला विचारक है जिसने राज्य की महत्वपूर्ण स्थिति का निरूपण किया और इस बात पर अधिक बल दिया कि मानव-जीवन की पूर्णता के लिए एक सुदृढ़ और संगठित राज्य की आवश्यकता है। वह ऐसी सर्वोपरि सत्ता है जिसकी अधीनता में अन्य सारी संस्थाएँ और संगठन रह सकते हैं। समाज की छोटी-बड़ी इकाइयाँ, चर्च तथा अन्य संगठन राज्य के अधीन रहते हुए ही अपना कार्य अच्छे ढंग से कर सकते हैं। सैबाइन के शब्दों में **किसी अन्य विचारक की अपेक्षा मेकियावेली ने आधुनिक राजनीति के संदर्भ में राज्य की सबसे सही परिभाषा दी है।**

९. **व्यक्तिवाद का समर्थन**—मध्ययुग में चर्च सबसे अधिक महत्वपूर्ण था और व्यक्ति को कोई गरिमा नहीं दी जाती थी। वह या तो साम्राज्य का या रोम के चर्च का वशवर्ती था। उसका व्यक्तित्व इन दोनों संस्थाओं द्वारा दबा हुआ था। पुनर्जागरण आन्दोलन ने व्यक्ति के गौरव और महत्व को पुनः प्रतिष्ठापित किया और उसे संसार में अपनी शक्ति विस्तीर्ण करने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित किया।

१०. **यथार्थवादी राजनीति के प्रणेता**—मेकियावेली का आधुनिक युग में एक बड़ा महत्व यह है कि उन्होंने उन सब बातों को नग्न सत्य के रूप में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया, जिन्हें दूसरे विचारकों ने शब्दाडम्बर की ओट में छिपा दिया था। इसीलिए मैक्सी ने मेकियावेली को यथार्थवादी राजनीति का अग्रदूत कहा है। उनके शब्दों में "सभी, स्पष्टवादी राजनीतिक विचारक मेकियावेली की इस बात से सहमत हैं कि राज्य और राज्य की कला को व्यावहारिक दृष्टि से नैतिकता के उन नियमों के अनुसार चलाना सम्भव नहीं है जिन नियमों का पालन व्यक्ति अपने निजी जीवन में करते हैं। जब एक राजनीतिक विचारक शक्कर में लपेटी गोलियों को चुपचाप निगलने से इनकार कर देता है और उनके कड़वेपन के सत्य को बता देता है तो हम उसे धन्यवाद नहीं देते; अपितु सदैव उसके विरुद्ध आवाज उठाते हैं और उसे ढोंगी भविष्यवक्ता कहकर पत्थर मारते हैं।" मेकियावेली ने इस ढोंग के विरुद्ध आवाज उठाई। व्यक्ति और राज्य की नैतिकता को पृथक् किया और राजनीति को उसके नग्न रूप में प्रस्तुत किया। इसीलिए मेकियावेली को यथार्थवादी राजनीति का जन्मदाता कहा जाता है।

११. **आर्थिक नियतिवाद** (Economic Determinism)—मैक्सी ने इसे मेकियावेली के राजनीतिक चिन्तन की एक प्रधान विशेषता माना है। अरस्तू ने नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र को पृथक् करते हुए यह लिखा था कि राजनीतिक प्रक्रियाओं में आर्थिक हितों का विचार बड़ा महत्व रखता है। मेकियावेली ने इसी को पुष्ट करते हुए यह कहा कि मनुष्य सदैव भौतिक और आर्थिक लाभों के कारणों से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। उसकी सम्मति में स्वतन्त्रता, स्वशासन और मानव-अधिकारों के लिए लड़े जाने वाले सभी संघर्षों के मूल में कोई-न-कोई आर्थिक कारण या आर्थिक प्रेरणा होती है। मेकियावेली की रचनाओं

में यह विचार बारम्वार दोहराया गया है। यही विचार उसे राजनीतिशास्त्र के प्राचीन और मध्यकालीन विचारकों से पृथक् करता है, क्योंकि अरस्तू आदि पुराने दार्शनिक यह मानते थे कि राज्य का प्रयोजन उत्तम जीवन बिताना है और विवेक-बुद्धि से मनुष्यों को ऐसा जीवन बिताने की और निःस्वार्थ भाव से इसे प्राप्त करने का प्रयास करने की प्रेरणा प्रदान की जा सकती है। उसकी यह विशेषता उसे उन मध्यकालीन विचारकों से भी पृथक् करती है जो राज्य का एकमात्र प्रयोजन यही समझते थे कि वह इस भूमण्डल पर ईश्वर की इच्छा को कार्यान्वित और मनुष्यों को पारलौकिक जीवन के लिए तैयार करने का साधन मात्र है।[1]

१२. **संघराज्य के प्रथम विचारक**—मेकियावेली ने इटली में एक कॉमन-वैल्थ अथवा संघीय राज्य के निर्माण का भी विचार रखा था। उनकी यह कल्पना थी कि एक बार उनका आदर्श राजा विभिन्न राज्यों को अपनी अधीनता में लाकर एक ऐसा संघीय राज्य बनाएगा जिसकी इकाइयों में भी प्रभुसत्ता और अधिकार कुछ अंशों में रहेंगे और इस तरह इटली में एक संघीय राष्ट्रीय राज्य की स्थापना हो सकती थी। वर्तमान युग में बड़े राज्यों के लिए संघीय व्यवस्था को अधिक उपयोगी समझा जाता है। मेकियावेली ने इस बात को बहुत पहले समझ लिया था और इटली के एकीकरण के लिए एक ऐसे संघ की स्थापना करने की कल्पना की थी।

१३. **अवसरवादिता**—यह वर्तमान राजनीति की एक विशेषता मानी जाती है। मेकियावेली ने अपने आदर्श राजा का यह बहुत बड़ा गुण माना है और उसे यह परामर्श दिया है कि वह पक्का अवसरवादी बनकर सब परिस्थितियों में अपना स्वार्थ सिद्ध करने और काम निकालने की कोशिश करे। उसे सिद्धान्तवाद का मोह छोड़ देना चाहिए और नैतिक मामलों में अड़कर अपनी दुर्दशा नहीं करानी चाहिए।

कोकर ने मेकियावेली को आधुनिक राजनीति का पिता मानने के दो कारण बताए हैं। **पहला** तो यह कि **मेकियावेली ने जो कुछ लिखा है उसे पुष्ट करने के लिए धर्मग्रन्थों के प्रमाण नहीं दिए हैं** अपितु इतिहास के उदाहरणों को प्रस्तुत किया है। **दूसरा** कारण यह है कि **उन्होंने राजनीतिक प्रश्नों का विवेचन तत्कालीन धार्मिक, आध्यात्मिक और सामाजिक विचारों से मुक्त होकर किया है।**[2] इन्हीं कारणों से जोन्स ने मेकियावेली को राजनीतिक सिद्धान्तों का विवेचक न होते हुए भी आधुनिक

---

1. "It also differentiates him from the mediaevalists, who saw in the state only a means of effecting God's will on earth and of preparing men for life after death." —Maxey, p. 137.

2. "Machiavelli has been called the first modern political theorist chiefly because of his indifference to the truth of religion and exclusive appeal to secular experience and human reason."
—Coker, Readings in Political Philosophies, p. 225.

राजनीतिक सिद्धान्तों का जनक माना है।[1]

अपने उपर्युक्त विचारों के कारण मेकियावेली को **पहला आधुनिक राजनीतिक दार्शनिक** (First Modern Political Philosopher) कहा जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह राष्ट्रीय (National), सर्वशक्तिमान् तथा प्रभुसत्तासम्पन्न (Sovereign) और धर्मनिरपेक्ष राज्य (Secular State) की कल्पना करने वाला पहला विचारक था।

मैकियावेली का मूल्यांकन

पोप सन्त पायस पंचम (१५६६–७२) ने १५५७ ई० में ईसाइयों के अध्ययन के लिए निषिद्ध पुस्तकों की सूची में सर्वोच्च स्थान मेकियावेली की कृतियों को दिया था, किन्तु इससे लोकप्रियता और प्रभाव में कोई कमी नहीं हुई थी। मध्यकालीन राजा और राजनीतिज्ञ इन्हें बड़े चाव से पढ़ते रहे और इनके अनुसार आचरण करते रहे। **'प्रिंस'** सम्राट् चार्ल्स पंचम, फ्रांस के राजा हेनरी तृतीय और चतुर्थ की प्रिय पुस्तक थी। मुसोलिनी ने 'प्रिंस' को अपने शोध का विषय चुना था। हिटलर ने इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों पर क्रियात्मक आचरण किया। इस शताब्दी तक योरोप में राज्यविस्तार के लिए 'प्रिंस' में वर्णित साधनों का खूब प्रयोग होता रहा है।

मेकियावेली के अनैतिक सिद्धान्तों के कारण उसकी बड़ी कटु आलोचना होती रही है। उसे धूर्तता, मक्कारी, धोखाधड़ी और शठता का प्रतीक माना जाता रहा है। उसने स्वयमेव इस आरोप का उत्तर देते हुए कहा था कि "कोई व्यक्ति पुस्तक पढ़कर अनैतिक बन गया हो, यह मैंने कभी नहीं सुना।" उसने अपनी पुस्तक में वही बातें लिखी हैं, जो राजा अक्सर किया करते थे—किन्तु जिन पर पर्दा पड़ा रहता था। उसका बड़ा दोष यही है कि उसने उन कुकृत्यों को खोलकर रख दिया, जिन्हें राजा छिपकर किया करते थे। उसकी बड़ी विशेषता तत्कालीन राजनीतिक जीवन का यथार्थवादी दृष्टिकोण से सूक्ष्म विश्लेषण करना था। एक अमरीकन लेखक मैक्सी ने इस विषय में सत्य ही लिखा है, **"उसने राजनीति की नैतिकता को भ्रष्ट नहीं किया, वह तो सदियों पहले हो चुकी थी। किन्तु उसने प्रशंसनीय तथा निर्मम स्पष्टवादिता के साथ ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित व्यक्तियों में पाए जाने वाले पवित्र कपटों के दम्भपूर्ण ढोंग का पर्दाफाश किया। उसे इस बात का श्रेय देना चाहिए कि वह सच्चा उत्साही, देशभक्त तथा आधुनिक राष्ट्रीयता का एक अग्रदूत था।**[2]

---

1. "Machiavelli more than any other individual and despite the fact that he is hardly a political theorist is the father of modern political theory."

—W. T. Jones, A History of Political Thought, p. 128.

2. "He did not demoralize politics, that had been done centuries before but he did debunk the sanctimonious cant of holy frauds in high places with a pitiless candour that is not undeserving

सारांश

इटली का चाणक्य मेकियावेली १४६९ ई० में इटली के फ्लोरेंस नगर के एक सम्पन्न कुल में पैदा हुआ। उसने अपने गणराज्य के विदेश कार्यालय में नौकरी करते हुए काफी उच्चपद प्राप्त किए। वह फ्लोरेंस का राजदूत बनाकर कई देशों में भेजा गया। राजदूत के पद पर काम करते हुए उसे कूटनीति के दाँवपेचों और राजनीतिक षड्यन्त्रों के अध्ययन का बहुमूल्य अवसर मिला। उसकी दो प्रसिद्ध पुस्तकें 'इतिहास की दस पुस्तकों पर व्याख्याएँ' और 'प्रिंस' हैं।

डनिंग ने मेकियावेली को अपने युग का शिशु कहा है। इसका यह आशय है कि वह अपने युग की निम्नलिखित राजनीतिक व बौद्धिक परिस्थितियों से प्रभावित हुआ :

(१) राष्ट्रीयता की भावना, (२) शक्तिशाली राजतन्त्रों की स्थापना,, (३) कूटनीति, (४) पुनर्जागरण, (५) नैतिकता और राजनीति का पृथक्करण, (६) मानव की दानव के रूप में कल्पना।

मेकियावेली मानव को दानव, घोर स्वार्थी, दुष्ट, कृतघ्न, चंचल, झूठा, कायर, लोभी, सम्पत्ति एवं सत्ता का लोलुप और भय से प्रभावित होने वाला समझता है।

मेकियावेली राजनीति को नैतिकता और धर्म से सर्वथा पृथक् समझता है। राजा के लिए धोखा और ढोंग जरूरी मानता है और कहता है कि यहाँ राजा में जहाँ एक ओर शेर का साहस होना चाहिए, वहाँ दूसरी ओर लोमड़ी की धूर्तता, मक्कारी और चालाकी भी आवश्यक है। वह राज्य की उत्पत्ति का कारण मनुष्य का स्वार्थ समझता है। व्यक्ति शक्ति का पुजारी है। अतः वह अपनी शक्ति और राज्य को बढ़ाना चाहता है। उसके अनुसार राजा को ऊँचे दर्जे का बहुरूपिया और ढोंगी होना चाहिए। शत्रुओं को मारकर उनके लिए आँसू बहाने चाहिए। चापलूसों से सावधान रहना चाहिए।

मेकियावेली के विचारों की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—

(१) मध्ययुगीन विचारधारा से विच्छेद, (२) ऐतिहासिक पद्धति, (३) संकीर्ण दृष्टि और केवल शासन कला का प्रतिपादन, (४) राजनीति का नैतिकता और धर्म से पृथक्करण, (५) बुद्धिवाद, (६) व्यक्तिवाद।

दोष—(१) एकांगी दृष्टिकोण, (२) धर्म और नीति की उपेक्षा, (३) ऐतिहासिक पद्धति का गलत प्रयोग, (४) मौलिक प्रश्नों की उपेक्षा।

आधुनिक राजनीति के जन्मदाता के रूप में मेकियावेली की प्रमुख देनें निम्नलिखित हैं—(१) धर्मनिरपेक्ष राजनीतिशास्त्र, (२) वैयक्तिक और सार्वजनिक नैतिकता में भेद, (३) यथार्थवाद, (४) राज्य की प्रभुसत्ता का विचार, (५) मानव-स्वभाव की दुष्टता का सिद्धान्त, (६) राष्ट्रीयता का सिद्धान्त, (७) ऐतिहासिक पद्धति,

---

of administration. He must also be given credit for being a sincere and ardent patriot, and one of the fathers of modern nationalism. His passion for the practical as against the theoretical undoubtedly did much to rescue political thought from the scholastic obscurantism of Middle Ages' and entitles him to recognition as the first, if not the noblest of the great pragmatists." —Maxey, p. 139.

(८) राज्य की आधुनिक स्थिति का प्रतिपादन, (९) व्यक्तिवाद, (१०) यथार्थवादी राजनीति, (११) आर्थिक नियतिवाद, (१२) संघराज्य का समर्थन, (१३) अवसरवादिता।

प्रश्न

(१) मेकियावेली के राजनीतिक विचार मध्ययुग की समाप्ति तथा आधुनिक युग के आरम्भ के प्रतीक हैं। (राजस्थान, १९७९)

(२) यह कथन किस सीमा तक उचित है कि मेकियावेली के राजनीतिक विचारों का आधार शक्ति, इसकी प्राप्ति, विस्तार और बनाए रखना था। (राजस्थान, १९७८)

(३) मेकियावेली के अनुसार राज्य के हितों की सुरक्षा के लिए शासक को क्या उपाय करने चाहिए? (राजस्थान, १९७७)

(४) मेकियावेली के राज्य के सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए। (गोरखपुर, १९७७)

(५) आधुनिक राजनीतिक विचारक के रूप में मेकियावेली के महत्व का परीक्षण कीजिए। (गोरखपुर, १९७६)

(६) मेकियावेली को अपने काल का शिशु क्यों कहते हैं? राजनीतिशास्त्र में उसकी क्या देन है?

पहला अध्याय

थामस हॉब्स [१५८८–१६७९ ई०]

जीवनी—हॉब्स राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में असाधारण महत्व रखता है। इंगलैण्ड में राज्य की समस्याओं पर गम्भीर विचार करके सुव्यवस्थित रूप से ग्रन्थ लिखने वाला वह पहला दार्शनिक था। उसका जन्म १५८८ ई० में इंगलैण्ड के दक्षिणी तट पर माम्ज़बरी में उस समय हुआ, जब स्पेन ने अपने विशाल समुद्री बेड़े (Armada) से ब्रिटेन पर हमला किया था और सब लोग उस आक्रमण से डरे हुए थे। हॉब्स के एक जीवनी-लेखक ने लिखा है कि १५८८ के वर्ष में उसकी माता ने न केवल हॉब्स को पैदा किया, अपितु भीषण भय को भी पैदा किया। स्पेन के हमले से हॉब्स की माता बहुत अधिक भयभीत थी और हॉब्स के जीवन में भय की यह भावना सदा बनी रही। बचपन में हॉब्स को माँ-बाप के सुखमय जीवन की छत्रछाया में पलने का सौभाग्य नहीं मिला। उसका पिता चर्च में कार्य करने वाला एक पादरी था। जब हॉब्स बहुत छोटा था, तभी से उसने अपने बीबी-बच्चों को छोड़ दिया था। पादरी होते हुए भी उसे धार्मिक विषयों में श्रद्धा या रुचि नहीं थी। रविवार को वह चर्च में प्रार्थना के समय सोया करता था, क्योंकि उससे पहले शनिवार की रात को वह देर तक ताश खेला करता था। एक दूसरे पादरी पर हमला करने के कारण उसके पिता को अपनी नौकरी से वंचित होना पड़ा था। इस प्रकार के वातावरण का हॉब्स पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इसीलिए उसे सम्भवतः धर्म से अरुचि हो गई। हमें इसका परिचय उसके ग्रन्थों में मिलता है।

हॉब्स बचपन से अत्यन्त प्रतिभाशाली था और ९१ वर्ष की परिपक्व आयु तक उसकी मानसिक और शारीरिक शक्तियों में कोई क्षीणता नहीं आई। १४ वर्ष की आयु में उसने एक यूनानी नाटककार की कृति का लैटिन पद्यों में अनुवाद किया और ८८ वर्ष की आयु में होमर के काव्यों का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। १५ वर्ष की आयु में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ और ५ वर्ष बाद वह विश्वविद्यालयों की तत्कालीन शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध तीव्र घृणा के भाव लेकर स्नातक हुआ। इसके बाद वह शीघ्र ही २० वर्ष की छोटी आयु में इंगलैण्ड के एक प्रतिष्ठित, प्रसिद्ध और उच्च-कुल में विलियम कैवेण्डिश का शिक्षक बना। इस परिवार के साथ उसका सम्बन्ध जीवन-भर बना रहा और इसने उसके बौद्धिक विकास पर गहरा प्रभाव डाला। १६१० से अपने शिष्य के साथ योरोप की पहली यात्रा करते हुए उसे वहाँ के दार्शनिक विद्वानों तथा नवीन भौतिक विज्ञान के सम्पर्क में आने का अवसर मिला और उसे यह ज्ञात हुआ

कि ऑक्सफोर्ड का दर्शन बहुत पुराना पड़ चुका है। इसके साथ ही इस परिबार में शिक्षा देने के कारण उसे तत्कालीन इंगलैण्ड के बेकन, बेन जॉन्सन जैसे बुद्धिजीवियों से परिचित होने का अवसर मिला और उसकी बौद्धिक क्रियाशीलता में बड़ी वृद्धि हुई। ४६ वर्ष की अवस्था में वह यूक्लिड की पुस्तक देखते ही रेखागणित का प्रेमी हो गया। इसी समय उसे यह विश्वास हो गया कि सब अनुभूतियाँ गति (Motion) का परिणाम हैं। अपने शिष्य के साथ योरोप की दूसरी यात्रा में उसे प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलीलिओ से भेंट का अवसर मिला। वह फ्रेंच दार्शनिक देकार्त (Descartes) के मित्रों के सम्पर्क में आया। १६४० ई० में राजा और पार्लियामेण्ट में संघर्ष छिड़ने पर उसका ध्यान गणितशास्त्र से हटकर राजनीतिशास्त्र की ओर आकृष्ट हुआ। उसने निरंकुश राजसत्ता के समर्थन में पुस्तक लिखी और इस कारण इंगलैण्ड में अपना रहना संकटपूर्ण समझते हुए वह भागकर फ्रांस चला गया। अगले ११ वर्ष पेरिस और हालैण्ड में निवास करते हुए वह De cive तथा सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लेवियाथन के प्रणयन में लगा रहा। औब्रे (Aubery) के शब्दों में, "इस समय वह बहुत घूमता था और विचार करता रहता था। घूमते समय वह अपनी छड़ी की मूठ में एक लेखनी और दवात तथा जेब में नोटबुक रखता था ताकि कोई विचार आते ही वह उसे लिपिबद्ध कर ले।" इसी समय वह पेरिस में इंगलैण्ड से भागकर आए हुए युवराज तथा भावी राजा चार्ल्स द्वितीय का गणितशास्त्र का शिक्षक भी रहा।

१६५१ ई० में लन्दन से उसका ग्रन्थ **लेवियाथन** प्रकाशित हुआ। इसके अन्तिम भाग में उसने रोमन कैथोलिक चर्च पर 'अन्धकार के राज्य' नाम से एक विस्तृत प्रकरण लिखकर इसकी बड़ी कटु आलोचना और तीव्र भर्त्सना की थी। इस अवस्था में उसका कैथोलिक फ्रांस में रहना भी निरापद नहीं रहा। साथ ही पेरिस में ब्रिटिश राजसत्ता के पक्षपाती भी उससे प्रसन्न नहीं थे, क्योंकि इसमें उसने लिखा था कि जो भी सरकार शक्तिशाली हो, उसे पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं। अतः उसे फ्रांस से भागकर पुनः क्रामवेल के इंगलैण्ड में शरण लेना ही श्रेयस्कर जान पड़ा। १६५५ ई० में उसने 'De Corpore' तथा १६५६ में 'De Homine' नामक ग्रन्थ लिखे। इनसे वह नास्तिक शिरोमणि समझा जाने लगा और कट्टर प्यूरिटन शासन में उसके जीवन पर पुनः संकट के बादल मंडराने लगे। किन्तु उसके सौभाग्य से १६६० ई० में क्रामवेल द्वारा स्थापित 'कॉमनवैल्थ' की समाप्ति हुई, इंगलैण्ड में राजतन्त्र की पुनःस्थापना (Restoration) हुई और पेरिस में उससे गणित पढ़ने वाला युवराज चार्ल्स द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा, इससे उसके जीवन का संकट टल गया।

कहा जाता है कि चार्ल्स ने लन्दन वापिस लौटने पर अपने पुराने शिक्षक को सड़क पर पहचान लिया, उसके प्रति आदर के लिए अपना टोप उतार लिया और बुद्धिमानों के सत्संग के प्रेमी राजा ने यह आज्ञा दी कि यह अनुभवी दार्शनिक जब कभी दरबार में आए, तो इसे अन्दर बुला लिया जाए, वह उसके आने पर कहा करता था कि 'चारे के प्रलोभन से वश में किया जाने वाला भालू आ रहा है' (Here comes the bear to be baited)। उसने हॉब्स के लिए १०० पौण्ड की वार्षिक पेंशन बाँध दी।

किन्तु लार्ड चान्सलर क्लेरैण्डन तथा अन्य बिशप हॉब्स के घोर विरोधी थे।

१६६६ ई० के बाद हॉब्स का विरोध बढ़ने गा। लन्दन में प्लेग फैलने तथा महान् अग्नि (Great Fire) लगने पर धार्मिक तयों ने इसे नास्तिकता का परिणाम समझा, इसके दमन के लिए पार्लियामेण्ट ने 'लेवियाथन' जैसे नास्तिक ग्रन्थों की जाँच के लिए एक कमेटी बनाई। कुछ बिशपों ने हॉब्स को नास्तिक के रूप में चिता पर जलाने का सुझाव दिया। इससे ७८ वर्ष का वृद्ध दार्शनिक इतना भयभीत हुआ कि उसने अपने कुछ कागज जला डाले और एक लेख लिखकर यह सिद्ध किया कि वैध रूप से उसे नास्तिकता के लिए फाँसी नहीं दी जा सकती, अपने को धार्मिक सिद्ध करने के लिए उसने गिरजे में जाना शुरू कर दिया। राजा ने हॉब्स को विवादास्पद लेख लिखने के लिए मना किया और उसके विरोधियों को भी कोई कड़ी कार्यवाही करने से रोक दिया। ८० वर्ष की आयु में लिखी गई अपनी रचना Behemoth or a Dialogue on the Civil Wars में १६४० से १६६० तक के गृहयुद्धों की विवेचना करते हुए उसने इनका उत्तरदायित्व पार्लियामेण्ट के समर्थकों पर डाला तथा उन वैध राजतन्त्र-वादियों की आलोचना की, जो इंगलैण्ड के राजा का शासन और अधिकार पार्लियामेण्ट द्वारा सीमित करना चाहते थे। इसी समय (१६६८ ई०) लिखे गए Dialogue of the Common Laws में उसने यह सिद्ध किया कि राजा ही सर्वोच्च न्यायाधीश और एकमात्र विधि-निर्माता है, प्रजा में उसे नियन्त्रित करने की कोई क्षमता नहीं है। १६७९ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

हॉब्स पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियाँ—दो परिस्थितियों ने हॉब्स को विशेष रूप से प्रभावित किया। **पहली तो नवीन वैज्ञानिक खोजों का आकर्षण था।** ऑक्सफोर्ड में पढ़ते हुए उसके मन में मध्ययुगीन दर्शन की स्कालेस्टिक पद्धति के प्रति घोर घृणा उत्पन्न हो गई थी। उसे गैलीलिओ के 'गति के नियम' (Laws of Motion) बहुत पसन्द आए और उसने इन्हें अपने राजनीतिक चिन्तन का नवीन आधार बनाया। इनके अनुसार उसका यह मत है कि जैसे विश्व अणुओं से बना हुआ है, अणु सदैव गतिशील हैं और आपस में टकराते रहते हैं, उसी प्रकार पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्य भी सदैव गतिशील हैं और आपस में टकराते रहते हैं।

दूसरी परिस्थिति इंगलैण्ड की राजनीतिक दशा और विभिन्न विचारधाराएँ थीं। १७वीं शताब्दी के आरम्भ से यहाँ सुदृढ़ शासन नहीं था। स्टुअर्ट वंश के राजा यद्यपि राजाओं की दैवी सत्ता का प्रबल प्रतिपादन कर रहे थे, किन्तु उनके अधिकारों को चुनौती देने वाले कई वर्ग उत्पन्न हो गए थे। उस समय राज्य द्वारा केवल एंग्लिकन चर्च को ही स्वीकार करते हुए विशेष स्थिति प्रदान की जाती थी; यह अन्य धार्मिक मतों को सर्वथा अनुचित जान पड़ता था। वे अपने मतों को राज्य द्वारा स्वीकृत कराना चाहते थे। इस समय भारत, पूर्वी देशों तथा अमरीका के साथ व्यापार का विकास होने से समाज में एक नवीन समृद्ध व्यापारिक वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। इसे कोई सामाजिक या राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे, यह इन्हें पाने के लिए आन्दोलन करने लगा। ये नवीन आर्थिक और धार्मिक शक्तियाँ अपने अधिकार बढ़ाने के लिए राजा से यह माँग करने लगीं कि पार्लियामेण्ट की शक्ति को बढ़ाया जाए।

इस समय यहाँ दो विरोधी विचारधाराओं में संघर्ष था। पहली निरंकुश

राजतन्त्रीय विचारधारा (Absolutism) राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानती थी। इसके मुख्य समर्थक जेम्स प्रथम (१६०३-२४ ई०) तथा उसके पुत्र चार्ल्स प्रथम (१६२४-४९ ई०) का यह मत था कि भगवान् का प्रतिनिधि होने के नाते राजा को प्रजा के जान और माल पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है। दूसरा पक्ष, पार्लियामेण्ट के समर्थकों का था, वे प्रजा के प्रतिनिधियों की संसद् द्वारा राजा के अधिकारों को नियन्त्रित करना चाहते थे। १६३९ में इसी प्रश्न पर गृहयुद्ध छिड़ गया, इससे सारे देश में भीषण अशान्ति और अराजकता मच गई, जीवन सर्वथा असुरक्षित हो गया। इस परिस्थिति में हॉब्स ने अराजकता का अन्त करने के लिए शक्तिशाली सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न निरंकुश सत्ता का प्रबल समर्थन किया।

लेवियाथन

हॉब्स के राजनीतिक विचारों का सर्वोत्तम परिचय १६५१ ई० में प्रकाशित 'लेवियाथन' से मिलता है। बाइबल के कथनानुसार यह एक समुद्री राक्षस है। किन्तु हॉब्स इसका प्रयोग प्राकृतिक दशा की अराजकता और मात्स्य न्याय का अन्त करने की दृष्टि से मनुष्यों द्वारा किए गए समझौते से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राजशक्ति के लिए करता है। उसने अपनी पुस्तक के मुखपृष्ठ पर इसे सब मनुष्यों से मिलकर बनने वाले एक विराट् पुरुष या महामानव के रूप में चित्रित किया है। मुखपृष्ठ के उपरले आधे हिस्से में बने चित्र में एक सुव्यवस्थित रीति से बसाए नगर और पहाड़ के पीछे लेवियाथन के रूप में मुकुटमण्डित, दाएँ हाथ में तलवार तथा बाएँ हाथ में धर्मदण्ड धारण किए हुए महामानव खड़ा हुआ है। इसका यह अर्थ है कि शासन और धर्म के दोनों क्षेत्रों में उसे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हैं। कटिपर्यन्त दृष्टिगोचर होने वाला उसका सारा देह उसकी ओर कृपा के लिए निहार रहे छोटे-छोटे मनुष्यों के चित्रों से ढका हुआ है। यह इस बात का प्रतीक है कि सब मनुष्यों ने समझौते द्वारा अपनी शक्ति उसे समर्पित कर दी है तथा वे भक्तिभाव से प्रणत होकर उसकी सब आज्ञाओं का पालन करने के लिए प्रस्तुत हैं। मुखपृष्ठ के निचले हिस्से के बीच में ग्रन्थ एवं लेखक का नाम तथा दोनों ओर फ्रेमों में राजनीतिक तथा धार्मिक सत्ता को अभिव्यक्त करने वाले चार-चार चित्र बने हुए हैं। लेवियाथन के मस्तक पर लैटिन के ये प्रभावशाली शब्द अंकित हैं—Non est potes!as super terram quoe comparetur ei (भूतल पर इसके तुल्य शक्ति रखने वाला कोई दूसरा नहीं है)। हॉब्स ने अपने प्राक्कथन में लिखा है कि यह महान् लेवियाथन ही राज्य है जो यद्यपि डीलडौल और शक्ति की दृष्टि से प्राकृतिक मनुष्य की अपेक्षा बड़ा है, पर स्वयं कृत्रिम मानवमात्र है और इसकी रचना प्राकृतिक मनुष्य की रक्षा के लिए हुई है। इस ग्रन्थ का पूरा नाम है—Leviathan or the Matter, Form and Power of A Commonwealth, Ecclesiastical and Civil.

हॉब्स के प्रमुख सिद्धान्त

मानव-स्वभाव का स्वरूप—हॉब्स राज्य का अध्ययन मानव-स्वभाव (Human Nature) के विश्लेषण से आरम्भ करता है। उसने विशुद्ध भौतिकवाद (Materialism) का अनुसरण करते हुए मनुष्य के आँख, कान, जिह्वा, नाक, त्वचा से होने वाली ऐन्द्रियिक प्रतीतियों का कारण बाह्य पदार्थों का हमारी इन्द्रियों पर दबाव डालना माना है। इसी तरह वह मनुष्य की ज्ञानप्राप्ति और कल्पना करने (Imagination) की प्रक्रिया को भी भौतिक और यान्त्रिक मानता है।

उसके मतानुसार मनुष्य में दो प्रकार की गतियाँ हैं—

(क) **अनैच्छिक** (Involuntary), अथवा आवश्यक, जैसे श्वास-प्रश्वास का चलना।

(ख) **ऐच्छिक** (Voluntary), जैसे बोलना, चलना।

कल्पना-शक्ति के कारण मनुष्य प्रयास करता है और यही सब ऐच्छिक क्रियाओं का मूल स्रोत है। यह प्रयास यदि इसे उत्पन्न करने वाले किसी पदार्थ की ओर होता है, तो इसे क्षुधा (Appetite), राग या अभिलाषा (Desire) कहते हैं। यदि यह इसे उत्पन्न करने वाले पदार्थ से दूर हटने का होता है तो इसे द्वेष (Aversion) या घृणा कहते हैं। इस प्रकार उसने भौतिकशास्त्र के आधार पर यह परिणाम निकाला कि अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए उनकी ओर गति करना या प्रवृत्त होना राग और अनभीष्ट पदार्थों से हटने की गति करना या निवृत्त होना द्वेष है। मनुष्य की सुख-दुख, आशा-निराशा, भय, साहस, क्रोध आदि की सब मनोभावनाएँ और वासनाएँ राग-द्वेष के कारण होने वाली प्रवृत्ति और निवृत्ति का परिणाम हैं।

भलाई या बुराई का विचार भी हमारी गति की दिशा से निश्चित होता है। **अपने-आपमें कोई चीज अच्छी या बुरी नहीं है। यदि हम किसी पदार्थ की ओर अपने राग या अभिलाषा से प्रवृत्त होते हैं तो वह अच्छा है और यदि हम किसी से परे हटना चाहते हैं तो वह बुरा है।** मनुष्य आनन्द (Felicity) प्राप्त करना चाहता है। समय-समय पर अपनी इच्छाओं को पूर्ण करना तथा वांछित वस्तुओं के पाने में सफलता प्राप्त करना ही आनन्द है। जिन साधनों से अपनी इच्छाएँ पूर्ण करते हुए आनन्द प्राप्त किया जाता है, उन साधनों को ही शक्ति (Power) कहते हैं। यह कई प्रकार की होती है: शारीरिक और मानसिक गुणों की उत्कृष्टता, धन-सम्पत्ति, कीर्ति, मित्र और सौभाग्य। मनुष्य इन साधनों के द्वारा आनन्द पाने का यत्न करते हैं।

प्रकृति ने सब मनुष्यों को समान बनाया है। शारीरिक और मानसिक शक्तियों के संयोग से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति शारीरिक बल की दृष्टि से दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा निर्बल हो; किन्तु वह मानसिक दृष्टि से बुद्धिमान्, धूर्त्तता और मक्कारी में उसकी अपेक्षा अधिक बलवान् हो सकता है। इस समानता के कारण मनुष्यों में संघर्ष छिड़ जाता है। वे एक-दूसरे को हराना और नष्ट करना चाहते हैं; मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है, अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करना चाहता है।

संघर्ष के तीन कारण—मनुष्यों में तीन कारणों से निरन्तर संघर्ष चलता रहा

है। **ये तीन कारण हैं—प्रतिद्वन्द्विता, भय** (Diffidence) **तथा कीर्ति कमाने और इसे बढ़ाने की लालसा**। यद्यपि मनुष्य शान्ति चाहता है, किन्तु उसे सदैव दूसरों से भय लगा रहता है, वह अपनी सम्पत्ति और अधिकार बढ़ाना चाहता है, अतः अपने साथियों के साथ शाश्वत संघर्ष में संलग्न रहता है।

अपने उपर्युक्त स्वभाव के कारण मनुष्य इन्हें नियन्त्रित करने वाली शक्ति के अभाव में सदैव आपस में लड़ते रहते हैं। प्रतिद्वन्द्विता, भय और कीर्ति प्राप्त करने की आकांक्षा सतत संघर्ष उत्पन्न करती है। जब दो व्यक्ति एक ही वस्तु को पाने के लिए प्रयास करते हैं, तो उनमें प्रतिद्वन्द्विता शुरू हो जाती है। जब एक व्यक्ति इस आशंका से व्यथित रहता है कि दूसरे की शक्ति उससे अधिक न बढ़ जाए तो वह भयाक्रान्त होता है। मनुष्य में यह इच्छा भी स्वाभाविक है कि अन्य व्यक्ति उसकी प्रशंसा करें, उसे अपने से बड़ा तथा ऊँचा समझें। अतः सब व्यक्तियों के एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध स्पर्द्धा, अविश्वास और कीर्ति की कामना से निर्धारित होते हैं, और इसके फलस्वरूप सब एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं, जंगली जानवरों की तरह एक-दूसरे पर हमला करते हैं।

प्राकृतिक दशा
(State of Nature)

हॉब्स राज्य की उत्पत्ति तथा लेवियाथन के आविर्भाव से पहले की स्थिति को **प्राकृतिक दशा** का नाम देता है। इस दशा में मनुष्य अपने उपर्युक्त स्वभाव के कारण सबसे लड़ता रहता था। इस समय 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम था; शक्तिशाली निर्बल व्यवितयों के अधिकारों को हड़प रहे थे; शक्ति, धोखाधड़ी और प्रवंचना का बोलबाला था[1]। उस दशा में उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म का कोई विचार नहीं होता, जबर्दस्त का ठेंगा सिर पर होता है, शक्तिशाली अपने मन से जो कर दे, वही ठीक होता है। किसी का कोई अधिकार नहीं होता। हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक दशा के स्वरूप के बारे में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) इसमें 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम प्रचलित था। समाज में बलवान् व्यक्तियों का बोलबाला था, वे कमजोर व्यक्तियों की सम्पत्ति और अधिकार छीन रहे थे।

(२) प्राकृतिक अवस्था युद्ध की दशा होती है। हॉब्स के शब्दों में इसमें प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यवित का शत्रु होता है, प्रत्येक मनुष्य का जीवन बड़ा असुरक्षित होता है। वह केवल अपनी शक्ति का ही भरोसा कर सकता है। हॉब्स ने इसे **'सबकी सबके विरुद्ध लड़ाई'** (Bellum ominum contra omnes) की स्थिति कहा है।

(३) हॉब्स के मतानुसार इस प्राकृतिक दशा में किसी उद्योग या कला-कौशल का विकास नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य को यह भरोसा नहीं होता कि वह उससे

1. "The Right of Nature is the Liberty each man hath, to use his own power, as he will himself, for the preservation of his own Nature."
—*Leviathan*, p. 66.

प्राप्त हो सकने वाले लाभ का उपभोग कर सकेगा। इस दशा में किसी प्रकार की संस्कृति, सभ्यता, भवन-निर्माण, ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य का विकास नहीं हो सकता। मनुष्यों को सदैव भय और मृत्यु की आशंका बनी रहती है।

(४) **मनुष्य का जीवन एकाकी, निर्धन, कुत्सित, पशुतुल्य** (Brutish) **तथा छोटा होता है।** यह एकाकी इसलिए होता है कि इस दशा में सब एक-दूसरे के शत्रु हैं और अपने से भिन्न व्यक्तियों को प्रवल आशंका, भय और अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। इस हालत में उनमें किसी प्रकार का कोई सहयोग न होने से उन्हें एकाकी जीवन बिताना पड़ता है। वाणिज्य, व्यवसाय, कला और उद्योग-धन्धों का विकास न होने की दृष्टि से इस जीवन में निर्धनता का साम्राज्य था। यह कुत्सित (Nasty) इसलिए था कि इसमें युद्ध, मार-काट, हिंसा और हत्या का बोलवाला था। यह जीवन पशुतुल्य इसलिए था कि मनुष्य आपस में जंगली पशुओं जैसा व्यवहार करते थे। यह छोटा इसलिए था कि किसी भी क्षण कोई शक्तिशाली दूसरे व्यक्ति के जीवन का अन्त कर सकता था। मनुष्य इस दशा में नरपशु और रक्तपिपासु थे, शत्रुओं का दमन करने, शक्ति बढ़ाने और यश प्राप्त करने के लिए वे सब प्रकार की हिंसा और हत्या का अवलम्बन कर सकते थे।

सतत संघर्ष की विशेषताएँ—हॉब्स ने सतत संघर्ष और युद्ध की इस प्राकृतिक दशा की कई विशेषताएँ बताई हैं—

(१) **नैतिकता का अभाव—पहली विशेषता** इसमें नैतिकता का सर्वथा अभाव तथा सत् और असत् (Right and Wrong) का कोई विवेक न होना है। इसमें सभी मनुष्य अपनी मानसिक भावनाओं से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। सभी अपने लिए हिंसा और हत्या को ठीक समझते हैं। उस समय तक समाज में विभिन्न कार्यों को नैतिकता की कसौटी पर कसने का कोई मापदण्ड या नियम नहीं होता। अतः सभी कार्य नैतिक या अनैतिक माने जा सकते हैं।

(२) **न्याय की भावना का अभाव—दूसरी विशेषता** न्याय और अन्याय के विचार का अभाव है। हॉब्स का यह कहना है कि जब तक सब मनुष्यों के ऊपर शासन करने वाली कोई शक्ति नहीं होती, तब तक समाज में कोई कानून नहीं होता, अतः न्याय और अन्याय का विचार नहीं हो सकता, क्योंकि **वही बात न्यायपूर्ण** (Just) **होती है, जो कानून के अनुकूल हो, इससे प्रतिकूलता रखने वाली बात अन्यायपूर्ण** (Unjust) **और अवैध होती है।**

(३) **निजी सम्पत्ति का न होना—तीसरी विशेषता** इस दशा में वैयक्तिक सम्पत्ति का अभाव है। जहाँ सब व्यक्ति एक-दूसरे से लड़ने और गला काटने को तैयार बैठे हों, वहाँ किसी की स्थायी वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं हो सकती। जब तक किसी के पास शक्ति है, तब तक उसका अपनी वस्तुओं पर अधिकार है; शक्ति न रहने पर दूसरे व्यक्ति उससे यह सम्पत्ति छीन लेते हैं। उसकी यह दशा भारतीय साहित्य के **मात्स्य न्याय से** मिलती है।

प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम
(Natural Rights and Natural Laws)

'लेवियाथन' के १४वें अध्याय में हॉब्स ने इनका प्रतिपादन किया है। प्राकृतिक अधिकार (Jus Naturalae) का तात्पर्य, उसके मतानुसार, अपने जीवन के संरक्षण के लिए मनुष्य को कोई भी कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता है। वह अपने जीवन-धारण के लिए किसी को लूटने, पीटने या जान से मार डालने की स्वतन्त्रता रखता है। टी० एच० हक्सली ने ऐसे अधिकार को **शेर का अधिकार** (Tiger right) कहा है। **जैसे शेर को अपना शिकार मारने की स्वतन्त्रता है, वैसे ही मनुष्य को भी हिंसा और हत्या की खुली छूट है बशर्ते कि इससे उसकी इच्छाओं की पूर्ति हो सके।**

किन्तु सब मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकार समान होने से सबको एक-दूसरे की हत्या और लूट-पाट का अधिकार मिल जाता है। इससे जीवन सर्वथा असुरक्षित हो जाता है। पर सब मनुष्य इसे सुरक्षित बनाए रखना चाहते हैं। अतः वे प्राकृतिक दशा में भी आपसी सुरक्षा के लिए बुद्धि द्वारा कुछ नियम बनाते हैं। ये प्राकृतिक नियम (Lex naturalis) कहलाते हैं। हॉब्स ने विभिन्न प्रकार के १९ प्राकृतिक नियम गिनाए हैं। इनमें तीन मुख्य हैं—

(१) व्यक्ति को शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(२) प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति की स्थापना के लिए तथा व्यक्तिगत सुरक्षा की दृष्टि से अपने सब अधिकारों का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए, बशर्ते कि अन्य व्यक्ति भी ऐसा करने के लिए सहमत हों।

(३) व्यक्ति को अपने समझौतों का पालन करना चाहिए। इन्हें यद्यपि नियम या कानून कहा जाता है, किन्तु वास्तव में ये ऐसे नहीं हैं। "वास्तव में ये ऐसे अनुमान या प्रमेय (Theorems) हैं, जो आत्मसंरक्षण में सहायक होते हैं। वस्तुतः कानून तो उस व्यक्ति का वचन होता है, जिसे दूसरों को आदेश देने का अधिकार प्राप्त है (लेवियाथन, अध्याय १५)। इसका यह अर्थ है कि इन नियमों का पालन स्वार्थ बुद्धि से होता है। मनुष्य समाज में एक-दूसरे के साथ किए जाने वाले समझौते का पालन इसलिए करते हैं कि यदि ऐसा न किया गया तो उनका अपना कार्य भी नहीं चल सकेगा।

सामाजिक समझौते से राज्य की उत्पत्ति—'लेवियाथन' का आविर्भाव— प्राकृतिक दशा में शाश्वत संघर्ष की स्थिति से संत्रस्त और चिन्तित होकर मनुष्य की बुद्धि और विवेक ने यह सोचा कि आत्मसंरक्षण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इस भयावह दशा का अन्त एक ऐसी शक्तिशाली सत्ता की स्थापना द्वारा किया जाए जो प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा करने में समर्थ हो। ऐसी सामान्य सत्ता की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि अनेक इच्छाओं के स्थान पर एक इच्छा का प्रभुत्व स्थापित हो तथा इसे स्थापित करने के लिए उपर्युक्त प्राकृतिक नियम के अनुसार सब व्यक्ति अपने अधिकारों और शक्ति को एक व्यक्ति को या मनुष्यों की एक सभा को प्रदान करें, वे अपनी समूची इच्छाएँ एक व्यक्ति की इच्छा को समर्पित कर दें।

इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ एक समझौता (Covenant),

संविदा या अनुबन्ध (Contract) करता है। प्रत्येक व्यक्ति इस आशय की शपथ लेता है—"**मैं इस व्यक्ति को या व्यक्ति-समूह को इस शर्त पर अपना अधिकार देता हूँ तथा स्वयमेव अपने पर शासन करने के अधिकार का परित्याग करता हूँ कि तू भी अपने अधिकार इसी प्रकार इस व्यक्ति को देगा और स्वशासन के अधिकार छोड़ देगा।**"[1] ऐसा करने पर सारा जनसमुदाय एक व्यक्ति में संयुक्त हो जाता है, इसे राज्य (Commonwealth) या लैटिन में Civita कहते हैं। यही उस महान् **लेवियाथन या** नश्वर देवता (Mortal God) का प्रजनन है, जिससे अविनश्वर ईश्वर (Immortal God) के बाद हमें अपनी शान्ति और प्रतिरक्षा प्राप्त होती है।

यह लेवियाथन प्राकृतिक दशा की अराजकता और सभ्यता के मध्य एक दीवार की भाँति खड़ा है। इससे पहले समाज और राज्य की सत्ता नहीं थी। इसके जन्म से ही इन दोनों का प्रादुर्भाव हुआ। इसी समय से ज्ञान, संस्कृति, कला, व्यापार, व्यवसाय का श्रीगणेश हुआ, न्याय-अन्याय, सत्-असत् के विचार उत्पन्न हुए। इसमें सब व्यक्तियों के अधिकार पुँजीभूत हैं। इसे ही सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न शासक या संप्रभु (Sovereign) कहते हैं। इसे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति उसका दास है।

राज्य को उत्पन्न करने वाले हॉब्स के इस समझौते या अनुबन्ध की कई उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।

समझौते की विशेषताएँ—(१) शासक का समझौते से ऊपर उठा होना— पहली विशेषता यह है कि यह इस विषय में उस समय तक के प्रचलित विचारों से मौलिक भेद रखता है। इससे पहले भी समझौते, अनुबन्ध या संविदा का प्रतिपादन किया गया था, किन्तु यह अनुबन्ध शासक और शासित, राजा और प्रजा के बीच शासन की दृष्टि से होता था, अतः इसे **शासनविषयक संविदा** (Governmental Contract) कहते थे। किन्तु हॉब्स का समझौता राजा और प्रजा के मध्य में नहीं है, किन्तु विभिन्न व्यक्तियों के बीच में हुआ है। **इन लोगों ने लेवियाथन या नश्वर देव के सम्मुख अपने अधिकारों को छोड़ने की शपथ ली है। वह इन शपथों से ऊपर उठा हुआ है, क्योंकि उसने ऐसा कोई प्रण नहीं किया। मनुष्य देवता के आगे शपथ लेते हैं, देवता कोई शपथ नहीं लेता।** अतः लेवियाथन इस समझौते से ऊपर उठा हुआ, इससे सर्वथा स्वतन्त्र और **पूर्ण रूप से स्वेच्छाचारी स्वच्छन्द शासक** (Absolute Ruler) है। इस समझौते को करने वाली पार्टी न होने के कारण वह इसके पालन के लिए बाध्य नहीं है।

(२) **सामाजिक होना—दूसरी** विशेषता यह है कि इस समझौते से प्राकृतिक अवस्था में एकाकी रहने वाले व्यक्तियों ने समाज का निर्माण किया है, अतः यह सामाजिक समझौता (Social Contract) है और पूर्ववर्ती विचारकों के शासनात्मक समझौते (Governmental Contract) से भिन्न है।

(३) **शत्रुओं से रक्षा—तीसरी** विशेषता यह है कि इस समझौते का लक्ष्य

---

1. "I authorise and give up my Right of governing myself, to this Man or to this Assembly of men, on this condition, that thou give up thy Right to him, and authorise his Actions in like mannner."
—*Leviat han*, p. 89-90.

आन्तरिक शान्ति और बाह्य शत्रुओं से रक्षा करना है। यह समझौते का आवश्यक तत्व है; अतः समझौता बनाए रखने के लिए इस शर्त का पालन होते रहना आवश्यक है। इन विशेषताओं के आधार पर प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में हॉब्स ने कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त निश्चित किए हैं।

प्रभुसत्ता
(Sovereignty)

हॉब्स का लेवियाथन अथवा सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न सर्वोच्च शासक या संप्रभु पूर्ण रूप से निरंकुश है, उसका आदेश ही कानून है, उसका प्रत्येक कार्य न्यायपूर्ण है। प्रभुसत्ता सर्वथा अविभाज्य और अखण्ड है, इसीलिए वह मिश्रित शासन-व्यवस्था (Mixed Government) का विरोधी है। उसका यह मत है कि इंगलैण्ड में गृहयुद्ध की ज्वालाएँ भड़कने का मुख्य कारण यह भ्रान्त धारणा थी कि प्रभुसत्ता राजा, लार्ड सभा तथा लोकसभा (House of Commons) में विभक्त थी।

प्रभुसत्ता को प्रजाजनों पर अपरिमित, असीम अधिकार प्राप्त हैं। ये लोगों ने प्राकृतिक दशा की अराजकता से परित्राण पाने तथा जीवन की रक्षा के लिए उसे प्रदान किए हैं, एक बार इन्हें दे देने के बाद उनके पास कोई अधिकार नहीं रह जाते हैं, उनका एकमात्र कार्य प्रभु के आदेशों का पालन करना है। भले ही ये आदेश ईश्वर के तथा प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल हों, किन्तु राजा का आदेश होने के कारण ये न्यायपूर्ण और वैध हैं, अतः इनका पालन होना चाहिए। उसे अपनी प्रजा की सम्पत्ति को भी छीनने का अधिकार है, क्योंकि वही इसका स्रष्टा और प्रदान करने वाला है। यदि उसकी तलवार का भय न रहे तो किसी के पास कोई सम्पत्ति न रहे। इसी प्रकार उसे अपने प्रजाजनों के प्राण लेने का भी अधिकार है, क्योंकि यदि उसका नियन्त्रण हट जाए तो समाज में किसी का भी जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता है।

समझौते के परिणाम—हॉब्स उपर्युक्त सामाजिक समझौते के आधार पर प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण परिणाम निकालता है।

(१) प्रजा का अधिकार न होना—पहला परिणाम यह है कि प्रभु द्वारा इस समझौते का भंग होने पर भी प्रजा को इसका उल्लंघन करने का अधिकार नहीं मिल सकता, क्योंकि वह इस समझौते को करने वाली है। यह समझौता विशाल जनसमूह के प्रत्येक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के साथ किया है और अपने अधिकार तीसरे पक्ष या संप्रभु को प्रदान किए हैं। संप्रभु (Sovereign) ने कोई समझौता नहीं किया, उसके पास अपने सब अधिकार तथा शक्तियाँ बनी हुई हैं। वह कोई भी कार्य करे, प्रजा के साथ कभी अन्याय नहीं कर सकता है, क्योंकि **हॉब्स के मत में अन्याय का अर्थ है समझौते की शर्तें तोड़ना।** जब प्रभु ने कोई समझौता ही नहीं किया तो वह उसकी शर्तें कैसे तोड़ सकता है? वह अपने प्रजाजनों के साथ पक्षपातपूर्ण और विषम व्यवहार (Inequality) तो कर सकता है, किन्तु अन्याय कभी नहीं कर सकता है।

(२) आज्ञा की अवहेलना अन्यायपूर्ण—दूसरा उल्लेखनीय परिणाम यह है कि

प्रजा द्वारा किसी भी कारण से किया जाने वाला आज्ञाभंग अन्यायपूर्ण है, क्योंकि यह अपनी वैयक्तिक इच्छा को प्रभु की इच्छा में विलीन कर देने वाले उपर्युक्त समझौते के प्रतिकूल है।

(३) **विरोध का अधिकार न रहना**—तीसरा उल्लेखनीय परिणाम यह है कि राज्य की अल्पसंख्या प्रभुसत्ता का विरोध इस आधार पर नहीं कर सकती कि बहुसंख्या द्वारा चुने जाने वाले सर्वोच्च शासक को उसने स्वीकार नहीं किया था। इस विषय में अल्पसंख्यकों की दो ही स्थितियाँ सम्भव हैं : पहली तो यह है कि उन्होंने उस समय बहुमत का निर्णय स्वीकार किया था और दूसरी यह कि इसे स्वीकार नहीं किया था। यदि स्वीकार किया था तो अब इसका उल्लंघन हॉब्स की परिभाषा के अनुसार अन्यायपूर्ण है और यदि नहीं स्वीकार किया तो वे अब भी प्राकृतिक दशा में हैं और उनके विरुद्ध युद्ध के सभी अधिकार प्रभु को प्राप्त हैं।

प्रभुसत्ता के कार्य—प्रभुसत्ता या संप्रभुता (Sovereignty) का मुख्य उद्देश्य अराजकता का अन्त करके शान्ति स्थापित करना है। इसे वह निम्नलिखित विशेष कार्यों (Specific functions) से पूरा करती है—

(१) यदि प्रजाजनों को भाषण, लेखन और विचारों की अभिव्यक्ति की मिल्टन द्वारा प्रतिपादित निर्बाध स्वतन्त्रता दी जाए तो इससे लोगों में मतभेद, वैमनस्य, कलह और अशान्ति की वृद्धि होगी। अतः सर्वोच्च सत्ता का यह कार्य है कि वह जनता के विचारों और सिद्धान्तों का नियन्त्रण करे।

(२) प्रभुसत्ता को प्रजाजनों की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार है, वह इसे अपनी इच्छानुसार छीनने का भी अधिकार रखती है।

(३) उसे अपने प्रजाजनों के सब विवादों के निर्णय करने का अन्तिम अधिकार है, यदि वह ऐसा न करे तो राज्य में आन्तरिक शान्ति नहीं बनी रह सकती है।

(४) उसे अन्य देशों से युद्ध छेड़ने और सन्धि करने का तथा अपनी नीति क्रियान्वित करने के लिए प्रजाजनों के सम्पूर्ण साधनों पर पूर्ण नियन्त्रण रखने का अधिकार है।

(५) प्रभु शासन के सब अधिकारों की सत्ता का मूल स्रोत है। ये कार्य और अधिकार प्रभुसत्ता की मौलिक विशेषताएँ और भेदक चिह्न हैं। इन्हें किसी दूसरे को नहीं दिया जा सकता, अतः ये असम्प्रदेय (Incommunicable) हैं। ये उससे पृथक् नहीं किए जा सकते। ये अवियोजनीय (Inseparable) हैं। इनके अतिरिक्त उसे अपनी मुद्रा चलाने आदि के भी कुछ अधिकार हैं, किन्तु इन्हें प्रभुसत्ता अपनी इच्छा से दूसरे को दे सकती है।

हॉब्स का प्रभुसत्ता का विचार बोदैं (Bodin) के विचारों से निम्नलिखित महत्वपूर्ण भेद रखता है—

(१) बोदैं प्रभुसत्ता पर ईश्वर के नियम (Divine Law), प्रकृति के नियम (Natural Law) तथा राज्य के मौलिक नियमों (Fundamental Law) के तीन प्रकार के प्रतिबन्ध स्वीकार करता है, किन्तु हॉब्स अपनी प्रभुसत्ता पर कोई ऐसी मर्यादा या प्रतिबन्ध नहीं मानता है।

(२) बोदें के मत में राजा को प्रजा की वैयक्तिक सम्पत्ति छीनने का अधिकार नहीं है, हॉब्स उसे यह अधिकार प्रदान करता है। अतः हॉब्स की प्रभुसत्ता बोदें की प्रभुसत्ता की अपेक्षा अधिक निरंकुश और पूर्ण अधिकार रखने वाली है। उसकी प्रभुसत्ता असीम, अखण्ड, अविभाज्य और अदेय है।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकार—हॉब्स **अपने राजनीतिक दर्शन का आरम्भ प्राकृतिक दशा के व्यक्तियों के वैयक्तिक अधिकारों के साथ करता है और इसकी समाप्ति प्रभुसत्ता की निरंकुशता के साथ।** वह इस दृष्टि से व्यष्टिवादी है कि उसके राजनीतिक सिद्धान्त का श्रीगणेश व्यक्ति के हित से होता है (लेवियाथन, अध्याय २१), किन्तु जब एक बार राज्य बन जाता है तो व्यक्ति अपने अधिकार प्रभुसत्ता को सौंप देते हैं। इसके बाद वह मिल्टन की भाँति व्यक्ति की स्वतन्त्रता, भाषण, लेखन और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता के कोई अधिकार नहीं मानता, क्योंकि आरम्भिक सामाजिक समझौता करते समय मनुष्यों ने यह स्वीकार कर लिया था कि वे राज्य के नियमों का पालन करेंगे।

वह व्यक्ति के केवल दो ही अधिकार मानता है—(i) **ऐसे सब काम करने की स्वतन्त्रता, जो राज्य के कानूनों द्वारा न रोके गए हों।** कानूनों के भीतर रहते हुए व्यक्ति इच्छानुसार कोई भी कार्य करने का अधिकार रखता है, किन्तु इन्हें भंग करने पर राजदण्ड का भी भागी होता है। नागरिकों का हित इसी में है कि वे राजाज्ञाओं का पालन करें, अन्यथा अराजकता की भयावह स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। अतः राज्य की दासता व्यक्ति के हित की दृष्टि से आवश्यक है। वह केवल उन्हीं स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सकता है, जो उसे राज्य द्वारा प्राप्त हुई हैं।

इस प्रकरण में यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रजा को प्रभु या राजा के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं, किन्तु प्रभु को प्रजा के विरुद्ध यहाँ तक अधिकार प्राप्त हैं कि वह कोई वैध कारण न होने पर भी किसी नागरिक को निर्वासित कर सकता है, मार सकता है, उसकी सम्पत्ति छीन सकता है। उसका यह कार्य अन्यायपूर्ण नहीं है, क्योंकि उसने किसी समझौते को नहीं तोड़ा है।

(ii) **आत्मसंरक्षण का अधिकार**—हॉब्स ने इस विषय में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता तथा निरंकुश प्रभुसत्ता का पूर्ण विरोध करने का अधिकार दिया है। अपने जीवन की रक्षा के लिए ही प्राकृतिक दशा का अन्त करने के उद्देश्य से मनुष्यों ने सामाजिक समझौता किया था, राज्य की दासता स्वीकार की थी। **राज्य के बन जाने से उनके शेष सब अधिकार समाप्त हो जाते हैं, किन्तु यह अधिकार समाप्त नहीं होता है।** राज्य का प्रादुर्भाव, सत्ता और उपयोग इसी अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए है, उसका उद्देश्य ही जीवन की रक्षा करना है। अतः राज्य इस अधिकार का अपहरण नहीं कर सकता। यदि राज्य का कोई नियम नागरिक के जीवन पर आघात करता है तो वह इसका विरोध कर सकता है। हॉब्स ने लिखा है कि "**प्रजा प्रभु की आज्ञा उसी समय तक मानने के लिए बाध्य है, जब तक उसमें प्रजा को संरक्षण प्रदान करने की शक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह राजा की ऐसी आज्ञाओं का पालन न करे, जिनमें उसे अपने-आपको मारने, घायल करने या अंग-भंग (Maim) करने का**

आदेश हो अथवा उस पर हमला करने वालों के प्रतिरोध करने का निषेध हो अथवा जीवन चलाने के लिए आवश्यक अन्न, हवा, दवाई, या अन्य किसी वस्तु को लेने का निषेध किया गया हो।" वह व्यक्ति अपने पर आक्रमण का प्रतिरोध कर सकता है, अपने प्राणों को संकट में डालने वाले अपराध को न्यायालय में अस्वीकार कर सकता है, सेना में भर्ती होने से इनकार कर सकता है, डरपोक होने के कारण प्राणरक्षा के लिए युद्ध-क्षेत्र से भाग सकता है। जीवनरक्षा के आधार पर ही हॉब्स ने व्यक्ति को यह अधिकार भी दिया है कि जब किसी राज्य में गृहयुद्ध हो, इसमें पहले शासन करने वाली राजसत्ता निर्बल हो जाने के कारण नागरिकों की प्राणरक्षा करने में समर्थ न हो तो नागरिक अपनी राजभक्ति और निष्ठा पहली सत्ता से हटाकर नई सत्ता में रख सकते हैं। यह सिद्धान्त उसने लेवियाथन के अन्तिम उपसंहार में रखा है और उसके आलोचकों का यह कहना था कि यह सिद्धान्त उसने अपने वैयक्तिक स्वार्थ की दृष्टि से प्रतिपादित किया है। पहले वह राजपक्षपाती था, किन्तु इंगलैण्ड में राजा के विरोधी क्रामवेल की सत्ता सुदृढ़ होने पर हॉब्स उसके साथ मिल गया और इसे न्यायोचित सिद्ध करने के लिए उसने इस मत का प्रतिपादन किया है।

व्यष्टिवाद
(Individualism)

आत्मसंरक्षण का अधिकार हॉब्स के राजनीतिक दर्शन में असाधारण महत्व रखता है। यह न केवल सर्वोच्च सत्ता के निरंकुश अधिकारों को मर्यादित करता है, अपितु यह भी सूचित करता है कि हॉब्स ने राजनीति में व्यष्टिवाद की विचारधारा का प्रवर्त्तन किया। उससे पहले राज्य और समाज को व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण माना जाता था, इनके हित को सर्वोपरि स्वीकार किया जाता था। हॉब्स पहला दार्शनिक था, जिसने व्यक्ति के हित को, उसके जीवित रहने के अधिकार को सर्वोपरि माना, उसके मतानुसार राज्य और समाज की उत्पत्ति भी इसी हित को सुरक्षित बनाने के लिए हुई है। अतः राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के जीने के अधिकार की रक्षा करना है। यही राज्य की सबसे बड़ी उपयोगिता है कि वह अराजकता का अन्त करके व्यक्तियों के जीवन-संकट को दूर करे। राज्य अत्यधिक निरंकुश अधिकार रखते हुए भी व्यक्ति के जीवन को नहीं कुचल सकता, उसके हितों का बलिदान नहीं कर सकता। उसको निरंकुश अधिकार इसी दृष्टि से दिए गए हैं कि वह समाज में शान्ति स्थापित रखे, व्यक्तियों का जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित रखे। राजा की निरंकुश सत्ता का समर्थन व्यक्ति के हित की दृष्टि से किया गया है।

अतः सैबाइन ने यह सत्य ही लिखा है कि हॉब्स के **"प्रभु की सर्वोच्च शक्ति उसके व्यष्टिवाद का आवश्यक पूरक** (necessary complement) है।" उसकी रचनाओं में हमें सर्वप्रथम व्यष्टिवाद का आधुनिक तत्व दृष्टिगोचर होता है। व्यक्ति के हित पर बल देने के कारण हॉब्स को आधुनिक व्यष्टिवाद (Individualism) का अग्रदूत कहा जा सकता है। उसका समूचा राजनीतिक दर्शन विशुद्ध व्यष्टिवादी है।

डनिंग ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है, "उसके सिद्धान्त में राज्य की शक्ति का उत्कर्ष होते हुए भी इसका मूलाधार पूर्ण रूप से व्यष्टिवादी है। यह सब मनुष्यों की प्राकृतिक समानता पर उतना ही बल देता है, जितना मिल्टन या किसी अन्य क्रान्तिकारी विचारक ने बल दिया है। हॉब्स ने सर्वशक्तिशाली राज्य के विचार को स्वतन्त्र और समान व्यक्तियों के समुदाय से तर्कसंगत रीति से निकालने के लिए ही अपने इस नवीन विचार का विकास किया कि राज्य केवल एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ किए समझौते से जन्म ग्रहण करता है।"

हॉब्स ने आत्मसंरक्षण के लिए व्यक्ति को प्रभुसत्ता की आज्ञा के प्रतिरोध का अधिकार देकर उसकी निरंकुश सत्ता को बहुत-कुछ नगण्य बना दिया है। इससे व्यक्ति को यह अधिकार मिल गया है कि वह स्वयं यह निर्णय करे कि कब उसके प्राण संकट में हैं और उसे राजा के आदेश का विरोध करना है। इस प्रकार व्यक्ति को राज्य की निरंकुशता का प्रतिरोध करने के लिए एक महत्वपूर्ण ब्रह्मास्त्र मिल गया है। व्यक्ति इससे राजा की निरंकुश सत्ता का सफल प्रतिकार कर सकता है। अतः यद्यपि ऊपर से देखने में तो यह प्रतीत होता है कि हॉब्स निरंकुश सत्ता का समर्थक है, वास्तव में वह व्यक्ति के हितों का समर्थक होने से प्रबल व्यष्टिवादी है।

शासन के भेद—शासन तीन प्रकार के हैं। यदि प्रभुसत्ता एक व्यक्ति में निहित हो तो राजतन्त्र (Monrachy) होता है, यदि कुछ व्यक्तियों में निहित हो तो कुलीन-तन्त्र तथा समाज के सब व्यक्तियों में निहित हो तो लोकतन्त्र। इन तीन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का कोई शासन नहीं होता है। प्रभुसत्ता को अविभाज्य मानने के कारण वह अरस्तू आदि की मिश्रित (Mixed Constitution) व्यवस्था का घोर विरोधी है।

इन तीनों में से वह राजतन्त्र को निम्नलिखित कारणों से श्रेष्ठ समझता है—

(क) इसमें राजा तथा राज्य का वैयक्तिक और सार्वजनिक हित एक होता है। राजा के धन और कीर्ति की वृद्धि राज्य की सम्पत्ति और यश को बढ़ाने वाली होती है।

(ख) इसमें शासन की स्थिरता और स्थायित्व अधिक होता है। मनुष्य का स्वभाव बड़ा चंचल होता है, यदि कई व्यक्तियों अथवा लोकतन्त्र का शासन होगा तो इसमें अधिक व्यक्तियों के कारण अत्यधिक चपलता और अस्थिरता होगी। एक व्यक्ति के हाथ में शासन रहने से अस्थिरता अधिक नहीं बढ़ पाती।

(ग) राजतन्त्र में यद्यपि अपने कृपापात्रों को धन और अधिकार देने की प्रवृत्ति होती है, किन्तु कुलीनतन्त्र एवं लोकतन्त्र में यह बुराई बहुत अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि इनमें शासकों की संख्या अधिक होने से उनके कृपापात्र भी बढ़ जाते हैं। राजतन्त्र का सबसे बड़ा दोष उत्तराधिकार के कारण होने वाले झगड़े होते हैं। राज्य के सब विभाग, पार्लियामेण्ट, कारपोरेशन और मैजिस्ट्रेट अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते, वे प्रभुसत्ता की इच्छा तथा आदेशों का पालन करने के साधन मात्र हैं। प्रभुसत्ता के प्रधान कार्य शान्ति और सुरक्षा बनाए रखना, व्यापार और उद्योग-धन्धों की देख-भाल, तथा धार्मिक उपासना का संचालन करना है। इन सब कार्यों को कानून द्वारा पूरा किया जाता है।

कानून—डनिंग का यह मत है कि हॉब्स ने बोदें के कानून के विचार में सबसे बड़ा परिष्कार किया है। उसके मतानुसार, **"कानून उचित रूप से उसका वचन है जिसे अन्य व्यक्तियों पर शासन का अधिकार है।"** यह लक्षण १९वीं शताब्दी के ब्रिटिश विधिशास्त्री आस्टिन के इस लक्षण से मिलता है कि कानून प्रभुसत्ता का आदेश होता है। हॉब्स सभी राजकीय कानूनों को प्रभु की इच्छा समझता है। उस समय राजाज्ञा के अतिरिक्त कई प्रकार के नियमों को कानून माना जाता था : जैसे प्रकृति के नियम, रीति-रिवाज, ईश्वरीय नियम। उसके मतानुसार प्रकृति के नियम (Natural Laws) कानून नहीं हैं, वे राज्य के संरक्षण और प्रतिरक्षा में सहायक समझे जाने वाले अनुमान या प्रमेय (Theorem) मात्र हैं। रीति-रिवाज और रूढ़ियाँ (Customs) प्राचीन काल से चले आने के कारण कानून नहीं हैं, किन्तु इसलिए कानून माने जाते हैं कि प्रभुसत्ता इनका पालन कराना चाहती है। ये उसकी सहमति और स्वीकृति के विना कानून नहीं बन सकते। ईश्वर का नियम राजकीय कानून से ऊँचा होता है, किन्तु इसकी व्याख्या करने का अधिकार केवल राजा को है। प्रजा के लिए राजा की इच्छा ही कानून है।

हॉब्स की आलोचना—चर्च की सत्ता और महत्ता को नगण्य बनाने वाले ऐसे नास्तिक, धर्म-विरोधी सिद्धान्तों के कारण हॉब्स को गालियों तथा कटु आलोचना का शिकार होना पड़ा। कौली (Cowley) ने उसे **माम्जबरी का महाराक्षस** (Monster of Malmesbury) कहा था। ह्वाइटहाल (Whitehall) के मतानुसार **लेवियाथन वैसी ही निन्दनीय सम्मतियों से भरा हुआ है, जैसे भेक** (Toad) **विष से परिपूर्ण होता है।** ब्रैमहिल का विचार था कि **यह ग्रन्थ सबको आग लगाने वाला है, ···उसने जितनी गड़बड़ पैदा की है, उतनी वनस्पतियों के बगीचे में सूअर भी नहीं पैदा कर सकता।** अनेक-अनेक वर्षों तक सन्देहवाद और स्वतन्त्र विचार को 'हॉब्सवाद' (Hobbism) कहकर निन्दित किया जाता रहा। बैंटली (Bentley) ने हॉब्स को नैतिक पतन का जिम्मेवार ठहराया था। क्लेरैण्डन (Clerendon) ने लिखा था कि "हॉब्स की पुस्तक जला देनी चाहिए। **मैंने कभी कोई ऐसी पुस्तक नहीं पढ़ी, जिसमें राजद्रोह, गद्दारी और अधार्मिकता इतनी अधिक मात्रा में हो।"**

न केवल धार्मिक, अपितु राजनीतिक दृष्टि से भी हॉब्स के विचारों की कटु आलोचना की गई है। रूसो ने लिखा है कि हॉब्स का सिद्धान्त आत्मविरोधी (Self-contradicting) तथा उद्वेगजनक है, उसका राज्य की उत्पत्ति का तथा इसके प्रति सदस्यों की निष्ठा का विचार बड़ा भ्रान्त है। उसके सामाजिक समझौते से उत्पन्न होने वाला समाज इससे पहले की अराजक दशा से बहुत गया-बीता है। वस्तुतः वह कोई समाज नहीं है, किन्तु केवल भय से संचालित होने वाला पशुओं का रेवड़ है जो तलवार के जोर से बाड़े में बन्द है। लेवियाथन का राज्य दासता पर आधारित है। हॉब्स के विचारों का सबसे बड़ा दोष यह है कि वे तानाशाही और निरंकुश शासन स्थापित करते हैं। रूसो के मतानुसार जो व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग करता है, वह अपने मनुष्यत्व को छोड़ देता है। उसके समझौते से बना हुआ समाज वास्तव में कोई समाज नहीं है। इसमें सारा जीवन केवल एक ही व्यक्ति—लेवियाथन में केन्द्रित है,

शेष सब व्यक्ति निरर्थक भू-भार मात्र हैं। समाज का मूल तत्व यह है कि उसके सब व्यक्तियों में जीवन का स्पन्दन और संचार हो, प्रत्येक व्यक्ति सामुदायिक विकास में अपना थोड़ा-बहुत अंश प्रदान करे; किन्तु हॉब्स के समाज में, सभी व्यक्ति लेवियाथन के समक्ष नतमस्तक और करबद्ध दास मात्र हैं। रूसो ने प्राकृतिक दशा वाले मनुष्य के हॉब्स द्वारा प्रतिपादित हिंस्र स्वभाव पर आपत्ति करते हुए कहा था कि अपने बन्धुओं के विनाश से आनन्द प्राप्त करने वाला वह प्राणी बड़ा विचित्र रहा होगा। यदि वास्तव में मनुष्यों का स्वभाव एक-दूसरे का गला काटने वाला हो तो मानव-जाति दो पीढ़ियों से अधिक नहीं चल सकती है। यदि यही मानव-स्वभाव हो तो हमें अपने बच्चों और बन्धुओं की मृत्यु पर प्रसन्न होना चाहिए, दया और सहानुभूति राक्षसों का गुण मानना चाहिए, सोते हुए तथा असहाय व्यक्तियों की हत्या कर देनी चाहिए।

वॉन (Vaughan) ने उसके 'प्रकृति के नियम' (Law of Nature) की आलोचना करते हुए लिखा है कि उसने इसका प्रयोग दो विभिन्न विरोधी अर्थों में किया है। एक ओर इसे वह पाशविक सहज बुद्धि (Brute instinct) मानता है और दूसरी ओर एक नैतिक नियम। जब उसका उद्देश्य प्राकृतिक दशा को भयावह रूप में उपस्थित करना होता है, तो वह इसे छल-कपट से विषाक्त पशु-शक्ति के रूप में चित्रित करता है। किन्तु जब वह इस अवस्था में समझौते द्वारा परिवर्तन लाना चाहता है तो जो मनुष्य कुछ समय पहले जंगली पशु थे, अब सहसा अपने को कर्त्तव्यों से बँधा हुआ नैतिक प्राणी समझने लगते हैं। दानवों को एक ही क्षण में देवताओं में कायाकल्प करने की कपोल कल्पना तो पौराणिक साहित्य में भी उपलब्ध नहीं होती। "हॉब्स के मतानुसार प्राकृतिक दशा युद्ध की अवस्था है, इसमें सब व्यक्ति एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध में रत हैं। इस दशा में सबसे बड़े गुण बल और छल हैं। यह ऐसी दशा है, जिसमें सत्-असत्, न्याय-अन्याय की धारणाओं का कोई स्थान नहीं होता। यह सब बिलकुल असंगत है, किन्तु इसकी इसके परिणाम (सामाजिक समझौते) के साथ तो कोई भी संगति नहीं बैठ सकती है। हमें यह कौन विश्वास दिला सकता है कि इस प्रकार के मनुष्य ऐसी दशा में प्रवेश कर सकते हैं, या प्रवेश करना चाहते हैं, जिसमें ये परिस्थितियाँ बिलकुल ही बदल जाती हैं। यह युद्ध की नहीं, किन्तु शान्ति की स्थिति है······यह न्याय के विचारों पर आधारित राज्य है। **एक हब्शी अपना रंग नहीं बदल सकता और न ही लेवियाथन के आरम्भिक अध्यायों में वर्णित दूसरे का गला काटने वाला चालाक व्यक्ति एकदम शान्तिप्रिय श्रमिक बन सकता है।**" लॉक ने भी हॉब्स की इस प्रकार की आलोचना करते हुए कहा है कि "वह हमें यह विश्वास दिलाना चाहता है कि **मनुष्य इतने मूर्ख हैं कि वे जंगली बिल्लियों और लोमड़ियों की शरारतों से बचने के लिए शेरों द्वारा निगला जाना अधिक सुरक्षित समझते हैं।**"

आधुनिकता का अग्रदूत—हॉब्स को सुप्रसिद्ध राजनीतिशास्त्रवेत्ता सैबाइन ने आधुनिकता का अग्रदूत माना है और यह लिखा है, "वस्तुतः **हॉब्स आधुनिक युग के उन महान् दार्शनिकों में प्रथम स्थान रखता है, जिन्होंने इस बात का प्रयत्न किया कि वे आधुनिक विचारों की पद्धति के साथ राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्तों को घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कर सकें।**" हॉब्स को निम्नलिखित कारणों से राजनीतिशास्त्र में आधुनिकता

का प्रवर्त्तक माना जाता है—

पहला कारण राजनीति में धार्मिक विचारधारा को गौण स्थान देना था। मध्ययुग के सभी विचारक राजनीतिक चिन्तन में सर्वोच्च स्थान बाइबल की विचारधारा को देते थे, पोप की सत्ता राजा की सत्ता से श्रेष्ठ, ऊँची और उत्कृष्ट मानते थे तथा अपने सभी मन्तव्यों का पोषण बाइबल के स्वतः प्रमाण समझे जाने वाले वचनों के आधार पर करते थे। हॉब्स ने चर्च की सत्ता का घोर विरोध किया, वह ईसाई धर्माचार्यों के वचनों में एवं प्रमाणों के आधार पर मध्यकालीन लेखकों की भाँति राजनीतिक प्रश्नों की विवेचना नहीं करता है, अपितु अध्यात्मवादी दृष्टिकोण को तिलांजलि देते हुए विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाता है, उसने यूक्लिड की रेखागणित की पद्धति को आदर्श समझते हुए उसका अनुसरण किया। उसकी पद्धति में इतिहास का तथा धर्मशास्त्रों के प्रमाणवाद का कोई स्थान नहीं है। हॉब्स विशुद्ध बुद्धिवाद का पुजारी है, वह केवल इसी की सहायता से अपने सब मन्तव्यों तथा निष्कर्षों को पुष्ट करता है। बुद्धिवाद आधुनिक युग की एक प्रधान विशेषता है; इसको राजनीतिशास्त्र में पूरी तरह सर्वप्रथम लागू करने का श्रेय हॉब्स को ही है। उससे पहले किसी भी विचारक ने बुद्धिवाद को इतने व्यापक और विशिष्ट रूप से राजनीतिशास्त्र का आधार नहीं बनाया था।

दूसरा कारण राज्य के सम्बन्ध में मध्ययुग के परम्परागत दृष्टिकोण का परित्याग था। इसके अनुसार यह भगवान् द्वारा बनाई गई दैवीय संस्था है। वह इस सिद्धान्त का खण्डन करता था। उससे पहले यह माना जाता था कि राज्य का जन्मदाता मनुष्य नहीं है, वह भगवान् की कृति है। उसने इसका खण्डन करते हुए इसे मनुष्यों के ऐसे आदिम समझौते का परिणाम बताया, जिसमें सब मनुष्यों ने अपनी रक्षा के लिए लेवियाथन नामक विराट् पुरुष या महामानव को आत्मसंरक्षण की दृष्टि से अपने सब अधिकार सौंप दिए थे और लेवियाथन का निर्माण किया था, जिससे समाज और राज्य का प्रादुर्भाव हुआ।

तीसरा कारण आधुनिक युग की प्रमुख विशेषता व्यष्टिवाद (Individualism) का प्रतिपादन और प्रबल पोषण है। हॉब्स से पहले मध्ययुग में व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व दिया जाता था, किन्तु हॉब्स ने राजनीतिशास्त्र में व्यक्ति के महत्व को सुप्रतिष्ठित किया। उसका समूचा राजनीतिक दर्शन विशुद्ध व्यष्टिवादी है। पहले यह बताया जा चुका है कि वह मिल्टन या अन्य क्रान्तिकारी विचारकों की भाँति मनुष्य की प्राकृतिक समानता पर बल देता है। आत्मसंरक्षण के लिए व्यक्ति को राजा की आज्ञा का विरोध करने के अधिकार देकर उसने उसकी निरंकुश सत्ता को भी नगण्य बना दिया है। उसके मतानुसार व्यक्ति ने सामाजिक समझौते द्वारा आत्मसंरक्षण के लिए ही राज्य की सत्ता का निर्माण किया है और उसे अपने अधिकार दिए हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि हॉब्स व्यक्ति के हितों का प्रबल समर्थक है और उसके ये विचार उसे समष्टिवादी मध्यकालीन विचारकों से सर्वथा पृथक् और भिन्न करते हैं तथा उसके आधुनिकता का अग्रदूत होने के विचार का पोषण करते हैं। अनेक विचारकों ने मेकियावेली को राजनीतिशास्त्र में पहला आधुनिक

विचारक माना है। किन्तु उसकी अपेक्षा हॉब्स ने व्यष्टिवाद तथा बुद्धिवाद का अधिक सुस्पष्ट विवेचन और प्रतिपादन किया है तथा चर्च को **'अन्धकार का राज्य'** (Kingdom of Darkness) बताते हुए उसे राजसत्ता की अपेक्षा बड़ा गौण स्थान दिया है। इसे देखते हुए हॉब्स को मेकियावेली की अपेक्षा अधिक अंशों में आधुनिकता का अग्रदूत माना जा सकता है।

हॉब्स की विचारधारा के दोष—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उसके विचारों में कई गम्भीर दोष हैं—

(१) **पहला दोष मानव-स्वभाव का एकांगी, दूषित और निराशावादी दृष्टिकोण है।** वह मनुष्य को घोर स्वार्थी, कपटी, क्रूर और दूसरे का गला काटने वाला बताता है। किन्तु मनुष्य यदि पशु है तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह कोरा पशु नहीं, किन्तु मानवीय (Human) पशु है। उसमें एक ओर जहाँ उपर्युक्त पाशविक प्रवृत्तियाँ हैं, वहाँ दूसरी ओर सहानुभूति, उदारता, दयालुता, परोपकार और प्रेम के मानवीय गुण हैं। हॉब्स इन्हें सर्वथा भुला देता है, वह केवल उसकी पाशविक प्रवृत्तियों पर ही वल देता है, जैसे रूसो ने उसकी मानवीय प्रवृत्तियों पर बल दिया है। दोनों दृष्टिकोण एकांगी होने से दूषित हैं और इनके आधार पर राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण नहीं हो सकता है। इस प्रकार हॉब्स के अपने सिद्धान्तों का मौलिक आधार ही दोषपूर्ण है।

(२) **दूसरा दोष उसके सिद्धान्तों की अनेक असंगतियाँ और पारस्परिक विरोध हैं।** पहले इनका निर्देश किया जा चुका है। प्राकृतिक दशा में मनुष्य एकाकी और ऐसी दशा में रहता था जिसमें हत्या, हिंसा, छल, कपट का साम्राज्य था। किन्तु समझौता होने के बाद वह सामाजिक बनकर शान्तिपूर्ण समाज में रहने लगा। उसकी प्रवृत्ति में इस प्रकार सहसा परिवर्तन कैसे आ गया कि उसने अराजकता और अव्यवस्था को सुव्यवस्था में परिणत कर लिया। बाल्मीकि जैसे एक-दो व्यक्ति भले ही सहसा डाकू से मुनि बन जाएँ किन्तु हॉब्स के पशुतुल्य रक्त-पिपासु नरपशु एकदम समझौतों का पालन करने वाले नैतिक प्राणी बन जाएँ—यह सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। एक ही क्षण में प्राकृतिक दशा में रहने वाले मनुष्यों ने संघर्षपूर्ण जीवन को छोड़कर सहयोगी जीवन की पद्धति को कैसे अपना लिया ? यह नहीं समझ में आता कि जिस समाज में कुछ समय पहले जंगली जानवरों की-सी स्थिति थी, कोई कायदा-कानून नहीं था, इसे लागू करने वाली कोई सर्वोच्च शक्ति नहीं थी, उसमें सहसा समझौता कैसे हो गया ? हॉब्स स्वयं यह मानता है कि तलवार की शक्ति के बिना कोई नियम या समझौता नहीं टिक सकता। किन्तु वह यह भी मानता है सामाजिक समझौता पहले हुआ तथा लेवियाथन की उत्पत्ति बाद में हुई। उसके अपने सिद्धान्तों में ही परस्पर विरोध है। अराजकता के एकदम बाद समझौते की उत्पत्ति तथा शान्ति की स्थिति वास्तव में कभी नहीं हो सकती, यह केवल हॉब्स की कल्पना की जादू की छड़ी से या अलाउद्दीन के चिराग से ही सम्भव है।

(३) **तीसरा दोष उसकी यह भ्रान्त धारणा है कि आदिम समाज में मनुष्य एकाकी रहता है।** उसे यह ज्ञात नहीं था कि मनुष्य में सामाजिक जीवन के तत्वों का

कभी अभाव नहीं रहा। उसकी कल्पना के विपरीत आदिम समाज की इकाई व्यक्ति नहीं, वरन् कुटुम्ब या दूसरे समुदाय थे। इन समाजों में केवल संघर्ष की ही नहीं, किन्तु उसके साथ सहयोग की भावना भी पाई जाती है। वस्तुतः उसकी अपेक्षा अरस्तू का यह मत अधिक सत्य था कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और राज्य की उत्पत्ति परिवार से होती है।

(४) **चौथा दोष उसकी यह धारणा है कि समाज को अराजकता से बचाने के लिए इसका एकमात्र विकल्प सर्वोच्च एवं निरंकुश शासन-सत्ता को मानना है।** उसके सामने योरोप के मध्ययुग का इतिहास था, इसमें शासन-सत्ता चर्च और राज्य में बँटी हुई थी। इस दशा में यद्यपि अनेक संघर्ष होते थे, किन्तु यह हॉब्स की प्राकृतिक दशा से बहुत अच्छी थी। वह यह समझता था कि प्रभुसत्ता सदैव अविभाज्य रहनी चाहिए, अन्यथा समाज में अराजकता उत्पन्न हो जाएगी। किन्तु आधुनिक राज्यों का उदाहरण इसे झुठलाने के लिए पर्याप्त है। सं० रा० अमरीका में यह शासन के तीन प्रधान अंगों में बँटी हुई है, किन्तु वहाँ कोई अराजकता नहीं है।

(५) **दण्डशक्ति का अनुचित महत्व—पाँचवाँ दोष यह है कि वह समाज में अराजकता दूर करने और कानून का पालन कराने के लिए राज्य की दण्डशक्ति को अनुचित प्रधानता देता है।** वह यह भूल जाता है कि लोकमत, बुद्धि और धार्मिक विश्वास भी मानव-समाज में व्यवस्था बनाए रखने में सहायक होते है।

(६) **छठा दोष राज्य को कोई रचनात्मक कार्य नहीं सौंपना है।** इसका एक-मात्र कार्य शान्ति बनाए रखना है। लेवियाथन पुलिस का सिपाही मात्र है। वह यूनानी विचारकों की तरह राज्य के भावात्मक कार्यों पर बल नहीं देता है। वह अरस्तू की यह बात मानता है कि राज्य मनुष्य के जीवन की रक्षा के लिए है, किन्तु यह भूल जाता है कि इसका लक्ष्य उसे सुखमय जीवन की सुविधाएँ प्रस्तुत करना है। उसके लिए राज्य एक आवश्यक बुराई है; यह एक प्रगतिशील सभ्यता का नहीं, अपितु मनुष्य की बर्बर वृत्तियों से उसकी रक्षा करने का साधन है।

(७) **मनुष्य के अधिकार छीनना—सातवाँ दोष** हॉब्स का अपने राज्य में मनुष्य को सर्वथा अधिकारशून्य करके लेवियाथन की दासता के पाश में जकड़ना था। इसमें मनुष्यों की स्थिति लेवियाथनरूपी चरवाहे द्वारा हाँके जाने वाले पशुओं के रेवड़ जैसी थी। यदि अराजकता शोचनीय स्थिति थी, तो यह उससे भी बुरी अवस्था थी।

हॉब्स का यह दुर्भाग्य था कि उसके लेवियाथन ने इंगलैण्ड के सभी महत्वपूर्ण दलों को रुष्ट किया था। उसके चर्च और धर्म-सम्बन्धी विचारों के कारण पादरी उससे असन्तुष्ट थे, क्योंकि वे चर्च को राज्य का एक विभाग मात्र नहीं बनाना चाहते थे। राजा की दैवी सत्ता में विश्वास रखने वाले राजतन्त्रवादी (Monarchists) उसके सामाजिक समझौते के विचार को पसन्द नहीं करते थे। राजसत्तावादियों (Royalists) को उससे यह असन्तोष था कि वह प्रजा की रक्षा करने में समर्थ किसी भी शासन को, भले ही वह किसी डिक्टेटर का या पार्लियामेण्ट का क्यों न हो, मानने को तैयार था। पार्लियामेण्ट वाले उससे इसलिए नाराज थे कि वह प्रभुसत्ता की अविभाज्यता का सिद्धान्त मानने के कारण राजा की सत्ता को नियन्त्रित करने वाले दावों का विरोधी

था। इन परिस्थितियों में हॉब्स का तत्कालीन ब्रिटिश विचारकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

हॉब्स का महत्व—उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी हॉब्स कई दृष्टियों से असाधारण महत्व रखता है।

(१) **व्यवस्थित पद्धति का निर्माण**—वह राजनीतिशास्त्र की विस्तृत और व्यवस्थित पद्धति का निर्माण करने वाला पहला अंग्रेज विचारक है। डनिंग के शब्दों में उसके ग्रन्थ ने उसको एकदम प्रथम कोटि के विचारकों में स्थान दिया और उसके ग्रन्थ ने अनेक तीव्र विवाद उत्पन्न करके 'वादे-वादे जायते तत्वबोधः' के अनुसार राजनीतिक प्रश्नों के चिन्तन को अधिक स्पष्टता प्रदान की।

(२) **भौतिक दृष्टिकोण**—उसने राजनीतिशास्त्र में भौतिकवाद (Materialism) का दृष्टिकोण अपनाकर नई परम्परा स्थापित की।

(३) **राजनीतिक सत्ता को महत्व देना**—हॉब्स ने राजनीतिक सत्ता को मेकियावेली की अपेक्षा अधिक ऊँचा उठाया। इटालियन लेखक ने तो राजनीतिशास्त्र को धर्म और नीतिशास्त्र से **स्वतन्त्र और पृथक्** किया था, किन्तु हॉब्स ने उसे इनसे ऊपर उठाया।

(४) **प्रभुसत्ता का विकास**—हॉब्स का प्रभुसत्ता और कानून का विचार अपने पूर्ववर्ती बोदैं के विचारों से अधिक आगे बढ़ा हुआ था। असीम अमर्यादित प्रभुसत्ता का प्रतिपादन करने वाला वह पहला विचारक था, उसने अपने बुद्धि-कौशल से राजाओं की वैध सत्ता के समर्थन में प्रस्तुत किए जाने वाले सामाजिक समझौते के सिद्धान्त से प्रभुसत्ता की निरंकुशता को पुष्ट किया।

(५) **व्यष्टिवाद**—उसकी एक बहुत बड़ी देन व्यष्टिवाद की है।

(६) **बुद्धिवाद**—हॉब्स का इस दृष्टिकोण से भी महत्व है कि उसने मध्यकालीन परम्पराओं के धार्मिक जाल को अपने बुद्धिवाद से विच्छिन्न किया। रसेल ने लिखा है कि "वह अन्धविश्वास से सर्वथा मुक्त है। वह इस आधार पर तर्क नहीं करता कि आदम और हव्वा के पतन के समय क्या हुआ। सभी मध्यकालीन लेखक बाइबल के आधार पर तर्क करते हुए दैवी और प्राकृतिक नियमों पर बहुत बल देते थे, उसने इसको स्वीकार करते हुए धर्मसत्ता को राजनीतिक सत्ता का वशवर्ती बनाया तथा राज्य को मनुष्यों द्वारा बनाई हुई कृत्रिम तथा मानवीय संस्था माना, जबकि उससे पहले के विचारक इसको ईश्वरीय संस्था मानते थे।"

सारांश

हॉब्स इंगलैण्ड में राज्य की समस्याओं पर गम्भीर विचार करके सुव्यवस्थित रूप से ग्रन्थ लिखने वाला पहला दार्शनिक था। वह बचपन से ही अत्यन्त प्रतिभाशाली था और ९१वें वर्ष की आयु तक उसकी मानसिक और शारीरिक शक्तियों में कोई कमी नहीं आई। हॉब्स पर उस समय की नई वैज्ञानिक खोजों ने तथा इंगलैण्ड की राजनीतिक दशा ने गहरा प्रभाव डाला। उसकी सबसे अधिक प्रसिद्ध पुस्तक 'लेवियाथन'

(Leviathan) १६५१ ई० में प्रकाशित हुई थी। इसमें उसने निम्नलिखित प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है—

(१) **मानव-स्वभाव का स्वरूप** हॉब्स के अनुसार बहुत बुरा है। वह घोर स्वार्थी, क्रूर और हिंसक है; वह निरन्तर तीन कारणों से संघर्ष करता रहता है। ये कारण हैं—प्रतिद्वन्द्विता, भय और कीर्ति कमाने की लालसा।

(२) राज्य की उत्पत्ति से पहले की स्थिति **प्राकृतिक दशा** (state of nature) है। इसमें सब मनुष्य एक-दूसरे से लड़ते रहते थे। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम प्रचलित था। मनुष्य का जीवन एकाकी, निर्धन, कुत्सित, पशुतुल्य होता था। उसमें नैतिकता, न्याय की भावना और निजी सम्पत्ति का अभाव था।

(३) **सामाजिक समझौता**—इस सदा संघर्ष की स्थिति का अन्त करने के लिए मनुष्य की बुद्धि ने आत्मरक्षा की दृष्टि से एक शक्तिशाली सत्ता की स्थापना का निश्चय किया और सब व्यक्तियों ने एक-दूसरे के साथ समझौता करके अपने अधिकार उनकी रक्षा करने वाले एक व्यक्ति को सौंप दिए। यही वह महान् लेवियाथन है जो समाज के सब व्यक्तियों की रक्षा करता है। यह पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न शासक (Sovereign) है। यह इस समझौते से ऊपर उठा हुआ पूर्ण रूप से स्वेच्छाचारी, स्वच्छन्द शासक (Absolute Ruler) है और यह सब व्यक्तियों की रक्षा करता है। इसे प्रजा-जनों पर पूरे अधिकार प्राप्त है। इसकी आज्ञा की अवहेलना करना अन्यायपूर्ण है। प्रजा को इसके विरोध का कोई अधिकार नहीं है।

(४) **व्यक्ति के अधिकार**—व्यक्ति को केवल दो ही अधिकार प्राप्त हैं—(i) ऐसे सब काम करने की स्वतन्त्रता जो राज्य के कानूनों द्वारा न रोके गए हों। (ii) आत्म-संरक्षण का अधिकार। केवल इसी अधिकार के आधार पर वह अपने जीवन को संकट में डालने वाले राज्य के कार्यों का विरोध कर सकता है।

(५) **शासन-प्रणालियाँ**—हॉब्स ने राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र की तीन शासन-प्रणालियों को स्वीकार करते हुए राजतन्त्र में शासन का स्थायित्व अधिक होने के कारण उसे सर्वश्रेष्ठ माना है।

(६) **कानून**—हॉब्स के मतानुसार कानून उचित रूप से उसका वचन है जिसे अन्य व्यक्तियों पर शासन करने का अधिकार है। प्रजा के लिए राजा की इच्छा ही कानून है।

(७) **आधुनिकता का अग्रदूत**—हॉब्स को तीन कारणों से आधुनिकता का अग्रदूत माना जाता है—(क) राजनीति में धार्मिक विचारधारा को गौण स्थान देना; (ख) राज्य के सम्बन्ध में मध्ययुग के परम्परागत दृष्टिकोण का परित्याग तथा (ग) व्यष्टिवाद का प्रबल पोषण।

(८) **हॉब्स की विचारधारा के दोष**—हॉब्स की विचारधारा के प्रमुख दोष निम्न हैं—(क) मानव-स्वभाव का निराशावादी दृष्टिकोण, (ख) सिद्धान्तों में अनेक प्रकार के विरोध और असंगतियाँ, (ग) आदिम समाज में मनुष्य को एकाकी रहने वाला मानना, (घ) राज्य को निरंकुश अधिकार देना, (ङ.) मनुष्य के अधिकार छीनना, (च) राज्य को कोई रचनात्मक कार्य न सौंपना।

(९) **हॉब्स की देनें**—हॉब्स उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी अपनी निम्नलिखित देनों के कारण असाधारण महत्व रखता है—(१) व्यवस्थित पद्धति का निर्माण, (२) भौतिक दृष्टिकोण, (३) राजनीतिक सत्ता को महत्व देना, (४) प्रभुसत्ता का विकास, (५) व्यष्टिवाद, (६) बुद्धिवाद।

प्रश्न

(१) हॉब्स के 'लेवियाथन' का क्या महत्व ग्रौर स्वरूप है ?
(२) मानव-स्वभाव ग्रौर प्राकृतिक दशा के बारे में हॉब्स के विचारों का परिचय दीजिए ।
(३) प्राकृतिक ग्रधिकारों ग्रौर प्रभुसत्ता के स्वरूप के बारे में हॉब्स के क्या मत हैं ?
(४) हॉब्स ने व्यक्ति को कौनसे ग्रधिकार प्रदान किए हैं ग्रौर वह किस प्रकार व्यष्टिवाद का समर्थन करता है ?
(५) हॉब्स को किन कारणों से ग्राधुनिकता का ग्रग्रदूत माना जाता है ?
(६) हॉब्स की विचारधारा में क्या दोष हैं ?
(७) हॉब्स की महत्वपूर्ण देनों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए ।

दूसरा अध्याय

जॉन लॉक [१६३२–१७१४ ई०]

जीवन-चरित्र—हॉब्स के बाद ब्रिटिश राजनीतिक चिन्तन में सबसे ऊँचा स्थान रखने वाले और उसके प्रतिकूल मत प्रकट करने वाले जॉन लॉक का जन्म एक मध्यम-वर्गीय परिवार में सामरसेट क़ाउण्टी के रिंगटन नामक स्थान में १६३२ ई० में उस समय हुआ, जब पार्लियामेण्ट राजा चार्ल्स प्रथम (१६२५—१६४६ ई०) से अपने अधिकारों के लिए लड़ रही थी। उसके होश संभालते ही इंगलैण्ड का गृहयुद्ध (१६४२—१६५६ ई०) आरम्भ हो गया। उसका पिता १६४२ ई० में पार्लियामेण्ट की ओर से लड़ने वाली सेना में स्वयंसेवकों की एक कम्पनी का कप्तान बना। लॉक ने लिखा है कि जब मुझे कुछ होश हुआ तो मैने अपने को तूफान में पाया। १६५६ ई० में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से एम० ए० करने के बाद वह वहीं यूनानी भाषा, काव्यशास्त्र और दर्शन का शिक्षक बना। यह काम पसन्द न आने पर उसने चर्च का पुरोहित बनना चाहा, पर उसका कठोर नियन्त्रण उसके लिए सह्य न था। अतः उसने १६६० ई० के बाद आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध चिकित्सक डेविड थामस से चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया और शीघ्र ही अच्छा डॉक्टर बना। डॉक्टर बनने पर भी वह स्वयं आजीवन बीमार रहा और उसका कहना था कि स्वास्थ्य मेरी ऐसी प्रेयसी है कि चिरकाल तक उसे रिझाने पर भी मैं उसकी कृपा नहीं पा सका हूँ।

१६६६ ई० में लॉक के समूचे जीवन पर प्रभाव डालने वाली घटना घटित हुई। उस समय के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ तथा ह्विग (उदार) दल के संस्थापक लॉर्ड एशली (बाद में अर्ल ऑफ शेफ्ट्सबरी) अपने इलाज के लिए डेविड थामस के पास आक्सफोर्ड आए, थामस द्वारा लॉक का परिचय एशली से हुआ और वे उससे इतने प्रसन्न और प्रभावित हुए कि १६६७ में उन्होंने लॉक को लन्दन आकर उनका चिकित्सक बनने को कहा। इससे लॉक को ब्रिटिश राजनीति के तथा राजनीतिज्ञों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का अवसर मिला। एशली पार्लियामेण्ट की ओर से राजा के विरुद्ध लड़ने वाली सेनाओं के फील्ड मार्शल, संसद् के अधिकारों के प्रबल समर्थक और उदारवाद के परम भक्त राजनीतिज्ञ थे। लॉक १५ वर्ष तक उनका सचिव रहा। १६७२ में लार्ड चांसलर बनने पर शेफ्ट्सबरी ने उसे कुछ सरकारी पदों पर भी रखा, किन्तु १६७३ में राजा अपनी प्रेयसियों को दिए जाने वाले रुपये की अदायगी में बाधा डालने के कारण शेफ्ट्सबरी से रुष्ट हो गया। शेफ्ट्सबरी के साथ लॉक को भी सरकारी नौकरी छोड़नी पड़ी और वह अपने क्षय या दमे के इलाज के लिए फ्रांस चला गया। १६७६ में शेफ्ट्सबरी के

दुबारा पदारूढ़ होने पर लॉक फ्रांस से लौटकर उसके साथ काम करता रहा। किन्तु १६८१ ई० में राजा पुनः शेफ्ट्सबरी से रुष्ट हो गया क्योंकि वह प्रोटेस्टेण्ट धर्मावलम्बी व्यक्ति को राजगद्दी पर बैठाने के षड्यन्त्र में संलग्न था। उसे इंगलैण्ड छोड़ना पड़ा और जब लॉक को स्वदेश में अपने प्राण संकट में प्रतीत हुए तो वह हालैण्ड भाग गया। हालैण्ड में जब उसे यह आशंका हुई कि वहाँ की सरकार उसे पकड़कर ब्रिटिश सरकार को सौंप देगी तो वह वेश बदलकर और छिपकर रहने लगा। यहीं १६८३ ई० से उसने ग्रन्थ-लेखन का कार्य आरम्भ किया। तत्कालीन स्टुअर्टवंशी राजा को गद्दी से उतारने तथा विलियम ऑफ ऑरेंज को गद्दी पर बिठाए जाने की षड्यन्त्रकारी योजनाओं में लॉक ने बड़ी दिलचस्पी ली। १६८८ ई० में इंगलैण्ड में क्रान्ति होने पर तथा विलियम को इंगलैण्ड बुलाने पर, वह उसकी पत्नी मेरी के जहाज पर बैठकर स्वदेश पहुँचा। क्रान्ति सफल होने पर उसे अनेक सरकारी पद दिए गए, किन्तु उसने स्वास्थ्य खराब होने के कारण कोई पद नहीं स्वीकार किया।

लॉक के ग्रन्थ—उसने राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, शिक्षा, धर्मशास्त्र, दर्शन, विज्ञान, उद्यानशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर तीस से अधिक ग्रन्थ लिखे हैं। उसकी गणना पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिकों में होती है। राजनीतिशास्त्र के सम्बन्ध में उसके महत्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—**सहिष्णुता पर एक पत्र** (१६८९) (A Letter on Toleration), **शासन पर दो निबन्ध** (१६९०) (Two Treatises on Government), **सहिष्णुता पर दूसरा** (१६९०), **तीसरा** (१६९२ ई०) तथा **चौथा पत्र**, **कैरोलिना का मौलिक संविधान** (The Fundamentals of Constitution of Carolina)। इनमें उसका दूसरा ग्रन्थ बड़ा महत्वपूर्ण है। यह राजा के दैवी अधिकारों का प्रबल समर्थन करने वाले सर रावर्ट फिलमर के १६८० ई० में प्रकाशित Patriarcha का खण्डन करने के लिए लिखा गया है। इसके पहले निबन्ध में तो फिलमर की युक्तियों का बड़े विस्तार से निराकरण किया गया और दूसरे निबन्ध में राज्यविषयक अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

लॉक के प्रमुख सिद्धान्त

मानव-स्वभाव की धारणा (Conception of Human Nature)—हॉब्स और लॉक के मानव-स्वभावविषयक विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर है। **हॉब्स मनुष्य में केवल पाशविक प्रवृत्तियों का दर्शन करता है, किन्तु लॉक उसके मानवीय गुणों पर बल देता है, जो निम्नलिखित हैं—**

(१) **बुद्धिमत्ता**—मनुष्य की बड़ी विशेषता बुद्धिमान् (Rational) तथा विचारवान् प्राणी होना है।

(२) **नैतिकता**—वह अपनी विवेक बुद्धि से एक नैतिक व्यवस्था की सत्ता स्वीकार करता है और इसके अनुसार कार्य करना अपना कर्त्तव्य समझता है।

(३) **उदारता के गुण**—उसमें दूसरों के प्रति सहानुभूति, प्रेम और दयालुता के गुण होते हैं।

दोनों विचारकों की मानव-प्रकृति की धारणा में पहला **भेद यह है कि हॉब्स का मनुष्य कोरा पशु है**, किन्तु लॉक का एक नैतिक व्यवस्था को स्वीकार करने वाला तथा उसके अनुसार आचरण करने वाला प्राणी है। लॉक यह मानता है कि मनुष्य सदैव अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते हैं। उदाहरणार्थ, वे सत्य नहीं बोलते, पड़ोसी की हत्या करते हैं; किन्तु उन्हें यह ज्ञान है कि सत्य बोलना चाहिए, हत्या नहीं करनी चाहिए। यह विवेक और ज्ञान ही उन्हें पशुओं से भिन्न बनाता है।

दूसरा भेद यह है कि हॉब्स का मनुष्य विशुद्ध भौतिकवादी (Materialist) **तथा चार्वाक है**, उसकी सब क्रियाओं का मूल प्रेरणा-स्रोत शरीर को सुख पहुँचाना है। किन्तु लॉक का मनुष्य कर्त्तव्य की पुकार को सुनता है, उसके अनुसार आचरण करता है। हॉब्स का मनुष्य घोर स्वार्थी है, किन्तु लॉक का मनुष्य कई बार वास्तव में परोपकारी होता है।

प्राकृतिक अवस्था (State of Nature)—हॉब्स ने मनुष्य के घोर स्वार्थी होने के कारण इसे सतत संघर्ष और युद्ध की दशा माना था। किन्तु लॉक मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में लेवियाथन के लेखक से सर्वथा प्रतिकूल मत रखने के कारण इसे **युद्ध की नहीं, किन्तु शान्ति की दशा मानता है**। इसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **समानता**—"प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्य समान हैं, क्योंकि सभी सृष्टि के एक ही स्तर पर और सब एक ही सर्वशक्तिमान् एवं अनन्त बुद्धिसम्पन्न स्रष्टा की कृतियाँ हैं।"

(२) **स्वतन्त्रता**—समानता के अतिरिक्त प्राकृतिक अवस्था की **दूसरी** विशेषता मानव की स्वतन्त्रता है। किन्तु यह स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता या स्वेच्छाचारिता नहीं है। क्योंकि प्राकृतिक अवस्था का नियन्त्रण **प्राकृतिक नियम** (Natural Law) के द्वारा होता है। बुद्धि पर आधारित नैतिक नियम ही प्राकृतिक नियम हैं। उदाहरणार्थ, दूसरे की हत्या करना प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल है क्योंकि इसका ज्ञान हमें इस प्रकार के तर्क से होता है, जैसे व्यक्ति अपने जीवन को नष्ट करने का अधिकार नहीं रखता, वैसे ही वह दूसरों के जीवन को भी नष्ट नहीं कर सकता। वह जो व्यवहार अपने लिए नहीं चाहता, उसे ऐसा व्यवहार दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए। **'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'** इसके साथ ही अपना जीवन जहाँ संकट में न हो, वहाँ उसे यह चाहिए कि वह यथाशक्ति दूसरों के जीवन की रक्षा का प्रयत्न करे। स्वतन्त्रता का आधार बुद्धि है, वह मनुष्य को इस योग्य बनाती है कि वह प्राकृतिक विधान के अनुसार जीवन व्यतीत कर सके। प्राकृतिक नियमों से नियन्त्रित होने के कारण लॉक की प्राकृतिक दशा हॉब्स की नैसर्गिक दशा की भाँति अतीव भयावह और संघर्षमय नहीं है। मनुष्य में स्वभावतः सामाजिकता की प्रवृत्ति है। अतः **यह अवस्था शान्ति, सौहार्द, पारस्परिक सहयोग और आत्मरक्षा की अवस्था है, और इसमें मनुष्य सदा समान**

होते हैं, समान प्राकृतिक अधिकार रखते हैं।[1]

प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights)—प्राकृतिक दशा में लॉक के मतानुसार सब व्यक्तियों को तीन प्रकार के—जीवन, स्वतन्त्रता व सम्पत्ति के—अधिकार प्राकृतिक नियम के द्वारा प्राप्त थे—

१. **जीवन का अधिकार** (Right to life)—आत्मसंरक्षण मनुष्य की सबसे प्रबल आकांक्षा है और उसकी सब क्रियाओं का प्रधान प्रेरक तत्व है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किए जाने वाले बुद्धिसंगत कार्य मनुष्य के विशेषाधिकार हैं और उसे प्राकृतिक नियम से उपलब्ध होते हैं। इस विषय में उसका मत हॉब्स से मिलता है।

२. **स्वतन्त्रता का अधिकार** (Right to liberty)—हॉब्स इसे सब प्रकार के बन्धनों और नियमों से मुक्त होकर प्राकृतिक दशा में अपनी इच्छानुसार मनमाना कार्य करना समझता है। किन्तु लॉक इससे असहमति प्रकट करता हुआ इसे प्राकृतिक नियम के अतिरिक्त अन्य नियमों से मुक्त होकर कार्य करना समझता है। प्राकृतिक नियम की नैतिक व्यवस्था का पालन मनुष्य के लिए आवश्यक है।

३. **सम्पत्ति का अधिकार** (Right to property)—इसका तात्पर्य प्राकृतिक दशा में जीवन को धारण करने में समर्थ बाह्य वस्तुओं पर वैयक्तिक नियन्त्रण स्थापित करना है। लॉक ने दूसरे निबन्ध के पाँचवें अध्याय में वैयक्तिक स्वामित्व के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन विस्तार से किया है। उसके मतानुसार आरम्भ में वस्तुओं पर सबका समान अधिकार था, किन्तु जब कोई व्यक्ति अपने शरीर का श्रम किसी वस्तु के साथ जोड़ लेता है तो उस पर उसका वैयक्तिक अधिकार हो जाता है। ईश्वर ने भूमि और उसकी सभी वस्तुएँ सब व्यक्तियों को सामूहिक रूप से प्रदान की हैं। मनुष्य का शरीर ही उसके पास ऐसी सम्पत्ति है, जिस पर उसका एकमात्र अधिकार होता है। **वह जब अपने शरीर के श्रम को ईश्वर प्रदत्त सामूहिक वस्तुओं के साथ मिश्रित करता है तो वह उन्हें अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बना लेता है** (अध्याय २, खं० २६)[2] ; अतः **श्रम से सम्पत्ति की उत्पत्ति होती है, इसी से वस्तुओं का मूल्य निश्चित होता है** (अध्याय २, खं० ४०); उदाहरणार्थ, भूमि सब मनुष्यों को भगवान् ने समान रूप से प्रदान की है, किन्तु जब कोई व्यक्ति भूमि से मिट्टी खोदकर अपना घर बनाता है, तो यह उसकी निजी सम्पत्ति हो जाता है। लॉक के इस 'श्रम सिद्धान्त' को बाद में समाजवादी विचारकों ने विशेष रूप से विकसित किया। उनका यह भी कहना है कि व्यक्ति को उतनी ही सम्पत्ति रखनी चाहिए, जिसका वह उपयोग कर सके। किन्तु इसके साथ ही तत्कालीन

---

1. According to Locke—"The original state of nature was one in which peace, goodwill mutual assistance and preservation prevailed. Under the law of nature all men were equal and possessed equal natural rights." —Gettel, p. 224.

2. According to Locke—"The right to private property arises because by labour a man extends, so to speak, his own personality into the objects. By expending his internal energy upon them he makes them a part of himself." —Sabine, p. 526-27.

ह्विग भूमिपतियों के भूसम्पत्ति के अधिकारों को उचित ठहराते हुए उसने कहा कि व्यक्ति अपनी शक्ति और श्रम के अनुसार यथेच्छ भूमि पर अधिकार कर सकता है, बशर्ते कि वह उसकी उपज का उपयोग कर सके, द्रव्य के रूप में उसे भविष्य के उपयोग के लिए एकत्र कर सके। उसके सामाजिक विचारों में पूंजीवाद और समाजवाद दोनों के कुछ मूलतत्व बीज रूप में निहित हैं।[1] **व्यक्ति की सम्पत्ति के अधिकारों को वह इतना महत्व देता है कि वह इसी में अन्य दोनों अधिकारों को सम्मिलित करता है।** उसने लिखा है कि **मनुष्य को स्वाभाविक रूप से यह अधिकार है कि वह अपनी सम्पत्ति को—अर्थात् जीवन, स्वतन्त्रता और जायदाद को सुरक्षित रखे।**

लॉक के मतानुसार प्राकृतिक दशा में मनुष्य बुद्धिपूर्वक प्राकृतिक विधान का पालन करते हुए एक-दूसरे के उपर्युक्त तीनों अधिकारों का सम्मान करते हैं। अतः यह हॉब्स की प्राकृतिक दशा से मौलिक रूप से भिन्न हो जाती है। हॉब्स के मत में इस अवस्था में मनुष्य स्वार्थान्ध होकर अपने बुद्धि और विवेक का परित्याग करते हुए एक-दूसरे के उन्मूलन, हिंसा और हत्या का प्रयत्न करते हुए युद्ध की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। उस समय कोई सामाजिक जीवन नहीं होता है। किन्तु लॉक की प्राकृतिक दशा में मनुष्य अपनी विवेक-बुद्धि के अनुसार प्राकृतिक नियमों का पालन करते हुए शान्तिपूर्वक सभ्य समाज में रहते हैं। किन्तु कुछ असुविधाओं के कारण इन्हें राज्य के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत होती है।

प्राकृतिक दशा की असुविधाएँ—प्राकृतिक दशा में प्राकृतिक नियम के अनुसार शान्तिमय जीवन व्यतीत करते हुए मनुष्य को तीन प्रकार की असुविधाएँ थीं—

(१) **अस्पष्टता—पहली** असुविधा प्राकृतिक कानून (Natural Law) के स्वरूप की अस्पष्टता है। यद्यपि भगवान् ने इसका ज्ञान सब मनुष्यों को प्रदान किया है, किन्तु उनकी बुद्धियों में तथा स्वार्थों में भेद होने के कारण वे इसकी व्याख्या विभिन्न प्रकार से और विविध रूपों में करते हैं, अतः इसके यथार्थ स्वरूप में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। साथ ही, प्राकृतिक नियम के अमूर्त्त होने के कारण उसे पहचानने में बड़ी कठिनाई होती है।

(२) **संस्था का अभाव—दूसरी** असुविधा यह है कि प्राकृतिक नियम या विधान को तथा इसके अनुरूप निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए प्राकृतिक दशा में कोई साधन या संस्था नहीं होती है।

(३) **सब व्यक्तियों को न्याय करने का अधिकार—तीसरी** असुविधा यह है कि इसमें सब व्यक्तियों को न्याय करने और दण्ड देने का अधिकार होता है। प्रत्येक व्यक्ति अन्यायपूर्ण रीति से हत्या करने वाले को या चोर को दण्ड देने का अधिकार रखता है। किन्तु सब व्यक्तियों के दण्ड देने के साधनों में तथा पद्धति में एकरूपता और निष्पक्षता सम्भव नहीं है। इससे जीवन बड़ा असुरक्षित और अनिश्चित हो जाता है।

---

1. "In general their (objects') utility depends upon the labour expended upon them and thus Locke's theory led to the later labour theories of value in classical and socialist economies."—Sabine, p. 528.

इस अनिश्चितता और गड़बड़ी को रोकने के लिए सुस्पष्ट नियम बनाने वाली और उन्हें पालन कराने वाली, नियमों का उल्लंघन करने वालों को निश्चित दण्ड देने वाली तथा निष्पक्ष न्याय करने वाली शासन-सत्ता होनी चाहिए।

डनिंग ने लॉक की प्राकृतिक दशा की तुलना एक सामान्य सर्वोच्च राजनीतिक शासक के अभाव में ऐसी अवस्था से की है, जिसमें अमरीका के जंगलों में एक स्विट्ज़रलैण्डवासी और फ्रेंच मिलते हैं। यहाँ न तो इन दोनों पर लागू होने वाला कानून स्पष्ट और सुनिश्चित है और न उन्हें लागू करा सकने वाला और इसका भंग करने वाले को दण्ड देने वाला और इस पर निष्पक्ष विचार करने वाला कोई उच्च शासक है। प्राकृतिक दशा की उपर्यक्त तीनों असुविधाओं को दूर करने की दृष्टि से मनुष्यों ने एक सामाजिक समझौते या संविदा (Social Contract) द्वारा राज्य का निर्माण किया।

सामाजिक संविदा या अनुबन्ध
(Social Contract)

प्राकृतिक दशा की उपर्युक्त असुविधाओं को दूर करने के लिए लॉक के मतानुसार मनुष्यों ने एक समझौता किया। **सब मनुष्यों के समान होने के कारण यह समाज के सब व्यक्तियों का सब व्यक्तियों के साथ किया जाने वाला अनुबन्ध था, अतएव इसे सामाजिक अनुबन्ध** (Social Contract) **कहते हैं।** इससे यद्यपि राजनीतिक समाज और राज्य का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु यह समझौता किसी सरकार (Government) या शासक के साथ नहीं किया गया था। इस समझौते का उद्देश्य जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की आन्तरिक तथा बाह्य संकटों से रक्षा करना था।[1] इस समझौते में प्रत्येक व्यक्ति अपने इस प्राकृतिक अधिकार को छोड़ने के लिए सहमत हुआ कि वह स्वयमेव प्राकृतिक नियम को लागू करने का तथा इसके अनुसार दूसरों को दण्ड देने का कार्य नहीं करेगा।

हॉब्स तथा लॉक के समझौते में भेद—हॉब्स ने भी सामाजिक समझौते का विचार माना था, किन्तु हॉब्स और लॉक के समझौते के विचारों में कुछ महत्वपूर्ण मतभेद हैं—

(१) **लॉक द्वारा एक अधिकार छोड़ना**—पहला भेद यह है कि लॉक के समझौते के अनुसार मनुष्य ने केवल ऊपर बताए प्राकृतिक नियम को स्वयमेव लागू करने के एक अधिकार को ही छोड़ा, न कि हॉब्स की कल्पना के अनुसार अपने सभी अधिकारों को छोड़ा।

(२) **अधिकार समुदाय को देना**—इस विषय में उसका हॉब्स से **दूसरा** मतभेद

---

1. "The great and chief end, therefore, of men's uniting into commonwealths and puting themselves under government is the preservation of their property." —Locke.

यह है कि उसने अपना यह अधिकार लेवियाथन जैसे व्यक्ति विशेष, किसी व्यक्ति-समूह या सामान्य विधानसभा को समर्पित नहीं किया, किन्तु **इसे समूचे समुदाय** (Community) को समष्टिरूपेण प्रदान किया है।

(३) **समाज का असीम सत्ता न रखना**—हॉब्स से **तीसरा** भेद यह है कि उसके सामाजिक समझौते के परिणामस्वरूप जो लेवियाथन बनता है, वह असीम अधिकारों वाला, सर्वशक्तिशाली, सम्पूर्ण-प्रभुत्वसम्पन्न प्रभु होता है। लॉक के समझौते से बनने वाले समाज को इस प्रकार के असीम और अमर्यादित अधिकार नहीं होते हैं। वह केवल प्राकृतिक नियम के विरुद्ध अपराधों के निर्धारण और अपराधियों को दण्ड देने का कार्य करता है। इससे अधिक उसे किसी प्रकार के कोई अधिकार नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का पालन कराने तथा उन्हें सुरक्षित करने के लिए ही यह समझौता हुआ है। इस समझौते द्वारा उत्पन्न समुदाय या राज्य मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों का अति-क्रमण या हनन नहीं कर सकता है। यदि वह ऐसा करता है तो अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है और जनता को उसके विरुद्ध विद्रोह का अधिकार होता है।

(४) **प्राकृतिक कानूनों के पालन की बाध्यता**—हॉब्स से उसका **चौथा भेद यह** है कि हॉब्स के अनुबन्ध द्वारा प्राकृतिक दशा (State of Nature) तथा प्राकृतिक नियम (Natural Law) का अन्त हो जाता है। किन्तु लॉक के मतानुसार इस समझौते के बाद भी मनुष्य प्राकृतिक कानून का पालन करने के लिए उसी प्रकार बाध्य है, जैसा वह इससे पहले था। लॉक के शब्दों में, **"प्राकृतिक विधि के बन्धनों का राजनीतिक समाज में अन्त नहीं होता है।"**

लॉक ने इस समझौते के आधार पर राजनीतिक समाज (Civil Society) का प्रादुर्भाव होने से **दो महत्वपूर्ण परिणाम** निकाले हैं : **पहला समुदाय के बहुमत द्वारा शासन का अधिकार है**। अल्पसंख्या को बहुमत की इच्छा का पालन करना ही चाहिए। यह समाज की व्यवस्था के संचालन के लिए नितान्त आवश्यक है। उसके सामाजिक अनुबन्ध की एक महत्वपूर्ण शर्त बहुमत की इच्छा का वशवर्ती होना है। **दूसरा** परिणाम यह है कि इस समझौते से व्यक्तियों ने यह अपना कर्तव्य स्वीकार कर लिया है कि वे राज्य के निर्णय को क्रियान्वित करने के लिए अपनी पूरी शक्ति के साथ सहयोग प्रदान करेंगे।

समझौते का ऐतिहासिक तथ्य होना--लॉक इस समझौते को **बुद्धिसंगत तथ्य होने के साथ-साथ ऐतिहासिक सत्य भी मानता है**। उसका यह मत है कि इससे राज-नीतिक संगठन की उत्पत्ति इतिहास के उषाकाल में उस समय हुई, जब इस तथ्य को लिपिबद्ध करने के साधनों का आविष्कार नहीं हुआ था। इसका कोई ऐतिहासिक उल्लेख या विवरण उपलब्ध न होने पर इसे अनैतिहासिक समझना वैसा ही है, जैसा कोई यह कहे कि यूनान पर आक्रमण करने वाले जरक्सीज़ के सैनिक कभी बालक नहीं थे, क्योंकि हमें उनके बाल्यकाल का कोई वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता। उसने रोम, वेनिस और स्पार्टा के उदाहरणों से इसकी ऐतिहासिकता की पुष्टि की है। उसका कहना है कि जैसे व्यक्ति अपने जन्म तथा बचपन की बातें भूल जाते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रों को भी अपनी **उत्पत्ति और शैशव की स्मृति नहीं रहती।**

विशेषताएँ—लॉक के समझौते की कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) **रद्द न हो सकना—पहली** विशेषता एक बार हो जाने के बाद इसका कभी रद्द न हो सकना (Irrevocable) है। इस बात में वह हॉब्स से सहमत है। उसके मतानुसार जिसने इस समझौते को स्वीकार कर लिया है, उसे प्राकृतिक दशा में लौटकर जाने की कभी स्वतन्त्रता नहीं है।

(२) **सहमति पर आधारित होना—दूसरी** विशेषता इसका सहमति (Consent) पर आधारित होना है। कोई व्यक्ति इस नवीन समाज में सहमति के बिना प्रविष्ट नहीं हो सकता। "**सहमति ही दुनिया में प्रत्येक वैध सरकार का निर्माण करती है।**" वह यह मानता है कि राज्य के प्रत्येक नागरिक के बच्चे सर्वथा स्वतन्त्र रूप में उत्पन्न होते हैं, उन्हें इस बात की पूरी स्वाधीनता है कि वे सहमति प्रदान करें या न करें और यदि वे ऐसा नहीं करते तो उस राज्य से बाहर जाने पर वे अपनी पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वंचित हो जाएँगे।

(३) **राज्य का निर्माण करना—तीसरी** विशेषता इस समझौते का राज्य के निर्माण के लिए मार्ग प्रशस्त करना है। वॉन (Vaughan) का यह मत है कि यद्यपि लॉक ने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, फिर भी वह दो प्रकार के समझौते मानता है: **पहला समझौता** प्राकृतिक दशा को समाप्त करके उसके स्थान पर सभ्य नागरिक समाज (Civil Society) की स्थापना करता है। इसके बाद दूसरे समझौते द्वारा व्यक्ति राज्य का निर्माण करते हैं। किन्तु यह व्यक्तियों में ही होता है, सरकार के साथ नहीं किया जाता है। यदि लॉक ऐसा मानता तो राज्य को एक विशेष गरिमा और सत्ता प्राप्त हो जाती। अतः वह यह मानता है कि लोग मिलकर एक ट्रस्ट या न्यास बनाते हैं और सरकार का निर्माण कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विश्वासाश्रित (Fiduciary) शक्ति के रूप में करते हैं। इस प्रकार जनता इस ट्रस्ट को बनाने वाली तथा इससे लाभ उठाने वाली है। सरकार ट्रस्टी होने के नाते अपने अधिकारों की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती।

लॉक का सामाजिक समझौते का विचार हॉब्स की अपेक्षा रूसो के विचार से अधिक मिलता है। लॉक तथा रूसो दोनों यह मानते हैं कि सरकार की संस्था संविदा या समझौता नहीं है और सामाजिक समझौते से जनता के सर्वोच्च अधिकारों में कोई कमी नहीं आती है। लॉक के शब्दों में सरकार की संस्था बन जाने पर भी "**सर्वोच्च सत्ता जनता में ही निहित रहती है।**" हॉब्स के समझौते में सारी प्रभुसत्ता लेवियाथन को मिल जाती है, जनता सब अधिकारों से वंचित हो जाती है। लॉक और रूसो के मतानुसार समझौते के बाद भी जनता की प्रभुसत्ता (Sovereignty) अक्षुण्ण बनी रहती है।

डनिंग के मतानुसार लॉक के सामाजिक समझौते के विचारों में कोई ऐसी बात नहीं है, जिसका प्रतिपादन उससे पहले दार्शनिकों ने न किया हो। किन्तु **उसकी बड़ी विशेषता यह है कि उसने इसे अत्यधिक सुनिश्चितरूपता प्रदान की और इसे व्यष्टिवादी** (Individualist) बनाया। हॉब्स और प्यूफेनडोर्फ (Pufendorf) ने इसके आधार पर सरकार की सत्ता को निरंकुश बनाया था, किन्तु लॉक ने इस सिद्धान्त से उस पर अनेक मर्यादाएँ और प्रतिबन्ध लगाए तथा इसका प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों को

सुरक्षित करना स्वीकार किया।

राज्य का स्वरूप और विशेषताएँ—राज्य के तीन कार्य—प्राकृतिक दशा की तीन बड़ी कमियाँ—सुनिश्चित और ज्ञात कानून का, न्यायाधीश का तथा कानून एवं निर्णयों को क्रियान्वित करने वाली शासन-सत्ता का अभाव है। इन अभावों की पूर्ति करके व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों को सुरक्षित बनाना ही राज्य का प्रधान लक्ष्य है। इसे पूरा करने के लिए राज्य तीन कार्य करता है—

(१) **व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा विधानसभा द्वारा करना**—सर्वप्रथम वह **प्राकृतिक कानून** की व्याख्या द्वारा व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित करता है; आजकल यह कार्य कानून बनाने वाली विधानसभाओं का समझा जाता है। लॉक इसे "राज्य में सर्वोच्च सत्ता" मानता है। किन्तु सर्वोच्च होते हुए भी यह मनमाना कानून नहीं बना सकती। उसके सब नियम प्राकृतिक कानून (Natural Law) से अनुकूलता रखने वाले होने चाहिएँ। यदि समुदाय बहुमत से कानून निर्माण का अधिकार एक व्यक्ति को देता है, तो वह राजतन्त्र होता है, कुछ व्यक्तियों को देने पर कुलीनतन्त्र तथा समूची जनता को यह अधिकार देने पर लोकतन्त्र होता है। विधिपूर्वक व्यवस्थापिका सभा में एकत्र होने वाले व्यक्तियों को सार्वजनिक कल्याण के लिए ही नियम बनाने चाहिएँ। जहाँ विधानसभा या पार्लियामेण्ट में जनता के प्रतिनिधि हों, वहाँ उन्हें वास्तव में निष्पक्ष और न्यायपूर्ण नीति से चुना हुआ होना चाहिए।

(२) **शासन-कार्य**—राज्य का दूसरा अंग कानून को लागू करते हुए शासन-कार्य चलाने वाला है। इसे लॉक ने Federative अंग कहा है। उसका यह मत है कि कानून बनाना तथा उन्हें क्रियान्वित करना—दोनों विभिन्न प्रकार के कार्य हैं। पहला कार्य जल्दी समाप्त हो जाता है, शासन का कार्य सदैव चलता रहता है, अतः ये दोनों कार्य पृथक् व्यक्तियों को दिए जाने चाहिएँ। उसका यह भी मत है कि कानून बनाने वालों को इन्हें क्रियान्वित करने का कार्य देना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है, क्योंकि इस अवस्था में **"ये अपने बनाए कानूनों के पालन से अपने को मुक्त समझने लगेंगे और कानून का निर्माण और क्रियान्विति अपनी वैयक्तिक इच्छा से करने लगेंगे। यह शेष समुदाय की इच्छा से भिन्न तथा समाज और राज्य के उद्देश्य के प्रतिकूल हो सकता है।"** इस प्रकार लॉक ने शक्ति-पार्थक्य (Separation of Powers) के सिद्धान्त को यहाँ बीज रूप में प्रतिपादित किया, इसका विस्तृत प्रतिपादन, फ्रेंच विचारक माँतेस्क्यू ने किया।

(३) **न्याय का कार्य**—राज्य का तीसरा कार्य विधानसभा द्वारा बनाए कानूनों का उल्लंघन करने वाले अपराधियों को दण्ड देने का है। यह न्याय विभाग और न्यायाधीशों द्वारा होता है।

लॉक के राज्य की निम्न विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) **नागरिकों की भलाई**—पहली विशेषता यह है कि राज्य की सत्ता जनता के लिए है, न कि जनता राज्य के लिए है। वह बराबर इस बात पर बल देता है कि सरकार का लक्ष्य **समुदाय की भलाई** (Good of the Community) करना है। वस्तुतः राज्य-रूपी यन्त्र का निर्माण उसके नागरिकों की भलाई के लिए हुआ है। शासन का

उद्देश्य जनसमूह का कल्याण है ।[1]

(२) **राज्य का सहमति पर आधारित होना—दूसरी** विशेषता राज्य का नागरिकों की सहमति पर आधारित होना है । उसका यह कहना है कि नागरिक अपने हितों की सुरक्षा की दृष्टि से राज्य के आदेशों का पालन करना स्वीकार करते हैं । यदि शासक इन हितों के प्रतिकूल आचरण करते हैं तो वे उनकी सहमति के बिना शासन करते हैं और इस दशा में प्रजा को विद्रोह करने का अधिकार है ।

(३) **कानून के नियम की प्रधानता—तीसरी** विशेषता राज्य का कानून के नियम (Rule of Law) से अनुशासित, अनुप्राणित और संचालित होना है । उसके शब्दों में यदि किसी राज्य में मनुष्य "**किसी दूसरे व्यक्ति की चंचल, अनिश्चित और स्वेच्छाचारी इच्छा के अधीन रहेंगे तो वहाँ कोई राजनीतिक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है । अतः सरकार का शासन जनता में उद्घोषित तथा उसे ज्ञात स्थायी कानूनों द्वारा होना चाहिए, न कि फौरन जल्दी में दी गई सद्यस्फूर्त आज्ञाओं** (Extemporary decrees) से ।" वैधानिक शासन (Constitutionalism) का विचार लॉक की बहुत बड़ी देन है ।

(४) **कार्यक्षेत्र सीमित होना—चौथी** विशेषता राज्य के कार्यों का सीमित होना है । वह केवल सुरक्षा, सुव्यवस्था और न्याय के तीन कार्य कर सकता है, इनके अतिरिक्त लोगों को शिक्षा देने, उनका स्वास्थ्य सुधारने, उन्हें सुसंस्कृत और नैतिक बनाने का कोई कार्य राज्य नहीं कर सकता । वह नागरिकों की सम्पत्ति पर भी मनमाना कर नहीं लगा सकता, क्योंकि सम्पत्ति की रक्षा के लिए ही राज्य की स्थापना हुई है । प्रजा के प्रतिनिधियों की सहमति से ही उसे इस पर कर लगाने का अधिकार है । १७वीं शताब्दी में इंगलैण्ड में राजा और पार्लियामेण्ट के बीच उग्र विवाद और गृहयुद्ध का यह कारण था कि राजा कर लगाने के विषय में पार्लियामेण्ट के कोई अधिकार नहीं मानना चाहता था । इस विवाद में लॉक ने पार्लियामेण्ट के पक्ष का प्रबल पोषण करते हुए राज्य के कार्यक्षेत्र को बड़ा संकुचित और मर्यादित कर दिया ।

(५) **पाँचवीं** विशेषता राज्य के अधिकारों का दो कारणों से सीमित और मर्यादित होना है । पहला तो यह कि राज्य अपनी सत्ता जनता से ग्रहण करता है, और दूसरा यह कि राज्य को यह सत्ता या अधिकार न्यास (Trust) के रूप में विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दिया जाता है । उसके मतानुसार, "**मनुष्यों द्वारा समाज के बनाए जाने का उद्देश्य सम्पत्ति का संरक्षण है ।**" राज्य कभी कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता, जो इस मूल उद्देश्य के प्रतिकूल हो । राज्य तो उद्देश्यरूपी न्यास का संरक्षक (Trustee) है । उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति को मन्दिर बनवाने या स्कूल चलाने के लिए रुपया दिया जाता है तो वह इसका व्यय मनमाने ढंग से किसी तीसरे कार्य पर नहीं कर सकता । इसी प्रकार राज्य अपनी समूची शक्ति और अधिकारों का प्रयोग केवल नागरिकों के अधिकारों की रक्षा और हित के लिए कर सकता है । जिस प्रकार धन का दुरुपयोग करने पर ट्रस्टी को अपने पद से हटा दिया जाता है, उसी तरह राजकीय सत्ता भी

1. "The end of government is the good of community."
Locke— p. 166.

यदि अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का पालन न करे तो उसे पदच्युत किया जा सकता है।

विद्रोह का अधिकार—पहले यह बताया जा चुका है कि राज्य का निर्माण जनता के हित के लिए कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त होता है। उसे शासन का अधिकार न्यास या ट्रस्ट के रूप में मिला हुआ है। वह जनता की सहमति पर आधारित तथा वैधानिक होता है। किन्तु यदि उसे जनता की सहमति प्राप्त न हो, वह अपने न्यास या ट्रस्ट के विरुद्ध आचरण करे और वैधानिक शासन के स्थान पर स्वेच्छाचार बरतने लगे, अपनी मर्यादाओं का पालन न करे तो जनता को शासन-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने तथा उसे बदलने का अधिकार है। उसके शब्दों में, **"जब जनता यह अनुभव करे कि विधानशालिका उसमें रखे जाने वाले विश्वास के प्रतिकूल कार्य कर रही है तो जनता को यह सर्वोच्च अधिकार प्राप्त है कि वह विधानशालिका को हटा दे या बदल डाले।"** जनता इस अधिकार का प्रयोग भगवान् से अपील करने के, तथा शक्ति और हिंसा के विरुद्ध भगवान् द्वारा दिए गए अन्तिम उपाय अर्थात् विद्रोह के द्वारा कर सकती है। उसके मतानुसार विद्रोह द्वारा सरकार के भंग हो जाने पर भी समाज बना रहता है। विद्रोह का अधिकार वह केवल बहुसंख्या को ही देता है। इस प्रकार उसने ब्रिटेन में हुई १६८८ ई० की क्रान्ति को न्यायोचित सिद्ध किया।

लॉक ने जनता द्वारा विद्रोह एवं क्रान्ति के अधिकार पर इतना अधिक बल दिया है कि उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसने **शासनविषयक सिद्धान्त का नहीं, अपितु क्रान्तिविषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है**। इसका यह कारण है कि लॉक व्यक्ति को जितना महत्वपूर्ण समझता है, उतना राज्य को नहीं समझता है। राज्य का प्रधान उद्देश्य तथा प्रयोजन जनता एवं समुदाय का कल्याण करना है। राजा या सरकार को शासन करने की शक्ति इसलिए दी गई है कि वह व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों को सुरक्षित रखे। राजा को प्रजा ने शासन करने का अधिकार दिया है, अतः **राजा प्रजा का वशवर्ती सेवक है**। वह अपने पद पर तभी तक रह सकता है, जब तक वह इस कार्य को समुचित रीति से पूरा करता रहे। यह बात राजा के साथ-साथ शासन करने वाली पार्लियामेण्ट पर भी लागू होती थी। लॉक ने अपने जीवन में देखा था कि किस प्रकार इंगलैण्ड के राजा चार्ल्स प्रथम (१६२५--४६) ने तथा जेम्स द्वितीय (१६८५--८८) ने तथा लम्बी पार्लियामेण्ट (Long Parliament) ने अपने अधिकारों का दुरुपयोग किया था, जनहित की उपेक्षा की थी, जन-कल्याण के अपने पवित्र दायित्व को पूरा नहीं किया था। लॉक इस प्रकार के दुरुपयोग और दुर्व्यवहार को रोकना चाहता था, अतः उसने जनता को ऐसे शासन के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्रदान किया। यदि कोई शासन अपने पवित्र दायित्व और कर्तव्य को पूरा नहीं करता तो जनता क्रान्ति द्वारा इस शासन को बदल सकती है। यदि कोई सरकार अपनी शक्ति का दुरुपयोग करती है तो वह अत्याचारी शासक (Tyrant) का रूप धारण कर लेती है। यह अत्याचार शक्ति द्वारा किया जाता है, अतः इसके प्रतिकार के लिए क्रान्ति की शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए। लॉक न केवल अत्याचारी शासक को हटाने के लिए क्रान्ति का समर्थन करता है, अपितु वह इसका इसलिए भी

प्रबल पोषण करता है कि क्रान्ति के भय से आतंकित रहने वाले, कमजोर तथा मर्यादित अधिकारों वाले शासक अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन करते रहेंगे। **इन कारणों से लॉक विद्रोह के पवित्र अधिकार** (Sacred Right of Insurrection) **में विश्वास रखता है।**

अत्याचारी शासन के विरुद्ध विद्रोह करना नागरिकों का स्वाभाविक अधिकार है, किन्तु यदि जनता को ऐसा अधिकार दिया जाएगा तो इसका दुरुपयोग होने की अधिक सम्भावना है। वह अपने शासक से किसी छोटी-सी बात पर रुष्ट होने पर बगावत का झण्डा खड़ा कर सकती है। अतः लॉक कहता है कि विद्रोह के अधिकार का प्रयोग तभी किया जाना चाहिए जब अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुँच जाए और सरकार व्यक्तियों के अधिकारों को कुचलने पर तुली हुई हो। १६८८ में इंगलैण्ड में ऐसी स्थिति थी, अतः उस समय लॉक ने क्रान्ति का प्रबल समर्थन किया। उसे पुष्ट करने के लिए अपने ग्रन्थ की रचना की। अतः लॉक को **क्रान्तियों का प्रतिपादन करने वाला दार्शनिक** (Philosopher of Revolutions) भी कहा जाता है। उसे यह नाम देने का एक कारण यह भी है कि वह शासन में सुधार का एकमात्र उपाय क्रान्ति को ही बताता है।

सीमित राजतन्त्र (Limited Government) **सम्बन्धी विचार : सरकार पर प्रतिबन्ध**—लॉक के मतानुसार नागरिक समाज (Civil Society) जनता की सहमति पर आधारित है। इस प्रकार यह कभी भी निरंकुश नहीं हो सकता। यह कहना ठीक है कि निरंकुश प्रभुसत्ता का कोई विचार लॉक नहीं रखता था। वह संवैधानिक सरकार (Constitutional Government) का पक्षपाती था। यह शक्ति के विभाजन पर आधारित था तथा इस पर उसने कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए थे। ये प्रतिबन्ध निम्नलिखित हैं—

(१) सरकार जनता की इच्छा के विरुद्ध कोई आदेश नहीं दे सकती है।

(२) वह बिना व्यक्ति की सहमति के उसकी वैयक्तिक सम्पत्ति को नहीं ले सकती है।

(३) वह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों—जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों का अपहरण नहीं कर सकती है। इन अधिकारों का संरक्षण ही सरकार का उद्देश्य है और इसीलिए राज्य का निर्माण होता है।

(४) यह मनमाने ढंग से शासन नहीं कर सकती है। यह कानून के अनुसार शासन करेगी। लॉक सरकार की नहीं, परन्तु जनता की सहमति पर आधारित कानून की प्रभुसत्ता को मानता है।

(५) यदि उसे जनता की सहमति न प्राप्त हो, वह अपने न्यास या ट्रस्ट के विरुद्ध आचरण करे और वैधानिक शासन के स्थान पर स्वेच्छाचार बरतने लगे; अपनी मर्यादाओं का पालन न करे तो जनता को शासन-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने तथा उसे बदलने का अधिकार है। उसके शब्दों में जब जनता यह अनुभव करे कि विधानपालिका (Legislative) उसमें रखे जाने वाले विश्वास के प्रतिकूल कार्य कर रही है तो जनता को यह सर्वोच्च अधिकार प्राप्त है कि वह विधानपालिका को हटा दे या बदल डाले।

(६) विधानपालिका कानून बनाने के अधिकार को किसी दूसरे को हस्तान्तरित नहीं कर सकती।

लॉक ने उपर्युक्त प्रतिबन्ध लगाकर जनता की सहमति पर आधारित वैधानिक शासन (Constitutional Government) का विचार प्रगट किया है। मैक्सी के शब्दों में **उससे पहले किसी राजनीतिक विचारक ने इतने स्पष्ट और शक्तिशाली रूप में इस सिद्धान्त की स्थापना नहीं की थी कि यदि कोई शासन प्रजाजनों की सहमति पर आधारित न हो तो वह अवैध तथा निराधार होता है।**

व्यष्टिवाद (Individualism)—लॉक इसका परम उपासक और भक्त है। यह उसके राजनीतिक विचारों की आधारशिला है। वह प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा के तीन अधिकार प्रदान करता है। इन्हें वह व्यक्ति का जन्मसिद्ध, स्वाभाविक और प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) समझता है; राज्य का प्रादुर्भाव इन्हीं की रक्षा के लिए होता है, उसका मुख्य लक्ष्य व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित रखना है। इसी दृष्टि से वह राज्य की सत्ता पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध और मर्यादाएँ लगाता है। मैक्सी (Maxey) के मतानुसार **लॉक का कार्य राजसत्ता को ऊँचा उठाना नहीं, किन्तु उसके प्रतिबन्धों का प्रतिपादन करना है।**[1] शासक समाज के प्रतिनिधि मात्र हैं। वे हॉब्स के लेवियाथन की भाँति निरंकुश प्रभु नहीं हैं, अतः लॉक के राज्य की तुलना एक बड़ी लिमिटेड कम्पनी से की जाती है जिसमें कम्पनी के संचालकों तथा हिस्सेदारों के दायित्व मर्यादित होते हैं। डनिंग (Dunning) के कथनानुसार व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न समाज के अधिकारों को ठीक वैसे ही सीमित करते हैं, जैसे प्राकृतिक अवस्था में एक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार दूसरे व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को मर्यादित करते हैं। लॉक द्वारा प्रजा को दिए गए विद्रोह के अधिकार का पहले उल्लेख किया जा चुका है।

उसके धर्मविषयक विचारों में भी व्यक्तिवाद की स्पष्ट झलक है। वह प्रत्येक व्यक्ति को अन्तःकरण के अनुसार धार्मिक पूजा और उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। उसके मतानुसार राज्य के सभी नागरिकों को इस बात की खुली छूट होनी चाहिए कि व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का सदस्य बन सके। उसकी दृष्टि में व्यक्ति मुख्य और राज्य गौण है। मनुष्य सामाजिक समझौता करके प्राकृतिक दशा का अन्त ही इसलिए करता है कि वह अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा कर सके। ये उसके ऐसे अधिकार हैं, जिन्हें कोई राजसत्ता नहीं छीन सकती है। यदि कोई इन्हें हनन करने का यत्न करे तो राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार उसने व्यक्ति के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से स्वीकार किया है।

लॉक की उपर्युक्त व्यष्टिवादी विचारधारा को दृष्टि में रखते हुए **वॉन** (Vaughan) **ने लिखा है कि लॉक की पद्धति में प्रत्येक वस्तु व्यक्ति के चारों ओर चक्कर**

---

1. "It was not his concern to exalt political authority, but to describe its limitations." —Maxey, p. 253.

काटती है।[1] प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता सब प्रकार से सुरक्षित रहे। बार्कर के शब्दों में, "लॉक में व्यक्ति की आत्मा की सर्वोच्च गरिमा को स्वीकार करने वाली तथा सुधार चाहने वाली (Puritan) महान् भावना थी, उसमें यह प्यूरिटन अनुभूति थी कि आत्मा को परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध निश्चित करने का अधिकार है।...उसमें यह प्यूरिटन सहज बुद्धि थी कि वह राज्य की सीमा निश्चित करते हुए उसे यह कह सके कि उसका कार्यक्षेत्र यहाँ तक है, वह इससे आगे नहीं बढ़ सकता।" डनिंग ने **व्यक्तिवाद की आधारशिला—मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों—को राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में लॉक की सबसे महत्वपूर्ण देन स्वीकार किया है।** मैक्सी इसे महत्वपूर्ण ही नहीं, किन्तु सबसे अधिक प्रभावशाली और गतिशील (Dynamic) भी मानता है। पिछले दो सौ वर्षों में इसी आधार पर व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए सर्वोच्च सत्ता पर वैधानिक नियन्त्रण स्थापित किए गए हैं, वैयक्तिक स्वतन्त्रता को संविधान द्वारा सुरक्षित किया गया है। स्वेच्छाचारी तथा अमर्यादित सत्ता पर प्रत्येक प्रकार का प्रतिबन्ध लगाया गया है और लिखित संविधानों में व्यक्ति के अधिकारों की घोषणा की गई है। "**लॉक ने व्यक्तिवाद को अजेय राजनीतिक तथ्य बनाया है।**"

लॉक और हॉब्स की तुलना

(क) **सादृश्य—(१) ये दोनों अपने राजनीतिक दर्शन का आरम्भ प्राकृतिक दशा** (State of Nature) **से करते हैं और इसका अवसान सामाजिक समझौते** (Social Contract) **द्वारा।**

(२) **दोनों राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के हितों की सुरक्षा मानते हैं।** अतः वे राज्य का प्रादुर्भाव इस विशेष प्रयोजन की पूर्ति मानते हुए उसका उद्देश्यमूलक (Teleological) वर्णन करते हैं। वे इससे भी सहमत हैं कि इस प्रयोजन को व्यक्ति अपने सामूहिक और सहयोगी प्रयत्न से पूर्ण करते हैं। किन्तु इसके साथ ही उनकी समानताएँ समाप्त हो जाती हैं, क्योंकि मानवीय प्रकृति के सम्बन्ध में उनके विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

अतः जोन्स ने यह सत्य ही लिखा है कि लॉक तथा हॉब्स राज्य की सत्ता के प्रयोजन के सम्बन्ध में सहमत हैं कि यह इसके व्यक्तियों के लिए शान्ति स्थापित करता, इन्हें सुरक्षा प्रदान करता तथा इनका कल्याण करता है; किन्तु वे इस विषय में मौलिक मतभेद रखते हैं कि इस उद्देश्य की पूर्ति सर्वोत्तम रीति से किस प्रकार हो सकती है क्योंकि मानवीय प्रकृति के सम्बन्ध में दोनों के मत सर्वथा भिन्न हैं। दोनों के महत्वपूर्ण मतभेद निम्नलिखित हैं—

(ख) **मतभेद—(१) पहला भेद मानवीय प्रकृति के सम्बन्ध में है।** हॉब्स मनुष्य

1. "Everything in Locke's system revolves round the individual, everything is disposed so as to ensure the sovereignty of the individual."
—Vaughant.

में केवल आसुरी और पाशविक प्रवृत्तियों—हिंसा, क्रूरता, निर्दयता, स्वार्थलोलुपता का ही दर्शन करता है, किन्तु लॉक उसे दैवी और मानवीय प्रवृत्तियों वाला, दयालुता, प्रेम, सहिष्णुता, उदारता, सहयोग प्रभृति उदात्त भावनाओं से युक्त मानता है। दोनों के दृष्टिकोण के इस मौलिक अन्तर का समुचित कारण बता सकना सम्भव नहीं है। हॉब्स का पिता अशिक्षित एवं दुष्ट स्वभाव का व्यक्ति था, उसे चर्च के दरवाज़े पर पड़ोसी पादरी के साथ लड़ाई करने पर चर्च की सेवा से मुक्त होना पड़ा था और इसके बाद हॉब्स का लालन-पालन उसके चाचा ने किया। पारिवारिक प्रेम और सुख से वंचित रहने के कारण हॉब्स का, सम्भवतः अपने पिता के कारण, बचपन से ही मानव-स्वभाव की दुष्टता में अगाध विश्वास हो गया। किन्तु लॉक को अपने पिता से असीम वात्सल्य तथा कठोर अनुशासन द्वारा समुचित शिक्षा मिली, अतः उसका दृष्टिकोण बाल्यकाल से मानव-स्वभाव की श्रेष्ठता और उत्कृष्टता में विश्वास रखने वाला हुआ। यद्यपि लॉक को बचपन में गृहयुद्ध के तूफान के कारण बहुत कष्ट झेलने पड़े, अपने स्वामी शेफ्ट्सबरी के पतन के बाद विदेश में शरणार्थी के रूप में उसे भारी दुःख उठाना पड़ा, किन्तु इससे उसके विचारों में अन्तर नहीं आया। वह आजीवन दमे, क्षय आदि की बीमारियों से पीड़ित होने के कारण अस्वस्थ रहा, किन्तु मनुष्य के प्रति उसका दृष्टिकोण सदैव स्वस्थ और आशावादी बना रहा। हॉब्स द्वारा मानव-जीवन के कृष्ण-पक्ष पर और लॉक द्वारा उसके शुक्लपक्ष पर बल दिए जाने से ही उनकी विचार-धाराएँ प्रतिकूल दिशाओं में प्रवाहित हुई हैं। विभिन्न विषयों में उनके भेदों का पहले उल्लेख किया जा चुका है, यहाँ केवल इनका संक्षिप्त निर्देश होगा।

(२) **दूसरा भेद प्रकृति की दशा** (State of Nature) **के सम्बन्ध में है।** हॉब्स के मतानुसार यह सतत संघर्ष और अनवरत युद्ध की दशा है। इसके सर्वथा विपरीत लॉक इसे शान्ति, सौहार्द और पारस्परिक सहयोग की अवस्था मानता है।

(३) **तीसरा भेद सामाजिक समझौते या अनुबन्ध** (Social Contract) **का** है। पहले यह बताया जा चुका है कि हॉब्स के समझौते में सब व्यक्ति अपने सम्पूर्ण अधिकार लेवियाथन (Leviathan) या राज्य को सौंप देते हैं, अतः उसकी राजसत्ता पूर्णरूप से निरंकुश और सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न होती है, किन्तु लॉक के समझौते में व्यक्ति अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों को अर्पित नहीं करता, प्रत्युत केवल उन्हीं अधिकारों को अर्पण करता है, जिनसे प्राकृतिक नियम (Natural Law) का निर्बाध रूप से पालन होता रहे तथा उन लोगों को दण्ड दिया जा सके जो उन विधियों के विपरीत चलते हों। ये अधिकार किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को नहीं दिए जाते, प्रत्युत सारे समाज को दिए जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति समाज के साथ समझौता करते हुए यह शर्त लगा देता है कि उसके मौलिक अधिकारों का अपहरण किसी भी दशा में नहीं हो सकता, अतः लॉक का समझौता हॉब्स जैसी निरंकुश (Absolute) राजसत्ता के स्थान पर मर्यादित (Limited) अधिकारों वाली शासन-सत्ता की स्थापना करता है।

(४) **चौथा भेद यह है कि हॉब्स की सर्वोच्च प्रभुसत्ता** (Sovereignty) **अनन्यक्राम्य** (inalienable) है, वह किसी दूसरे को नहीं दी जा सकती। जब एक बार लेवियाथन को सत्ता मिल गई तो कोई उससे यह सत्ता छीन नहीं सकता। किन्तु लॉक

के मतानुसार वास्तविक शक्ति सदैव जनता में निहित रहती है। वह कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इसे शासक को प्रदान करती है, इनके न पूरा होने पर इसे शासक से छीन सकती है।

(५) **पाँचवाँ भेद यह है कि हॉब्स के मतानुसार प्रजा को राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं है,** किन्तु लॉक बहुसंख्यक प्रजा को कुछ विशेष अवस्थाओं में राजसत्ता के विरुद्ध क्रान्ति या विद्रोह करने का अधिकार प्रदान करता है।

(६) **छठा भेद यह है कि लॉक सरकार को एक पवित्र धरोहर या न्यास (Trust) के रूप में समझता है।** इस शासन का अन्तिम स्वामी या सर्वोच्च प्रभु समूचा मानवीय समुदाय है, यह सरकार को शासन करने का कार्य इस विश्वास के साथ सौंपता है कि वह इसे जनकल्याण की दृष्टि से तथा व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को सुरक्षित रखने की दृष्टि से करेगा। यदि सरकार ऐसा नहीं करती तो प्रभुसत्तासम्पन्न सरकार को बदलने का तथा इसके स्थान पर नई सरकार स्थापित करने का इसे पूरा अधिकार है। लॉक के विचारों में शासक विशेष महत्व नहीं रखता है, इसे विशिष्टता प्रदान करने वाली तथा राजनीतिक एकता और सुदृढ़ता का निर्माण करने वाली शक्ति जनसमुदाय (Community) है, अतः उसके मतानुसार राजनीतिक एकता समूचे जनसमुदाय की इच्छा में सामान्य रूप से निहित है। किन्तु हॉब्स के मतानुसार यह एकता एक विशिष्ट प्रभुसत्तासम्पन्न शासक (Sovereign) में रहती है, यह इसकी वास्तविक इच्छा (Real Will) होती है, यह जनसमुदाय की सामान्य इच्छा (General Will) में नहीं रहती। अतः बोसांके ने यह सत्य ही लिखा है कि **"हॉब्स के लिए राजनीतिक एकता एक वास्तविक इच्छा में निहित है, यह इच्छा सामान्य नहीं है; लॉक के मतानुसार यह ऐसी इच्छा में निहित है जो सामान्य है, किन्तु वास्तविक नहीं है।"** इसका यह अभिप्राय है कि हॉब्स इस बात पर बल देता है कि प्रभुसत्ता एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति-समूह में रहती है : यह ऐसे शासक या राजा की वास्तविक इच्छा होती है, किसी मानव-समुदाय की काल्पनिक सामान्य इच्छा नहीं होती है। हॉब्स का जनसमुदाय किसी शासक की सामान्य इच्छा से राजनीतिक एकता को धारण करता है, जनता की सामान्य इच्छा से नहीं। किन्तु लॉक इसके लिए जनता की सामान्य इच्छा और सहमति पर बल देता है तथा उसके आधार पर शासन की समूची व्यवस्था करता है। इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि इनके बाद होने वाले रूसो ने अपनी सामान्य इच्छा के विचारों में हॉब्स की वास्तविक इच्छा का तथा लॉक की सामान्य इच्छा का समन्वय किया।

हॉब्स और लॉक के विचारों की तुलना करने से यह प्रतीत होता है कि हॉब्स के राज्यविषयक विचार अधिक मौलिक, तर्कसंगत, युक्तियुक्त और सम्बद्धता रखने वाले हैं। फिर भी उसके विचार भविष्य में लोकप्रिय एवं प्रबल होने वाली लोकतन्त्र की विचारधारा के अनुकूल नहीं थे। अतः यह कहा जाता है कि **जहाँ हॉब्स और लॉक के विचारों में मतभेद है, वहाँ भावी पीढ़ियों ने लॉक के विचारों का समर्थन किया है।** इस कथन में बड़ी सचाई है। लॉक में हॉब्स जैसी पैनी दृष्टि, सूक्ष्म विवेचना की शक्ति तथा कल्पना की ऊंची उड़ान लेने की सामर्थ्य नहीं थी। फिर भी लॉक ने जिन विचारों

का प्रतिपादन किया, वे हॉब्स के विचारों की तुलना में अधिक लोकप्रिय हुए। आजकल लॉक के प्रमुख विचार—व्यक्ति के मौलिक अधिकार, जनसहमति से शासन, वैध एवं मर्यादित शासन, कानून और पार्लियामेण्ट की सर्वोपरि सत्ता, शक्तिपार्थक्य का सिद्धान्त (Separation of Powers) न केवल सर्वमान्य सिद्धान्त बन गए हैं, अपितु लोकतन्त्रीय शासन-पद्धति का अनिवार्य अंग समझे जाते हैं। अधिकांश आधुनिक राज्यों का संविधान हॉब्स के नहीं, अपितु लॉक के सिद्धान्तों पर आधारित है।

लॉक की विचारधारा के दोष

लॉक के विचार हॉब्स की भाँति सुस्पष्ट और तर्कसंगत नहीं हैं। उसके लेखों में बड़ी अस्पष्टता, परस्पर विरोध और असंगतियाँ हैं। एक ओर वह नैतिक व्यवस्थाओं को शाश्वत, पूर्ण तथा अन्तिम समझता है, दूसरी ओर वह उन्हें अस्थायी तथा समाज की विभिन्न परिस्थितियों का परिणाम मानता है। उसने एक शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थलों में एक ही अर्थ में नहीं किया है। कई बार वह सम्पत्ति को आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त करता है और कई बार इससे उसका आशय तीन वस्तुओं से अर्थात् व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और धन-दौलत से होता है। उसने सर्वोच्च प्रभुसत्ता का मूल स्रोत तीन विभिन्न तत्वों को माना है—जनता या समुदाय (Community), विधानसभा, कार्यपालिका (Executive) का अधिकार रखने वाले व्यक्ति। एक ओर वह मनुष्यों को अपना सुख चाहने वाला मानता है, दूसरी ओर वह यह भी मानता है कि सब मनुष्य सामान्य, सार्वजनिक सुख की आकांक्षा रखते हैं। परस्पर विरोध और असंगतियों के अतिरिक्त उसकी विचारधारा के प्रधान दोष निम्नलिखित हैं—

(१) **पहला दोष उसका मानव-स्वभाव के शुक्लपक्ष को ही देखना था।** यदि हॉब्स का मत मानव के कृष्णपक्ष को देखने के कारण एकांगी होने से दूषित है तो लॉक का मत भी दूषित है क्योंकि वह उसमें केवल अच्छाइयों को देखता है। वस्तुतः मनुष्य में न केवल अच्छाइयाँ हैं और न केवल बुराइयाँ, वह इन दोनों का सम्मिश्रण है।

(२) **दूसरा दोष मानव-स्वभाव के भ्रान्त दृष्टिकोण के आधार पर ऐसी प्राकृतिक दशा (State of Nature) का चित्रण है, जो इस भूतल में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती है।** उसके मतानुसार इस अवस्था में न केवल अखण्ड शान्ति का साम्राज्य था, किन्तु सब मनुष्य न्याय की स्थापना करने वाले प्राकृतिक नियम का पालन करते थे। यह स्थिति २०वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मनुष्य द्वारा अभूतपूर्व वैज्ञानिक उन्नति कर लेने के बाद भी मानव-समाज में नहीं पाई जाती है। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में घोर अशान्ति, आशंका, अराजकता और भय का साम्राज्य है। यदि लॉक की कल्पना सत्य हो तो यह मानना पड़ेगा कि नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से मनुष्य का निरन्तर अधःपतन हो रहा है। किन्तु इसके सत्य न होने के कारण लॉक की प्राकृतिक दशा की उपर्युक्त कल्पना असत्य जान पड़ती है।

(३) **तीसरा दोष वैयक्तिक सम्पत्ति के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा और सम्पत्तिशाली वर्ग का अनुचित रूप से प्रबल समर्थन है।** उसके मतानुसार व्यक्ति सामूहिक

सम्पत्ति में अपने श्रम को जोड़कर इसे वैयक्तिक सम्पत्ति के रूप में परिणत करता है। श्रम सम्पत्ति का मूल है। लॉक के शब्दों में, "मेरे घोड़े ने जो घास खाई, या मेरे सेवक ने जो घास छीली या मैंने किसी सार्वजनिक स्थान पर खोदने से जो कच्ची धातु प्राप्त की, वह किसी की अनुमति के बिना ही मेरी सम्पत्ति बन जाती है। मेरे ही श्रम ने उसे उस प्राकृतिक अवस्था से हटाया है जहाँ वह सार्वजनिक सम्पदा थी, अतः वह मेरी सम्पत्ति हो गई।" रिची ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि इसके अनुसार अपने घोड़े तथा अपने नौकर के माध्यम से तथा श्रम से प्राप्त की गई सम्पत्ति मेरी हो जाती है, इसी प्रकार पूँजीपति मजदूरों को लगाकर उनके श्रम से जो सम्पत्ति प्राप्त करता है, वह उसकी निजी सम्पत्ति मानी जानी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि उसने पूँजीवाद का प्रबल पोषण किया है। आजकल इस सिद्धान्त को कोई भी सत्य नहीं मानेगा।

(४) **चौथा दोष सहमति (Consent) के सिद्धान्त को आवश्यकता से अधिक महत्व देना है।** वह इसे प्राकृतिक कानून के साथ सम्बद्ध मानता है। उसके मतानुसार इसका आशय यह है कि न्याय-अन्याय का निर्णय अधिकांश व्यक्तियों की सहमति से होता है। यदि बहुत-से व्यक्ति किसी कार्य को उचित या अनुचित कहते हैं तो उसे ऐसा ही समझना चाहिए। यह प्राकृतिक नियम के मौलिक सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल है क्योंकि उसके अनुसार जो सार्वभौम शाश्वत सत्य है, वह मनुष्यों के अस्वीकार करने पर भी वैसा ही बना रहता है। यदि लॉक की बात मान ली जाए तो प्राकृतिक नियम मनुष्यों के बहुमत पर आधारित हो जाएँगे और उनकी स्वतन्त्र वास्तविक सत्ता समाप्त हो जाएगी।

(५) **पाँचवाँ दोष राज्य के कार्यक्षेत्र को अत्यन्त संकुचित और सीमित करना है।** उसकी दृष्टि में राज्य को केवल पुलिस का कार्य करना चाहिए, इससे अधिक नागरिकों की शिक्षा-सम्बन्धी, सांस्कृतिक या नैतिक उन्नति का कार्य उसकी सीमा से परे है, क्योंकि व्यक्ति प्रकृति से ही विवेकशील और नैतिक है, वह स्वयं अपनी उन्नति करेगा। लॉक का पुलिस-राज्य (Police State) का विचार बड़ा संकीर्ण और दूषित है।

(६) **छठा दोष व्यक्ति को असाधारण महत्व देकर राज्य की स्थिति को क्षीण बनाना है।** उसका राज्य कोई स्वतन्त्र सामूहिक संस्था नहीं, किन्तु ऐसे व्यक्तियों का समूह मात्र है, जो निश्चित तथा सीमित प्रयोजनों के लिए इसका निर्माण करते हैं। इन प्रयोजनों के अतिरिक्त वे सर्वथा स्वतन्त्र हैं। सर्वोच्च सत्ता उनमें निहित है। उसने व्यक्तिवाद के प्रबल समर्थन के कारण व्यक्ति को राज्य से बड़ा बना दिया है। उसके मत में राज्य व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति राज्य के लिए।

राजनीतिशास्त्र में लॉक की देन—किन्तु इन त्रुटियों और दोषों के होते हुए भी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में कई महत्वपूर्ण देनों के कारण लॉक का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।

(१) **उसकी पहली देन प्राकृतिक अधिकारों (Natural Rights) का सिद्धान्त है।** उसने जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को मनुष्य के जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार मानते हुए यह कहा है कि राज्य का कर्त्तव्य इनकी रक्षा करना है, वह किसी मनुष्य को कभी इनसे वंचित नहीं कर सकता। यदि कोई राज्य ऐसा करता है तो प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। आजकल सभी देशों के संविधानों में नागरिकों के

मौलिक अधिकारों की रक्षा को प्रथम स्थान दिया जाता है। यह वर्तमान प्रजातन्त्र (Democracy) और उदारवाद (Liberalism) की आधारशिला है।

(२) **उसकी दूसरी देन व्यक्तिवाद** (Individualism) **की है।**

(३) **तीसरी देन जनता की सहमति पर आधारित वैधानिक शासन** (Constitutional Government) **का विचार है।** मैक्सी के शब्दों में उससे पहले किसी राजनीतिक विचारक ने इतने स्पष्ट और शक्तिशाली रूप में इस सिद्धान्त की स्थापना नहीं की थी कि "**यदि कोई शासन प्रजाजनों की सहमति पर आधारित न हो वह अवैध तथा निराधार होता है।**" उससे पहले प्रतिनिधि संस्थाओं के माध्यम से बहुमत द्वारा शासन-संचालन की आवश्यकता और सम्भावना को इतने विश्वासदायक व प्रबल शब्दों में किसी अन्य व्यक्ति ने अभिव्यक्त नहीं किया था। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा कि **कार्यपालिका तथा विधानसभा तभी तक अपना कार्य कर सकती हैं, जब तक वे लोकहित का अनुसरण करती हैं और उसकी सहमति के अनुसार कार्य करती हैं।** लॉक ने इस सिद्धान्त से राजाओं के दैवी अधिकार (Divine Right) द्वारा शासन करने के सिद्धान्त का प्रबल खण्डन किया। मैक्सी के मतानुसार, "१८वीं-१९वीं शताब्दी के राजनीतिक सुधारकों का मुख्य प्रेरणास्रोत लॉक का वैधानिक शासन का दर्शन था। ये सुधार चाहे किसी वालपोल, जेफरसन, गैम्बेट्टा या कावूर ने किए हों, इनकी प्रेरणा लॉक की रचनाओं से मिलती थी।"[1]

(४) **चौथी देन जनता में प्रभुसत्ता** (Popular Sovereignty) **के निहित होने का विचार है।**[2] वह यह मानता था कि व्यक्ति राज्य को अपने अधिकार कुछ विशेष प्रयोजनों की पूर्ति के लिए ही सौंपते हैं, शेष अधिकार तथा प्रभुसत्ता जनता में ही बनी रहती है।

(५) **पाँचवीं देन राज्य की विधानपालिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की तीनों शक्तियों के पार्थक्य** (Separation of Powers) **के सिद्धान्त का बीजारोपण एवं प्रतिपादन है।** इसने अमरीका की राजनीतिक संस्थाओं पर गहरा प्रभाव डाला। पोलिबियस के बाद लॉक ने ही इसका सुस्पष्ट और तर्कसंगत प्रतिपादन किया था। राजनीतिज्ञों और विचारकों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। माँतेस्क्यू ने इसी के आधार पर अपने शक्ति-पार्थक्य के तथा शासन-सम्बन्धी कार्यों के त्रिवर्गीय विभाजन के सिद्धान्त का विकास किया और अमरीका के संविधान-निर्माताओं ने लॉक तथा माँतेस्क्यू के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए अपने विधान का निर्माण किया।

(६) **छठी देन उपयोगितावाद** (Utilitarianism) **का सिद्धान्त है।** उसने यह कहा था कि मनुष्य के सम्पूर्ण कार्य सुखों की प्राप्ति और दुखों के निवारण के लिए होते हैं। मनुष्य नैतिक सिद्धान्तों का अनुसरण इसलिए करता है कि वह इससे आनन्द पा सके। बेन्थम पर इन विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा।

---

1. "The reformist mind of the eighteenth-nineteenth centuries was absolutely captivated by the Lockeian philosophy of constitutional government so much that though the shaping hand was that of a Walpole, a Jefferson, a Gambetta, or a Cavour, the voice was invariably the voice of Locke." —Maxey, p. 262.

2. "There remains still in the people a supreme power." —Locke.

लॉक का मूल्यांकन और प्रभाव—लॉक की रचनाओं में मौलिकता, सम्बद्धता और स्पष्टता का अभाव है। **हॉब्स की रचनाएँ लॉक के ग्रन्थों की अपेक्षा** अधिक तर्कसंगत, सुसंगत और स्पष्ट हैं। फिर भी भावी पीढ़ियों ने हॉब्स का नहीं, किन्तु लॉक का समर्थन किया। इसका कारण यह था कि हॉब्स का निरंकुश राजसत्ता (Absolute Monarchy) का सिद्धान्त समय के प्रतिकूल था और लॉक का वैधानिक शासन (Constitutional Rule) का विचार तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप था। अत: उसके व्यक्तिवाद, जनता की प्रभुसत्ता, व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों तथा वैध शासन के विचार बड़े लोकप्रिय हुए। सामाजिक संविदा, प्राकृतिक नियम, विद्रोह के अधिकार आदि के सिद्धान्त लॉक से पहले भी अनेक विचारक प्रतिपादित कर चुके थे, किन्तु उसने इन्हें इस ढंग से रखा कि इनका भावी इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसका विवेचन करते हुए बार्कर ने लिखा है, "लॉक के राजनीतिक सिद्धान्त ने केवल इंगलैण्ड को ही प्रभावित नहीं किया। वह फ्रांस में प्रविष्ट हुआ, रूसो के माध्यम से फ्रेंच राज्यक्रान्ति में आया। यह उत्तरी अमरीका की बस्तियों में प्रविष्ट हुआ और सेमुअल एडम्ज़ तथा थॉमस जेफरसन के माध्यम से अमरीका की स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्र में भी इसका समावेश हुआ।" अमरीका और फ्रांस की क्रान्तियों ने १९वीं शताब्दी में योरोप में तथा २०वीं शताब्दी में एशिया में होने वाली सभी राजक्रान्तियों को प्रभावित किया। इन सब पर लॉक के प्रभाव की स्पष्ट छाप है। वह उदारवाद, जनतन्त्र, नागरिकों के मौलिक अधिकारों का प्रभावशाली प्रवक्ता है। अत: मैक्सी ने यह सत्य ही लिखा है कि **"१७वीं शताब्दी के इंगलैण्ड के इस दुबले-पतले किताबी कीड़े डॉक्टर की गणना राजनीतिशास्त्र के अमर विचारकों में की जानी चाहिए।"** वह आधुनिक उदारवाद का जन्मदाता है।

सारांश

हॉब्स के बाद ब्रिटिश राजनीतिक चिन्तन में सबसे ऊँचा स्थान जॉन लॉक का है। राजनीतिविषयक उसकी महत्वपूर्ण रचनाएँ निम्नलिखित हैं—सहिष्णुता पर चार पत्र, शासन पर दो निबन्ध तथा कैरोलिना का मौलिक संविधान। लॉक के प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं—

(१) **मनुष्य का स्वभाव**—मानव-स्वभाव के बारे में लॉक हॉब्स के सर्वथा विपरीत उसे नैतिक व्यवस्था को स्वीकार करने वाला-शान्तिप्रिय, उदार, दयालु, बुद्धिमान और विचारशील प्राणी समझता है।

(२) **प्राकृतिक अवस्था** (State of Nature)—मानव-जाति की आरम्भिक प्राकृतिक अवस्था को हॉब्स ने मनुष्य के स्वार्थी होने के कारण सतत संघर्ष और युद्ध की दशा माना था किन्तु लॉक इसे शान्ति, सौहार्द, पारस्परिक सहयोग और आत्मरक्षा की अवस्था मानता है।

(३) **प्राकृतिक अधिकार**—लॉक के मतानुसार प्राकृतिक दशा में मनुष्यों को तीन प्रकार के अधिकार प्राप्त थे—(i) जीवन का अधिकार, (ii) स्वतन्त्रता का अधिकार, (iii) सम्पत्ति का अधिकार। प्राकृतिक दशा में मनुष्यों को कई असुविधाएँ थीं।

(४) **सामाजिक समझौता**—इन असुविधाओं को दूर करने के लिए समाज के सब व्यक्तियों ने सब व्यक्तियों के साथ एक सामाजिक समझौता या अनुबन्ध (Social Contract) किया। इस समझौते को लॉक ऐतिहासिक तथ्य मानता है।

लॉक के मतानुसार समझौते की तीन विशेषताएँ हैं—(i) यह कभी रद्द नहीं हो सकता है, (ii) सहमति पर आधारित है, और (iii) राज्य का निर्माण करता है।

(५) **राज्य की विशेषताएँ**—लॉक के मतानुसार सामाजिक समझौते द्वारा बनाए जाने वाले राज्य की पाँच बड़ी विशेषताएँ हैं: इसका निर्माण नागरिकों के कल्याण के लिए होता है। यह नागरिकों की सहमति पर आधारित है। इसमें कानून के नियम की प्रधानता होती है। इसका कार्यक्षेत्र सुरक्षा सुव्यवस्था और न्याय के तीन कार्यों तक सीमित है।

(६) **विद्रोह का अधिकार**—लॉक जनता को कुछ विशेष दशाओं में विद्रोह का अधिकार प्रदान करता है। राज्य का निर्माण जनता के हित और विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होता है। यदि राज्य को जनता की सहमति प्राप्त न हो और वह स्वेच्छाचारी बन जाए तो जनता को शासन-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने और उसे बदलने का अधिकार है। लॉक क्रान्तियों का प्रतिपादन करने वाला दार्शनिक है।

लॉक व्यष्टिवाद का परम भक्त है और वह जनता को राजनीतिक एवं धार्मिक क्षेत्र में सब प्रकार के अधिकार देता है। इन अधिकारों को कोई शासन-सत्ता नहीं छीन सकती है। यदि कोई सत्ता इन्हें छीनती है तो जनता को इसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है।

(७) **लॉक और हॉब्स की तुलना**—(क) **समानताएँ**—प्राकृतिक दशा तथा सामाजिक समझौते के विचार को मानना, व्यक्ति के हितों की सुरक्षा पर बल देना।

(ख) **भेद**—(i) हॉब्स मानवीय प्रकृति को आसुरी और पाशविक प्रवृत्तियों वाला, स्वार्थी, निर्दय, क्रूर और हिंसक मानता है। लॉक मनुष्य को दया, प्रेम, सहिष्णुता, उदारता, सहयोग आदि दैवी प्रवृत्तियों वाला मानता है। (ii) प्रकृति की दशा हॉब्स के मतानुसार सतत संघर्ष की और लॉक के मतानुसार यह शान्ति और प्रेम की दशा है। (iii) सामाजिक समझौते में हॉब्स के मतानुसार सब व्यक्ति अपने सब अधिकार राज्य को सौंप देते हैं, किन्तु लॉक के मतानुसार व्यक्ति अपने सब अधिकार राज्य को नहीं देते हैं। (iv) हॉब्स की प्रभुसत्ता जब एक बार लेवियाथन को मिल जाती है तो कोई उसे छीन नहीं सकता है, किन्तु लॉक के मतानुसार सर्वोच्च प्रभुसत्ता सदैव जनता में निहित रहती है। (v) हॉब्स के मतानुसार प्रजा को राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नहीं है। लॉक कुछ विशेष दशाओं में प्रजा को क्रान्ति करने का अधिकार प्रदान करता है।

(८) **लॉक की विचारधारा के दोष**—(i) मानव-स्वभाव के शुक्लपक्ष को ही देखना, (ii) सर्वथा काल्पनिक प्राकृतिक दशा का चित्रण करना, (iii) सम्पत्तिशाली वर्ग का अनुचित रूप से प्रबल समर्थन करना, (iv) सहमति के सिद्धान्त को आवश्यकता से अधिक महत्व देना, (v) राज्य के कार्यक्षेत्र को अत्यन्त सीमित करना, (vi) राज्य की स्थिति को हीन बनाना।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी लॉक की राजनीतिशास्त्र में प्रमुख देनें निम्नलिखित हैं—(i) प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त, (ii) व्यक्तिवाद, (iii) वैधानिक शासन, (iv) जनता में प्रभुसत्ता निहित होने का सिद्धान्त, (v) विधानपालिका,

कार्यपालिका, न्यायपालिका की तीनों शक्तियों के पृथक् होने का सिद्धान्त (vi), उपयोगितावाद।

प्रश्न

(१) लॉक के मतानुसार मानव-स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था का वर्णन कीजिए। इस विषय में हॉब्स से उसके मतभेदों का प्रतिपादन कीजिए।
(२) लॉक प्राकृतिक दशा में व्यक्तियों के कौनसे अधिकार मानता है। प्राकृतिक दशा की क्या असुविधाएँ थीं ?
(३) लॉक के मत में सामाजिक समझौते का क्या स्वरूप और विशेषताएँ हैं ? यह हॉब्स के समझौते से किन बातों में भेद रखता है ?
(४) लॉक के राज्य के स्वरूप और विशेषताओं का प्रतिपादन कीजिए।
(५) लॉक किन अवस्थाओं में जनता को विद्रोह का अधिकार प्रदान करता है ?
(६) लॉक के व्यष्टिवाद का परिचय दीजिए।
(७) लॉक और हॉब्स की तुलना कीजिए।
(८) लॉक की विचारधारा में क्या दोष हैं ?
(९) राजनीति शास्त्र में लॉक की प्रमुख देनों का वर्णन कीजिए।
(१०) लॉक तथा हॉब्स के सामाजिक समझौते के विचारों की तुलना कीजिए। (राजस्थान, १९७९)
(११) लॉक के राजनीतिक दर्शन में व्यक्तिवाद के महत्व का विवेचन कीजिए। (राजस्थान, १९७९)
(१२) यह स्पष्ट कीजिए कि सामाजिक समझौते के कारणों और स्वरूप के बारे में हॉब्स और लॉक ने किस प्रकार विभिन्न व्याख्याएँ की हैं। (राजस्थान, १९७८)
(१३) प्रकृति की अवस्था तथा सामाजिक अनुबन्ध के सम्बन्ध में हॉब्स तथा लॉक के विचारों की तुलना कीजिए। (राजस्थान, १९७७)

तीसरा अध्याय

रूसो [१७१२–१७७८ ई०]

जीवन-चरित्र—फ्रेंच राज्यक्रान्ति को जन्म देने वाले विचारों के प्रबल प्रसारक, राजनीतिशास्त्र, शिक्षा, धर्म और साहित्य के क्षेत्रों में आधुनिक युग पर गहरा प्रभाव डालने वाले, सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के प्रबल पोषक, जीन जेकस रूसो (Jean Jacques Rousseu) का जन्म धार्मिक अत्याचारों के कारण फ्रांस से भागकर स्विट्ज़रलैण्ड के जेनेवा शहर में शरण लेने वाले, आइज़क नामक निर्धन घड़ीसाज़ के घर में हुआ। उसने अपना अधिकांश जीवन आवारागर्दी में बिताया, किसी पेशे या धन्धे को सीखने में सफलता नहीं पाई और न ही वह किसी स्थान पर टिका। उसने स्वयमेव अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में लिखी अपनी आत्मकथा (Confessions) में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला कि वह किस प्रकार किन बुराइयों में फँसा, उसने किन स्त्रियों से प्रेम किया और उच्चकुलों की कौनसी सम्भ्रान्त महिलाएँ उसके प्रेम में विह्वल रहीं, किस प्रकार उसने एक अनपढ़, बदसूरत भटियारिन थेरेसी ल वास्यार (Therese le Vasseur) को अपनी प्रेयसी बनाया, उससे पाँच बच्चे पैदा करने पर उसने इनमें से एक को भी स्वयं नहीं पाला और पाँचों को अनाथ बच्चे पालने वाले एक हस्पताल में दे दिया।

वह १६ वर्ष की अवस्था में अपने घर से भाग निकला, इसके बाद २० वर्ष तक मुख्य रूप से वह फ्रांस के विभिन्न स्थानों में निरुद्देश्य रीति से घूमता फिरता रहा। किन्तु उसके जीवन में यह काल बड़ा महत्वपूर्ण था। वह इसी समय फ्रांस की निर्धन जनता के सम्पर्क में आया, उसे उनके विचारों और भावनाओं को जानने का अवसर मिला। १७४१ ई० में वह पेरिस में बस गया, यहाँ पर वह दिदरो आदि अनेक विद्वानों के सम्पर्क में आया। १७४६ ई० में उसने एक गीतिनाट्य (Opera) लिखा। १७४६ ई० में डिजोन की अकादमी द्वारा घोषित निबन्ध-प्रतियोगिता में उसने एक स्वर्णपदक तथा ३०० फ्रांक का पुरस्कार प्राप्त किया। इससे उसे असाधारण प्रसिद्धि मिली। उसके निबन्ध का विषय था—"**विज्ञान की उन्नति ने नैतिक जीवन को उन्नत किया है या उसे भ्रष्ट किया है ?**" अपने निबन्ध में उसने यह सिद्ध किया कि मानव-समाज की प्रारम्भिक अवस्था में सब मनुष्य सरल और निष्पाप जीवन बिताते हुए आनन्दपूर्वक रहते थे। वर्तमान समाज की सब बुराइयों का मूल सभ्यता की उन्नति, ज्ञान का प्रेम और सभ्य समाज का कृत्रिम जीवन है। १७५४ ई० में उसने एक दूसरी निबन्ध-प्रतियोगिता के लिए इस विषय पर लेख लिखा कि—"**मनुष्यों में विषमता उत्पन्न होने**

का कारण क्या है ? क्या प्राकृतिक कानून इसका समर्थन करता है ?" इसमें उसने समानता और सामंजस्य की स्थिति में रहने वाले आदिम मानव-समाज का प्रतिपादन अधिक विस्तार से करते हुए उसमें वैयक्तिक सम्पत्ति एवं आर्थिक विषमता उत्पन्न होने की प्रक्रिया तथा कारणों पर प्रकाश डाला ।

इस समय तक उसकी स्थायी आजीविका का कोई साधन नहीं था, वह केवल मित्रों द्वारा दी गई आर्थिक सहायता से जीवन निर्वाह कर रहा था । १७५६ ई० में फ्रेंच लेखिका मदाम एपीने द्वारा निवास भोजनादि की व्यवस्था कर देने के बाद अगले छः वर्षों में, उसने १७६१ ई० में Julie या New Heloise, १७६२ ई० में **'सामाजिक समझौता'** (Le Contrat Social) तथा शिक्षाविषयक ग्रन्थ Emile लिखा ।

इन ग्रन्थों से रूसो को अपूर्व प्रसिद्धि मिली, पर साथ ही उसे असाधारण कष्ट भोगने पड़े । उसे अपनी प्राणरक्षा के लिए फ्रांस से भागना पड़ा और जर्मनी में शरण लेनी पड़ी । किन्तु तीन वर्ष बाद (१७६५ ई०) वहाँ से भी भागना पड़ा और इंगलैण्ड में सुप्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम ने उसे शरण दी । किन्तु इस समय तक रूसो विभिन्न राज्यों तथा व्यक्तियों द्वारा तिरस्कृत और पीड़ित हो चुका था, अतः उसे यह वहम हो गया कि दुनिया के सब व्यक्ति उस पर अत्याचार करने का प्रयत्न और उसे मारने का षड्यन्त्र कर रहे हैं । इंगलैण्ड में अपने मित्र ह्यूम से भी उसे इसी प्रकार की आशंका हुई और वह पागल-सा होकर फ्रांस लौट आया । जीवन के अन्तिम ११ वर्ष उसने अर्द्ध-पागलपन की दशा मे बिताए, किन्तु इस समय भी उसने अपनी आत्मकथा (Confessions) की और पोलैण्ड तथा कोर्सिका के लिए संविधानों की रचना की । २ जुलाई १७७८ ई० को ६६ वर्ष की आयु में इस विलक्षण प्रतिभाशाली, अर्द्धविक्षिप्त व्यक्ति का देहावसान हो गया । रूसो के प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं ।

मानव-स्वभाव

इस विषय में रूसो का विचार हॉब्स तथा लॉक—दोनों से भिन्न है । उसने पुरस्कार प्राप्त करने वाले अपने दोनों निबन्धों में **प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य को स्वाभाविक रूप से अच्छा, सुखी, सीधा, चिन्ता-रहित, स्वस्थ, शान्तिप्रेमी और एकान्तप्रिय बताया ।** निम्नलिखित दो कारणों से वह आदिम मनुष्य को ऐसा समझता था—

(१) **पहला कारण** यह था कि वह अपनी मातृभूमि जेनेवा में बचपन से कैल्विन की शिक्षाओं के वातावरण में पला था, इनमें आदिम मानव को सर्वथा निर्दोष माना जाता था, क्योंकि बाइबल के मतानुसार आदम शैतान के बहकावे में आने के बाद ही पापी बना था ।

(२) **दूसरा कारण** इस समय प्रशान्त महासागर के टापुओं में रहने वाले आदिवासियों के सम्बन्ध में ऐसे विवरणों का प्रकाशित होना था, जिनमें उन्हें शान्ति-प्रेमी, अन्धविश्वासों और रीति-रिवाजों का अनुसरण करने वाला बताया गया था ।

हॉब्स का कहना था कि प्राकृतिक दशा (State of Nature) में रहने वाला मनुष्य न केवल हिंस्र और क्रूर था, प्रत्युत कपटी भी था । रूसो ने प्राकृतिक दशा में

रहने वाले मनुष्य के हॉब्स द्वारा प्रतिपादित हिंस्र स्वभाव पर आपत्ति करते हुए कहा कि यदि वास्तव में उस स्थिति में मनुष्यों का स्वभाव हिंस्र अथवा एक-दूसरे का गला काटने वाला होता तो मानव-जाति दो पीढ़ियों से अधिक नहीं चल सकती थी। यदि मानव का यही स्वभाव है तो हमें बच्चों और बन्धुओं की मृत्यु पर प्रसन्न होना चाहिए। दूसरी ओर लॉक ने मनुष्यों को प्राकृतिक नियम और ईश्वरीय नियम से अनुशासित होने वाला माना था। रूसो आदिम युग में नैतिकता के ऐसे उच्च विकास को भी असम्भव मानता है। अतः इन दोनों विचारों को गलत मानते हुए उसने आदिम मनुष्य को लगभग पशुतुल्य, निष्पाप, निर्दोष और स्वाभाविक रूप से अच्छा माना। वह सहज भावना से काम करने वाला, बुद्धिहीन, नैतिकता के विचारों से रहित और सम्पत्ति-शून्य था। उसमें आत्मसंरक्षण और सहानुभूति की दो प्रधान भावनाएँ थीं।

प्राकृतिक दशा
(State of Nature)

रूसो की मानव-स्वभाव की कल्पना हॉब्स और लॉक के विचारों से भिन्न थी, अतः उसकी प्राकृतिक दशा की धारणा भी स्वाभाविक रूप से उन दोनों की धारणा से मौलिक भेद रखती है। रूसो के मतानुसार प्राकृतिक मनुष्य एकाकी, स्वतन्त्र, नैतिक तथा अनैतिक भावनाओं से मुक्त, निःस्वार्थ, सम्पत्ति और परिवार से रहित आदिम स्वर्णयुग की स्वर्गीय दशा में रहता था। **उस समय उसमें ममत्व की, मेरे-तेरे की भावना नहीं थी, उसका जीवन जंगलों में घूमने-फिरने वाले उदात्त वनेचर (Noble Savage) जैसा था। वह सुखी और सन्तुष्ट, समान और स्वावलम्बी था। बुद्धि से नहीं, किन्तु स्वार्थ और दया के मनोवेगों से प्रेरित होता था।**[1]

किन्तु यह स्वर्गीय स्थिति देर तक नहीं रही। **सम्पत्तिरूपी साँप ने इसमें प्रवेश किया। मनुष्यों में परिवार और वैयक्तिक सम्पत्ति बनाने की इच्छा उत्पन्न हुई।**[2] एक मनुष्य ने भूमि के एक टुकड़े को घेर लिया, उसे अपना कहने लगा। अन्य मनुष्यों ने भी इसी तरह भूमि के अन्य टुकड़ों पर स्वामित्व स्थापित किया। इससे उदात्त वनेचर (Noble Savage) की स्वाभाविक समानता, स्वतन्त्रता समाप्त हो गई; दास-प्रथा की तथा सभ्यता की अन्य बुराइयों की उत्पत्ति हुई। परिवार, वैयक्तिक सम्पत्ति, समाज, कानून और सरकार की संस्थाएँ सुदृढ़ हुई।

ये सब समाज में विषमता को स्थायी बनाने में, गरीबों पर अमीरों के अत्याचार बढ़ाने में सहायक हुईं। सभ्यता की वृद्धि के साथ दरिद्रता, शोषण, हत्या और

1. "Men were equal, self-sufficient and contented. Their conduct was based not on reason, but on emotions of self-interest and pity."
—Gettel, p. 253.

2. "The rise of private property created distinctions between rich and poor that broke down the happy natural condition of mankind and necessitated the establishment of civil society."
—Gettel, p. 253-54.

बीमारी बढ़ती चली गई। इस प्रसंग में रूसो ने तत्कालीन फ्रांस की निर्धन जनता के सम्पन्न वर्गों द्वारा शोषण का, इन पर होने वाले अत्याचारों का, जनता के दुःखों और कष्टों का बड़ा सजीव, हृदयद्रावक, मर्मवेधी तथा प्रभावशाली चित्रण किया है। उसने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक **'सामाजिक समझौता'** (Social Contract) की पुस्तक के प्रथम वाक्य में यह घोषणा की है—**"मनुष्य स्वतन्त्र रूप में पैदा हुआ है, किन्तु सर्वत्र वह बेड़ियों से जकड़ा हुआ है।"**[1] इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य को स्वतन्त्र एवं स्वाधीन होना चाहिए, यही उसके लिए सर्वोत्तम दशा है। किन्तु समाज के नियम, रूढ़ियाँ तथा प्रतिबन्ध उसे दास बना रहे हैं, उसकी विशुद्ध प्राकृतिक दशा के जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार से उसे वंचित कर रहे हैं। वह अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करने के लिए इन बन्धनों से किस प्रकार मुक्त हो—यह रूसो के राजनीतिक चिन्तन की मूल समस्या है। रूसो इसका समाधान ऐसा संगठन बनाकर करना चाहता है जिसमें सब एक-दूसरे के साथ संयुक्त होने पर भी प्राकृतिक दशा की स्वतन्त्रता के अधिकार को अक्षुण्ण बनाए रखें। यह सामाजिक समझौते से तथा राजनीतिक समाज के निर्माण द्वारा हो सकता है।

रूसो की प्राकृतिक दशा की आलोचना—रूसो की प्राकृतिक दशा (State of Nature) का चित्रण मानव-स्वभाव की गलत धारणा पर बना है। वह मानव-जाति के अतीत काल को अत्यन्त स्वर्णिम युग के रूप में देखता है, वह प्रगति के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहता है कि मानव-समाज का निरन्तर ह्रास हो रहा है। वस्तुतः मानव-जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, अवनति का नहीं। उसके मतानुसार मानव आरम्भ में सद्भावनापूर्ण, भला, सुखी, सीधा और शान्तिप्रिय था। वह मनुष्य में केवल उत्कृष्ट और भली प्रवृत्तियाँ देखता है; वस्तुतः मनुष्य में भली और बुरी, उत्कृष्ट और निकृष्ट, दैवी तथा आसुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण एवं समावेश है। मिल, काण्ट, ग्रीन आदि कितने ही विचारकों ने ऐसा मत प्रकट किया है।

सामाजिक समझौता या अनुबन्ध
(Social Contract)

रूसो व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समाज की सुव्यवस्था में समन्वय स्थापित करने के लिए एक सामाजिक समझौते (Social Contract) की कल्पना करता है। हॉब्स की भाँति रूसो इसमें व्यक्तियों द्वारा सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण आवश्यक मानता है, न कि लॉक की तरह कुछ अधिकारों का सौंपना। उसने लॉक की भाँति ये अधिकार एक ऐसे संघ को दिए हैं, जो सब व्यक्तियों का समूह है। यह समझौता सब सदस्यों की स्वतन्त्र स्वीकृति पर आधारित है और प्रभुसत्ता को प्रकट करता है।[2] यह निम्न प्रकार से सम्पन्न

1. "Man is born free, but everywhere he is in chains."
2. "Men freely entered into the social pact and merged their wills into the general will, which is the concrete manifestation of sovereignty."
—Maxey, p. 358.

होता है—

सामाजिक समझौते का स्वरूप—मानव-समाज के उस काल में समाज का संगठन बनाने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति एकत्रित होकर यह कहते हैं, **"हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर को और समूची शक्ति को अन्य सब के साथ संयुक्त सामान्य इच्छा (General Will) के सर्वोच्च संचालन में रखता है और हम अपने सामूहिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति को समष्टि के अविभाज्य अंश के रूप में ग्रहण करते हैं।"**[1]

इसमें व्यक्ति अपने विभिन्न व्यक्तित्वों को पूर्ण रूप से समाज में निमज्जित करके एक ऐसी नैतिक और सामूहिक संस्था का निर्माण करते हैं, जो इसके सब सदस्यों से मिलकर बनती है। इस संस्था की, इसके सदस्यों से अलग अपनी विशिष्ट एकता, जीवन और इच्छा होती है। इसके सदस्य निष्क्रिय होने पर इसे राज्य (State) कहते हैं और क्रियाशील होने पर सर्वोच्च प्रभु (Sovereign) तथा अन्य संस्थाओं की तुलना में शक्ति (Power) कहते हैं। इसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों का सामूहिक नाम जनता है, वैयक्तिक रूप से इन्हें नागरिक कहा जाता है।

इसमें सब व्यक्तियों के अधिकारों में समानता बनी रहती है, क्योंकि सब व्यक्ति अपने अधिकार समर्पित करने के बाद अधिकारहीन होने के कारण बराबर हो जाते हैं। इसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता भी सुरक्षित रहती है। प्रत्येक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों पर वही अधिकार प्राप्त हो जाते हैं, जो अन्य व्यक्तियों को उस पर प्राप्त हैं। **यह समझौता इसलिए किया जाता है कि विभिन्न व्यक्तियों की परस्पर-विरोधी शक्तियों के स्थान पर एक सामान्य शक्ति स्थापित हो जाए।**

रूसो का सामाजिक समझौता या अनुबन्ध यद्यपि समुदाय या राज्य का निर्माण करता है, किन्तु यह समझौते को करने वाला पक्ष नहीं बनता है। प्रत्येक व्यक्ति समझौता करते हुए दो प्रकार के सम्बन्ध उत्पन्न करता है—

(क) सर्वोच्च प्रभुसत्ता का अंग होने से वह दूसरे व्यक्तियों के प्रति कर्त्तव्यों से बँधा है।

(ख) राज्य का सदस्य होने के नाते वह प्रभुशक्ति के साथ कर्त्तव्यों से बँधा हुआ है।

सामाजिक अनुबन्ध को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जो व्यक्ति सामान्य इच्छा का पालन करने से इनकार करता है, उसे जबर्दस्ती नागरिकों के समूचे समाज द्वारा इसका पालन करने के लिए बाधित किया जाए। यदि ऐसा नहीं किया जाता है और सब व्यक्ति स्वच्छन्द आचरण करने लगते हैं तो समझौता भंग होने से अवांछनीय हालत उत्पन्न हो जाएगी। इस हालत में विषमता का साम्राज्य होगा तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाएगी। **अतः व्यक्ति को स्वतन्त्र बनाए रखने के लिए उसे सामान्य इच्छा (General Will) के पालन के लिए बाधित किया जाना**

1. Coming into political society, therefore, each member "puts his person and all his power, and, in our corporate capacity, we receive each member as an indivisible part of the whole."

—*Social Contract*, p. 14.

आवश्यक है; जैसे गैलीलियो को अपने समय में समाज में प्रचलित पृथ्वी के चारों ओर सूर्य के घूमने के सिद्धान्त को स्वीकार करने की सामान्य इच्छा (General Will) मानने के लिए बाधित होकर अपना यह मत छोड़ना पड़ा कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है।

सामाजिक समझौते की विशेषताएँ

(१) **नैतिक संस्था बनाना**—यह समझौता जीवन और इच्छा-शक्ति रखने वाली एक नैतिक और सामूहिक संस्था की रचना करके प्राकृतिक दशा का अन्त करता है और एक नए सभ्य समाज और राज्य का निर्माण करता है।

(२) **नागरिक का निर्माण**—इससे व्यक्ति नागरिक का रूप धारण करता है, उसकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता नागरिक स्वतन्त्रता में परिणत होती है।

(३) **निरन्तर जारी रहना**—यह समझौता किसी विशेष समय में होने वाली एकाकी घटना मात्र नहीं, किन्तु निरन्तर जारी रहने वाली, मनुष्य के स्वभाव को उन्नत, उच्च, उदात्त और नैतिक बनाने वाली प्रक्रिया है, क्योंकि इस समझौते से मनुष्य में बड़ा महत्वपूर्ण परिवर्तन होता है।

(४) **न्याय की भावना पैदा करना**—प्राकृतिक दशा से सभ्य समाज में परिवर्तन होने की स्थिति में मनुष्य अपने आचरण में सहज भावना (Instinct) का स्थान न्याय (Justice) को देता है, अपने कार्यों को नैतिक स्वरूप प्रदान करता है, यह उससे पहले नहीं था।

(५) **कर्त्तव्य की भावना**—शारीरिक प्रेरणाओं का स्थान कर्त्तव्य की भावना ले लेती है। अब तक केवल अपने स्वार्थ का चिन्तन करने वाला मनुष्य पहली बार अपने-आपको अन्य सिद्धान्तों के आधार पर कार्य करने के लिए बाध्य अनुभव करता है।

(६) **विकास में सहायक होना**—इस नागरिक राज्य में व्यक्ति अपने को प्राकृतिक दशा के अनेक लाभों से वंचित कर देता है, किन्तु इसके साथ ही वह अनेक लाभ भी प्राप्त करता है, उसकी शक्तियों का प्रशिक्षण और विचारों का विस्तृत विकास होता है, उसकी आत्मा ऊँची उठती है।

रूसो तथा लॉक के सामाजिक अनुबन्ध के स्वरूप में अन्तर

लॉक तथा रूसो के सामाजिक अनुबन्ध के स्वरूप में दो बड़े भेद हैं— (क) लॉक (Locke) का अनुबन्ध एक निश्चित समय में होने वाला एक विशेष कार्य है। रूसो का समझौता निरन्तर जारी रहने वाली प्रक्रिया है।

(ख) लॉक का मनुष्य समझौता करने से पहले प्राकृतिक नियम का पालन करने वाला नैतिक प्राणी था; किन्तु रूसो का मनुष्य समझौता करने के बाद सामान्य इच्छा के निर्माण में भाग लेता हुआ दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाला विवेकशील नैतिक मानव का रूप धारण करता है।

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त

यह रूसो का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्त है। व्यक्ति समझौते द्वारा समुदाय के लिए अपने अधिकारों का परित्याग करते हैं। इसके साथ ही उनकी वैयक्तिक इच्छा का स्थान एक सामान्य इच्छा ले लेती है। यही प्रभुसत्ता होती हैं। इसे भली-भाँति समझने के लिए विभिन्न प्रकार की इच्छाओं का भेद तथा स्वरूप समझ लेना आवश्यक है—

(क) **स्वार्थपूर्ण इच्छा** (Actual Will)—मनुष्य के मन में अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए उठने वाली विभिन्न प्रकार की अविवेकपूर्ण, अस्थायी और क्षणिक इच्छाएँ होती हैं। ये स्वार्थ तथा वैयक्तिक हित को दृष्टि में रखती हैं, सामाजिक हित का विचार नहीं करती हैं। उदाहरणार्थ, दूध में पानी मिलाने वाले अथवा खाद्य पदार्थों में मिलावट करने वाले व्यापारी का लक्ष्य केवल मुनाफा कमाने का विचार होता है, वह इससे समाज को पहुँचने वाली हानि को कभी नहीं सोचता।

(ख) **सामाजिक इच्छा** (Real Will)—दूसरे प्रकार की सामाजिक इच्छा में मनुष्य अपने विवेक से व्यक्ति के तथा समाज के हित में लगा रहता है। **यह सामाजिक हित से सम्बद्ध होने के कारण अस्थायी और क्षणिक नहीं होती है, यह मनुष्य की बुद्धि के चिन्तन का परिणाम और वैयक्तिक स्वार्थ से रहित होने के कारण व्यक्ति की वास्तविक इच्छा** (Real Will) **होती** है। यह व्यक्ति के क्षणिक स्वार्थ को ही नहीं, किन्तु उसके समूचे जीवन को तथा समाज के हित को दृष्टि में रखती है।

प्रत्येक व्यक्ति में दोनों प्रकार की इच्छाएँ होती हैं। ऊपर के उदाहरण में घी या तेल में मिलावट का कार्य स्वार्थ की दृष्टि से लाभदायक है, किन्तु जब व्यक्ति अपने विवेक से यह सोचता है कि यह ग्राहकों के साथ धोखा है, समाज को हानि पहुँचाने वाला है तो समष्टि के हित को दृष्टि में रखने के कारण उसकी यह इच्छा सामाजिक है। इस प्रकार स्वार्थी (Actual) और सामाजिक (Real) इच्छाओं में प्रायः विरोध होता रहता है।

सामान्य इच्छा का स्वरूप

समाज के विभिन्न व्यक्तियों की सामाजिक इच्छाओं का सर्वयोग ही सामान्य इच्छा है।[1] सभी व्यक्तियों की सामाजिक इच्छा है कि खाद्य वस्तुओं में मिलावट न की जाए, अतः यह समाज की सामान्य इच्छा है। **यह न तो बहुमत की इच्छा है और न सब नागरिकों की इच्छा है।**[2]

प्रत्येक मनुष्य की राजनीतिक इच्छा स्वार्थ से प्रेरित होती है। किन्तु स्वार्थ के दो अंश होते हैं—(क) व्यक्ति को लाभ पहुँचाने वाला, (ख) समाज को लाभ पहुँचाने

---

1. "The general will, then would seem to be the will of the people functioning as a body politic—the will of society viewed as a living and rational political organism." —Maxey, p. 357.

2. "It is the will which 'must both come from all and apply to all.' It must not be confused with the totality of individual wills." —Maxey, p. 357.

वाला। सब नागरिकों के वैयक्तिक स्वार्थ विभिन्न प्रकार के होते हैं, वे एक-दूसरे का उदासीनीकरण करते रहते हैं। इसके बाद जो स्वार्थ बचते हैं, वे सामाजिक हित से सम्बन्ध रखने वाले होंगे। परिणामतः इनका सर्वयोग ही **सामान्य इच्छा** (General Will) होगी।

रूसो ने **सामान्य इच्छा** (General Will) और **सबकी इच्छा** (Will of All) में भेद करते हुए कहा है कि "सामान्य इच्छा केवल सामान्य हितों का विचार करती है, सबकी इच्छा वैयक्तिक हितों का विचार करती है और विशेष इच्छाओं का योग मात्र है।" उदाहरणार्थ, सब विद्यार्थियों की इच्छा छुट्टी मनाने की, परीक्षा भवन में नकल करने की और बातचीत करने की होती है। किन्तु उनकी सामान्य इच्छा शान्तिपूर्वक अध्ययन करने तथा नकल न करने की है। **सामान्य इच्छा समाज के उच्चतम विचार की अभिव्यक्ति होती है।** यह समाज के सामान्य हित को ध्यान में रखती है और ठीक होती है।[1] भले ही यह समाज की अल्पसंख्या द्वारा निर्धारित हो। यह सम्भव है कि अधिकांश विद्यार्थियों की यह इच्छा हो कि वे परीक्षा भवन में नकल करके पास हो जाएँ तथा थोड़े-से ही विद्यार्थी अपने पाठ्यक्रम का गम्भीर अनुशीलन करके पास होना चाहें। किन्तु समाज को इसी व्यवस्था में लाभ है कि सब विद्यार्थी योग्य बनकर देश एवं समाज के लिए हितकर तथा उपयोगी कार्यों में लगें। अतः अल्पसंख्यक विद्यार्थियों की इच्छा सामान्य इच्छा कहलाएगी, अधिकांश विद्यार्थियों की नकल करने की इच्छा समाज के सामान्य हित का ध्यान न रखने के कारण बहुसंख्या की इच्छा होने पर भी सामान्य इच्छा नहीं कहलाएगी।

सामान्य इच्छा तीन दृष्टियों में सामान्य होनी चाहिए—

(क) उद्गम की दृष्टि से—इसमें सब नागरिकों की सहमति प्राप्त होनी चाहिए।

(ख) क्षेत्र की दृष्टि से—यह राज्य की समस्त जनता से सम्बन्धित होनी चाहिए।

(ग) ध्येय की दृष्टि से—यह समाज के हित के अनुकूल होनी चाहिए।

इन तीनों विशेषताओं से युक्त होने पर ही कोई इच्छा सामान्य इच्छा होती है।

सामान्य इच्छा के महत्वपूर्ण परिणाम—रूसो सामान्य इच्छा के उपर्युक्त स्वरूप से कुछ महत्वपूर्ण परिणाम निकालता है। ये निम्नलिखित हैं—

(१) राजनीतिक संगठन या राज्य को अन्य मनुष्यों की भाँति एक संगठित और सजीव शरीर या विराट् पुरुष मानना चाहिए। राज्यरूपी शरीर में सर्वोच्च सत्ता से सम्पन्न विधानसभा सिर की भाँति है, न्यायाधीश और सरकारी कर्मचारी मस्तिष्क के अंगों की भाँति, व्यापार-व्यवसाय तथा कृषि मुँह और पेट की भाँति, इसकी आय रक्त की भाँति है।

(२) यह राजनीतिक संगठन (Body Politic) या विराट् पुरुष नैतिक प्राणी होता है। इसकी अपनी इच्छा होती है।

(३) इसकी **सामान्य इच्छा** सदैव इस समाज के सामूहिक हित एवं प्रत्येक अंग

---

1. "The general will is always right and tends to the public advantage."
—*Social Contract*, p. 27.

के वैयक्तिक कल्याण के लिए प्रयत्न करती है यह सब कानूनों और विधियों का मूल स्रोत है।

(४) यह अपने राज्य के सब सदस्यों के लिए न्याय और अन्याय का निर्धारण करती है। सामान्य इच्छा के अनुकूल कार्य न्याय तथा प्रतिकूल कार्य अन्याय हैं।

(५) जो इच्छा जितनी अधिक सामान्य होगी, वह उतनी ही अधिक न्यायपूर्ण होगी।

(६) सामान्य इच्छा सदैव सामान्य और सार्वजनिक हित के लिए होती है; अतः इसका पालन करने के लिए व्यक्तियों को बाधित किया जाना चाहिए।

सामान्य इच्छा की विशेषताएँ

(१) **प्रतिनिधि योग्य न होना**—रूसो की सामान्य इच्छा की **पहली** विशेषता यह है कि वह **प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्त किए जाने योग्य नहीं है।** रूसो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy) का उपासक है। इसमें सब व्यक्ति अपनी इच्छा को स्वयमेव प्रकट करते हैं, दूसरे व्यक्तियों अथवा प्रतिनिधियों द्वारा इसे प्रकट करना व्यक्तियों के बहुमूल्य अधिकारों का हनन तथा लोकतन्त्र की हत्या है।

(२) **दूसरी विशेषता यह है कि सामान्य इच्छा को प्रभुसत्ता से अलग नहीं किया जा सकता है।**[1] रूसो सम्पूर्ण प्रभुसत्ता (Sovereignty) को सामान्य इच्छा में ही निहित मानता है। वह इसका प्राण है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर से उसके प्राण को पृथक् नहीं किया जा सकता, उसे किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता, वैसे ही प्रभुसत्ता को सामान्य इच्छा से अलग करना सम्भव नहीं है।

(३) **तीसरी विशेषता इसकी अखण्डता तथा एकता है।** यह अखण्ड है क्योंकि सामान्य होने के कारण यह कई अंशों में विभाजित नहीं की जा सकती है।[2] यह बुद्धि-पूर्वक चिन्तन और विचार-विमर्श का परिणाम होती है, अतः इसमें कोई परस्पर विरोध नहीं होता है, यह एकत्व वाली होती है तथा राज्य को एकता के सूत्र में पिरोती है।

(४) **चौथी विशेषता इसका स्थायी होना है** ; क्योंकि यह क्षणिक भावावेश का नहीं, किन्तु सुविचारित तर्क और बुद्धि का परिणाम होती है। यह राष्ट्र की संस्थाओं को स्थायी बनाती है।

(५) **पाँचवीं विशेषता इसका न्यायोचित होना है**; यह समाज के कल्याण के लिए नैतिक विचार की दृष्टि से निश्चित होती है, अतः इसके सत्य एवं न्यायोचित होने में कोई सन्देह नहीं है।

(६) **छठी विशेषता इसका सर्वोच्च एवं निरंकुश होना है।** इस पर किसी

---

1. "It is inalienable and imprescriptible because the sovereign who is no less than a collective being, cannot be represented except by himself. The power indeed may be transmitted, not the will."
—*Social Contract*, p. 22.

2. "It is indivisible because the general will would not be general if it were divisible." —Maxey, p. 357.

प्रकार के दैवी नियमों या प्राकृतिक नियमों का प्रतिबन्ध नहीं है, यह किसी व्यक्ति के या व्यक्ति-समूह के अधिकारों से नियन्त्रित नहीं होती है। जब तक राज्य है, तब तक जन-हित की प्रतीक सामान्य इच्छा उसमें सर्वोच्च शासक है। इसकी कोई अवहेलना नहीं कर सकता, सबको इसका पालन करना चाहिए।

(७) **सातवीं विशेषता** यह है कि सामान्य इच्छा को राज्य का आधार मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य शक्ति से नहीं, किन्तु जनता की सहमति से संचालित होता है।

रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के दोष

रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में कुछ दोष हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) **पहला** दोष यह है कि रूसो विस्तृत रूप से यह नहीं बताता है कि सामान्य इच्छा का निर्धारण किस प्रकार होगा। वैयक्तिक और सार्वजनिक हितों के संघर्ष में व्यक्ति के लिए सार्वजनिक हित को स्वीकार करना कठिन होगा। अतः सामान्य इच्छा के निर्धारण में कुछ कठिनाइयाँ हैं : **पहली** कठिनाई यह है कि हमारे पास जनहित की ऐसी कोई कसौटी नहीं है कि जिसके आधार पर सब लोगों की इच्छा में तथा सामान्य इच्छा में भेद किया जा सके। **दूसरी** कठिनाई यह है कि रूसो व्यक्ति की इच्छा को दो भागों में विभक्त करता है—स्वार्थी इच्छा (Actual Will) तथा सामाजिक इच्छा (Real Will)। व्यक्तियों की सामाजिक इच्छाओं का सर्वयोग सामान्य इच्छा है। किन्तु व्यक्ति की इच्छा ऐसी जटिल, पूर्ण, अविभाज्य समष्टि (Whole) है कि उसका यह विभाजन सम्भव नहीं है।

(२) **दूसरा** दोष यह है कि इससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होता है। पहले यह बताया जा चुका है कि रूसो सामान्य इच्छा की अवज्ञा करने वाले को इसके पालन के लिए बाधित करता है। यह स्थिति प्रायः अत्याचारपूर्ण तथा ज्ञान-विज्ञान के विकास में बाधक होती है। पहले बताए गए गैलीलियो के उदाहरण से स्पष्ट है, उसे चर्च द्वारा इस बात को मानने के लिए बाधित किया गया था कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है।

(३) **तीसरा** दोष यह है कि सामान्य इच्छा का सिद्धान्त केवल छोटे राज्यों में सफल हो सकता है, क्योंकि जनसंख्या कम होने के कारण वहाँ इस इच्छा का सुगमता से पता लग सकता है। आधुनिक युग के बड़े राज्यों में इतने विभिन्न प्रकार के स्वार्थों वाले व्यक्तियों का निवास होता है कि उनके सामान्य हित का निर्धारण करना असम्भव है।

(४) **चौथा** दोष रूसो द्वारा सामान्य इच्छा के निर्धारण के लिए राजनीतिक दलों की सत्ता का तथा प्रतिनिधिमूलक शासन-व्यवस्था (Representative Government) का विरोध करना है।

(५) **पाँचवाँ** दोष यह है कि वर्तमान राज्यों में सामान्य इच्छा कभी-कभी राष्ट्र पर आने वाले महान् संकटों के अवसर पर ही प्रकट होती है। उस समय सब लोग वैयक्तिक स्वार्थों से ऊपर उठकर सामान्य हित का निर्धारण करते हैं, किन्तु सामान्य

रूप से वे अपने वैयक्तिक स्वार्थों में इतने डूबे रहते हैं कि 'सामान्य इच्छा' का निर्धारण सम्भव नहीं होता है।

(६) **छठा दोष** इस व्यवस्था द्वारा अधिनायकवाद (Dictatorship) तथा सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना है। सामान्य जनता में सामान्य हित का निश्चय करने का सामर्थ्य नहीं है। अत: जनता को इसे बताने का कार्य करने वाले नेता और पथ-प्रदर्शक उत्पन्न होते हैं। स्पार्टा में लाइकरगस तथा एथेन्स में सोलन इसी प्रकार के नेता थे। किन्तु ऐसे नेता सम्पूर्ण सत्ता हस्तगत करके निरंकुश शासक बन सकते हैं। इससे निरंकुशतापूर्ण अत्याचारी शासन स्थापित हो जाता है और उस व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पूर्ण रूप से हनन हो जाता है, जिसकी रक्षा के लिए रूसो ने सामाजिक समझौते की व्यवस्था की थी।

सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का मूल्यांकन

किन्तु उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी रूसो का सामान्य इच्छा (General Will) का सिद्धान्त राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में असाधारण महत्व रखता है।[1] इसने यह प्रतिपादित किया कि राज्य का उद्देश्य किसी वर्ग-विशेष का नहीं, किन्तु समूचे समाज का कल्याण और जनता का हित-सम्पादन करना होना चाहिए, सामाजिक और सामान्य हित वैयक्तिक हितों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट हैं। राज्य एक नैतिक संगठन है, वह सामुदायिक हित पर बल देकर मनुष्य की स्वार्थमय तथा हीन प्रवृत्तियों का परिष्कार करता है। रूसो ने इस सिद्धान्त के द्वारा प्रभुसत्ता के जनता में निहित होने के विचार को लोकप्रिय बनाकर प्रजातन्त्र के सिद्धान्त का पोषण किया और फ्रेंच राज्यक्रान्ति को प्रभावित किया।

प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचार
(Sovereignty)

रूसो के मतानुसार **"प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छाओं में निहित होती है।"** बोदें तथा हॉब्स ने प्रभुसत्ता के विचार से राजा की निरंकुश सत्ता को पुष्ट किया था, परन्तु रूसो की यह विशेषता है कि उसने इससे जनता की सत्ता का समर्थन किया।

प्रभुसत्ता की विशेषताएँ

(१) **अनन्यक्राम्यता**—रूसो की प्रभुसत्ता की पहली विशेषता अनन्यक्राम्यता (Inalienability) है, चूंकि सामान्य इच्छा के रूप में यह जनता में रहती है, अत: यह उससे कभी पृथक् नहीं हो सकती। अन्य अधिकार तो दूसरे को दिए जा सकते हैं, किन्तु जनता अपनी इच्छा तथा प्रभुसत्ता किसी दूसरे को नहीं दे सकती है।

---

1. "The doctrine of the General Will was not only Rousseau's most original but it was also his most important contribution to political philosophy." —Oswarn

(२) **प्रतिनिधित्व न होना**—इसकी दूसरी विशेषता इसका प्रतिनिधित्व न हो सकना है, क्योंकि यह समूची जनता में सामूहिक रूप में निवास करती है, अतः कोई भी व्यक्ति इसका समूचे रूप में प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता।

(३) **असीम होना**—तीसरी विशेषता इसका असीम और अमर्यादित होना है। यह जनता की सामान्य इच्छा से पृथक् कुछ भी नहीं है, जनहित के सिवाय इसका अपना कोई हित नहीं है, अतः इस पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध की आवश्यकता नहीं है, जनता स्वयमेव अपने ऊपर कोई बन्धन नहीं लगाती है।

(४) **कानूनों का मूल स्रोत**—चौथी विशेषता इसका सब कानूनों का मूल स्रोत होना है, राज्य की सभी मौलिक विधियाँ और नियम इससे उत्पन्न होते हैं।

(५) **अविभाज्य होना**—पाँचवीं विशेषता इसका अविभाज्य होना है। समूची जनता में इसका निवास होने के कारण इसका विभाजन सम्भव नहीं है।

इस प्रकार रूसो ने जनता की असीम, अमर्यादित, अनन्यक्राम्य और अविभाज्य प्रभुसत्ता का प्रतिपादन किया।

रूसो और हॉब्स के प्रभुसत्ता के विचार की तुलना

रूसो की प्रभुसत्ता हॉब्स की प्रभुसत्ता की भाँति पूर्ण रूप से निरंकुश है। किन्तु दोनों में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि हॉब्स इस प्रभुसत्ता को राज्य का अध्यक्ष माने जाने वाले लेवियाथन (Leviathan) में—एक व्यक्ति में या अनेक व्यतियों के समूह में निहित मानता है, किन्तु रूसो इसें समूची जनता को प्रदान करता है। इस अन्तर को मूर्त रूप देने के लिए रूसो ने अपने ग्रन्थ **'सामाजिक समझौता'** के **प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ पर कटे सिर वाले लेवियाथन का चित्र दिया था**। हॉब्स ने जो निरंकुश सत्ता राजा को प्रदान की थी, वह रूसो ने प्रजा को प्रदान की। हॉब्स की भाँति रूसो भी यह मानता है कि प्रभुसत्ता रखने वाला व्यक्ति इसे किसी अन्य व्यक्ति को नहीं दे सकता है। रूसो ने राज्य के निरंकुश अधिकार का समर्थन करते हुए लिखा है कि प्रकृति जैसे प्रत्येक व्यक्ति को अपने शरीर के अंगों पर निरंकुश अधिकार देती है, वैसे ही सामाजिक अनुबन्ध इससे उत्पन्न होने वाले राजनीतिक संगठन (Body Politic) को अपने सब अंगों पर पूर्ण अधिकार प्रदान करता है; किन्तु हॉब्स के निरंकुश अधिकारों का आधार अराजकता से उत्पन्न भय की भावना है। यदि ऐसे अधिकार नहीं दिए जाएँगे, तो अराजकता का अन्त नहीं हो सकेगा। रूसो इसका आधार सहमति को मानता है। प्रजा शासक को पूर्ण अधिकार अपनी इच्छा से सामाजिक अनुबन्ध द्वारा इसलिए देती है कि इससे सब नागरिकों को लाभ पहुँच सके।

रूसो के प्रभुसत्ता के विचार पर लॉक का प्रभाव

रूसो लॉक की भाँति व्यक्ति के अधिकारों का भी प्रबल समर्थक है। वह इसकी सुरक्षा के लिए सर्वोच्च शासक (Sovereign) द्वारा शासन में कई बातों का पालन **आवश्यक समझता है—**

(क) उसे ऐसी कोई बात नहीं करनी चाहिए, जो समूचे समुदाय के लिए हितकर न हो।

(ख) उसे कानून के समक्ष सब व्यक्तियों की समानता को तथा न्याय के शासन को बनाए रखना चाहिए।

(ग) वह अपने प्रजाजनों पर कोई ऐसे बन्धन नहीं लगाएगा, जो समुदाय के लिए निरर्थक हों।

इसके साथ ही सामान्य इच्छा के लिए वह सबकी सहमति को आवश्यक मानता है। उसने यह विचार लॉक से ग्रहण किया है। इस प्रकार उसके प्रभुसत्ता के विचार में हॉब्स और लॉक के विचारों का समन्वय है। **अर्नेस्ट रीज़ ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि रूसो हॉब्स की निरंकुश प्रभुसत्ता के विचार को**, लॉक के जनता के सहमति के विचार से संयुक्त करके जनता की प्रभुसत्ता के दार्शनिक सिद्धान्त का निर्माण करता है।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अन्य अधिकार

यद्यपि व्यक्ति सामाजिक समझौता करते हुए अपने अधिकार एक सामूहिक संस्था को सौंप देता है, जो समझौता करने वाले सब व्यक्तियों का समुदाय मात्र है। अतः इससे उसकी स्वतन्त्रता पर लगाए गए प्रतिबन्ध वास्तविक नहीं होते हैं, इनसे उसकी स्वतन्त्रता को कोई क्षति नहीं पहुँचती, **क्योंकि कानून को हम स्वयं ही बनाते हैं, उसके पालन से हमारी स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता।** इसका पालन करते हुए हम अपनी इच्छा का ही पालन करते हैं।

रूसो के मतानुसार स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता या मनमाना कार्य करने की आज़ादी नहीं है। समाज सामान्य हित की दृष्टि से कुछ नियम बनाता है, इनका पालन व्यक्ति को अवश्य करना चाहिए। उदाहरणार्थ, सड़क पर बायीं ओर चलने का नियम इसलिए बनाया जाता है कि यातायात में सुव्यवस्था स्थापित हो और दुर्घटनाएँ न हों। सामाजिक हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि सब इसका पालन करें। इस नियम का पालन करते हुए व्यक्ति की स्वतन्त्रता खण्डित नहीं होती है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति स्वतन्त्रता की दुहाई देते हुए स्वच्छन्द आचरण करे और सड़क के बीच में या दायीं ओर गाड़ी चलाने लगे तो वह अपनी तथा दूसरों की जान खतरे में डालकर सामाजिक हित को तथा सामान्य इच्छा को हानि पहुँचाता है।

रूसो लॉक की भाँति स्वतन्त्रता, जीवन और सम्पत्ति के अधिकार मनुष्य के **प्राकृतिक अधिकार** (Natural rights) **नहीं, किन्तु राज्य द्वारा दिए जाने वाले नागरिक अधिकार** (Civil rights) **मानता है।** समानता का अधिकार भी इसी प्रकार का है। सामुदायिक और सामाजिक हित की दृष्टि से वह अपनी स्वतन्त्रता और अधिकारों का उस सीमा तक परित्याग कर देता है, जहाँ तक सर्वोच्च सत्ता इनको छोड़ना आवश्यक समझे।

राज्य और सरकार

रूसो ने राज्य और सरकार में स्पष्ट भेद किया है। उसके मतानुसार **राज्य तो** समूचा नागरिक समाज (Body Politic) है, **यह सर्वोच्च सामान्य इच्छा को अभि-**व्यक्त करता है। इस इच्छा को क्रियात्मक रूप देने के लिए समुदाय द्वारा चुने गए व्यक्ति सरकार का निर्माण करते हैं। हॉब्स यह मानता था कि सरकार का निर्माण सामाजिक समझौते या अनुबन्ध द्वारा होता है, किन्तु रूसो इसे जनता द्वारा बनाया हुआ समझता था। यह केवल जनता की इच्छा को पूरा करने का साधन थी। वह इसके कार्य से असन्तुष्ट होने पर इसे बदल सकती है। हॉब्स के मतानुसार इसे न तो बदला जा सकता था और न इसके विरुद्ध विद्रोह हो सकता था। कार्यपालिका (Executive) को जनता की सामान्य इच्छा की पूर्ति का साधन मानने के कारण रूसो अधिनायकवाद (Dictatorship) को बुरा नहीं समझता था। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के समय, सार्वजनिक सुरक्षा समिति ने इसी आधार पर फ्रांस का शासन किया था। रूसो सरकार का काम केवल शासन करना समझता था, कानून बनाने का कार्य सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न विधानसभा का था। यह सर्वोच्च होने के कारण सरकार से शासन के अधिकारों को छीन सकती थी।

शासन-प्रणाली विषयक विचार

रूसो ने चार प्रकार की शासन-प्रणालियाँ मानी हैं—

(१) राजतन्त्र (Monarchy)
(२) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)
(३) प्रजातन्त्र (Democracy)
(४) मिश्रित शासन (Mixed Government)

माँतेस्क्यू की भाँति उसका यह मत था कि भौगोलिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ किसी देश की शासन-प्रणाली पर गहरा प्रभाव डालती हैं। कृषि-प्रधान तथा औद्योगिक देशों की शासन-प्रणालियाँ सर्वथा भिन्न होंगी। शासन के विविध प्रकारों में उसका झुकाव यूनानी नगर-राज्यों के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy) की ओर था। वह प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का घोर विरोधी था, इसे वह राजनीतिक अधःपतन का परिणाम मानता था। उसका कहना था कि प्रतिनिधित्व का अर्थ है स्वतन्त्रता का हनन।

किसी भी शासन-प्रणाली की सफलता की कसौटी वह जनसंख्या की वृद्धि को समझता था। उसे यह अभीष्ट नहीं था कि सरकार अपने अधिकारों को बढ़ाए। इसे रोकने के लिए वह यह आवश्यक समझता है कि कुछ निश्चित अवधि के बाद जनता की लोकसभाएँ बुलाई जाएँ और वे निश्चित करें कि वर्तमान शासन-व्यवस्था में और अधिकारियों में परिवर्तन किया जाना उचित है या नहीं। जब जनता इस लोकसभा के रूप में एकत्र होती है तो शासन के सब अधिकार इसे मिल जाते हैं।

रूसो के इन सिद्धान्तों से योरोप में यह विचार उत्पन्न तथा प्रबल हुआ कि निश्चित अवधि पर संविधान की तथा सरकारी अधिकारियों के कार्यों की समीक्षा की जानी चाहिए।

रूसो के विचारों की आलोचना

रूसो का अत्यधिक प्रभाव होते हुए भी उसके आलोचकों की कमी नहीं है। उसकी विचारधारा के दोष निम्नलिखित हैं—

(१) **अस्पष्टता**—उसकी विचारधारा के बड़े दोषों में पहला दोष उसकी रचनाओं की असंगतियाँ, विरोध और अस्पष्टताएँ हैं। वह अपने सामाजिक समझौते का आरम्भ व्यक्ति पर पूर्ण प्रभुत्ता रखने वाली सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) तथा राज्य की समष्टिवादी (Collective) विचारधारा के साथ करता है। रूसो एक ओर तो राज्य का प्रबल पोषक है, दूसरी ओर व्यक्ति का उग्र समर्थक है। वह इन दोनों विरोधी आदर्शों को नहीं छोड़ सका। एक ओर वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन करता है, दूसरी ओर वह उसे राज्य का दास बनाता है। एक ओर वह सहिष्णुता की नीति का उपदेश देता है, दूसरी ओर अपने गणराज्य से नास्तिकों को निष्कासित करता है। इन असंगतियों के कारण **मार्ले ने उस पर यह टिप्पणी की** है कि उसे यद्यपि एक महान् विचारक कहा जाता है, किन्तु वह यह नहीं जानता था कि विचार किस प्रकार किया जाता है।

(२) **विज्ञान का विरोध**—उसका **दूसरा** दोष बुद्धिवाद, विज्ञान तथा कला का विरोध है। भावुकतावाद का घोर उपासक होने के कारण वह यह मानता है कि हमें अपने जीवन का संचालन भावनाओं (Emotions) के आधार पर करना चाहिए। बुद्धि भक्ति की भावना का, विज्ञान श्रद्धा का और तर्क अन्तर्दृष्टि का विनाश करने वाला है। इन विचारों का प्रतिपादन करने वाली तथा पुनः प्रकृति की ओर लौटने पर बल देने वाली अपनी पुस्तक जब रूसो ने वाल्तेयर के पास भेजी तो उसने इसकी आलोचना करते हुए कहा था कि **"रूसो में और दार्शनिक में उतना ही साम्य है, जितना बन्दर और आदमी में है।"**

(३) **स्वर्णयुग की कल्पना**—रूसो का **तीसरा** दोष उसके मानव-स्वभावविषयक और सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त सम्बन्धी विचार हैं। वह मानव-जाति के अतीत को स्वर्णिम युग के रूप में देखता है, प्रगति के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहता है कि मानव-समाज का ह्रास हो रहा है। वस्तुतः मानव-जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, अवनति का नहीं।

(४) **चौथा** दोष व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन है। यद्यपि वह अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सामाजिक समझौता' का आरम्भ व्यक्ति को उसे पराधीन बनाने वाली बेड़ियों से मुक्त कराने की आशा से करता है, किन्तु शीघ्र ही वह उसे सामान्य इच्छा का दास बना देता है।

(५) **पाँचवाँ** दोष लोकतन्त्र का विरोध तथा अधिनायकवाद का समर्थन है। यद्यपि रूसो लोकतन्त्र का पोषक, क्रान्तिकारी विचारक समझा जाता है, किन्तु वास्तव

में वह केवल छोटे नगर-राज्यों के लिए ही प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का समर्थन करता है। वर्तमान काल के बड़े राज्यों के सम्बन्ध में उसकी धारणा यह है कि इनमें लोकतन्त्र कभी सफल नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें जनता एकत्र नहीं हो सकती। बर्ट्रेण्ड रसेल के कथनानुसार इसका पहला फल रोबेस्पियर का आतंक-राज्य था और बोल्शेविक रूस तथा नाज़ी जर्मनी के अधिनायकवाद भी रूसो की शिक्षाओं का परिणाम है।

आलोचकों ने रूसो की निन्दा करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। वाल्तेयर ने उसे नीमहकीम, जंगली, हू-हू करने वाले उल्लू आदि के विशेषणों से अलंकृत किया है लार्ड मार्ले ने यह विचार प्रकट किया है कि "क्या यह संसार के लिए अधिक अच्छा होता कि रूसो का जन्म ही न हुआ होता।" सम्भवतः, यह समझा जाता है कि यदि वह जन्म न लेता तो फ्रेंच राज्यक्रान्ति का भीषण रक्तपात और नरमेध न हुआ होता।

रूसो का प्रभाव

उसके विचारों ने उसकी मृत्यु के ग्यारह वर्ष बाद होने वाली फ्रेंच राज्यक्रान्ति पर गहरा प्रभाव डाला। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के नेताओं—नैपोलियन, रोबेस्पियर पर रूसो की रचनाओं का गहरा प्रभाव था। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के मूल-मन्त्र 'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व' की दीक्षा देने वाला गुरु रूसो ही था। ग्रेट ब्रिटेन से १७७६ ई० में स्वतन्त्रता पाने वाले अमेरिकन राज्यों ने अपने नए संविधानों में रूसो के सिद्धान्तों का अनुकरण किया। जर्मनी में काण्ट, फिक्टे तथा हेगल के विचारों पर रूसो की रचनाओं की स्पष्ट छाप है।

रूसो के विलक्षण प्रभाव का प्रधान कारण यह था कि उसने बड़े ओजस्वी शब्दों में तत्कालीन दूषित शासन-पद्धति और सामाजिक व्यवस्था पर प्रबल आक्षेप किए थे, आर्थिक विषमता और शोषण के भीषण दुष्परिणामों का नग्न चित्रण उपस्थित करते हुए जनसाधारण के मानस में समाज की पुरानी व्यवस्था के प्रति उग्र असन्तोष और तीव्र विरोध की भावना उत्पन्न की। इसका भीषण विस्फोट फ्रेंच राज्यक्रान्ति के रूप में हुआ।

रूसो के प्रभाव की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें वर्तमान काल की सभी प्रमुख विचारधाराओं—समाजवाद, निरंकुशवाद तथा लोकतन्त्रवाद के बीज मिलते हैं। वह जर्मन और ब्रिटिश आदर्शवाद का अग्रदूत था। उसने जनता की प्रभुसत्ता के विचार को फ्रेंच राज्यक्रान्ति के माध्यम से आधुनिक काल का एक सबसे अधिक प्रभावशाली विचार बनाया। रूसो दार्शनिक अराजकवाद (Philosophical Anarchism), समाजवाद, हेगलवाद, संघवाद, सिण्डिकेलिज्म आदि अनेक विचारधाराओं का प्रेरणास्रोत है। अर्नेस्ट रीज़ ने उसे मध्ययुग के परम्परागत सिद्धान्तों के साथ राज्य के आधुनिक दर्शन को सम्बद्ध करने वाला बताया है।

रूसो का मूल्यांकन

रूसो की उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद, राजनीतिक विचारों के इतिहास में उसका नाम उसकी महत्वपूर्ण देनों और विचारों के लिए अमर है। उसने लोकतन्त्र,

समानता तथा स्वतन्त्रता के विचारों का शंखनाद किया। उसने किसी भी पहले विचारक की अपेक्षा इस पर बहुत बल दिया कि जनता ही सारी राजनीतिक सत्ता का मूल स्रोत है, प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छा में निहित है, सरकार सर्वोच्च सत्ता रखने वाली जनता की सेवक मात्र है, उत्तम शासन तथा कानून की कसौटी जनता के हित का सम्पादन करना है।

रूसो के इन विचारों ने फ्रेंच राज्यक्रान्ति को प्रभावित किया। फ्रेंच राज्यक्रान्ति की सफलता के साथ लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के विचारों का प्रसार योरोप के सभी देशों में हुआ। इससे आधुनिक जगत् के राजनीतिक विचारों का निर्माण हुआ।

फ्रेंच दार्शनिक बर्गसों (Bergson) के मतानुसार देकार्त (Descartes) के बाद मानव-मन पर सबसे अधिक प्रबल प्रभाव रूसो का पड़ा है। उसने अपनी मौलिक प्रतिभा की छाप राजनीति, साहित्य, शिक्षा, धर्म आदि के विभिन्न क्षेत्रों में छोड़ी है। डनिंग ने उसे राष्ट्रीय राज्य (National State) **के सिद्धान्त का पोषक माना है। कोल (Cole) का यह मत है कि उसका 'सामाजिक समझौता' राजनीतिशास्त्र की सर्वोत्तम पाठ्य-पुस्तक है, रूसो का महत्व न केवल वर्तमान काल के लिए है, अपितु सभी कालों के लिए है।**[1]

इस प्रसंग में रूसो, हॉब्स तथा लॉक की पारस्परिक तुलना इनके विचारों को अच्छी तरह समझने के लिए आवश्यक है।

हॉब्स तथा रूसो की तुलना—हॉब्स तथा रूसो, दोनों अनुबन्धवादी या संविदावादी (Contractualist) विचारक थे। वे राज्य की उत्पत्ति तथा निर्माण का मूल कारण एक समझौते या संविदा (Contract) को समझते थे। फिर भी मनुष्य के स्वभाव, प्राकृतिक दशा (State of nautre), प्राकृतिक नियम (Natural law) आदि के सम्बन्ध में उनके विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर था। यह बात विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में इनके विचारों की निम्नलिखित तुलना से स्पष्ट हो जाएगी।

हॉब्स	रूसो
(१) **मनुष्य का स्वभाव**—स्वार्थी, क्रूर, दुष्ट, हिंसक, भय, शक्ति तथा कीर्ति की भावना से प्रेरित होने वाला और पाशविक एवं बुरी प्रवृत्तियों की प्रधानता रखने वाला है।	(१) आरम्भ में यह स्वाभाविक रूप से अच्छा, दैवी प्रवृत्तियों वाला तथा उदार भावना रखने वाला है।
(२) **प्राकृतिक दशा**—यह सतत संघर्ष, युद्ध और विषमता की दशा है। इसमें किसी व्यक्ति का जीवन सुरक्षित नहीं	(२) यह परम आनन्द और सुख की दशा है, इसमें मनुष्य आदिम स्वर्ण युग की स्वर्गीय दशा में बड़े सन्तोष और

1. "Social Contract is by far the best of all text books of political philosophy...Rousseau's political influence will be for all time."
—Cole.

हैं। इसमें नैतिकता का सर्वथा अभाव है। सब मनुष्य अपने लिए हिंसा और हत्या को ठीक समझते हैं।

आनन्द के साथ रहता था। वैयक्तिक सम्पत्ति न होने से विषमता का अभाव था। बाद में वैयक्तिक सम्पत्ति से ईर्ष्या, द्वेष, झगड़े तथा सभ्यता की अन्य बुराइयाँ हुईं।

(३) **प्राकृतिक नियम** (Natural Law)—आरम्भिक प्राकृतिक दशा में राजकीय कानूनों का अभाव था। प्राकृतिक नियमों से ही मनुष्यों के आपसी व्यवहार का नियन्त्रण होता था। प्राकृतिक नियम जीवन के संरक्षण के लिए बुद्धि का आदेश थे। इनका आधार मनुष्य की बुद्धि थी।

(३) प्राकृतिक नियम का आधार बुद्धि नहीं थी, किन्तु मनुष्य की सहज भावना (Instinct) से तथा अनुभूति से पैदा होने वाली सामाजिकता थी।

(४) **प्राकृतिक अधिकार** (Natural right)—ये व्यक्ति की शक्ति और बल पर निर्भर हैं। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम सर्वमान्य है।

(४) प्राकृतिक दशा में मनुष्य को सब प्रकार के प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे और वह इच्छानुसार इनका उपभोग कर सकता था।

(५) **सामाजिक समझौते** (Social Contract) **की आवश्यकता**—प्राकृतिक दशा में सतत संघर्ष से उत्पन्न अराजकता को दूर करने के लिए सामाजिक समझौते की आवश्यकता होती है।

(५) वैयक्तिक सम्पत्ति के निर्माण से पैदा हुई सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए सामाजिक समझौता किया गया।

(६) **सामाजिक समझौते का स्वरूप**—इसमें व्यक्ति आत्मरक्षा के अतिरिक्त सभी अधिकार एक सर्वोच्च प्रभु को सौंप देता है। यह समझौता केवल प्रजा के लिए है। राजा की सत्ता सर्वथा निरंकुश होती है।

(६) यह समझौता दो प्रकार से व्यक्तियों की वैयक्तिक तथा सामूहिक दशा में किए समझौते से होता है।

(७) **प्रभुसत्ता** (Sovereignty) अमर्यादित (unlimited), असीम, अविभाज्य (indivisible), अनन्यक्राम्य (inalienable) या दूसरे को न दी जा सकने वाली, कानून से ऊपर उठी हुई, कानून, न्याय तथा सम्पत्ति का स्रोत एवं राज्य और चर्च से ऊपर है। प्रजा को इसके विरुद्ध विद्रोह या क्रान्ति करने का अधिकार नहीं है।

(७) जनता सामूहिक रूप में सर्वोच्च प्रभु (Supreme Sovereign) है, सर्वोच्च सत्ता जनता की इच्छा में निहित है। इसकी विशेषताएँ एकता, अविभाज्यता, अनन्यक्राम्यता और प्रतिनिधित्व के योग्य न होना (unrepresentability) हैं।

(८) **स्वतन्त्रता**—प्राकृतिक दशा में स्वतन्त्रता (liberty) और स्वच्छन्दता

(८) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की ओर से व्यक्ति**

(licence) में कोई भेद न था। राज्य की स्थापना के बाद उसने प्रजा को स्वतन्त्रता का अधिकार उपहार के रूप में दिया है; वह इसे अपनी इच्छा से छीन सकता है।

को दी जाने वाली भेंट है।

(६) **व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध : राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार**—व्यक्ति को सब अधिकार शान्ति, व्यवस्था और सुशासन राज्य से प्राप्त होता है, अतः उसका प्रधान कर्त्तव्य राज्य के सब आदेशों का आँख मूँदकर पालन करना है। राज्य उसके सब अधिकारों को छीन सकता है; किन्तु उसे प्राण-रक्षा या गृहयुद्ध के अतिरिक्त किसी भी दशा में राज्य के विरुद्ध विद्रोह या क्रान्ति करने का अधिकार नहीं है।

(६) राज्य से बाहर व्यक्ति का कोई स्थान नहीं है। उसे समानता, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार राज्य से मिलते हैं। राज्य के अधीन होता हुआ भी व्यक्ति स्वाधीन और स्वतन्त्र है, क्योंकि राज्य द्वारा उसपर लगाए गए बन्धन उसने स्वयमेव सामान्य हित की दृष्टि व अपनी वास्तविक इच्छा से लगाए हैं, उसकी यह इच्छा सर्वोच्च प्रभुत्व रखने वाली सामान्य इच्छा (Sovereign General Will) का अंग है; अतः स्वयमेव अपने पर लगे ये बन्धन व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विरोधी नहीं हैं। सामान्य इच्छा सर्वोच्च प्रभु है, वह जब चाहे सामान्य हित की दृष्टि से क्रान्ति कर सकती है। सामान्य इच्छा को रखने वाली जनता को क्रान्ति करने का अधिकार है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि **हॉब्स और रूसो दोनों निरंकुशतावादी** (Absolutist) हैं। रूसो तथा हॉब्स दोनों प्रभुसत्ता को असीम, निरंकुश, अविभाज्य और अदेय मानते हैं; किन्तु हॉब्स की विचारधारा के अनुसार जनता द्वारा ऐसे निरंकुश, सर्वोच्च प्रभु का निर्माण किया जाता है कि इसको बनाने के बाद जनता के पास अपना कोई अधिकार नहीं रहता है, उसका एकमात्र कर्त्तव्य उसके आदेशों का पालन करना है, उसे उसके विरुद्ध क्रान्ति या विद्रोह का कोई अधिकार नहीं है। इसके सर्वथा विपरीत रूसो के मतानुसार प्रभुसत्ता रखने वाली सामान्य इच्छा का निर्माण समाज के सभी सदस्यों के सामूहिक हित का ध्यान रखने वाली इच्छाओं के योग से होता है, अतः राज्य में सारे समाज की सामान्य इच्छा निरंकुश, असीम और अविभाज्य है। रूसो की सामान्य इच्छा का विचार प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की व्यवस्था में ही सम्भव है, क्योंकि उसकी यह धारणा लॉक के प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र (Representative Democracy) के विचार से भिन्न है। लॉक प्रजा के प्रतिनिधियों से बनी सरकार को सब अधिकार देता है, किन्तु रूसो सरकार या कार्यपालिका को पूरे समाज की इच्छा के अनुसार कार्य करने वाला मानता है। इसलिए यह कहा जाता है कि **रूसो हॉब्स की भाँति निरंकुशतावादी और लॉक की अपेक्षा अधिक लोकतन्त्रवादी है।**

हॉब्स तथा रूसो के साथ लॉक की तुलना एक अन्य दृष्टि से भी रोचक है।

हॉब्स राज्य को सर्वोच्च मानता है । वह राज्य (State) तथा शासन (Government) में कोई भेद नहीं करता, उसके अनुसार समझौते द्वारा बनाए गए राज्य को व्यक्ति अपने समस्त अधिकार प्रदान कर देते हैं और इसके बाद व्यक्तियों को अपने अधिकारों के लिए शासन के विरुद्ध विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं है, किन्तु लॉक की व्यवस्था में व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकारों का समर्पण पूर्णतया नहीं करते हैं। उनके स्वतन्त्र जीवन और सम्पत्ति के अधिकार उनके पास बने रहते हैं और प्रजा इन अधिकारों की प्राप्ति के लिए विद्रोह या क्रान्ति नहीं कर सकती है। **इस प्रकार जहाँ हॉब्स एक ओर पूर्ण प्रभुसत्ता रखने वाले राज्य की कल्पना करता है, वहाँ लॉक पूर्ण प्रभुसत्ता रखने वाले व्यक्ति की कल्पना करता है । रूसो की विचारधारा इन दोनों के बीच का रास्ता अपनाती है और हॉब्स के पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य तथा लॉक के पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न व्यक्ति की धारणाओं के मध्य सामंजस्य स्थापित करती है ।** रूसो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन करता है, किन्तु वह इसे उसका प्राकृतिक अधिकार नहीं मानता है। अधिकारों का निर्माण राज्य की प्रभुशक्ति द्वारा किया जाता है और इसमें प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा शामिल होती है, अतः उसके आदेशों का पालन करते हुए व्यक्ति अपने अधिकार और स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। अतः इस युक्ति में सत्य प्रतीत होता है **कि रूसो की राजनीतिक विचारधारा हॉब्स के निरंकुशतावाद तथा लॉक के वैधानिकतावाद के मध्य एक समझौता है ।**

हॉब्स और लॉक की तुलना—इन दोनों विचारकों में कई सादृश्य और गम्भीर मतभेद हैं। दोनों की पहली समानता यह है कि ये संविदावादी विचारक हैं और सामाजिक समझौते (Social Contract) के सिद्धान्तों में विश्वास रखते हैं। दोनों अपने राजनीतिक दर्शन का आरम्भ प्राकृतिक दशा (State of Nature) से करते हैं और इसकी समाप्ति सामाजिक समझौते से करते हैं। दूसरी समानता यह है कि दोनों राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के हितों की सुरक्षा मानते हैं। किन्तु वे इस विषय में मौलिक मतभेद रखते हैं कि इस उद्देश्य की पूर्ति सर्वोत्तम रीति से किस प्रकार हो सकती है, क्योंकि मानवीय प्रकृति के सम्बन्ध में दोनों के मत सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं। दोनों विचारकों के महत्वपूर्ण मतभेद निम्नलिखित प्रकार के हैं—

(१) **मानव-स्वभाव**—दोनों का **पहला मतभेद** मानवीय प्रकृति के सम्बन्ध में है। हॉब्स मनुष्य में केवल बुरी और पाशविक प्रवृत्तियाँ—हिंसा, क्रूरता, निर्दयता, स्वार्थ और लोलुपता को ही देखता है। किन्तु लॉक उसे अच्छी एवं मानवीय प्रवृत्तियों—प्रेम, दयालुता, सहिष्णुता, सहयोग आदि की उदात्त भावनाओं से युक्त मानता है।

(२) **आदिम दशा—दूसरा मतभेद** मानव-समाज की आदिम अथवा प्राकृतिक दशा के सम्बन्ध में है। हॉब्स के मतानुसार यह निरन्तर चलने वाली लड़ाई और संघर्ष की दशा है। इसके सर्वथा विपरीत लॉक इसे शान्ति, सौहार्द और पारस्परिक सहयोग की अवस्था मानता है।

(३) **समझौते का स्वरूप—तीसरा भेद** सामाजिक समझौते के स्वरूप का है। हॉब्स के समझौते में सब व्यक्ति अपने सम्पूर्ण अधिकार लेवियाथन या राज्य को सौंप देते हैं। अतः उसकी राजसत्ता पूर्णरूप से निरंकुश और सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न होती है,

किन्तु लॉक के समझौते में व्यक्ति अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों को अर्पित नहीं करता है, प्रत्येक व्यक्ति समाज के साथ समझौता करते हुए यह शर्त लगा देता है कि उसके मौलिक अधिकारों का अपहरण किसी भी दशा में नहीं हो सकता है। अतः लॉक का समझौता हॉब्स की निरंकुश (absolute) राजसत्ता के स्थान पर मर्यादित (limited) अधिकारों वाली शासन-सत्ता की स्थापना करता है।

(४) **प्रभुसत्ता—चौथा भेद** यह है कि हॉब्स की सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty) अनन्यक्राम्य (inalienable) या अदेय है, वह कभी किसी दूसरे को नहीं दी जा सकती। जब एक बार लेवियाथन को यह सत्ता मिल गई तो कोई उससे इसे छीन नहीं सकता है, किन्तु लॉक के मतानुसार वास्तविक शक्ति सदैव जनता में निहित रहती है, वह कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही इसे शासक को प्रदान करती है।

(५) **विद्रोह का अधिकार—पाँचवाँ भेद** यह है कि हॉब्स के मतानुसार प्रजा को राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं है, किन्तु लॉक बहुसंख्यक प्रजा को राजसत्ता के विरुद्ध क्रान्ति या विद्रोह करने का अधिकार प्रदान करता है।

राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में रूसो का प्रभाव तथा महत्व

रूसो ने राजनीतिक चिन्तन के विभिन्न क्षेत्रों तथा परस्पर विरोधी विचार-धाराओं पर इतना गहरा प्रभाव डाला है, इस कारण उसको असाधारण गौरव प्राप्त हुआ है। प्रधान रूप से उसका प्रभाव निम्नलिखित क्षेत्रों में पड़ा है—

(१) **फ्रांस की राज्यक्रान्ति पर प्रभाव**—नेपोलियन कहा करता था कि यदि रूसो न होता तो फ्रेंच राज्यक्रान्ति न हुई होती। रोब्सेपियर ने उसे फ्रेंच राज्यक्रान्ति का देवता घोषित किया था। इस क्रान्ति के नेताओं पर रूसो की रचनाओं का गहरा प्रभाव था। १७८९ ई० के मानवीय अधिकारों के घोषणापत्र में रूसो का अनुसरण करते हुए कहा गया था—"मनुष्य स्वतन्त्र रूप में पैदा होते हैं और वे स्वतन्त्र तथा अधिकारों में समान बने रहते हैं।" (धारा १) "कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है।" (धारा ६) फ्रेंच राज्यक्रान्ति के मूल मन्त्र स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव की दीक्षा देने वाला गुरु रूसो ही था।

(२) **अमरीकी क्रान्ति पर प्रभाव**—ग्रेट ब्रिटेन से १७७६ ई० में स्वतन्त्रता पाने वाले अमरीकन राज्यों ने अपने नए संविधानों में रूसो के सिद्धान्तों का अनुसरण किया। जेफरसन ने उसके विचारों को नई दुनिया में बड़ा लोकप्रिय बनाया। जर्मनी में काण्ट, फिक्टे (Fichte) तथा हेगल के विचारों पर रूसो की रचनाओं की स्पष्ट छाप है।

रूसो के विलक्षण प्रभाव का प्रधान कारण यह था कि उसने सभ्य जगत् की सर्व-मान्य फ्रेंच भाषा में बड़े ओजस्वी शब्दों में तत्कालीन दूषित शासन-पद्धति और सामाजिक व्यवस्था पर प्रबल आक्षेप किए थे, आर्थिक विषमता और शोषण के भीषण दुष्परिणामों का नग्नचित्र उपस्थित करते हुए जनसाधारण के मानस में समाज की पुरानी व्यवस्था के प्रति असन्तोष और तीव्र विरोध की भावना उत्पन्न की। इसका भीषण विस्फोट फ्रेंच राज्यक्रान्ति के रूप में हुआ।

(३) **समाजवाद का जन्मदाता**—रूसो के प्रभाव की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें वर्तमान काल की सभी प्रमुख विचारधाराओं—समाजवाद (Socialism), निरंकुशवाद (Absolutism) तथा लोकतन्त्रवाद के बीज मिलते हैं। समाजवाद के विषय में उसके विचार 'विषमता के उद्गम' (Discourses on origin of Inequality) के निवन्ध मिलते हैं। इसमें उसने वैयक्तिक सम्पत्ति पर प्रबल आक्रमण करते हुए आर्थिक विषमताओं के उन्मूलन पर बल दिया है। उसने **कोर्सिका के संविधान की योजना** (Plan for a Constitution of Corsica) में यहाँ तक कहा है कि राज्य को ही समूची सम्पत्ति का स्वामी होना चाहिए। किन्तु उपर्युक्त निबन्ध में वह सम्पत्ति को पवित्र अधिकार मानता है। सैबाइन के मतानुसार वह पक्का कम्यूनिस्ट नहीं था। उससे पहले मेसलियर (Meslier) ने तथा उसके बाद मैवली और मौरेली (Morelly) ने भूमि तथा उसकी पैदावार को सामूहिक सम्पत्ति वनाने की योजनाएँ रखी थीं। रूसो की योजना भी इसी प्रकार की थी। कल्पनावादी समाजवाद (Utopian Socialism) में उसकी बड़ी देन यह **सामान्य विचार है कि सम्पत्ति आदि सभी अधिकार मनुष्य को समाज या समुदाय से प्राप्त होते हैं, वह इनका प्रयोग सामुदायिक हित के विरुद्ध नहीं कर सकता है।**[1]

समाजवाद का एक प्रधान विचार यह है कि समाज व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है, समाज के हितों को व्यक्ति के हितों की अपेक्षा प्राथमिकता दी जानी चाहिए, व्यक्ति को अपना कल्याण और भलाई समाज के हित में ही समझनी चाहिए। समाजवाद समूचे समाज के हित की दृष्टि से राज्य के कार्यों के क्षेत्र में वृद्धि करने का समर्थक है। रूसो की सामान्य इच्छा भी व्यक्ति के हित की अपेक्षा समाज के हित को सम्पन्न करने पर अधिक बल देती है। इस प्रकार रूसो के ग्रन्थों में वर्तमान समाजवाद के कुछ विचार पाए जाते हैं।

(४) **निरंकुशवाद का समर्थक--आदर्शवाद का अग्रदूत**—रूसो की विचारधारा में निरंकुशवाद के भी कुछ तत्व मिलते हैं। उसने निरंकुशवाद की विचारधारा का समर्थन करते हुए कहा है कि जनता की सामान्य इच्छा सदैव ठीक होती है, प्रत्येक व्यक्ति को इस का आदेश शिरोधार्य करने के लिए बाधित किया जाना चाहिए, उसकी स्वतन्त्रता इसकी दासता करने से ही सुरक्षित रह सकती है। राज्य में कोई पार्टी, चर्च, धार्मिक, आर्थिक या श्रमिक संगठन नहीं होना चाहिए। जर्मन दार्शनिक हेगल को प्रशिया के निरंकुश राज्य का समर्थन करने की प्रेरणा रूसो से मिली थी। वह जर्मन और ब्रिटिश आदर्शवाद (Idealism) का अग्रदूत है।

(५) **लोकतन्त्र का समर्थन**—लोकतन्त्र पर उसका स्पष्ट प्रभाव है। उसने जनता की प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) के विचार को फ्रेंच राज्यक्रान्ति के माध्यम से आधुनिक काल का एक सबसे प्रभावशाली विचार बनाया। लिंकन ने प्रजातन्त्र का लक्षण करते हुए कहा है कि "यह ऐसी शासन-पद्धति है जिसमें जनता का, जनता द्वारा तथा जनता के लिए शासन होता है।" रूसो ने अपने ग्रन्थों में ऐसी पद्धति का प्रबल पोषण और समर्थन

1. सैबाइन—ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० ४६१–६२

किया है। उसके मतानुसार सर्वोच्च शक्ति जनता में निहित रहती है, सामान्य इच्छा जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति है और यह इच्छा सदैव जनता के सामान्य हित के पोषण और वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहती है। रूसो प्रत्यक्ष जनतन्त्र (Direct Democracy) का समर्थक है। लोकतन्त्र में व्यक्ति के अधिकारों को विशेष महत्व दिया जाता है। रूसो व्यक्तियों को न केवल सामूहिक रूप से, अपितु वैयक्तिक रूप से सर्वोच्च प्रभुसत्तासम्पन्न समझता है। रूसो के सामाजिक अनुबन्ध से व्यक्तियों को स्वतन्त्रता और समानता के वे महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं, जो लोकतन्त्र का आवश्यक तत्व समझे जाते हैं। उसके मतानुसार व्यक्ति स्वतन्त्र रहने के लिए बाधित किया जाता है और उसे यह स्वतन्त्रता उसकी भलाई एवं हित का सम्पादन करने के लिए दी जाती है। उसकी स्वतन्त्रता पर लगाए गए कानूनी बन्धन वस्तुतः बन्धन नहीं हैं, क्योंकि कानून सामान्य इच्छा द्वारा बनाया जाता है और सामान्य इच्छा में उसकी अपनी इच्छा भी सम्मिलित होती है। अतः उसकी स्वतन्त्रता पर जब कोई प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं तो वे उसकी अपनी इच्छा से प्रादुर्भूत होने के कारण प्रतिबन्ध नहीं रहते हैं और उसकी स्वतन्त्रता में बाधक नहीं बनते हैं। रूसो की व्यवस्था में व्यक्तियों को समानता का अधिकार भी प्राप्त होता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के समान सर्वोच्च अधिकार और कर्त्तव्य रखता है। लोकतन्त्र का एक महत्वपूर्ण तत्व शासन के कार्य में जनता की सहमति और सहयोग तथा भाग लेना है। रूसो सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा शासन में जनता के सहयोग और भाग लेने पर बहुत बल देता है। इस तरह वह लोकतन्त्र के सभी आधारभूत तत्वों और मौलिक विचारों का प्रबल पोषक है।

इस प्रकार रूसो की विचारधारा में समाजवाद, निरंकुशवाद और लोकतन्त्र की विचारधाराओं के कुछ महत्वपूर्ण अंश मिलते हैं। उसके ग्रन्थों में इन सबका विलक्षण सम्मिश्रण हुआ है।

लोकतन्त्र तथा निरंकुशवाद की विचारधाराएँ सर्वथा विरोधी और प्रतिकूल हैं। एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बल देती है, दूसरी इसे कोई महत्व नहीं देती। एक व्यक्ति को तथा दूसरी समाज को महत्वपूर्ण मानती है। रूसो ने दोनों का समर्थन किया है। अतः उसके विचारों में बड़ा विरोध है और यह कहा जाता है कि उसके ग्रन्थ गड़बड़ी पैदा करने वाले विचारों की बढ़िया खिचड़ी (Medley of magnificient Confusions) हैं। यही कारण है कि जहाँ एक ओर उसके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त ने १७७६ की अमेरिकन राज्यक्रान्ति का तथा १७८९ की फ्रेंच राज्यक्रान्ति का समर्थन करके प्रजातन्त्र को पुष्ट किया, वहाँ दूसरी ओर उसने राज्य की निरंकुशता के समर्थक आदर्शवादी विचारकों—काण्ट तथा हेगल और ग्रीन को भी प्रेरणा प्रदान की है। अर्नेस्ट रीज़ के शब्दों में वह जर्मन तथा ब्रिटिश आदर्शवाद का अग्रदूत है।

इंगलैण्ड में रूसो के विचारों को इसलिए भी महत्व मिला कि ये बेन्थम द्वारा प्रतिपादित 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' के सिद्धान्त से बहुत मेल खाते थे। जिस प्रकार इस सिद्धान्त में साधारण ज़नता के सामान्य हितों के पोषण एवं वृद्धि पर बल दिया गया था, उसी प्रकार रूसो की सामान्य इच्छा भी अधिकांश जनता के

कल्याण पर बल देती थी। ब्रिटिश लेखक गाडविन (Godwin) की पुस्तक 'राजनीतिक न्याय' प्रधान रूप से रूसो की पुस्तक 'विषमता के उद्गम' (Discourses on Origin of Inequality) पर आधारित है।

रूसो का एक बड़ा प्रभाव यह भी था कि उसने तर्क एवं युक्ति पर बल देने वाले **बुद्धि के युग** (Age of Reason) को समाप्त करके उसके स्थान पर भावना पर अत्यधिक बल देने वाले **रोमांचवाद के युग** (Age of Romanticisn) का आरम्भ किया। उससे पहले तर्क एवं बुद्धि को बहुत महत्व दिया जाता था, रूसो ने इनके स्थान पर भावना को महत्व दिया। रूसो की रचनाओं के विशाल और व्यापक प्रभाव का एक मनोरंजक प्रमाण यह भी है कि इसके बाद विभिन्न प्रकार की विचार-धाराएँ रखने वाले लेखक, विचारक और दार्शनिक अपने मन्तव्यों की पुष्टि रूसो के ग्रन्थों के उद्धरणों से करते हैं। व्यक्तिवादी और समष्टिवादी (Collectivists), एकत्ववादी (Monists) और बहुत्ववादी (Pluralists) रूसो के ग्रन्थों में शरण ढूँढ़ते हैं; वह दार्शनिक अराजकतावाद, समाजवाद, हेगलवाद, संघवाद, सिण्डिकेलिज्म आदि अनेक विचारों का प्रेरणा-स्रोत है। अर्नेस्ट रीज ने उसे मध्ययुग के परम्परागत सिद्धान्त तथा राज्य के आधुनिक दर्शन को सम्बद्ध करने वाला बताया है। **वेपर** ने उसके प्रभाव और महत्व की सुन्दर विवेचना करते हुए कहा है कि "उसने राजनीति-शास्त्र, शिक्षा और साहित्य पर अपनी प्रबल और मौलिक प्रतिभा की छाप अंकित की और लैन्सन के इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि वह वर्तमान युग की ओर ले जाने वाले सभी मार्गों पर खड़ा हुआ है।"[1]

सारांश

फ्रेंच राज्यक्रान्ति को जन्म देने वाले विचारों के प्रचारक रूसो का राजनीतिक चिन्तन पर सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ **सामाजिक समझौता** १७६२ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं—

(१) **मानव-स्वभाव**—रूसो मनुष्य को स्वभाव से अच्छा, सुखी, सीधा, चिन्ता-रहित, शान्तिप्रेमी, स्वावलम्बी, निष्पाप, निर्दोष, सहज भावनाओं से काम करने वाला व्यक्ति मानता है। उसमें आत्मसंरक्षण और सहानुभूति की दो प्रधान भावनाएँ थीं। वह स्वर्णयुग की उस स्वर्गीय दशा में रहता था जिसमें ममत्व की और मेरे-तेरे की भावना नहीं थी। उसका यह विचार हॉब्स के इस विचार से सर्वथा प्रतिकूल है कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी, दुष्ट, हिंसक और क्रूर है।

(२) **प्राकृतिक दशा**—मनुष्य की आदिम स्वर्णिम दशा देर तक नहीं रही, क्योंकि इसमें सम्पत्ति रूपी साँप ने प्रवेश किया। मनुष्यों में परिवार और वैयक्तिक सम्पत्ति बनाने की इच्छा प्रबल हुई। इससे समाज में आर्थिक विषमता, गरीबी, शोषण बढ़ने लगा और समाज में गरीबों पर अमीरों के अत्याचार, जनता के दुःख और कष्ट बढ़

1. "He left the stamp of his strong and original genius on politics, education, literature and it is hardly an exaggeration to say with Lanson that he is to be found at the entrance to all the paths leading to the present."—**Wayper, *Political Theory*, p. 136.**

गए। इसे दूर करने के लिए मनुष्यों ने सामाजिक समझौता या अनुवन्ध किया।

(३) **सामाजिक समझौता**—इसमें व्यक्ति अपने विभिन्न व्यक्तित्वों को पूर्णरूप से समाज में निमज्जित करके एक नैतिक संस्था का निर्माण करते हैं। यह राज्य का रूप धारण करती है और निरन्तर जारी रहने वाली प्रक्रिया है। इसमें व्यक्ति की शक्तियों का विकास होता है और उसमें न्याय एवं कर्त्तव्य की भावना उत्पन्न होती है।

(४) **सामान्य इच्छा का सिद्धान्त**—जव व्यक्ति समझौते द्वारा समुदाय के लिए अपने अधिकारों का परित्याग करते हैं तो इसके साथ ही उनकी वैयक्तिक इच्छा का स्थान एक सामान्य इच्छा ले लेती है। यह समाज के विभिन्न व्यक्तियों की सामाजिक इच्छाओं का सर्वयोग है। यह समाज के सामान्य हित को ध्यान में रखती है। सामान्य इच्छा की कई विशेषताएँ हैं। यह प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्त नहीं की जा सकती है। प्रभुसत्ता इसमें निहित होती है और इसे प्रभुसत्ता से अलग नहीं किया जा सकता है। यह न्यायोचित, सर्वोच्च और निरंकुश होती है।

(५) **प्रभुसत्ता**—प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छा में निहित होती है। इसकी कई विशेषताएँ हैं। यह जनता में रहती है और उससे कभी अलग नहीं हो सकती है। यह सव कानूनों का मूल स्रोत है तथा अविभाज्य है। रूसो की प्रभुसत्ता हॉब्स की प्रभुसत्ता की भाँति पूर्णरूप से निरंकुश है, किन्तु दोनों में महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि हॉब्स ने इस प्रभुसत्ता को राज्य का अध्यक्ष माने जाने वाले लेवियाथन में निहित माना था और रूसो इसे समूची जनता को प्रदान करता है।

(६) **व्यक्ति की स्वतन्त्रता**—व्यक्ति सामाजिक समझौता करते हुए अपने अधिकार एक सामूहिक संस्था को सौंप देते हैं। इससे उनकी स्वतन्त्रता पर लगाए गए प्रतिवन्ध वास्तविक नहीं होते हैं, क्योंकि कानून को हम स्वयं ही बनाते हैं। उसके पालन से हमारी स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता है। उसका पालन करते हुए हम अपनी इच्छा का ही पालन करते हैं।

(७) रूसो चार प्रकार की शासन-प्रणालियाँ मानता है—

(i) राजतन्त्र, (ii) कुलीनतन्त्र, (iii) प्रजातन्त्र और (iv) मिश्रित शासन। वह प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy) का समर्थक और प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का घोर विरोधी था। उसने इस बात पर बल दिया कि निश्चित अवधि पर संविधान की तथा सरकारी अधिकारियों के कार्यों की समीक्षा की जानी चाहिए।

(८) रूसो की विचारधारा के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(i) उसकी रचनाओं में असंगतियाँ, विरोध और अस्पष्टता है।

(ii) वह बुद्धिवाद, विज्ञान तथा कला का विरोधी है।

(iii) उसके मानव-स्वभाव और सामाजिक अनुबन्धविषयक सिद्धान्त दोषपूर्ण हैं।

(iv) वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विरोधी है।

(v) अधिनायकवाद का समर्थक है।

प्रश्न

(१) रूसो के मानव-स्वभाव और प्राकृतिक दशा विषयक विचारों का विवेचन कीजिए तथा इनकी हॉब्स और लॉक के विचारों से तुलना कीजिए।

(२) रूसो के सामाजिक समझौते का स्वरूप क्या है? इसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

(३) रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को समझाइए। (राजस्थान, १९७७, ७८)

(४) रूसो की प्रभुसत्ता के विचार का विवेचन कीजिए और इसकी तुलना हॉब्स और लॉक के विचारों से कीजिए।

(५) रूसो के राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों के सिद्धान्त की परीक्षा कीजिए। (राजस्थान, १९७९)

(६) रूसो के विचारों की आलोचना कीजिए।

(७) रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए। (गोरखपुर, १९७८)

चौथा अध्याय

मॉतेस्क्यू [१६८९–१७५५ ई०]

माँतेस्क्यू की पद्धति तथा अरस्तू से तुलना—१८वीं शताब्दी के सबसे बड़े राजनीतिक विचारक माँतेस्क्यू[1] ने **चौथी शताब्दी ई० पू० के सुप्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू की पद्धति का अनुसरण किया है,** अतः फ्रांस के इस दार्शनिक को **'अठारहवीं शताब्दी का अरस्तू'** कहा जाता है। डनिंग के शब्दों में, "राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए माँतेस्क्यू की पद्धति अरस्तू की है, प्लेटो, बोदैं, हॉब्स या लॉक की नहीं है। अपने समय के सब विचारकों की भाँति वह अपने न्याय के विचार की कसौटी के लिए प्रकृति की ओर देखता है। किन्तु उसकी प्रकृति की शिक्षाएँ (नियम) विशुद्ध तर्क की अमूर्त कल्पनाओं पर आधारित नहीं हैं, अपितु, ये वर्तमान और अतीत जीवन के ठोस तथ्यों पर अवलम्बित हैं।"

उसने सामाजिक घटनाओं की तथा इन्हें संचालित करने वाले नियमों की खोज इतिहास के निरीक्षण और पर्यवेक्षण के आधार पर की है। उसके राजनीतिक दर्शन की सामान्य पद्धति का निर्माण करने वाले मूल तत्व दो स्रोतों से ग्रहण किए गए हैं—**पहला स्रोत** रोमन इतिहास है जिस पर उसने १७४५ में एक पुस्तक भी लिखी थी। **दूसरा स्रोत** इंगलैण्ड की तत्कालीन राजनीतिक संस्थाएँ हैं। इन संस्थाओं के विशेष अध्ययन और अनुभवों से उसने उद्गमनात्मक (Inductive) प्रणाली की ऐतिहासिक पद्धति से अपने राजनीतिक निष्कर्ष निकाले हैं।

माँतेस्क्यू के मतानुसार विभिन्न देशों की मानवीय संस्थाओं, रीति-रिवाजों और कानूनों में जलवायु एवं भूमि की भौगोलिक तथा भौतिक एवं सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण बहुत भेद पाया जाता है। ये संस्थाएँ या कानून एकदम किसी दैवी स्रोत से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु पेड़-पौधों की भाँति इनका अनुकूल परिस्थितियों में शनैः-शनैः विकास होता है। जिस प्रकार एक वनस्पतिशास्त्री किसी पेड़ की विभिन्न परिस्थितियों का सूक्ष्म अध्ययन करके जीवन और विकास के लिए आवश्यक नियमों का निर्धारण करता है, वैसे ही राजनीतिशास्त्र का उसकी समूची परिस्थितियों में सम्पूर्ण मानव-सम्बन्धों के साथ अध्ययन करना चाहिए।

माँतेस्क्यू से पहले इस ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण अरस्तू, मेकियावेली और

---

1. "Of all the political philosophers in the eighteenth century (other than Rousseau) the most important was Montesquie."
—Sabine, p. 465.

वोदँ ने किया था। किन्तु उसका इस पद्धति का प्रतिपादन इन सब पूर्ववर्ती विचारकों की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि का है, क्योंकि इन तीनों की दृष्टि योरोप के सभ्य राज्यों तक सीमित थी, किन्तु माँतेस्क्यू ने अमरीका के महाद्वीप की खोज के बाद प्रकाश में आने वाली वहाँ की बर्बर एवं जंगली तथा एशिया की जातियों के रीति-रिवाजों और परम्पराओं का अध्ययन एवं मनन करके इनके आधार पर अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके तथ्य अपुष्ट, अप्रामाणिक तथा कपोल-कल्पित हैं; फिर भी उसे यह श्रेय प्राप्त है कि उसने ऐतिहासिक पद्धति के लिए निरीक्षण और पर्यवेक्षण के क्षेत्र को योरोप तक सीमित न रखकर विश्वव्यापी बनाया। यह पद्धति ही राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसकी सबसे बड़ी देन है।

माँतेस्क्यू के ग्रन्थ 'कानून की भावना' (The Spirit of Law) की अभूतपूर्व सफलता का एक प्रधान कारण उसका अपने समकालीन लेखकों से सर्वथा भिन्न अनुभूतिमूलक (Empirical) दृष्टिकोण तथा निरीक्षण (Observation) पर आधारित उपर्युक्त वैज्ञानिक पद्धति का अपनाना था। उस समय ऐसे दार्शनिकों का बोलबाला था, जो अपनी बुद्धि और तर्क द्वारा प्रकृति के निरीक्षण से कुछ कल्पनाएँ एवं विचार बना लेते थे और इनके आधार पर, न कि ऐतिहासिक घटनाओं के पर्यवेक्षण के आधार पर, अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण किया करते थे। सामाजिक संविदा (Social Contract) का सिद्धान्त इसका सुन्दर उदाहरण है। हॉब्स और लॉक ने प्राकृतिक दशा (State of Nature) के सम्बन्ध में कुछ कल्पनाएँ कीं, इनको अपनी बुद्धि और तर्क से पुष्ट किया। प्लेटो के समय से सामान्य से विशेष की ओर जाने की निगमनात्मक (Deductive) पद्धति द्वारा ज्ञान-सम्पादन की प्रणाली प्रचलित थी। किन्तु माँतेस्क्यू ने अपने समय के प्रवाह के प्रतिकूल अरस्तू का अनुसरण करते हुए प्राचीन एवं समकालीन मानव-समाज के इतिहास के अध्ययन और अनुभव को आधार बनाया और इस पर अपने राजनीतिक सिद्धान्त के प्रासाद का निर्माण किया। अरस्तू की लुप्त पद्धति को पुनरुज्जीवित करने की दृष्टि से उसे **अठारहवीं सदी का अरस्तू** कहा जाता है। इन दोनों के प्रधान सादृश्य और समानताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) दोनों निरीक्षण (Observation) पर आधारित अनुभवमूलक (Empirical) पद्धति को अपनाने पर बल देते हैं।

(ख) दोनों इस बात को मानते हैं कि भौगोलिक परिस्थितियाँ या जलवायु शासन-पद्धति पर प्रभाव डालते हैं, किसी देश की सरकार का स्वरूप वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है।

(ग) अरस्तू को अपने गुरु प्लेटो का आदर्शवाद पसन्द नहीं है, माँतेस्क्यू ने अपने समय में प्रचलित जनता की प्रभुसत्ता, प्राकृतिक अधिकारों आदि के काल्पनिक सिद्धान्तों का परित्याग किया।

(घ) दोनों शासन-पद्धति का वर्गीकरण कानून के आधार पर करते हैं।

(ङ) अरस्तू ने शक्ति-पार्थक्य (Separation of Powers) के सिद्धान्त का संकेत मात्र किया था, किन्तु माँतेस्क्यू ने इसका सुस्पष्ट एवं विपद प्रतिपादन किया।

(च) दोनों राजतन्त्र को सर्वोत्तम प्रणाली समझते हैं।

उपर्युक्त समानताओं के कारण माँतेस्क्यू '१८वीं शती का अरस्तू' कहलाता है।

स्वतन्त्रता विषयक विचार—'कानून की भावना' (Spirit of Law) का सबसे प्रमुख भाग वह है जिसमें माँतेस्क्यू स्वतन्त्रता का तथा स्वतन्त्रता के आवश्यक रक्षक के रूप में शक्ति-पार्थक्य (Separation of Powers) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। **डनिंग के मतानुसार इसके सिद्धान्तों में इसे सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझा जाना चाहिए।**

व्यापकतम अर्थ में स्वतन्त्रता (Liberty) की परिभाषा करते हुए माँतेस्क्यू का कहना है कि यह व्यक्ति का ऐसा विश्वास है कि वह अपनी निजी इच्छा के अनुसार कार्य कर रहा है। स्वतन्त्रता राज्य के कानून द्वारा अनुमति दिए जाने वाले किसी भी कार्य को किए जाने की स्वाधीनता है। यदि कोई व्यक्ति कानून का उल्लंघन करता है तो वह स्वतन्त्र नहीं रह सकता, क्योंकि यदि सब ऐसा कार्य करने लगेंगे तो किसी को भी स्वतन्त्रता नहीं रहेगी। अतः माँतेस्क्यू के मतानुसार स्वतन्त्रता का अर्थ कानून की मर्यादा में रहते हुए कोई भी काम कर सकने की आजादी है। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह कानून से ऊपर उठकर मनमानी करने का अधिकार रखता है, वहाँ स्वतन्त्रता नहीं रहती। यही कारण है कि निरकुशवाद में एक वैयक्तिक शासक की मनमानी इच्छा का साम्राज्य होने से, व्यक्ति राजनीतिक स्वतन्त्रता से वंचित हो जाते हैं।

स्वतन्त्रता के दो भेद हैं—(क) **नागरिक या दीवानी (Civil) स्वतन्त्रता तथा (ख) राजनीतिक स्वतन्त्रता।**

(क) **नागरिक स्वतन्त्रता** (Civil Liberty)—माँतेस्क्यू के मत में नागरिक (Civil) स्वतन्त्रता एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध का परिणाम है। इसका दासता के साथ वही सम्बन्ध है जो निरंकुशवाद का राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ है। जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दास बना लेता है तो उसकी नागरिक स्वतन्त्रता का अन्त हो जाता है। माँतेस्क्यू नागरिक स्वाधीनता को महत्व देते हुए दासता की प्रथा का प्रबल विरोध करता है। वह दासता को अमानवीय, अप्राकृतिक और ईसाइयत का विरोधी समझता है।

(ख) **राजनीतिक स्वतन्त्रता** (Political Liberty)—माँतेस्क्यू के मत में राजनीतिक स्वतन्त्रता राजा और प्रजा के मध्य सम्बन्ध को निर्धारित करती है। वह कहता है—**"किसी नागरिक की राजनीतिक स्वतन्त्रता उसके मन की वह शान्ति है जो उस विचार से उत्पन्न होती है जो विचार प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुरक्षा के सम्बन्ध में रखता है। इस स्वतन्त्रता को पाने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार का निर्माण इस ढंग से किया जाए कि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से कोई डर न हो।"**

दूसरे शब्दों में राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ कानून की मर्यादा में रहते हुए कोई भी कार्य कर सकने की आजादी है। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह कानून से ऊपर उठकर मनमानी करने का अधिकार रखता है, वहाँ राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। इसी कारण से निरंकुशवाद में एक वैयक्तिक शासक की मनमानी इच्छा का प्रभुत्व होने से, व्यक्ति राजनीतिक स्वतन्त्रता से वंचित

हो जाते हैं।

नागरिक स्वतन्त्रता का मुख्य उद्देश्य शासन की ऐसी व्यवस्था करना है जिसमें सबको राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके। ऐतिहासिक दृष्टि से वह योरोप में इसका श्रीगणेश करने का श्रेय गाथ जाति को देता है। शासन में राजनीतिक स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए शक्तियों के पार्थक्य के महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

शक्ति-पार्थक्य (Separation of Powers) **का सिद्धान्त**—माँतेस्क्यू का यह विचार है कि व्यक्ति को सच्ची स्वतन्त्रता वहीं पर मिल सकती है जहाँ शासन अथवा सरकार के तीन अंग या शक्तियाँ—कार्यपालिका (Executive), विधानपालिका (Legislative) तथा न्यायपालिका (Judicial) कानून के नियन्त्रण में हों।[1] यह तभी हो सकता है, जब यह तीनों शक्तियाँ सर्वथा पृथक् रखी जाएँ। **"यदि विधानपालिका या व्यवस्थापिका की शक्ति कार्यपालिका की शक्ति के साथ संयुक्त होकर एक व्यक्ति के या अधिकारी-समूह के हाथ आ जाती है तो कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती और यदि न्याय करने की शक्ति को विधानपालिका और कार्यपालिका की शक्तियों से पृथक् न रखा जाए तो भी कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। यदि वही व्यक्ति, चाहे वे कुलीन वर्ग के हों या जनता के हों—क़ानून बनाने, सार्वजनिक प्रस्तावों के क्रियान्वित करने तथा व्यक्तियों के मुकद्दमे सुनने के तीनों कार्य करेंगे तो स्वाधीनता का अन्त हो जाएगा।"**[2] शासन की तीनों शक्तियों के पृथक् कर देने से सरकारी अधिकारियों की निरंकुशता पर प्रबल अंकुश स्थापित हो जाता है और प्रत्येक शक्ति एक-दूसरे के मनमाने कार्यों पर रोक या प्रतिबन्ध (Check) लगा देती है, सत्ता किसी एक व्यक्ति या संस्था में केन्द्रित नहीं हो पाती, शासन के तीनों अंगों में सन्तुलन (Balance) बना रहता है। उदाहरणार्थ, स्वतन्त्र न्यायपालिका शासन या कार्यपालिका द्वारा किसी व्यक्ति को अवैध रूप से पकड़ने नहीं देती, यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार पकड़ा जाता है तो उसके आवेदन पर वह उसे छोड़ने की आज्ञा देती है। इसके साथ ही वह विधानपालिका को कोई ऐसा कानून नहीं बनाने देती जो राज्य के मौलिक नियमों के प्रतिकूल हो। **इस प्रकार जब शासन के तीनों अंग एक-दूसरे पर प्रतिबन्ध और सन्तुलन** (Checks and Balances) **स्थापित करते हैं तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित हो जाती है।**

माँतेस्क्यू का यह विचार था कि ऐसी व्यवस्था केवल इंगलैण्ड में पाई जाती है, अतः वहाँ व्यक्ति को सबसे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। उसने अपने इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में लॉक का अनुसरण किया और ब्रिटिश संस्थाओं की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की है। किन्तु उसका यह विचार ठीक नहीं था कि ग्रेट ब्रिटेन में शक्ति-पार्थक्य के सिद्धान्त का पालन पूर्ण रूप से होता है, क्योंकि वहाँ कार्यपालिका के रूप में केबिनेट अथवा

---

1. "Montesquie believed that the essential safeguard against tyranny and the surest guarantee of liberty was the separation of the executive, legislative and judicial powers of government, such as he believed to exist in England." —Gettel, p. 251.

2. "There would be an end of everything, were the same men or the some body, whether of nobles or of the people, to exercise these three powers, that of enacting laws, that of executing the public resolutions, and of trying the cases of individuals." —Montesquie.

मन्त्रिमण्डल शासन-संचालन और विधान-निर्माण के दोनों कार्य करता है, लार्डसभा कानून के बनाने और न्याय करने के दोनों कार्य करती है। फिर भी माँतेस्क्यू का यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य है कि राज्य की तीनों शक्तियाँ सर्वथा पृथक् रहनी चाहिएँ, इनका एक व्यक्ति या संस्था में केन्द्रीकरण वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए बहुत घातक सिद्ध होता है। राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में शक्ति-पार्थक्य का सिद्धान्त माँतेक्स्यू की बड़ी देन है और इसने संयुक्त राज्य अमरीका के संघीय तथा राज्यों के संविधान-निर्माताओं पर गहरा प्रभाव डाला। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के समय तैयार किए गए मानवीय अधिकारों के घोषणापत्र में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया।

माँतेस्क्यू की देन—राजनीतिशास्त्र के विभिन्न क्षेत्रों में माँतेस्क्यू की तीन विशेष देनें हैं—

(१) **मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन**—विषय-वस्तु की दृष्टि से डनिंग के मत में उसकी तुलना प्लेटो, अरस्तू, एक्विनास, बोदैं, सुआरेज़ और प्यूफेनडोर्फ से हो सकती है। किन्तु इनमें से कोई भी पूर्ण रूप से उसके तुल्य नहीं है। प्लेटो तथा प्यूफेनडोर्फ द्वारा नैतिक सिद्धान्तों को दी गई प्रधानता माँतेस्क्यू को स्वीकार नहीं है, एक्विनास और सुआरेज़ के धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों की प्रमुखता से भी वह सहमत नहीं है। अरस्तू और बोदैं यद्यपि कुछ अंशों में उसके समकक्ष हैं, किन्तु उनका क्षेत्र राज्य के स्वरूप और उत्पत्ति के मौलिक सिद्धान्तों का निरूपण करना है। माँतेस्क्यू उन सिद्धान्तों का अधिक वर्णन करता है जो राज्य की समूची गतिविधियों और क्रियाकलापों का मूल प्रेरणा-स्रोत हैं तथा उनका स्वरूप निश्चित करते हैं।

(२) **ऐतिहासिक तुलनात्मक पद्धति**—उसकी दूसरी देन राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति है। यद्यपि इसका प्रतिपादन उससे पहले अरस्तू, मेकियावेली तथा बोदैं ने किया था, किन्तु इसे पूर्ण रूप से विकसित करने का तथा इसका क्षेत्र व्यापक और विस्तृत बनाने का श्रेय माँतेस्क्यू को ही है।

(३) **शक्ति-पार्थक्य का सिद्धान्त**—उसकी तीसरी बड़ी देन स्वतन्त्रता का और शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त है। इसके साथ ही उसकी एक बड़ी देन यह विचार भी है कि प्रत्येक देश की एक **सामान्य भावना** (Spirit general) होती है, इसका निर्माण वहाँ की भौतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से होता है, देश के सभी कानून इस भावना के अनुकूल बनाए जाने चाहिएँ। यही उसके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कानून की भावना' (The Spirit of Law) का मूल सूत्र है।

सारांश

रूसो के बाद माँतेस्क्यू को १८वीं शताब्दी का सबसे बड़ा राजनीतिक विचारक माना जाता है। उसने चौथी शताब्दी ई० पू० के सुप्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू की पद्धति का अनुसरण किया हैं, अतः फ्रांस के इस दार्शनिक को '१८वीं शताब्दी का अरस्तू' कहा जाता है। उसकी और अरस्तू की पद्धति में प्रमुख समानताएँ निम्नलिखित हैं—

(क) दोनों निरीक्षण पर आधारित अनुभवमूलक पद्धति के समर्थक हैं।

(ख) शासन-पद्धति पर जलवायु का प्रभाव मानते हैं।
(ग) आदर्शवाद के विरोधी हैं।
(घ) शासन-पद्धतियों का वर्गीकरण कानून के आधार पर करते हैं।
(ङ.) राजतन्त्र को सर्वोत्तम शासन-पद्धति समझते हैं।

स्वतन्त्रताविषयक विचार—यह राज्य के कानून द्वारा अनुमति दिए जाने वाले किसी भी कार्य को करने की स्वतन्त्रता है। इसके दो भेद हैं—(१) नागरिक या दीवानी स्वतन्त्रता—यह एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध का परिणाम है। (२) राजनीतिक स्वतन्त्रता—यह राजा और प्रजा के बीच सम्बन्ध को निर्धारित करती है।

शक्ति-पार्थक्य का सिद्धान्त (Theory of Separation of Powers)—माँतेस्क्यू के मतानुसार शासन के तीन अंग या शक्तियाँ—कार्यपालिका (Executive), विधानपालिका (Legislative) तथा न्यायपालिका सर्वथा पृथक् रखी जानी चाहिएँ। इससे सरकारी अधिकारियों की निरंकुशता पर प्रबल अंकुश लग जाता है और प्रत्येक शक्ति एक-दूसरे के मनमाने कार्यों पर रोक या प्रतिबन्ध लगा देती है माँतेस्क्यू का विचार था कि यह व्यवस्था केवल इंगलैण्ड में पाई जाती है अतः वहाँ व्यक्ति को सबसे अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है।

राजनीतिशास्त्र में माँतेस्क्यू की तीन विशेष देनें हैं—(क) मौलिक सिद्धान्तों का विवेचन, (ख) ऐतिहासिक तुलनात्मक पद्धति, (ग) शक्ति-पार्थक्य का सिद्धान्त।

प्रश्न

(१) माँतेस्क्यू को '१८वीं शताब्दी का अरस्तू' क्यों कहा जाता है?
(२) माँतेस्क्यू के स्वतन्त्रताविषयक सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।
(३) शक्ति-पार्थक्य पर माँतेस्क्यू के विचारों का वर्णन कीजिए।
(४) राजनीतिक सिद्धान्त के इतिहास में माँतेस्क्यू के महत्व का मूल्यांकन कीजिए।
(गोरखपुर, १९७६)

पहला अध्याय

जेरेमी बेन्थम [१७४८–१८३२ ई०]

जीवनी—उपयोगितावाद के संस्थापक जेरेमी बेन्थम का जन्म इंगलैण्ड में १७४८ में एक सम्पन्न वकील घराने में हुआ। वह बचपन से असाधारण प्रतिभाशाली था। तीन वर्ष की आयु में इसने लैटिन और चार वर्ष की आयु में फ्रेंच पढ़ी, तेरह वर्ष की आयु में मैट्रिक की तथा पन्द्रह वर्ष की आयु में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक परीक्षा पास की। हमें यह पता नहीं कि आक्सफोर्ड में बेन्थम के शिक्षक उसे क्या समझते थे, किन्तु वह अपनी असाधारण योग्यता के कारण अपने गुरुओं को अयोग्य तथा साथियों को मूर्ख समझता था। उसे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की धार्मिक कट्टरता और रूढ़िवादिता तथा विद्याध्ययन की अपेक्षा मधुपान और घुड़सवारी पर बल देने वाला वातावरण बिलकुल पसन्द नहीं आया। बाद में उसने अपने कटु अनुभव के आधार पर आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों से निराश होकर नवीन ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन पर बल देने वाले, पुरानी परम्पराओं और धार्मिक बन्धनों से उन्मुक्त वातावरण प्रस्तुत करने वाले, लन्दन विश्वविद्यालय की स्थापना में बड़ा भाग लिया। बेन्थम ने यद्यपि आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से बहुत-कुछ नहीं सीखा, किन्तु वहाँ की पुस्तकों की दुकानों से उसे बहुत-कुछ मिला। एक बार १७६८ में जब वह यहाँ विश्वविद्यालय के संसदीय चुनाव में मत देने के लिए आया तो उसे किताबों की एक दुकान में प्रीस्टले की एक पुस्तिका **'शासन पर निबन्ध'** (Essay on Government) मिली, इसके पन्ने उलटते हुए उसे एक पृष्ठ पर हचेसन की पुस्तक से लिया गया **'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख'** (The greatest happiness of the greatest number) वाक्यांश मिला। बेन्थम ने लिखा है कि **"इस पुस्तिका से तथा इस पृष्ठ से मैंने इस वाक्यांश को ग्रहण किया। इसे देखते ही आन्तरिक आनन्द से मैं वैसे ही चिल्ला पड़ा, जैसे द्रवस्थिति-विज्ञान** (Hydrostatistics) **के मौलिक सिद्धान्तों का पता लगाने पर आर्कीमीडीस 'योरेका' (मैंने पा लिया) कहते हुए चिल्लाया था।"**

बेन्थम का पिता अपने असाधारण प्रतिभाशाली पुत्र को वकालत पढ़ाकर उसे इंगलैण्ड के प्रधान न्यायाधीश के पद पर देखने के सपने ले रहा था। उसने १७६६ में उसे **लिंकन्स इन्न** में वकालत पढ़ने के लिए भेजा। किसी पुराने जमाने में यहाँ पढ़ाई होती थी, किन्तु उस समय यह दावतें खाने और निवास करने का क्लब था। एक विद्यार्थी को तीन वर्ष के पाठ्यक्रम में पाँच भोजों में सम्मिलित होना पड़ता था और प्रत्येक सत्र में एक निबन्ध पढ़ना होता था, शेष समय के लिए उसे पूरी छुट्टी थी। बेन्थम ने इस समय का सदुपयोग कानून-सम्बन्धी पुस्तकों के अध्ययन में लगाया और वह किंग्स बैंच

के प्रधान न्यायाधीश लार्ड मैन्सफील्ड के न्यायालय में कानून का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जाया करता था। यहाँ उसे कानून की वास्तविक स्थिति का, उसकी अपूर्णताओं, अनिश्चितताओं, त्रुटियों और दोषों का प्रत्यक्ष अनुभव और अद्भुत ज्ञान हुआ। वह कानून की अव्यवस्था, बेहूदापन तथा अनवश्यक जटिलता देखकर चकित हो गया, यह ऊपर से कुछ था और भीतर से कुछ और। इसे जैसा कहा जाता था तथा जैसा होना चाहिए था, यह वैसा नहीं था। उस समय का कानून बड़ा क्रूर और पाशविक था। १८०० ई० में २२० से २३० अपराधों के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था थी, ४० शिलिंग से अधिक मूल्य की वस्तुओं की चोरी के लिए मृत्युदण्ड दिया जाता था। कानून तोड़ने वाले दण्ड पाने से बच जाते थे और निरपराध दण्ड पाते थे। इनमें झूठ, धोखे और प्रवंचना का साम्राज्य था। बेन्थम को कानून के दोषों का जितना अधिक ज्ञान हुआ, वह उतनी ही अधिक दृढ़ता से इनके सुधार के लिए संकल्प करने लगा। वकालत करने के स्थान पर, उसने अपने जीवन का ध्येय कानूनी-पद्धति का संशोधन करना बना लिया।

बेन्थम प्रतिदिन नियमित रूप से लिखने वाला असाधारण व्यवित था, ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में उसकी निर्बाध गति थी। १७७० से १८३२ में अपनी मृत्यु-पर्यन्त वह लगभग प्रतिदिन १५ वड़े पृष्ठ (फोलियो) लिखता रहा। उसके द्वारा लिखे गए पृष्ठों की संख्या १ लाख से अधिक है। उसके हस्तलेखों की पाँडुलिपियाँ १४८ बक्सों में वन्द हैं और अब तक लन्दन विश्वविद्यालय और ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित हैं। वह एक विषय पर लिखना शुरू करता था, किन्तु उसमें उठने वाली समस्याओं के समाधान के लिए पहली पुस्तक अधूरी छोड़कर दूसरी पुस्तक लिखना शुरू कर देता था। इस प्रकार उसने कानून, राजनीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, दण्डशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि बीसियों विषयों पर लिखा, किन्तु एक भी पुस्तक पूरी नहीं की।

१७८५ में उसने योरोप के विभिन्न देशों की यात्रा की, इसने उसके विचारों पर प्रभाव डाला। १७८८ में वह पार्लियामेण्ट की एक सीट के लिए खड़ा हुआ। किन्तु चुनाव में राजनीतिक सफलता पाना उसके भाग्य में नहीं वदा था। उसकी विफलता राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से बड़ा सौभाग्य बन गई, क्योंकि चुनाव में हारने के बाद से उसने विधान-निर्माण की समस्याओं पर विचार आरम्भ किया और प्राचीन यूनान के सुप्रसिद्ध विधान-निर्माता सोलन और लाइकरगस की भाँति आदर्श विधानों का निर्माता बनने का संकल्प किया। १७८९ में फ्रेंच राज्यक्रान्ति आरम्भ होने के साथ ही इस विषय में उसकी कृति 'नैतिकता और विधान-निर्माण के सिद्धान्त' (Principles of Morals and Legislation) प्रकाशित हुई। इससे उसे विदेशों में बड़ी ख्याति मिली, वह विदेशों में वास्तव में अलौकिक बुद्धिसम्पन्न विधान-निर्माता समझा जाने लगा; किन्तु इंगलैण्ड में 'घर का जोगी जोगड़ा आन गाँव का सिद्ध' के अनुसार उसकी कोई प्रतिष्ठा या पूछ नहीं थी।

बुढ़ापे में व्यक्ति प्रायः अनुदार, रूढ़िवादी एवं क्रान्ति-विरोधी विचारों वाले बनते हैं, बेन्थम ६० वर्ष की आयु में उग्र क्रान्तिकारी विचारों का प्रवल समर्थक बना। १८१४ में अर्थात् ६६ वर्ष की आयु में उसने इन विचारों के प्रसार के लिए **वैस्ट मिंस्टर**

रिव्यू (West Minster Review) नामक पत्र निकालने में सहयोग दिया। १८२७ में उसने लन्दन विश्वविद्यालय के मूल-यूनिवर्सिटी कालेज को इस उद्देश्य से स्थापित किया कि यह आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज के दूषित वातावरण से मुक्त रहे। बेन्थम का समूचा जीवन अनेक विरोधाभासों तथा सनकों से भरा हुआ है। उसके बारे में मेरी ने यह ठीक ही लिखा है कि वह अद्भुत बुद्धि लेकर बूढ़ा पैदा हुआ था और आयु बढ़ने के साथ बच्चा बनता चला गया। बचपन में पिता ने मितव्यय के कारण उसे काले कपड़े ही पहनाए, बुढ़ापे में उसने बढ़िया कपड़े पहने। उसके शब्दों में वह ७२ वर्ष की आयु में १७ वर्ष की आयु की अपेक्षा अधिक रंगीला था; बचपन में वह अनुदार था, आयु बढ़ने के साथ उसके विचारों में उदारता आती गई। वह अपनी प्रेयसी मेरी उन्कली को २० वर्ष के व्यवधान से नियमित रूप से पत्र लिखता रहा और वह नियमित रूप से उसकी प्रणय-प्रार्थनाओं को ठुकराती रही। आनन्द को सब मानव-क्रियाओं का मूल मानने वाला यह विचारक मृत्युपर्यन्त आनन्दी स्वभाव का व्यक्ति बना रहा। सत्तर वर्ष की आयु पार करने के बाद भी उसका बैडमिण्टन खेलने और दौड़ लगाने का उत्साह मन्द नहीं हुआ। उसे बिल्लियाँ पालने का बेहद चाव था और रात को सोने से पहले एक घण्टे तक उनके साथ खेलने और अनेक विधि-विधान पूरे करने के बाद ही वह शयन करता था। मृत्यु के समय भी, उसने अपनी सनक नहीं छोड़ी। वह आजीवन विज्ञान का परम भक्त था और कानून एवं राजनीति के क्षेत्रों में उसके सिद्धान्तों को लागू करने का भगीरथ प्रयास करता रहा। मरते समय उसने यह वसीयत की कि मेरा शरीर विज्ञान की उन्नति के लिए मित्रों की उपस्थिति में शवच्छेदन के लिए दे दिया जाए। उसके अस्थिपंजर पर मोम से बनाई गई तथा उसके जीवनकाल में धारण किए जाने वाले वस्त्र पहने, हैट और टाई लगाए हुए तथा हाथ में उसकी डैप्पल नामक प्रिय छड़ी को थामे हुए उसकी मूर्ति अब तक लन्दन विश्वविद्यालय के यूनिवर्सिटी कालेज की एक शीशे की अलमारी में सुरक्षित है और इसमें पैरों के नीचे एक तश्तरी में उसकी प्रतिभाशाली खोपड़ी पड़ी हुई है। १८३२ में **महान् सुधार बिल** (Great Reform Bill) पास होने के वर्ष में उसका देहावसान हुआ। वह १८वीं शताब्दी के मध्य में पैदा हुआ था, किन्तु उसका अधिक प्रभाव १९वीं शताब्दी की विचारधारा पर पड़ा।

बेन्थम के प्रमुख सिद्धान्त

१. उपयोगितावाद का स्वरूप तथा प्रमुख सिद्धान्त—यह उसकी समूची विचारधारा और चिन्तन का मूलमन्त्र और आधारशिला है। उसके शब्दों में, "उपयोगिता एक अमूर्त्त संज्ञा है। इसका अभिप्राय किसी विशेष वस्तु के उस गुण या प्रवृत्ति से है, जो किसी बुराई का निवारण करती है और कोई भलाई हमें प्रदान करती है। बुराई का अर्थ दुःख अथवा दुःख का कारण है। भलाई का अर्थ आनन्द अथवा आनन्द

का कारण है।"[1] प्रकृति ने मनुष्य को आनन्द और पीड़ा नामक दो सर्वोच्च प्रभुओं के शासन में रखा है।[2] मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति है। अतः उपयोगिता के सिद्धान्त का अर्थ आनन्दों और कष्टों के तुलनात्मक अनुमान की गणना करना या हिसाब लगाना है। कानून बनाने वाले का उद्देश्य जनता को आनन्द देना है। विधान निर्माण में उसका मार्गदर्शक सिद्धान्त सामान्य उपयोगिता अर्थात् अधिकतम संख्या का अधिकतम हित होना चाहिए।"

बेन्थम के मत में जो वस्तु हमें सुख की अनुभूति देती है, वह अच्छी है, ठीक है और उपयोगी है। "उपयोगिता के सिद्धान्त का अनुयायी भलाई को केवल इसीलिए अच्छा समझता है कि उसके आचरण से आनन्द की प्राप्ति होती है, बुराई इसलिए बुरी है कि इस पर आचरण करने से दुःख मिलता है।"

इस प्रकार उपयोगिता का सिद्धान्त सुख की प्राप्ति और दुःख के निवारण का सिद्धान्त है। किन्तु सुख और दुःख का क्या स्वरूप है? इसका निर्धारण कैसे किया जाए? इस विषय में बेन्थम ने विशद वैज्ञानिक विवेचन किया है। उसके मत में सादे या सरल सुख निम्नलिखित पन्द्रह प्रकार के हैं—इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले सुख, सम्पत्ति, दक्षता, मित्रता, उत्तम चरित्र अथवा कीर्ति, शक्ति, पवित्रता (Piety), परोपकार या सत्कामना, परापकार या असत्कामना (malevolence), बुद्धि, स्मृति, कल्पना, आशा, सत्संग और दुःख-मुक्ति (relief) से प्राप्त होने वाले सुख। सारे दुःख केवल ग्यारह प्रकार के हैं—पीड़ा (privation), इन्द्रियों से होने वाले दुःख, गँवारपन या फूहड़पन (awkwardness), शत्रुता, बदनामी, अपवित्रता (impiety), सत्कामना, असत्कामना, स्मृति, कल्पना और आशा।

उपर्युक्त सारे सुखों और दुःखों के सम्मिश्रण से नाना प्रकार के जटिल (complex) सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं।

बेन्थम के मतानुसार मनुष्यों के मनों में सब सुख-दुःख कुछ उत्तेजक कारणों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। मनुष्यों में सुख-दुःख के विभिन्न कारणों से पैदा होने वाले सुख-दुःख की मात्रा ग्रहण करने की या अनुभव करने की सामर्थ्य (Sensibility) विभिन्न प्रकार की होती है। अतः यह स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह द्वारा अनुभव की जाने वाली सुख-दुःख की मात्रा इनके ग्रहण या अनुभव करने की सामर्थ्य को निश्चित करने वाले तत्वों पर निर्भर है, इन्हें सुख-दुःख की मात्रा की गणना

---

1. "By the principle of utility is meant that principle which approves or disapproves of every action whatsoever, according to the tendency it appears to augment or diminish the happiness of the party whose interest is in question : or what is the something in other words, to promote or to oppose that happiness."—Bentham, *Principles of Morals and Legislation*, p. 3.

2. "Nature has placed mankind under the governance of two sovereign masters, pain and pleasure. It is for them alone to point out what we ought to do, as well as what we shall do."

—Bentham, *Ib id.*, p. 2

करते हुए ध्यान में रखना चाहिए। ये बत्तीस तत्व हैं, इनमें उल्लेखनीय तत्व ये हैं—स्वास्थ्य, शक्ति, कठोरता, शारीरिक दोष या कमियाँ, ज्ञान की मात्रा और स्वरूप, बौद्धिक शक्तियों की प्रखरता, मन की दृढ़ता और निश्चलता, मनोवृत्ति, नैतिक अनुभव ग्रहण करने की शक्ति, नैतिक पक्षपात, धार्मिक पक्षपात, आर्थिक अवस्था, लिंग, आयु, सामाजिक पद, शिक्षा, जलवायु, वंशपरम्परा और शासन।

उपयोगिता का निर्धारण करने में बेन्थम सुखों की मात्रा पर बल देता है। यदि एक कार्य से सुख की अधिक मात्रा उत्पन्न होती है तो वह अधिक अच्छा सुख है, किन्तु इन सुखों की मात्रा कैसे नापी जाए। सुख-दुःख विशुद्ध रूप से मानसिक अनुभूतियाँ हैं। इन्हें इंचों, फुटों अथवा सेंटीमीटरों में नहीं नापा जा सकता है, न ही सुख की मात्रा को मन, सेर, छटाँक या किलोग्रामों में तोला जा सकता है। इनकी मात्रा का निर्धारण करने के लिए बेन्थम ने एक निराली पद्धति सुझायी है। इस पद्धति में सुखों और दुःखों को तुलनात्मक रीति से कुछ कसौटियों पर कसा जाता है, इस प्रकार सुख और दुःख का मूल्य नापा जाता है। इस प्रकार सुख-दुःख नापने की गणनापद्धति को **आनन्दमापक गणनापद्धति** (Felicific Calculus) कहा जाता है। आनन्द नापने की कसौटियाँ या एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाले सुख-दुःख के मूल्य की मापक या निर्धारक कसौटियाँ निम्नलिखित हैं—प्रगाढ़ता, अवधि, निश्चितता, सामीप्य, उत्पादकता (एक आनन्द द्वारा अपने जैसा दूसरा आनन्द उत्पन्न करना), विशुद्धता (आनन्द का विशुद्ध आनन्द ही उत्पन्न करना, दुःख को न उत्पन्न करना, जैसे रसगुल्ले अधिक मात्रा में खाने से रसना का आनन्द पेट की पीड़ा के कष्ट को उत्पन्न करता है); मात्रा या संख्या अर्थात् एक आनन्द कितने मनुष्यों को सुखी बना सकता है। बेन्थम के कथनानुसार एक कानून बनाने वाले का यह कर्त्तव्य है कि उपर्युक्त गणनापद्धति से "किसी प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाले सुखों और दुःखों का मूल्यांकन करते हुए उन्हें दो पलड़ों में तोलें, एक ओर सुखों के और दूसरी ओर दुःखों के मूल्य रखे जाएँ, इनमें से यदि सुखों वाला पलड़ा भारी हो तो वह प्रवृत्ति उत्तम अथवा उपयोगी है, यदि दुःखों वाला पलड़ा भारी हो तो यह प्रवृत्ति बुरी अथवा निरुपयोगी है।"[1]

किसी नियम के पालन के साथ सम्बद्ध सुख-दुःख उसे पालन करवाता है और इसका मूल स्रोत, इसकी अनुज्ञप्ति (sanction) या पालन कराने वाली शक्ति होती है। **ये अनुज्ञप्तियाँ चार प्रकार की होती हैं—भौतिक, नैतिक, राजनीतिक तथा धार्मिक। भौतिक अनुज्ञप्ति** में वे सुख या दुःख आते हैं जो प्रकृति से प्राप्त होते हैं, इनमें कोई मानवीय हस्तक्षेप नहीं होता है। **नैतिक अनुज्ञप्ति** में घृणा या प्रेम की भावनाओं से अनुप्राणित होने वाले पड़ोसियों से प्राप्त होने वाले सुख-दुःख हैं। इसे लोकमत की अनुज्ञप्ति भी कहा जाता है। **तीसरी राजकीय अनुज्ञप्ति** मैजिस्ट्रेट आदि सरकारी कर्मचारियों

1. "Sum up all the values of all the pleasures on the one side and those of all the pains on the other side. The balance, if it be on the side of pleasure, will give the good tendency of the act upon the whole with respects to the interets of the individual person, if on the side of pain, the bad tendency of it on the whole."

—Benthan, p. 31.

द्वारा कानून के अनुसार दिए जाने वाले दण्ड हैं। इसे कानूनी अनुज्ञप्ति (Legal Sanction) भी कहा जाता है। **चौथी धार्मिक अनुज्ञप्ति** धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओं के अनुसार मिलने वाले सुख-दुःख हैं। बेन्थम ने इन चारों को मकान के उदाहरण से समझाया है। यदि यह मकान मनुष्यों की अपनी असावधानी और अदूरदर्शिता से जलता है तो यह प्रकृति के प्रकोप का परिणाम है। यदि यह आग लगाने के समय सहायता न देने वाले पड़ोसियों की दुर्भावना से भस्म हुआ है तो यह लोकमत से प्राप्त होने वाला दुःख या दण्ड है। यदि यह मकान मैजिस्ट्रेट की आज्ञा से जलाया गया है तो यह राजनीतिक स्रोत से मिलने वाला दण्ड है। यदि इसका अन्त किसी देवता के रोष का परिणाम माना जाता है तो यह धार्मिक स्रोत से मिलने वाला दुःख है।

बेन्थम का यह विश्वास था कि उपयोगिता का सिद्धान्त स्वतःसिद्ध है, इसे अन्य प्रमाणों से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। इस दुनिया में नैतिक भावना या अन्तःकरण नाम की कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण का अर्थ यही है कि हम किसी वस्तु को पसन्द या नापसन्द करते हैं। यह हम सुख या दुःख के आधार पर करते हैं, अतः अन्तःकरण को मानने की आवश्यकता नहीं है। सत्-असत्, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय सब उपयोगिता पर आधारित हैं, ये कोई स्वतन्त्र वस्तुएँ नहीं हैं। सत्-असत् को भगवान् की इच्छा या व्यवस्था स्वीकार करने वालों के लिए बेन्थम का यह उत्तर था कि भगवान् हमें अपनी वाणी द्वारा यह नहीं बताता कि उसे कौनसी वस्तु आनन्द देती है। जिस वस्तु को हम अपने-आपको सुख देने वाला समझते हैं, उसे भगवान् की इच्छा बता देते हैं। इसके साथ बेन्थम इरादे या अभिप्राय (motive) को स्वीकार नहीं करता था। सुख और दुःख अपने-आपमें उद्देश्य हैं, इनके होते हुए अच्छे और बुरे इरादों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार बेन्थम ने सत्-असत्, धर्म-अधर्म की परीक्षा के लिए नैतिकता की सभी पद्धतियों को, ईश्वर की इच्छा को और धर्मशास्त्र को तिलांजलि दे दी, वह नैतिक बुद्धि या कानून के किसी नियम को स्वीकार करने को तैयार न था। इन सबको वह आत्मगत (Subjective) कल्पनामात्र मानता था। उसके विचार में सत्-असत्, बुराई-भलाई नापने का कोई वैज्ञानिक, बाह्य और मानसिक कल्पनाओं से प्रभावित न होने वाला नपैना होना चाहिए था। यह उपर्युक्त **आनन्दमापक पद्धति** (Felicific Calculus) था। बेन्थम सभी मानवीय भावनाओं को प्राकृतिक एवं स्वाभाविक समझता था। कोई भी भावना अप्राकृतिक नहीं थी। इनका अच्छा या बुरा होना इनके परिणामों पर निर्भर था। सुख या दुःख पैदा करने के कारण ये भावनाएँ अच्छी और बुरी होती हैं। बेन्थम का यह विश्वास था कि मनुष्यों का राज्य या धर्म जैसी अमूर्त्त सत्ताओं या संस्थाओं के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है, उनके कर्त्तव्य केवल सुख और दुःख की अनुभूति रखने में समर्थ अन्य मनुष्यों के प्रति हैं।

२. राज्य की उत्पत्ति—सामाजिक अनुबन्ध का खण्डन—बेन्थम से पहले राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौते (Social Contract) का परिणाम समझी जाती थी। रूसो आदि ने इसका प्रबल प्रतिपादन किया था, किन्तु बेन्थम ने इसका उग्र विरोध किया। वह यह नहीं मानता था कि राज्य का जन्म, इसके तथा नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्य किसी समझौते या अनुबन्ध से उत्पन्न होते हैं। मनुष्यों द्वारा

राज्य के आदेशों और कानूनों का पालन करने का कारण कोई पुराना समझौता नहीं, किन्तु वर्तमान काल में प्राप्त होने वाला लाभ और उपयोगिता है। ब्लैकस्टोन ने कहा था कि मनुष्य एक आदिम सामाजिक समझौते के कारण राज्य के प्रति अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों को पूरा करते हैं। बेन्थम के मतानुसार ऐसा कोई समझौता कभी नहीं हुआ था, यदि कोई ऐसा समझौता हुआ हो तो भी वह वर्तमान पीढ़ी को उससे नहीं बाँध सकता था। **राज्य के आदेशों का पालन केवल इसलिए होता है कि ये उपयोगी हैं और सामान्य हित तथा सुख को बढ़ाने वाले हैं।** "शासन का कार्य समाज के सुख को बढ़ाना है।"[1] राज्य के नियमों के आज्ञापालन से होने वाले लाभ, आज्ञाभंग के दुष्परिणामों से अधिक हैं, अतः बेन्थम की दृष्टि में राज्य का आधार उपयोगिता से उत्पन्न होने वाली आज्ञापालन की आदत है, सामाजिक अनुबन्ध नहीं है।

३. **प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन**—बेन्थम के समय में थामस पेन तथा गाडविन जैसे विचारकों ने मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों पर बहुत बल दिया था। यह कहा जाता था कि मनुष्य को स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार प्रकृति के नियम से मिले हुए हैं। बेन्थम प्रकृति को एक अस्पष्ट शब्द समझता था, इसलिए प्राकृतिक कानून और प्राकृतिक अधिकारों को बिलकुल निरर्थक और बेहूदा समझता था। उसकी दृष्टि में कानून सर्वोच्च सत्ता रखने वाले की इच्छा होती है। यह इच्छा भगवान् या मनुष्य में ही सम्भव है, प्रकृति में ऐसी कोई इच्छा नहीं होती, अतः प्राकृतिक कानून या अधिकार नाम की कोई वस्तु नहीं है। उसने समानता और स्वतन्त्रता के अधिकारों की खिल्ली उड़ाते हुए लिखा था—"**पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से असम्भव है। पूर्ण स्वतन्त्रता प्रत्येक प्रकार की सरकार की सत्ता की प्रत्यक्ष विरोधी है।** क्या सब मनुष्य स्वतन्त्र रूप में उत्पन्न होते हैं? क्या वे स्वतन्त्र रहते हैं?···एक भी आदमी ऐसा नहीं है। इसके विपरीत सब मनुष्य पराधीन पैदा होते हैं।" अधिकार प्राकृतिक नहीं हैं, किन्तु उपयोगिता पर आधारित कानून से बनाए जाते हैं।

४. **सर्वोच्च सत्ता तथा अधिकारविषयक सिद्धान्त**—बेन्थम के मतानुसार शासक को प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में कानून बनाने के असीम और अनन्त अधिकार थे। सर्वोच्च सत्ता (Sovereignty) रखने वाले शासक पर केवल एक ही प्रतिबन्ध की कल्पना की जा सकती है, यह प्रतिबन्ध जनता के हितों और स्वार्थों का है। सामान्यतः प्रजाजनों को अपने राजा का विरोध करने का कोई कानूनी अधिकार नहीं था, उनका यह कर्त्तव्य था कि वे राजा के आदेशों का पूर्ण पालन करें। किन्तु यदि राजा के आदेश का प्रतिरोध करना उसके आदेश के पालन करने की अपेक्षा अधिक उपयोगी तथा सुख देने वाला हो तो प्रजा का यह नैतिक कर्त्तव्य था कि वह राजा का विरोध करे। राजा द्वारा असीम शक्तियों का प्रयोग उपयोगिता के सिद्धान्त पर आधारित था।

बेन्थम के समय के अन्य विचारक नागरिकों के अधिकारों पर बहुत बल देते थे। लिखित संविधानों तथा कानूनों द्वारा इन अधिकारों को सुरक्षित बनाना महत्वपूर्ण

---

1. "The business of government is to promote the happiness of society." —Bentham, p. 70,

समझते थे। इनके अनुसार राजा को अपनी प्रजा को ये अधिकार देने पड़ते थे। किन्तु बेन्थम लिखित संविधानों का समर्थक होते हुए भी यह नहीं मानता था कि सर्वोच्च सत्ता नागरिकों के अधिकारों को सुरक्षित बनाए रखने के लिए सीमित की जा सकती थी। इसका प्रधान कारण उसका अधिकारविषयक सिद्धान्त था। वह इन्हें भी उपयोगिता के आधार पर उत्पन्न होने वाला समझता है। 'क' नामक व्यक्ति के अधिकार के साथ कर्त्तव्य का विचार जुड़ा हुआ है और कर्त्तव्य का आधार उपयोगिता या वैयक्तिक हित के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। 'ख' नामक व्यक्ति 'क' के अधिकारों के सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्यों का पालन तब तक नहीं करेगा जब तक कि इसके परिणाम उसके लिए अन्य कोई कार्य करने की अपेक्षा अधिक हितकर न हों अथवा राज्य द्वारा वह ऐसा करने के लिए बाधित न किया जाए। अतः वैयक्तिक अधिकारों का मूल सर्वोच्च शासक है, इसका आधार उपयोगिता का सिद्धान्त है। प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना निराधार है।

५. शासन-पद्धति—**शासन के विषय में प्रमुख सिद्धान्त तो यह होना चाहिए कि वह अधिकतम प्रजाजनों को अधिकतम सुख प्रदान कर सके।** इसका लक्ष्य सुख को बढ़ाना होना चाहिए, न कि दुःख को; अतः शासन-विधान इस दृष्टि से व्यवस्थित किया जाना चाहिए कि वह इस उद्देश्य की पूर्ति कर सके। बेन्थम के शब्दों में सब व्यक्ति इस बात में सहमत हैं कि शासन-सत्ता उन व्यक्तियों को दी जानी चाहिए, जिनमें भगवान् में पाए जाने वाले बुद्धिमत्ता, भलाई और शक्ति के तीन महान् गुण हों। उनमें इस बात की बुद्धि हो कि वे समुदाय के वास्तविक हितों को समझ सकें, उनमें इतनी भलाई हो कि वे वास्तविक हितों की प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्न करते रहें और उनमें इतनी शक्ति हो कि वे अपने ज्ञान को क्रियात्मक रूप में परिणत कर सकें। लोकतन्त्र में भलाई का गुण अधिक होता है, कुलीनतन्त्र में बुद्धि के गुण की तथा राजतन्त्र में शक्ति के गुण की प्रधानता होती है। किन्तु इन तीनों में लोकतन्त्र या गणतन्त्र की व्यवस्था श्रेष्ठ है, क्योंकि यह अन्य शासनों की अपेक्षा अधिकतम संख्या के अधिकतम हित का अच्छी तरह से पूरा करती है। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकते हैं। अतः बेन्थम गणराज्यों की स्थापना से इस बुरी दुनिया को अच्छा बनाना चाहता था।

शासनविषयक सुधार—तत्कालीन ब्रिटिश शासन-पद्धति को वह ब्लैकस्टोन की भाँति पूर्ण नहीं मानता था और उसमें कई सुधार करना चाहता था।

(i) **पहला सुधार सार्वभौम पुरुष मताधिकार** (universal manhood sufferage) का था। उस समय पार्लियामेण्ट का सदस्य चुनने का अधिकार बहुत ही कम व्यक्तियों को था तथा यह भ्रष्टाचार का प्रधान स्रोत था। बेन्थम प्रत्येक साक्षर बालिग पुरुष को मताधिकार देना चाहता था। शासन में अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को मताधिकार देकर ही अधिकतम लोगों के हित को सुरक्षित बनाया जा सकता था। उस समय तक स्त्रियों के मताधिकार की चर्चा और माँग प्रबल नहीं हुई थी।

(ii) **उसका दूसरा सुधार पार्लियामेण्ट के वार्षिक चुनाव** (Annual Parliaments) **कराने का था।** वह यह समझता था कि यदि प्रति वर्ष चुनाव होंगे तो

सदस्य अधिक क्रियाशील होंगे, उन्हें स्वार्थ-सिद्धि का अधिक अवसर नहीं मिल सकेगा, निर्वाचकों को सदस्य की योग्यता जाँचने के अधिक अवसर मिलेंगे।

(iii) **उसका तीसरा सुधार गुप्त मतदान प्रणाली का था।** इससे चुनाव निष्पक्ष रीति से हो सकेंगे, मतदाताओं को डरा-धमकाकर अथवा खिला-पिलाकर उनसे वोट नहीं लिए जा सकेंगे।

(iv) **उसका चौथा सुधार उपरले सदनों का विरोध था।** वह लार्डसभा का उग्र विरोधी था, उसके मतानुसार यह विशिष्ट स्वार्थों का अड्डा और प्रगति का विरोधी है। वह इंगलैण्ड में राजतन्त्र को भी समाप्त करना चाहता था, क्योंकि उसके विचार में गणतन्त्रीय शासन-प्रणाली में शासक एवं शासितों के हितों में अभिन्नता होती है और इससे अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख मिलता है। राजतन्त्र में ऐसा नहीं होता है।

६. **आर्थिक विचार**—बेन्थम इस विषय में कुछ अर्थों में एडम स्मिथ का अनुयायी था। उसके मत में सरकार को आर्थिक मामलों में यथासम्भव कम-से-कम हस्तक्षेप करना चाहिए। किन्तु सूद या ब्याज के सम्बन्ध में वह एडम स्मिथ से सहमत नहीं था, उसके मतानुसार राज्य को सूदखोरी के विरुद्ध कानून नहीं बनाना चाहिए था। उसने १७८७ में प्रकाशित **'सूदखोरी का समर्थन'** (Defence of Usuary) नामक पुस्तक में इस मत का प्रतिपादन किया था। वह व्यापार की सब बाधाओं और प्रतिबन्धों को हटाकर स्वतन्त्र अथवा मुक्त व्यापार की नीति अपनाने का प्रबल समर्थक था। उसके मत में प्रतिबन्धरहित प्रतियोगिता समाज के लिए हितकर थी, वह एकाधिपत्य की तथा सरकारी सहायता देने की प्रणाली का तथा साम्राज्य का विरोधी था। उसे साम्राज्य का विचार तनिक भी पसन्द नहीं था, अतः उसके मत में व्यापार की दृष्टि से उपनिवेशों को प्राप्त करना ठीक नहीं था, इन कार्यों में लगाया जाने वाला धन अन्य कार्यों में अधिक उपयोगी रूप से व्यय किया जा सकता था। उसने १७९३ में 'उपनिवेशों को मुक्त कीजिए' (Emancipate Your Colonies) में अपने इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। उपनिवेशों का ब्रिटिश नियन्त्रण में रहना वह मानव-जाति के हित के लिए समझता था, किन्तु उसके मत के अनुसार इंगलैण्ड के लिए उपनिवेश सम्पत्ति का स्रोत नहीं बन सकते थे। १८२८ में बेन्थम ने कनाडावासियों द्वारा पूर्ण पार्थक्य की माँग करने वाले एक आवेदन-पत्र का मसविदा या प्रारूप तैयार किया था। उपयोगितावादियों को उपनिवेशों का परित्याग करने में तनिक भी झिझक नहीं थी, किन्तु अपने जीवन के संध्याकाल में बेन्थम साम्राज्य के भीतर उपनिवेशों को स्वायत्त शासन का अधिकार देने के विचार का समर्थन करने लगा था। भारत का सम्भवतः पहला इतिहास लिखने वाले, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी तथा उसके भक्त जेम्स मिल के कारण बेन्थन ने भारत के मामलों में दिलचस्पी ली तथा भारत की कानूनी एवं न्यायिक पद्धति के सम्बन्ध में एक योजना बनाई। आस्ट्रेलियन उपनिवेशों के स्वशासन के बारे में भी बेन्थम ने एक योजना तैयार की।

७. **व्यक्तिवाद**—बेन्थम अन्य व्यक्तिवादी (Individualist) विचारकों की भाँति राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता था। उपयोगिता की दृष्टि से राज्य के नियम मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचाते है, अतः वे नियम बुरे हैं। किन्तु इन नियमों के

विना सभ्य जीवन का यापन करना असम्भव है, अतः राज्य की सत्ता मानना आवश्यक हो जाता है। किन्तु राज्य को नागरिकों की स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए न्यूनतम नियम बनाने चाहिएँ। राज्य के नियम औषधि जैसे हैं, जिस प्रकार सामान्य रूप से स्वस्थ मनुष्य औषधि का प्रयोग कम-से-कम हो करता है, वैसे ही मनुष्य यह चाहता है कि राज्य कम-से-कम नियम बनाए और व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्र वातावरण में छोड़े। उसके मत में समष्टि या समुदाय काल्पनिक संस्था है, यह इसकी रचना करने वाले व्यक्तियों से बनता है। समष्टि का हित क्या है ? यह इसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों का हित है। व्यक्ति के हित को समझे बिना समष्टि या समुदाय के हित की कल्पना करना कोरी बकवास है। जो वस्तु व्यक्ति के हित और सुख को बढ़ाने में सहायक होती है, वह समष्टि को भी बढ़ाने वाली होती है। इसका यह भी कारण है कि मनुष्य स्वयं अपने सुख-दुःख का ज्ञाता है, समुदाय या राज्य इनका कभी इतना अच्छा ज्ञाता नहीं हो सकता; अतः राज्य को शान्तिस्थापना और सुरक्षा के क्षेत्र में ही नियमों का निर्माण करना चाहिए, अन्य क्षेत्रों में व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिए। राज्य को चिकित्सक की भाँति सोच-समझकर किन्हीं भीषण विकारों (चोरी, हिंसा, विदेशी आक्रमण) को रोकने के लिए नियम बनाने चाहिएँ। राज्य का हस्तक्षेप तभी आवश्यक और उचित है, जब वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा में सहायक हो।

८. कानून तथा न्याय की व्यवस्था—बेन्थम के जीवन का एक प्रधान लक्ष्य **तत्कालीन कानून की पद्धति में सुधार करना था**। वह कानून को सर्वोच्च शासक की इच्छा की अभिव्यक्ति मानता था और प्रकृति के कानून की सत्ता को अस्वीकार करता था। उसके मतानुसार कानून एवं न्याय का उद्देश्य राज्य में सुख की वृद्धि करना था। इस दृष्टि से उस समय कानून में और न्याय की व्यवस्था में कई गम्भीर दोष थे, इनको अविलम्ब दूर किया जाना आवश्यक था। कानून के बड़े दोष इसकी अस्पष्टता, दुर्बोधता, अव्यवस्था, संदिग्धता, दुरूहता, दकियानूसीपन, जटिलता, अनावश्यक और अप्रचलित पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग थे। इसके लिए यह आवश्यक था कि कानून को सरल, सुबोध एवं सुगम शब्दों में अभिव्यक्त किया जाए, विभिन्न नियमों और कानूनों को एक विधान-संहिता में सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया जाए ताकि किसी को इसके समझने में कोई कठिनाई या सन्देह न हो। बेन्थम संहिताकरण (Codification) का प्रबल समर्थक था और उसने स्वयमेव अन्तर्राष्ट्रीय कानून, दीवानी, फौजदारी और संवैधानिक कानूनों की ऐसी संहिताएँ तैयार की थीं। उसने विधिशास्त्र (Jurisprudence) को राजनीति से पृथक् करना आरम्भ किया, इस कार्य को उसके शिष्य जॉन आस्टिन ने पूरा किया।

इंगलैण्ड की तत्कालीन न्यायव्यवस्था में कई गम्भीर और भीषण दोष थे। यह बड़ी व्ययसाध्य थी; न्याय प्राप्त करने में बहुत समय लगता था, यह अनिश्चित थी, न्याय का क्रय-विक्रय होता था। बेन्थम के शब्दों में, "**इस देश में न्याय बेचा जाता है और बड़े मँहगे दामों पर बेचा जाता है, जो व्यक्ति व्यय नहीं कर सकता, वह न्याय नहीं प्राप्त कर सकता।**" दण्डविधान बड़ा कठोर था, **२०० से अधिक अपराधों के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था थी**। १८०१ में १२ वर्ष के एक बालक को एक चम्मच चुराने के अपराध में

प्राणदण्ड दिया गया था। बेन्थम ने उस समय के जजों और वकीलों की बड़ी तीखी आलोचना की है। उसके मत में उस समय के न्यायाधीश जिन अतीव दुष्ट व्यक्तियों को प्राणदण्ड देते थे, उनकी दुष्टता (maleficence) न्यायाधीशों की दुष्टता से कम थी। वकीलों के बारे में उसकी यह सम्मति थी कि ये **"आलसी, सत्-असत् का विवेक करने में असमर्थ, अदूरदर्शी, जिद्दी, सार्वजनिक उपयोगिता के सिद्धान्त की परवाह न करने वाले, स्वार्थी तथा अधिकारियों के इशारों पर नाचने वाले होते हैं।"** बेन्थम की उग्र आलोचनाओं के कारण १९वीं शताब्दी में इंगलैण्ड की कानून एवं न्याय के प्रशासन की व्यवस्था में अनेक क्रान्तिकारी सुधार और परिवर्तन हुए।

९. **दण्डव्यवस्था**—बेन्थम के मतानुसार दण्डव्यवस्था का उद्देश्य समाज में अपराधों को रोकना है, न कि अपराधी से बदला लेना। **दण्ड न तो बहुत कठोर होना चाहिए और न अत्यन्त मृदु। यह परिस्थितियों के अनुसार ही दिया जाना चाहिए।** किन्तु इसके साथ ही अपराधी को ऐसा दण्ड दिया जाना चाहिए कि इससे भयभीत होकर अन्य लोग ऐसे अपराध न करें। दण्ड अपराध के अनुरूप और उसका समानुपाती होना चाहिए। दण्ड के समय में अपराधी के सुधार का भी ध्यान रखना चाहिए। दण्ड देते हुए अपराधी के व्यवहार, उसके पहले जीवन, उसके उद्देश्य, उसके द्वारा हानि पहुँचाए जाने वाले व्यक्तियों की तथा अपराध किए जाने की परिस्थितियों पर विचार किया जाना चाहिए। दण्ड निश्चित और निष्पक्ष होना चाहिए। बेन्थम के ये सभी विचार शनैः-शनैः सभी सभ्य देशों ने स्वीकार कर लिए और इनके अनुसार दण्डपद्धति में सुधार कर दिए गए। बेन्थम के समय इंगलैण्ड में २०० से अधिक अपराधों के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था थी, बाद में यह केवल राजद्रोह तथा हत्या के दो अपराधों तक ही मर्यादित कर दी गई।

१०. **जेलखानों का सुधार—सर्वद्रष्टा कारागार**—बेन्थम अपने समय के जेलखानों की शोचनीय दशा से बड़ा क्षुब्ध और असन्तुष्ट था। उस समय बन्दियों के साथ पाशविक व्यवहार किया जाता था। उन्हें अँधेरी कोठरियों में ठूँसकर रखा जाता था, खाना रद्दी-से-रद्दी दिया जाता था, बाल-अपराधी और बड़ी आयु के पक्के अपराधी एक साथ रखे जाते थे। इससे बच्चे कारावास से पक्के अपराधी बनकर निकलते थे। इस समय हावर्ड ने बन्दियों की दशा सुधारने का प्रयास आरम्भ किया, बेन्थम ने उसे पूरा सहयोग दिया और बन्दियों को सुधारने की अपनी **सर्वद्रष्टा** (Panopticon) योजना बनाई। वह इसे दुष्ट अपराधियों को पीसकर ईमानदार व्यक्ति बनाने वाली चक्की समझता था। बेन्थम की इस योजना के अनुसार बन्दीगृह के भवन का निर्माण चक्र के रूप में किया जाना था, इसके मध्य में ऊँचे स्थान पर रहने वाले जेलर को सब कैदियों पर अपने केन्द्रीय स्थान से दृष्टि रखनी थी, अतः इसे सर्वद्रष्टा (Panopticon, Pan=सब, optic=आँख) का नाम दिया गया। इस स्थान से अपराधियों द्वारा अपने कमरों में किए जाने वाले कार्यों को जेलर देख सकता था। जेलों में कैदियों की दशा सुधारने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए, उनसे दण्ड के रूप में कठोर श्रम नहीं लेना चाहिए, अपितु उन्हें यहाँ ऐसा काम सिखा देना चाहिए कि वे कारागृह से मुक्त होने पर **स्वतन्त्रतापूर्वक जीवनयापन कर सकें।** उन्हें **खाली समय में प्राथमिक शिक्षा, नैतिक**

और धार्मिक शिक्षा दी जानी चाहिए। बेन्थम तन्हाई कैद या एकान्त कक्ष में अपराधियों को वन्द करने का विरोधी था। "मन को खाली रखकर मन का सुधार नहीं हो सकता, इसे अच्छे विचारों से भरा जाना चाहिए।" बेन्थम की सर्वद्रष्टा कारागार की योजना यद्यपि पार्लियामेण्ट ने स्वीकार कर ली, किन्तु राजा जार्ज तृतीय के विरोध के कारण यह सफल नहीं हो सकी। बेन्थम ने इस योजना पर २० वर्ष तथा काफी पैसा लगाया था और उसे इसकी क्षतिपूर्ति के लिए २३ हजार पौण्ड भी मिले थे। यद्यपि इंगलैण्ड ने उसकी सर्वद्रष्टा कारागृह योजना को स्वीकार नहीं किया, किन्तु अन्य देशों ने इसका स्वागत किया। संयुक्त राज्य अमेरिका में इलिनाय राज्य में जोलियट का कारागृह वेन्थम के आदर्श के अनुसार बना और बेन्थम के उपर्युक्त विचार सभी देशों में जेलों के सुधारों का एक प्रधान स्रोत थे।

११. **अन्य सुधार**—बेन्थम ने शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण सुधारों की योजनाएँ रखीं। सम्भवतः जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था जो उसकी दृष्टि से अछूता रहा हो। काटलिन के शब्दों में उसने इन क्षेत्रों में सुधार प्रस्तावित किए—फौजदारी कानून, अपराध का सिद्धान्त, आजीवन निर्वासन के दण्ड के लिए उपनिवेशों में भेजा जाना, सूदखोरी तथा कैथोलिक अनर्हता कानूनों को रद्द करना, दरिद्र कानून को व्यवस्थित बनाना, पार्लियामेण्ट की प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली का सुधार, मुक्त व्यापार, स्त्रियों का मताधिकार, गुप्त मतदान-प्रणाली, स्वास्थ्य और सफाई के नियमों का निर्माण, राष्ट्रीय शिक्षा, एक संगठन द्वारा तथा विश्व न्यायालय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाए रखना। यह सूची विस्तृत होते हुए भी अपूर्ण है। इसमें उसकी निम्नलिखित कुछ अन्य योजनाएँ भी सम्मिलित की जा सकती हैं—व्यापारी जहाजों के लिए एक संहिता का निर्माण, स्थानीय न्यायालयों का विकास, वचत बैंकों की स्थापना, आविष्कार करने वालों के लिए संरक्षण की व्यवस्था, गरीबों के लिए सार्वजनिक वकीलों और बैंकों की व्यवस्था, सरकारी अधिकारियों को पदों से हटाना, धार्मिक परीक्षा की व्यवस्था का अन्त करना, हट्टे-कट्टे भिखारियों का दमन, समर्थ किन्तु दरिद्र व्यक्तियों की शक्ति का उपयोग, निर्धनों की सन्तान का प्रशिक्षण, ऋण के लिए कारावास दण्ड की समाप्ति, नगरपालिका पद्धति का सुधार, स्वेज और पानामा नहरों की योजना का निर्माण। एबेन्स्टाइन ने यह सत्य ही लिखा है कि "पिछली पाँच पीढ़ियों में ब्रिटेन में कोई ऐसा सुधार नहीं हुआ जिसका मूल प्रेरणा-स्रोत बेन्थम नहीं है। उसी के आन्दोलन से कानूनों की पुरानी पद्धतियों में साक्षी लेने की विधियों में अनेक सुधार हुए; विवाह, तलाक, सम्पत्ति, व्यापार और ट्रेड यूनियनों के कानूनों में अनेक परिवर्तन उसके तथा उसके शिष्यों के आन्दोलन से हुए। फौजदारी कानूनों में बेन्थम तथा रोमिल्ली के प्रयत्न से कई प्रकार के क्रूरतापूर्ण दण्ड—औरतों को कोड़े मारना, अपराधियों को इंगलैण्ड से बाहर आस्ट्रेलिया आदि के उपनिवेशों में निर्वासित करना—बन्द हुए।

उपयोगितावाद के प्रमुख दोष : बेन्थम तथा उपयोगितावाद के सिद्धान्तों की आलोचना—बेन्थम ने अपने सिद्धान्तों को बड़ा सरल तथा सुबोध बनाने का प्रयत्न किया था। किन्तु उसने उन्हें इतना अधिक सरल बना दिया कि इनमें कई बड़े दोष उत्पन्न हो गए। उसके कथनानुसार उपयोगितावाद के सिद्धान्त की तीन आवश्यक शर्तें ये हैं—

(१) यह स्पष्ट और शुद्ध (Precise) होना चाहिए। (२) मनुष्यों को प्रेरणा देने का पर्याप्त और एकमात्र कारण होना चाहिए। (३) नैतिक गणना-पद्धति (Moral Calculus) के अनुसार यह लागू किया जा सकने योग्य होना चाहिए। आलोचकों की दृष्टि में बेन्थम का उपयोगितावाद का सिद्धान्त उसके द्वारा निर्धारित की गई उपर्युक्त तीनों कसौटियों पर खरा नहीं उतरता है और उसमें निम्नलिखित गम्भीर दोष हैं—

(१) इसका पहला दोष यह है कि यह स्पष्ट नहीं है, किन्तु बड़ा अस्पष्ट और संदिग्ध है। उसका यह कथन है कि हमारे सब कार्यों का निर्धारण 'अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख' के आधार पर होना चाहिए। ऊपर से देखने पर यह बड़ी सरल, स्पष्ट और सीधी बात प्रतीत होती है, किन्तु इसमें बड़ा दोष यह है कि इसमें यह नहीं बताया गया कि प्रधानता व्यक्तियों की संख्या को दी जाएगी या सुख की मात्रा को। ऐसी परिस्थिति में बेन्थम का सूत्र हमारी समस्या का समाधान करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। कल्पना कीजिए कि हमें 'क' और 'ख' नामक दो प्रकार के कार्यों में से यह निश्चय करना है कि हम कौनसा कार्य करें। 'क' नामक कार्य १० व्यक्तियों में से प्रत्येक के लिए आनन्द की सौ मात्राएँ और इस प्रकार आनन्द की कुल एक हजार मात्राएँ (१०×१००=१०००) उत्पन्न करता है। 'ख' नामक कार्य १०० व्यक्तियों में से प्रत्येक के लिए आनन्द की दस मात्राएँ उत्पन्न करके वही एक हजार मात्राओं (१००×१०=१०००) का सुख प्रस्तुत करता है। मात्रा की दृष्टि से दोनों कार्य समान हैं, वे सुख की एक हजार मात्राएँ उत्पन्न करते हैं। किन्तु पहला काम कम व्यक्तियों को अधिक सुख देता है, दूसरा कार्य अधिक व्यक्तियों को कम सुख देता है। इस दशा में कार्य की उपयोगिता का निर्धारण व्यक्तियों के आधार पर किया जाए या प्रति व्यक्ति को प्राप्त होने वाले सुख की मात्रा पर, इस विषय पर बेन्थम कोई प्रकाश नहीं डालता।

(२) दूसरा दोष बेन्थम द्वारा सुख या भौतिक आनन्द को मानव-क्रियाओं और व्यापारों का एकमात्र प्रेरक कारण मान लेना है। क्या मनुष्य केवल सुख के लिए ही सब कार्य करता है? यदि ऐसा होता तो राजसी ठाठबाठ और सब प्रकार के सुखों के बीच में रहने वाले सिद्धार्थ को गृह त्याग करने और जंगलों में बोधिज्ञान के लिए भटकने और तपस्या करके भीषण कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता थी? देशभक्त क्रान्तिकारी भगतसिंह जैसे व्यक्ति फाँसी के उस तख्ते पर झूलने में अपूर्व गर्व और उल्लास का क्यों अनुभव करते हैं, जिससे लगभग सभी व्यक्ति भय खाते हैं और बचते हैं। एक व्यक्ति अपने प्राण संकट में डालकर दूसरे व्यक्ति को डूबने से क्यों बचाता है? एक चित्रकार, कवि या लेखक भूखा रहते हुए भी चित्र या कविता का निर्माण क्यों करता है? माता स्वयं भूखी रहकर भी बच्चे को क्यों खिलाती है? यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन सुख-दुःख की भौतिक भोगपरायण भावना के अतिरिक्त देशभक्ति, परोपकार, स्वार्थत्याग, प्रेम, नैतिकता, समाजसेवा, बौद्धिक और आध्यात्मिक आनन्द की भावनाओं से भी आन्दोलित होता है, इनसे भी उसके कार्य निर्धारित होते हैं। यदि भौतिक सुख ही मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य हो तो भीषण कष्ट उठाकर और जान जोखिम में डालकर मनुष्य एवरेस्ट आदि के दुर्गम पर्वतशिखरों पर क्यों चढ़ते हैं? यदि मानव-जाति में कोरे सुख और उपयोगिता-

वाद की ही सत्ता होती तो विश्व में बुद्ध, ईसा और महात्मा गांधी जन्म न लेते। बेन्थम का जीवन स्वयमेव इसका सुन्दर उदाहरण है, यदि उसे केवल भौतिक सुख प्राप्त करना होता तो वह वकालत करके खूब पैसा कमाता और ठाठ से जीवन बिताता, पचास वर्ष तक शुष्क लेखन-कार्य में और चिन्तन में न लगा रहता।

(३) **तीसरा दोष सुख का मात्रात्मक** (Quantitative) **होना है, गुणात्मक** (Qualitative) **होना नहीं।** जोन्स ने लिखा है कि बेन्थम का एक यह भी दोष है कि वह आनन्द को हलवे या केक की भाँति ऐसा भौतिक पदार्थ समझता है, जिसे विभिन्न खण्डों में विभक्त किया जा सकता है। उसकी दृष्टि में विभिन्न पदार्थों और कार्यों से प्राप्त होने वाले आनन्द विभिन्न प्रकार के नहीं हैं। उदाहरणार्थ, हमें कुछ आनन्द घूमने जाने से प्राप्त होता है और कुछ घर पर रहने से। जब हम घूमने के स्थान पर घर पर रहने का निर्णय करते हैं तो बेन्थम के अनुसार यह इसलिए किया जाता है कि आनन्द की जितनी मात्रा घर पर रहने से मिलती है उतनी घूमने से नहीं मिलती है। घर पर रहने की सुख की मात्रा का मूल्य घूमने के आनन्द की मात्रा से अधिक है, किन्तु दोनों आनन्दों में प्रकार अथवा गुण का कोई अन्तर नहीं है। मात्रा पर बल देने के कारण बेन्थम सुख का मात्रात्मक या संख्यात्मक (quantitative) रूप मानता है, किन्तु वह सुखों के प्रकार या गुण के आधार पर कोई गुणात्मक (qualitative) भेद नहीं करता। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त उदाहरण में हमें घर में रहने से बच्चों के साथ खेलने और मनोरंजन करने के, पत्नी के साथ रहने तथा बातचीत करने के आनन्द प्राप्त होते हैं; ये घूमने में मित्रों से मिलने-जुलने, गपशप करने, खेल-तमाशा देखने के आनन्द से सर्वथा भिन्न प्रकार के आनन्द हैं। अच्छा भोजन खाने से, संगीत सुनने से, कबड्डी खेलने से और कविता का रसास्वादन करने से जो आनन्द मिलते हैं, वे एक जैसे नहीं हैं। एक चित्रकार को अपना चित्र बनाने में जो आनन्द मिलता है, वह चित्र को देखने वाले के आनन्द से भिन्न है। आइसक्रीम या रसगुल्ला खाने से मिलने वाला आनन्द कालिदास अथवा शेक्सपीयर की साहित्यिक कृतियों के अनुशीलन से मिलने वाले साहित्यिक आनन्द के समान नहीं है। आनन्दों और सुखों के अनन्त भेद और प्रकार हैं तथा गुणों की दृष्टि से इनमें बड़ा तारतम्य और अन्तर है। उदाहरणार्थ, सर्दियों में रजाई ओढ़कर सोने में एक बड़ा आनन्द है तथा भीषण सर्दी को सहते हुए एवरेस्ट पर्वत के शिखर पर चढ़ने में एक आनन्द है। इन दोनों सुखों में बेन्थम के अनुसार केवल मात्रा का ही भेद माना जाना चाहिए, किन्तु इसमें गुणात्मक भेद भी है। रजाई में लेटे रहना निष्क्रिय एवं आलस्यपूर्ण होने के कारण निकृष्ट कोटि का आनन्द है, एवरेस्ट पर आरोहण सक्रिय, साहसपूर्ण, अद्भुत और असाधारण कार्य होने के कारण एक उत्कृष्ट कोटि का आनन्द हैं। बेन्थम का सिद्धान्त सुख की मात्रा पर ही बल देने के कारण और सुख के प्रकार तथा गुणों की उपेक्षा करने के कारण दोषपूर्ण है। बेन्थम के प्रसिद्ध अनुयायी जॉन स्टुअर्ट मिल ने सुख एवं उपयोगिता में गुण के भेद को भी स्वीकार किया है और यह माना है कि सुख को केवल मात्रा के मापदण्ड से नहीं परखा जा सकता।

(४) **चौथा दोष यह है कि बेन्थम द्वारा बताई गई पद्धति से सुखों की मात्रा को सही ढंग से मापना सम्भव नहीं है,** क्योंकि इसने विभिन्न विरोधी तत्वों की

आपेक्षिक तुलना करने या मूल्यांकन करने की और मापने की निश्चित पद्धति नहीं बताई गई है। उदाहरणार्थ, बेन्थम ने यह कहा है कि सुख की मात्रा को निश्चित करते हुए हमें प्रगाढ़ता (Intensity) और अवधि (Duration) को देखना चाहिए। यदि कुछ सुख हमें समान रूप से घनी मात्रा में तथा समान काल के लिए आनन्द देते हैं तो उन सुखों की मात्रा के निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु यदि एक सुख की प्रगाढ़ता कम तथा अवधि अधिक है और दूसरे की प्रगाढ़ता अधिक है तथा अवधि कम है तो इन दोनों के सुखों की मात्रा और तारतम्य का निर्धारण कैसे हो? प्रगाढ़ता और अवधि के आपेक्षिक महत्व को किस प्रकार निश्चित किया जाए? इस विषय में मौन रहने के कारण बेन्थम की आनन्दमापक पद्धति हमारे लिए निरुपयोगी है।

(५) पाँचवाँ दोष नैतिकता के सिद्धान्तों को तिलांजलि देना है। बेन्थम भारतीय चार्वाकों की भाँति केवल भौतिक आनन्दों को महत्व देता है और उनके आधार पर उपयोगिता के सिद्धान्त को स्थापित करता है। उसकी दृष्टि में उच्च नैतिक भावना, अन्तःकरण और सत्-असत् या धर्म-अधर्म का कोई स्थान नहीं है। उदाहरणार्थ, दस गुण्डे एक भले आदमी को लूटते हैं। इस दशा में अधिकतम लोगों का सुख तो इसी में है कि एक सज्जन को लूट लिया जाए, क्योंकि इसमें दस को लाभ है, केवल एक को ही हानि है। किन्तु क्या ऐसा होना चाहिए? नीतिशास्त्र हमें यह बताता है कि ऐसा नहीं होना चाहिए, दस दुष्टों के सुख की अपेक्षा एक सज्जन का हित-सम्पादन अधिक वांछनीय है। किन्तु बेन्थम के विचार में नैतिकता का कोई स्थान न होने से ऐसा सम्भव नहीं है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने ठीक ही लिखा है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में तथा अनिवार्य रूप से अपने लिए आनन्ददायी वस्तु को पाना चाहता है तो यह कहना निरर्थक है कि उसे कोई काम करना चाहिए। यदि हर आदमी को सदैव अपने आनन्द का अनुसरण करना हो तो नीतिशास्त्र दूरदर्शिता के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता है। उपयोगितावाद के मन्तव्यों से आप इसके सिवाय कोई परिणाम नहीं निकाल सकते।

मर्रे ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि **"यदि बेन्थम के मतानुसार हम अन्तःकरण को स्वीकार नहीं करते तो नैतिक और अनैतिक कार्य का कोई भेद नहीं रहेगा, केवल उपयोगी तथा अनुपयोगी कार्य ही रहेंगे।** यदि व्यक्ति के अन्तःकरण को अस्वीकार किया जाए तो इन व्यक्तियों से बनने वाले समाज का सामूहिक अन्तःकरण नहीं होगा। अपराधी को समाज की निन्दा की अनुभूति नहीं होगी।" यह समाज में घोर अनैतिकता और अव्यवस्था को उत्पन्न करने वाली अत्यन्त अवांछनीय और हानिकारक स्थिति होगी।

(६) इस सिद्धान्त में एक बड़ा दोष यह है कि यह समाज की बहुसंख्या द्वारा अल्पसंख्या को कुचलने तथा उस पर अत्याचार करने का अवसर प्रदान करता है। यदि आनन्द मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है तो उसे पाने का अधिकार सब को दिया जाना चाहिए। किन्तु बेन्थम का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के आनन्द पर नहीं, किन्तु बहुसंख्या के आनन्द पर बल देता है। क्या यह उचित है कि बहुसंख्या अल्पसंख्या को कुचलकर तथा उस पर अत्याचार करके आनन्द प्राप्त करे? यदि बहुसंख्या अपने आनन्द के लिए अल्पसंख्या को जेलखाने के सींखचों में बन्द करना या अपने स्वार्थ के लिए उसे

दास बनाना आनन्ददायक समझती है तो क्या यह न्यायोचित है ? बेन्थम इसे न्यायोचित समझता है। यदि इस बात को मान लिया जाए तो अत्याचारी शासक को प्रजा पर तब तक अन्याय और अत्याचार करने का अधिकार मिल जाएगा, जब तक वह अपने इस कार्य को बहुसंख्या को अधिकतम आनन्द देने वाला सिद्ध कर सके। बेन्थम ने न्याय के विचार को तिलांजलि दे दी है, अतः शासक के ऐसे कार्य कभी अन्यायपूर्ण नहीं हो सकते हैं। इस दशा में अल्पसंख्या का सुख बहुसंख्या के सुख से दबा रहेगा। बेन्थम के सिद्धान्त में अल्पसंख्या के पास बहुसंख्या के अन्याय और अत्याचार से परित्राण पाने का कोई मार्ग नहीं है। हेलोवेल ने यह ठीक ही लिखा है कि **यह बहुमत के अत्याचार को प्रोत्साहित करने वाला तथा स्थायी बनाने वाला है।**

(७) **बेन्थम की एक मौलिक भूल यह भी है कि वह केवल आनन्द की प्राप्ति पर बल देता है** और यह भूल जाता है कि मनुष्यों के आनन्दों की इच्छा और सुखों की तृष्णा कभी पूरी नहीं हो सकती है। हम अपनी इच्छाओं को जितना पूरा करते हैं, ये उतनी ही बढ़ती चली जाती हैं। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए इच्छाओं के दमन और संयम का मार्ग अवलम्बन करना श्रेयस्कर समझते हैं। अपनी इच्छाओं व सुखों को पूरा करने से हम उनके दास बन जाते हैं। अतः बेन्थम का सुख-प्राप्ति का सिद्धान्त मौलिक रूप से मिथ्या है।

(८) **उपयोगितावाद की विचारधारा का आधार मनोविज्ञान तथा नीतिशास्त्र की भ्रान्त एवं गलत धारणाएँ हैं।** बेन्थम मानव-प्रकृति को कोरा सुखवादी मानता हुआ उसकी मानसिक रचना का सही रूप हमारे सामने नहीं रखता है। वह मनुष्य को घोर स्वार्थी तथा केवल अपने सुख के लिए प्रयत्न करने वाला मानता है। किन्तु मनुष्य स्वार्थी ही नहीं, अपितु परोपकारी भी है; वह अपने लिए नहीं, किन्तु दूसरों के लिए जीता है। वह केवल सुख की भावना से नहीं, अपितु परोपकार, देश-प्रेम, बलिदान, त्याग और तपस्या की भावनाओं से प्रेरित होकर कार्य करता है।

(९) **बेन्थम समाज और समुदाय की पृथक् सत्ता नहीं मानता है,** वह इसे व्यक्तियों का समूह मात्र मानता है। जिस प्रकार विभिन्न अणुओं से किसी वस्तु का निर्माण होता है, इनसे पृथक् उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वैसे ही बेन्थम समाज को व्यक्तियों के समूह से भिन्न नहीं मानता है। किन्तु समाज केवल व्यक्तियों का पुँजमात्र नहीं है, अपितु वह विकसित होने वाली एक संस्था है।

(१०) **उपयोगितावाद का ध्येय अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख प्राप्त करना है,** किन्तु यह सम्भव नहीं प्रतीत होता है। सुख व्यक्तिगत अनुभव की वस्तु है, वह सबके लिए एक जैसा नहीं हो सकता। इस दशा में एक सामान्य सुख और सामान्य आनन्द की कल्पना कैसे की जा सकती है ? सुख वैयक्तिक है, अतः एक सामान्य सुख या आनन्द की कल्पना ठीक प्रतीत नहीं होती है।

(११) **बेन्थम का सिद्धान्त तार्किक दृष्टि से भी दोषपूर्ण है।** जेम्स मिल ने बेन्थम का समर्थन करते हुए कहा है कि आनन्द ही एकमात्र वांछित या चाही जाने वाली वस्तु है, अतः आनन्द एकमात्र **वांछनीय** (desirable) वस्तु है। उसका यह तर्क है कि क्योंकि देखी और सुनी जाने वाली वस्तुएँ एकमात्र दर्शनीय और श्रवणीय वस्तुएँ हैं, इसी

प्रकार चाही जाने वाली वस्तुएँ वांछनीय हैं। यदि खाद्य वस्तु वही है जो खाई जाए, तो वांछनीय वस्तु वही है जो चाही जाए। वस्तुतः यह तर्क भ्रान्त है और मिथ्या सादृश्य पर आधारित है, क्योंकि दर्शनीय तथा खाद्य का अर्थ है—जो देखा जा सके तथा खाया जा सके। यह विशुद्ध रूप से भौतिक विचार है, किन्तु वांछनीय का अर्थ है—जो चाहा जाने योग्य हो, अतः वांछनीय शब्द में नीतिशास्त्र का विचार निहित है। चाही जाने योग्य वस्तु केवल वही नहीं है, जिसके लिए हम इच्छा करते हैं, वह खाद्य और दर्शनीय वस्तुओं से सबसे भिन्न है। हमारी इच्छाएँ नाना प्रकार की होती हैं, इनमें परस्पर संघर्ष होता है। नीतिशास्त्र की आवश्यकता इसीलिए है कि वह हमें दो प्रकार का ज्ञान करा सके। पहला तो यह है कि वह हमें ऐसी कसौटी दे सके जिससे अच्छी-बुरी इच्छाओं का निर्धारण किया जा सके तथा दूसरा यह कि प्रशंसा एवं निन्दा के साधनों से अच्छी इच्छाओं को प्रोत्साहित एवं बुरी इच्छाओं को निरुत्साहित किया जा सके। मनुष्य प्रायः स्वार्थी, अज्ञानी, अदूरदर्शी होते हैं। उनकी अपनी वैयक्तिक इच्छाओं तथा सामाजिक हित में विरोध हो सकता है, इसका निराकरण नीतिशास्त्र से होता है। उपयोगितावाद इसकी उपेक्षा करता है।

(१२) **बेन्थम के मत का एक बड़ा दोष यह है कि वह समाज को केवल व्यक्तियों का समूह मात्र मानता है** और इस विषय में घोर व्यक्तिवादी (individualistic) है। इसके अनुसार जिस प्रकार पदार्थ अणुओं के संयोग से बनते हैं, उसी प्रकार समाज व्यक्तियों के संयोग से बनता है। व्यक्तियों के अतिरिक्त समाज की कोई पृथक् सत्ता या व्यक्तित्व नहीं है। इसे समाज तथा राज्य का अणुवादी (atomistic) विचार कहा जाता है। इसके अनुसार समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के जीवनों, उद्देश्यों तथा प्रयोजनों से पृथक् समाज का अपना कोई जीवन, उद्देश्य या प्रयोजन नहीं है, समष्टि की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वह इसको बनाने वाले व्यक्तियों का योगफल मात्र है। अतः यह कहा जाता है कि उपयोगितावादियों का दृष्टिकोण यह है कि जंगल पेड़ों का समूह मात्र है, उससे पृथक् नहीं है। ये सावयव (organic) सिद्धान्त मानने वालों की भाँति राज्य और समाज का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते। इसका यह परिणाम हुआ है कि वे व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का यथार्थ निरूपण नहीं कर सके, इनमें एक झूठा उग्र विरोध समझते रहे। उनका यह मत था कि राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मर्यादित करने वाले हैं, अतः व्यक्ति की स्वाधीनता की रक्षा के लिए वे मुक्तद्वार (laissez faire) की या राज्य द्वारा न्यूनतम हस्तक्षेप की नीति को आदर्श मानते थे। उनकी दृष्टि में, फ्रीमेन के शब्दों में, सबसे अच्छी सरकार वही है, जो कम-से-कम शासन करती है (That government is the best which governs the least)। बार्कर ने यह ठीक ही लिखा है कि बेन्थम ने यह सिद्धात उस समय प्रतिपादित किया था, जब योरोप की विभिन्न सरकारें अपने अत्यधिक प्रतिबन्धों और नियमों से व्यापार एवं उद्योग का गला घोंट रही थीं, कानून सामन्तवादी व्यवस्था के प्रबल पोषक थे और योरोप की सरकारों पर कुटिल स्वार्थ रखने वाले व्यक्तियों का प्रभुत्व था। उस समय बेन्थम ने राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप और नियमों का विरोध करके वास्तव नें एक महान् सेवा की। किन्तु १९वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति की

प्रगति बढ़ने से परिस्थितियाँ बदल गईं, उस समय समाज का हित इसी में प्रतीत होता था कि वह मजदूरों का शोषण करने वाले तथा उनसे पशुओं की भाँति काम लेने वाले पूंजीपतियों की स्वतन्त्रता पर कठोर प्रतिवन्ध लगाए। उस समय राज्य और व्यक्ति की स्वतन्त्रता में विरोध का बेन्थम का उपर्युक्त सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या और भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होने लगा। इसके स्थान पर ग्रीन ने नवीन परिस्थितियों के अनुरूप आदर्शवाद (Idealism) के नूतन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

(१३) **बेन्थम के उपयोगितावाद का एक यह भी दोष है कि यह केवल शासन (Government) विषयक सिद्धान्त है,** राज्य के सम्बन्ध में यह सर्वथा मौन है। बेन्थम ने राज्य और सरकार में कोई अन्तर नहीं माना, क्योंकि उपयोगितावाद प्रधान रूप से व्यक्ति द्वारा सुख-प्राप्ति के लक्ष्य पर बल देता है, वह मनुष्य के और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का कोई विश्लेषण या विवेचन नहीं करता, वह केवल इतना ही कहता है कि राज्य को न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह राज्य के सम्बन्ध में विस्तृत सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं करता। राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से राज्य के सिद्धान्तों का विवेचन न करना उसकी एक बड़ी कमी है।

(१४) **बेन्थम की विचारधारा का एक बड़ा दोष यह भी है कि वह स्वतन्त्रता या समानता को कोई महत्व नहीं देता।** उसके मतानुसार कानून का प्रधान लक्ष्य सुरक्षा (security) प्रदान करता है। सुरक्षा सामाजिक जीवन तथा मानवीय सुख के लिए परम आवश्यक है। समानता के सिद्धान्त का पालन उसी हद तक होना चाहिए, जहाँ तक इससे सुरक्षा को कोई बाधा नहीं पहुँचती है। स्वतन्त्रता कानून का प्रधान विषय नहीं है। उसे सुरक्षा का ही अंग समझना चाहिए। वह समानता और स्वतन्त्रता का नारा बुलन्द करने वाली फ्रेंच राज्यक्रान्ति से पूर्व होनेवाले योरोप के लोकोपकारी (Benevolent) निरंकुश राजा—सम्राट् फ्रांसिस और रूस की रानी कैथेराइन का प्रशंसक था। फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने जब 'मानवीय अधिकारों का घोषणापत्र' प्रकाशित किया तो बेन्थम ने यह कहा कि इन अधिकारों को केवल तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(१) पहली श्रेणी के अधिकार दुर्बोध और अबुद्धिगम्य हैं। (२) दूसरी श्रेणी के अधिकार मिथ्या हैं। (३) तीसरी श्रेणी के अधिकार अबुद्धिगम्य और मिथ्या दोनों हैं। समानता के बारे में उसका विचार था कि यह हिंसा से स्थापित की जा सकती है और इसे हिंसा से ही समाज में बनाए रखा जा सकता है। बेन्थम के ये विचार वर्तमान युग में किसी को भी ग्राह्य और उचित नहीं प्रतीत हो सकते।

उपर्युक्त आलोचनाओं से स्पष्ट है कि बेन्थम के उपयोगितावाद का दार्शनिक आधार और मनोविज्ञान अपर्याप्त, अयथार्थ और भ्रान्तिपूर्ण था। इसमें मानवीय कार्यों के एकमात्र मूल प्रेरक हेतु सुख की प्राप्ति तथा दुःख के निवारण की कामना को मानना बड़ा स्थूल, भ्रान्त, भौतिक तथा एकांगी दृष्टिकोण था। इसकी सुखों की मात्रा को नापने की पद्धति अत्यन्त दोषपूर्ण थी। इसमें सुखों के स्वरूप पर और व्यक्तियों की रुचियों पर ध्यान नहीं दिया गया था। इससे राज्य में बहुमत को अल्पमत पर मनमाना अत्याचार करने की खुली छूट मिल गई थी। इसमें व्यक्ति की समानता और स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकारों की उपेक्षा की गई थी तथा व्यक्ति और समष्टि के हित के समन्वय की कोई

व्यवस्था नहीं की गई थी। यह सिद्धान्त बड़ा अस्पष्ट, अपूर्ण, गड़बड़, अव्यवस्था तथा भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला था।

बेन्थम की देन और महत्व

किन्तु इन दोषों के होते हुए भी इसका राजनीतिक चिन्तन की विचारधारा में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। बेन्थम मौलिक अथवा उत्कृष्ट कोटि का विचारक नहीं था। वेपर के शब्दों में, "उसने ज्ञान का सिद्धान्त लॉक तथा ह्यूम से ग्रहण किया, सुख-दुःख का सिद्धान्त हेल्वेशियस से लिया, सहानुभूति और प्रतिकूल भावना का सिद्धान्त ह्यूम से लिया, उपयोगिता का विचार कई अन्य लेखकों से लिया। उसमें मौलिकता का अभाव था। फिर भी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट देनों तथा प्रभाव के कारण वह विशिष्ट स्थान रखता है। वह एक क्रियात्मक सुधारक था, उसने उस समय की सामाजिक बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान खींचा, जनता के हित के लिए विभिन्न प्रकार के सुधारों के लिए प्रबल आन्दोलन किया और उसके तथा उसके शिष्यों के प्रयास से अनेक क्षेत्रों में सुधार हुए। उसके विचार भले ही परस्पर-विरोधी और अस्पष्ट हों, किन्तु इनसे राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में नवीनता, स्पष्टता और मौलिकता आई। अतः बेन्थम के विचारों में मौलिकता तथा स्पष्टता न होने पर भी, उसने राजनीतिक चिन्तन में कई नई देनें तथा मौलिक प्रवृत्तियाँ आरम्भ कीं। विभिन्न क्षेत्रों में उसका असाधारण प्रभाव उल्लेखनीय है। उसकी **महत्वपूर्ण देनें** निम्नलिखित हैं—

(१) **उसकी पहली देन उपयोगितावाद के दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना और इसे वैज्ञानिक रूप प्रदान करना है।**[1] उसी के प्रयत्नों से इसने एक शास्त्रीय और ब्रिटिश राजनीति पर प्रभाव डालने वाले दार्शनिक उग्र सुधारवाद का रूप धारण किया। बेन्थम ने पुराने सिद्धान्तों का अद्‍भुत सम्मिश्रण करते हुए इससे समाज-सुधार को सम्पन्न करने वाले प्रभावशाली साधन का आविष्कार किया। यह बेन्थम की सर्वथा नवीन और मौलिक देन थी।

(२) **उसकी दूसरी देन राज्य के कार्य और उद्देश्य के सम्बन्ध में एक नए सिद्धान्त का विकास था।** उसके मतानुसार राज्य का लक्ष्य अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख पहुँचाना है। भले ही इस सुख को निश्चित करने में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ हों, किन्तु यह अपने-आपमें एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त था। इसने यह घोषणा की कि राज्य मनुष्य के लिए है, न कि मनुष्य राज्य के लिए है। उसने इस बात पर बल दिया था कि केवल उसी राज्य को उत्तम माना जा सकता है, जो अपने प्रजाजनों का हित सम्पादित करे। बेन्थम ने कहा था कि समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों

---

1. मिलाइए मैक्सी का कथन—"The idea of utility was of ancient and wellknown lineage; Bentham did not discover it....What he and his followers did was to equip it with the paraphernalia of science."

—*Political Philosophies*, p. 487.

के हित में ही समाज का हित है। वेपर ने राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में बेन्थम की सबसे बड़ी देन यह मानी है।

(३) **बेन्थम की तीसरी बड़ी देन कानूनों के सुधार के क्षेत्र में थी।** वह प्रधान-रूप से तत्कालीन कानूनों के व्यावहारिक सुधार के लिए प्रचण्ड आन्दोलन करने वाला था, यह उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। इस क्षेत्र में उसके अमिट प्रभाव का उल्लेख करते हुए सर हेनरी मेन ने लिखा था कि "बेन्थम के समय में होने वाले मुझे किसी एक भी ऐसे कानूनी सुधार का ज्ञान नहीं है, जिसका मूलस्रोत उसे न बताया जा सकता हो।"[1] बेन्थम यद्यपि इंगलिश कानूनों की संहिता (Code) बनाने के उद्देश्य में सफल नहीं हुआ, किन्तु उसने इनके भीषण दोषों को प्रदर्शित करके कानूनी सुधार की महत्वपूर्ण प्रक्रिया का श्रीगणेश किया। उससे पहले पार्लियामेण्ट बहुत कम कानून बनाती थी, उसके आन्दोलन ने इसकी निष्क्रियता को समाप्त किया और सभी क्षेत्रों में सुधार के लिए कानून बनाने के उस नवयुग का आरम्भ किया, जो अब तक चल रहा है। फौजदारी कानून और क्रूर दण्ड-विधान को मानवीय बनाने तथा संशोधित करने के क्षेत्र में तथा जेलों की दशा सुधारने के सम्बन्ध में उसके स्मरणीय कार्य का पहले उल्लेख किया जा चुका है। इस क्षेत्र में इतना अधिक कार्य अब तक किसी अन्य व्यक्ति ने नहीं किया था। उसके प्रयत्न से कानून में सरलता, सुबोधता और स्पष्टता आई। उसने कानून के मौलिक सिद्धान्तों के चिन्तन में तथा न्याय के प्रशासन के सुधार में बहुत बड़ा कार्य किया। कानूनों के संहिताकरण पर बेन्थम द्वारा बल दिया जाने के कारण १९वीं शताब्दी में अनेक देशों में कानूनी संहिताएँ बनाई गईं। उसने पार्लियामेण्ट के सुधार पर बल दिया और १८३२ में उसकी मृत्यु के वर्ष में पार्लियामेण्ट का पहला सुधार कानून पास हुआ। इसके बाद ब्रिटिश संसद् के सुधार के लिए आन्दोलन करने वाले सभी व्यक्ति उससे यह प्रेरणा पाते रहे। चार्टिस्ट आन्दोलन ने बेन्थम द्वारा प्रस्तावित गुप्त मतदान प्रणाली और पार्लियामेण्ट के वार्षिक चुनावों पर बल दिया। बेन्थम के इस क्षेत्र के कई सुधार—स्त्रियों का मताधिकार, प्रतियोगिता परीक्षाओं द्वारा सरकारी पदों पर नियुक्ति, गुप्त मतदान प्रणाली क्रियात्मक रूप धारण कर चुके हैं; किन्तु पार्लियामेण्ट के वार्षिक निर्वाचन, राजतन्त्र की तथा लार्डसभा की समाप्ति और संसद् द्वारा प्रधान-मन्त्री के चुनाव के सुधार स्वीकार नहीं हुए। दरिद्र सहायता कानून (Poor Law) के सुधार तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई की व्यवस्था के कानूनों को बनवाने का श्रेय बेन्थम को है। इन कानूनों का निर्माता एडविन चैडविक उसका पट्ट शिष्य था। उसने बच्चों और पशुओं की रक्षा के लिए कानून बनवाए, नौचालन कानूनों के और सूदखोरी के विरुद्ध कानून को रद्द कराया, ट्रेड यूनियनों को वैध बनाने वाले १८२४-२५ के संघ बनाने के कानूनों (Combination Acts) में उसका बड़ा भाग था। उसके प्रयत्न से ही सीमित दायित्व के तथा धार्मिक अनर्हताओं के निवारण के कानून बने। उसने इस सिद्धान्त को सर्वमान्य बनाया कि राज्य को नवीन कानूनों के निर्माण से तथा पुराने कानूनों के संशोधन से जनता को अधिकतम सुख पहुँचाने का साधन बनना चाहिए।

1. "I do not know a single law reform effective since Bentham's day which cannot be traced back to his influence." —Maine.

सुधारों के क्षेत्र में बेन्थम के उपयोगितावाद का न केवल इंगलैण्ड पर, अपितु भारत पर भी प्रभाव पड़ा। सुप्रसिद्ध भारतीय गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बैण्टिक बेन्थम का परम प्रशंसक तथा कट्टर भक्त था। बैण्टिक ने बेन्थम को लिखा था कि "वास्तव में भारत का गवर्नर-जनरल होकर मैं नहीं जा रहा हूँ, किन्तु आप जा रहे हैं।" उसने बेन्थम के विचारों से ओत-प्रोत तथा प्रभावित होकर भारत में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सुधार किए, सती-प्रथा का उन्मूलन किया, ठगी बन्द की, अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति का श्रीगणेश किया तथा भारतीय कानूनों के संहिताकरण का प्रयत्न आरम्भ किया।

(४) राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में बेन्थम की चौथी देन कानून और प्रभुसत्ता के विचार थे। बेन्थम से पहले कानून को 'बुद्धि' (reason) अथवा प्रकृति (nature) का रहस्यपरिपूर्ण आदेश माना जाता था। किन्तु बुद्धि और प्रकृति दोनों का स्वरूप अनिश्चित और अस्पष्ट था। बेन्थम ने कानून के इस गहन और अस्पष्ट स्वरूप के स्थान पर एक अत्यन्त सरल और स्पष्ट मत का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार कानून एक ऐसी सत्ता का आदेश है, जिसकी आज्ञाओं का पालन समाज स्वाभाविक रूप से करता रहता है। ऐसी आज्ञाओं को प्रसारित करने और पालन कराने की शक्ति अथवा अधिकार प्रजा द्वारा स्वाभाविक रूप से आज्ञापालन का परिणाम था, अतः कानून आज्ञापालन को स्वाभाविक रूप से कराने वाली शक्ति की इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र है और प्रभुसत्ता इस सर्वोच्च इच्छा का सामर्थ्य, गुण एवं योग्यता है। यह सर्वोच्च इसलिए है कि इसके आदेशों का पालन अन्य व्यक्तियों के आदेशों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक रूप से होता है। बेन्थम के मतानुसार मानवीय मामलों में केवल मनुष्य की ही इच्छाओं का निर्धारण किया जा सकता है, अतः प्रभुसत्ता केवल एक ऐसे निश्चित मानवीय उच्च व्यक्ति में ही रह सकती है, जिसके आदेशों का निरन्तर स्वाभाविक रूप से पालन होता रहे। इस दृष्टिकोण के अनुसार शासन करने के अधिकार का तथा वशवर्ती बने रहने के कर्त्तव्य का मूल स्रोत बुद्धि या प्रकृति के नियम नहीं थे, अपितु मानव के संगठन बनाकर रहने का सरल एवं सामान्य लक्ष्य था। राज्य के आदेश का पालन कोई नैतिक या धार्मिक कर्त्तव्य नहीं था। बेन्थम ने मेकियावेली की भाँति राजनीति और नैतिकता का सम्बन्ध-विच्छेद किया। वह प्रजा के आज्ञापालन के कर्त्तव्य और विद्रोह के अधिकार का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं मानता था। प्रभुसत्ता एक प्राकृतिक घटना थी। प्रजा को राजा की आज्ञा का पालन कब तक करना चाहिए और कब विद्रोह करना चाहिए, इसका आधार उपयोगिता का सिद्धान्त था।

बेन्थम को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने कानून और प्रभुसत्ता पर विचार करके सर्वप्रथम विधिशास्त्र (Jurisprudence) के मौलिक सिद्धान्तों की मीमांसा और विवेचना आरम्भ की। सैबाइन ने लिखा है कि बेन्थम का विधिशास्त्र केवल उसकी ही सबसे बड़ी कृति नहीं है, अपितु यह १९वीं शताब्दी की एक अधिकतम उल्लेखनीय बौद्धिक उपलब्धि है।

(५) उपयोगितावाद की पाँचवीं देन अनेक महत्वपूर्ण मध्यकालीन राजनीतिक

विचारों की कड़ी आलोचना और प्रबल खण्डन था। बेन्थम से पहले राजनीतिक क्षेत्र में **सामाजिक अनुबन्ध** (Social Contract) के सिद्धान्त का साम्राज्य था। राज्य सुदूर स्मरणातीत समय में, इतिहास के उषाकाल में हुए एक समझौते का परिणाम समझा जाता था। बेन्थम ऐसे किसी काल्पनिक भूतकालीन समझौते को नहीं, अपितु प्रजाजनों द्वारा स्वाभाविक रूप से वर्तमान समय में आज्ञापालन को राज्य का आधार मानता था। मनुष्य आज्ञा का पालन उपयोगिता के आधार पर करते हैं, उन्हें इससे जो सुख और लाभ प्राप्त होते हैं, वे आज्ञाभंग के दुष्परिणामों की अपेक्षा अधिक उपयोगी तथा लाभप्रद हैं। इसके अतिरिक्त उसने उस समय प्रचलित सभी प्रकार के अधिकारों का खण्डन करके म॰ कालीन राजनीतिक विचारधारा के कूड़े-कचरे को साफ किया; रहस्यवादी विचार-धा राओं और अमूर्त्त काल्पनिक विचारों के जाल को छिन्न-भिन्न किया। उस समय एक ओर रूढ़िवादी विचारक दैवी अधिकार का, सामन्ती अधिकार का, ऐतिहासिक परम्पराओं द्वारा प्राप्त होने वाले अधिकार का, सामाजिक समझौते से प्राप्त होने वाले अधिकार का समर्थन कर रहे थे; दूसरी ओर क्रान्तिकारी एवं उग्र विचारक मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों पर बल दे रहे थे। उसने इन दोनों विचारधाराओं को समान रूप से बेहूदा और भ्रान्तिपूर्ण बताया। उसने कहा कि किसी को न तो शासन करने का अधिकार है और न ही किसी को स्वतन्त्र होने का अधिकार है, वास्तविक तथ्य तो राज्य की शक्ति का है, हमें इसे शक्तिशाली बनाने वाले कारणों और परिस्थितियों पर विचार करना चाहिए। समझदार राजनीतिज्ञों का कार्य इस शक्ति के स्वरूप एवं नियमों के रहस्यों को समझते हुए इसका प्रयोग मानवीय सुख की वृद्धि के लिए करना चाहिए। उसका वास्तववाद (Realism) एवं अनुभववाद पर आधारित राजनीतिक शक्ति का सूक्ष्म विश्लेषण और विवेचन मध्यकालीन रहस्यवाद के अन्धकार में उलझी विचारधारा में एक नए आलोक की किरण था। डनिंग ने यह सत्य ही लिखा है कि फ्रेंच क्रान्ति के समय का समूचा दर्शन अस्पष्टता और गड़बड़ी से भरा हुआ है, बेन्थम ने इस स्थिति पर तीव्र प्रकाश डाला। उसने क्रान्तिकारी तथा रूढ़िवादी विचारधाराओं की धज्जियाँ उड़ाईं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बेन्थम के उपयोगितावाद पर भी प्रबल आक्रमण किए गए हैं, किन्तु यह बात निर्विवाद है कि यह सिद्धान्त एक भीषण बाढ़ की तरह था। यह अपने साथ अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिक चिन्तन के कूड़ा-करकट को तथा वैज्ञानिक चिन्तन की अनेक बाधाओं को बहाकर ले गया।

(६) **बेन्थम की छठी देन इंगलिश राजनीतिक जीवन में स्थिरता की प्रवृत्ति को बढ़ाना था।** फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद से योरोप में क्रान्तियों की बाढ़ आ गई थी; १९वीं शताब्दी में अधिकांश देशों में क्रान्तियों द्वारा समाज में मौलिक, उग्र एवं क्रान्तिकारी परिवर्तन किए गए। किन्तु बेन्थम ने शनैः-शनैः सुधार करके ब्रिटिश राजनीति को क्रान्तियों से सुरक्षित बनाया, इंगलिश लोगों को इस बात का विश्वास कराया कि सुधार क्रान्ति की अपेक्षा अधिक वांछनीय और स्पृहणीय है, यद्यपि उस समय ग्लैडस्टन कहा करता था कि कोई भी महान् उद्देश्य भावावेश के बिना पूरा नहीं हो सकता। वेपर के कथनानुसार, "**उन दिनों ब्रिटिश कामन्स सभा में ऐसे पाशविक कोलाहलपूर्ण संघर्ष होते थे कि इन्हें ५० गज की दूरी से सुना जा सकता था, किन्तु बेन्थम के सुधारों के कारण**

अंग्रेज यह समझ गए कि सभी विवादास्पद प्रश्नों का समाधान शान्तिपूर्ण रीति से होना चाहिए, सिरों को फोड़ने के स्थान पर इन्हें गिन लेना कहीं अधिक अच्छा है।"

(७) **बेन्थम की सातवीं महत्वपूर्ण देन राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में अनुसन्धान और गवेषणा की प्रवृत्ति को महत्व देना था।** आजकल यह प्रवृत्ति सब राज्यों के लिए आवश्यक मानी जाती है। एबेन्स्टाइन ने इसे विधानपालिका, न्यायपालिका और कार्य-पालिका के तीन अंगों के समान महत्व रखने वाला चौथा अंग बताया है। राज्य सभी योजनाओं, कार्यों और नीतियों का निर्धारण करने से पहले इनके सम्बन्ध में सब प्रकार का आवश्यक अनुसन्धान और विचार-विमर्श करते हैं, विवादास्पद प्रश्नों की जाँच के लिए समितियाँ और आयोग नियुक्त किए जाते हैं, इनके द्वारा सम्बद्ध समस्याओं की पूरी जाँच और अनुसन्धानों के बाद ही नीति निश्चित की जाती है। आजकल यह पद्धति सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होती है, किन्तु बेन्थम से पहले ऐसी कोई पद्धति नहीं थी। उस समय उत्तम शासन पुरानी परम्परा, सामान्य बुद्धि और अन्त:प्रेरणा के आधार पर किया जाता था, किन्तु बेन्थम ने इस बात पर बल दिया कि गम्भीर विचार एवं सम्बद्ध विषय पर सामग्री एकत्र करके, उसका अनुसन्धान करके, उसके आधार पर ही नीति निश्चित होनी चाहिए। वह सार्वजनिक नीति के प्रश्नों के सम्बन्ध में गवेषणात्मक पद्धति लागू करने वाला पहला आधुनिक लेखक था।

(८) **अनुभववाद**—इस पद्धति को लागू करते हुए बेन्थम ने जिस **अनुभववादी** (Empirical) **तथा आलोचनात्मक पद्धति का श्रीगणेश किया, वह भी उसकी अपूर्व देन है।** राजनीतिशास्त्र में उपयोगिता का सिद्धान्त नई वस्तु न थी, पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के सोफिस्ट यूनानी विचारक इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुके थे। 'अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख' के सिद्धान्त का आविष्कार उससे पहले हचेसन द्वारा हो चुका था। बेन्थम की नवीनता दर्शनशास्त्र के अनुभववाद को तथा आलोचनात्मक पद्धति को राजनीति, शासन और कानून के क्षेत्र में लागू करना था।

उपयोगितावाद के मौलिक सिद्धान्त और प्रमुख तत्व—(१) अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख—उपयोगितावाद का आधार उपयोगिता का सिद्धान्त है। इसके अनुसार उपयोगिता राज्य के सभी कार्यों का आधार होना चाहिए। उपयोगिता की कसौटी **अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित** (greatest good of the greatest number) है। इस विचारधारा में यह माना जाता है कि राज्य के सभी कार्य उपयोगिता पर आश्रित होने चाहिएँ। जिन कार्यों से राज्य के अधिकतम व्यक्तियों का कल्याण हो सके, उन्हीं कार्यों को राज्य द्वारा किया जाना चाहिए। उपयोगिता को इस प्रकार मानवीय जीवन का आधार मानकर जिस राजनीतिक सिद्धान्त का निर्माण किया गया है, उसे उपयोगितावाद कहते हैं। डेविडसन ने इसका लक्षण करते हुए कहा है, "यह मानव-जाति के कल्याण में अभिरुचि का प्रतिनिधित्व करता है; बौद्धिक सिद्धान्तों के आधार पर मानव-जीवन की परिस्थितियों को सुधारने के लिए व्यावहारिक प्रयास करने के लिए कटिबद्ध है और प्रभावशाली राजकीय कानूनों द्वारा जनता की स्थिति को

ऊँचा उठाना चाहता है।"[1]

(२) **उपयोगितावाद का मूल सार्वभौम सुखवाद** (Universal Hedonism) का सिद्धान्त है—उपयोगिता का अर्थ किसी वस्तु का कोई प्रयोजन पूरा करना अथवा उपयोगी होना है। इस दृष्टि से पानी और खाना उपयोगी हैं, क्योंकि यह हमारी प्यास और भूख के प्रयोजन को पूरा करते हैं। उपयोगितावादी इसका अर्थ सुख करते हैं और उस पदार्थ या कार्य को उपयोगी समझते हैं जो हमें सुख देता है और हमारा कल्याण करता है। ऐसे सभी कार्य उपयोगी हैं जिनसे मनुष्य के सुख में वृद्धि होती है और उसका कल्याण होता है। इसीलिए डेविडसन ने इसका लक्षण करते हुए यह लिखा है, "उपयोगिता कल्याण है, और इस कल्याण में मनुष्य को सुखी बनाने वाले सब प्रकार के तत्वों का समावेश होता है।"[2]

उपयोगितावाद सुखवादी सिद्धान्त है और यह मानकर चलता है कि मनुष्य सदा सुख की प्राप्ति और दुःख के निवारण का प्रयत्न करता है। सुखवाद का सिद्धान्त बेन्थम से बहुत पहले से प्रचलित था। प्राचीन भारत में चार्वाक लोगों ने इस पर बहुत बल दिया था और कहा था कि मनुष्य को चाहिए कि वह जब तक जीवित रहे तब तक किसी-न-किसी प्रकार से सुख पाने का प्रयत्न करता रहे, भले ही इसके लिए उसे कर्ज लेना पड़े।[3] प्राचीन यूनान में एपीक्योरस जैसे दार्शनिकों ने 'खाओ पीओ, मौज करो' के सिद्धान्त का प्रचार किया था। किन्तु बेन्थम द्वारा प्रतिपादित सुखवाद का सिद्धान्त यूनानी सुखवाद (Greek Hedonism) से एक अंश में मौलिक रूप से भिन्न है। चार्वाक और यूनानी व्यक्ति द्वारा सुख की प्राप्ति पर बल देते थे, इसलिए उनका सुखवाद वैयक्तिक या अहंवादी (Egoistic) सुखवाद था। किन्तु बेन्थम का सुखवाद केवल एक व्यक्ति के सुख पर नहीं, अपितु लगभग सभी या अधिकांश व्यक्तियों के सुख पर बल देता है। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति का सुख दूसरों के दुःख का कारण बने। बेन्थम ऐसे सुखवाद को स्वीकार नहीं करता है। उसके मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति की अपनी भलाई या सुख दूसरे व्यक्तियों के सुख के साथ जुड़ा हुआ है। अतः व्यक्ति को अपने सुख में सुखी न होकर, सबके सुख में सुखी होने का सिद्धान्त मानना चाहिए और इस पर आचरण करना चाहिए। अधिकांश अथवा समाज के लगभग सभी व्यक्तियों को सुख पहुँचाने का लक्ष्य रखने वाला यह सिद्धान्त **सार्वभौम सुखवाद** (Universal Hedonism) कहलाता है, और उपयोगितावाद इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

(३) **अनुभवमूलक** (Empirical) **होना**—उपयोगितावाद अनुभव पर आश्रित है। यह अनुभव को अन्तिम कसौटी समझता है और इसी के आधार पर व्यक्तियों के

1. 'It represents interest in the welfare of mankind, wedded to practical efforts to ameliorate the conditions of human life on rational principles and to raise the message through effective state legislation."

2. "The utility then is welfare and welfare covers every conceivable element that goes to determine and constitute man's happiness." —Davidson, *Political Thought in England*, p. 6.

3. "यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत।"

सुख-दुःख का निर्धारण करता है। उसके मतानुसार हमारे ज्ञान का मूल स्रोत और सच्चाई का अन्तिम मानदण्ड अनुभव ही है। बेन्थम से पहले हॉब्स और रूसो जैसे विचारकों ने कल्पना और कोरे तर्क के बल पर राजनीतिक सिद्धान्तों की स्थापना की थी। बेन्थम अपने उपयोगितावाद को इस स्थूल विश्व की ठोस वास्तविकताओं के आधार पर सुप्रतिष्ठित करता है। इसे ऐसे दार्शनिक पसन्द नहीं हैं जो अपनी कुटिया में बैठे हुए ऊँचे विचारों की उड़ान लेने में मस्त रहते हैं। यह काल्पनिक जगत् के स्थान पर वास्तविक जगत् के मनुष्यों और स्त्रियों की समस्याओं पर, उनके अनुभवों के आधार पर उपयोगी तत्वों का निर्धारण करके समाज के सुधार का मार्ग प्रशस्त करना चाहता है। अतः एडोल्फ मैट्ज़ ने यह ठीक ही लिखा है कि "उपयोगितावाद का उदय विद्यार्थियों के प्रकोष्ठों या व्याख्यान-भवनों में इतना नहीं हुआ, जितना जीवन की आवश्यकताओं तथा जीवन के लिए प्रतिदिन होने वाले संघर्षों के उतार-चढ़ाव में।"[1] अतः उपयोगितावाद यथार्थवादी विचारधारा है।

(४) **जनकल्याण की भावना**—उपयोगितावादी जनता के सामान्य कल्याण और सुख की भावना से अनुप्राणित और प्रेरित थे। उनका प्रधान लक्ष्य मनुष्य को सुखी बनाना और मानवीय कार्यों और क्रियाकलापों का इस विधि से संचालित करना था कि मनुष्य जीवन में अधिक-से-अधिक आनन्द प्राप्त कर सकें। मानव-जीवन को नारकीय और दुःखी बनाने वाले सब प्रकार के अन्याय-अत्याचार का उपयोगितावाद प्रबल विरोध और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन करता है। वस्तुतः उपयोगितावाद का दूसरा नाम मानवीय कल्याण (Humanism) है।

(५) **सुधारवाद**—उपयोगितावाद मानव-कल्याण की दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों में मनुष्य पर अत्याचार करने और उसे दुःखी बनाने वाली सभी व्यवस्थाओं में आमूल-चूल संशोधन करने पर बल देता है। पहले यह बताया जा चुका है कि बेन्थम ने किस प्रकार कानून के सभी क्षेत्रों में सुधार प्रस्तावित किए थे। उससे पहले न्याय को बड़े महंगे दामों में बेचा जाता था, छोटे-से-छोटे अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड जैसे भीषण दण्ड दिए जाते थे। जेलखानों में कैदियों के साथ अमानवीय दुर्व्यवहार किया जाता था। बेन्थम और उसके अनुयायियों ने तत्कालीन समाज के सर्वांगीण सुधार पर बड़ा बल दिया। बेन्थम के प्रमुख सुधार ये थे—जेलखानों की व्यवस्था ठीक बनाना, इंगलैण्ड की पार्लियामेण्ट की भ्रष्टाचारी पद्धति का और नगरपालिकाओं की पद्धति का सुधार, कर्ज के लिए बन्दी बनाने की व्यवस्था की समाप्ति, गरीबों के बच्चों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए प्रशिक्षण देना, गरीबों की सहायता के लिए बनाए गए कानूनों का सुधार, राष्ट्रीय शिक्षा की नवीन योजना, अपना कर्त्तव्य पालन न करने वाले सरकारी कर्मचारियों की पदमुक्ति की व्यवस्था करना, कानून और न्याय के प्रशासन की व्यवस्था में संशोधन। बेन्थम के प्रयास से १९वीं शताब्दी में इंगलैण्ड में कानून के सभी क्षेत्रों में इतने अधिक सुधार हुए कि सर फ्रेडरिक पोलक ने लिखा है कि १९वीं शताब्दी में

---

1. "It grew up not so much from the closets of students or from lecture rooms as from the hard necessities of life and fluctuating daily struggle for existence." —Rudolf Matz.

अंग्रेजी कानून में हुए प्रत्येक महत्वपूर्ण सुधार का मूल बेन्थम के विचारों के प्रभाव में खोजा जा सकता है।[1]

(६) **वैधानिक पद्धति में विश्वास**—उपयोगितावाद यद्यपि मनुष्य को सुखी बनाने के लिए सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन करना चाहता है किन्तु इसके लिए हिंसाप्रधान रक्तरंजित क्रान्ति के उपाय को अवलम्बन करने का विरोधी है। वह उदारवादी होने से लोकतन्त्र में पूरी आस्था रखता है और यह मानता है कि लोकमत को प्रभावित करके ही इसके दवाव से सरकार को अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख देने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन और संशोधन क्रान्तिपूर्ण उपायों से नहीं, अपितु शान्तिपूर्ण साधनों और वैधानिक (Constitutional Means) उपायों से लाना वांछनीय है। इस विषय में वेपर ने ठीक ही लिखा है कि **"बेन्थम ने अंग्रेजों के इस विश्वास को सुदृढ़ बनाया कि सुधार क्रान्ति से अत्यधिक मात्रा में वांछनीय है।"**[2]

(७) **राज्य और समाज का अन्तर**—उपयोगितावादी राज्य और समाज दोनों को विभिन्न संस्थाएँ मानते हैं। वे राज्य को व्यक्तिवाद के अनुसार कम-से-कम अधिकार देना चाहते हैं। फिर भी सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए राज्य को आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में राज्य गौण और समाज प्रधान है और उसका क्षेत्र राज्य की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

(८) **प्राकृतिक अधिकारों को न मानना**—उपयोगितावाद से पहले लॉक जैसे विचारकों ने व्यक्ति के जीने, सम्पत्ति रखने और स्वतन्त्रता के अधिकारों को प्राकृतिक (Natural Rights) मानते हुए इनका प्रबल समर्थन किया था। किन्तु बेन्थम ने अनुभव-मूलक उपयोगितावाद को महत्व देने के कारण कोरी-कल्पना पर आधारित और बुद्धिवाद द्वारा समर्थित किए जाने वाले इन अधिकारों को बिलकुल बेहूदा बताया था और इसके स्थान पर उपयोगितावाद के सिद्धान्त को अपनाने पर बल दिया था।

सारांश

उपयोगितावाद का स्वरूप—इसके अनुसार राज्य के सभी कार्यों की एकमात्र कसौटी उपयोगिता होनी चाहिए। राज्य को वही काम करने चाहिएँ जो उपयोगी हों। उपयोगी का अर्थ है सुख देने वाला। जो वस्तु हमें सुख देती है, वह अच्छी, ठीक और उपयोगी है। 'राज्य का लक्ष्य अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख पहुँचाना होना चाहिए।'

उपयोगितावाद को प्रभावशाली दर्शन का रूप देने वाले ब्रिटिश विचारक जेरेमी

1. "Every important reform of English law during the 19th century can be traced to the influence of Bentham's ideas."—Sir Fredrick Pollock, Quoted by Sabine, pp. 574-75.

2. "Bentham increased Englishmen's belief in the essential reasonableness of Englishmen and their conviction that reform was infinitely preferable to revolution."

—Wayper.

बेन्थम थे। उनके सिद्धान्तों में आवश्यक संशोधन उनके प्रमुख शिष्य जॉन स्टुअर्ट मिल ने किया।

उपयोगितावाद की विशेषताएँ तथा मौलिक सिद्धान्त—(१) उपयोगितावाद का आधार सुखवाद का सिद्धान्त है। (२) राज्य का कार्य अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख देना है। (३) उपयोगितावाद सुधारों का समर्थक है। (४) राज्य मानवीय कल्याण का साधन है, साध्य नहीं है। (५) उपयोगितावाद अनुभवमूलक तथा व्यवहारवादी है। (६) उपयोगितावाद संवैधानिक परम्परा का अनुसरण करता है। (७) यह राज्य और समाज को पृथक् संस्थाएँ मानता है। (८) यह प्राकृतिक अधिकारों को नहीं मानता है।

उपयोगितावाद की आलोचना—(१) उपयोगितावाद भौतिकवाद पर अत्यधिक बल देता है और मनुष्य को ऐसा सूअर मान लेता है जिसे गन्दगी खाने में ही आनन्द आता है। (२) यह नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भ्रान्त धारणाओं पर आधारित है। (३) सुखवाद की धारणा गलत है। (४) सुख की मात्रा नापना सम्भव नहीं है। (५) अधिकतम सुख और अधिकतम व्यक्तियों का सुख दो अलग बातें हैं। (६) यह स्वतन्त्रता की उपेक्षा करता है।

उपयोगितावाद के लाभ तथा देनें—(१) यह राज्य के कार्यों की सही परख के लिए आवश्यक कसौटी प्रदान करता है। (२) व्यक्ति की गरिमा तथा प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाला है। (३) यह प्रभुसत्ता की समस्या को सरल बनाता है। (४) इसने इंगलैण्ड तथा अन्य देशों में राजनीतिक, आर्थिक, कानूनी, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सुधार करने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है। (५) इसने राजनीति को विज्ञान का स्वरूप प्रदान किया है।

प्रश्न

(१) उपयोगितावाद के प्रमुख तत्वों का परीक्षण कीजिए। (राजस्थान, १९७९)

(२) जेरेमी बेन्थम के जीवन पर प्रकाश डालिए। उसके प्रमुख सिद्धान्त क्या थे?

(३) उपयोगितावाद का क्या अभिप्राय है? वह राज्य की उत्पत्ति, प्राकृतिक अधिकार और शासन-पद्धति के सम्बन्ध में क्या विचार रखता है?

(४) उपयोगितावाद के सिद्धान्तों की आलोचना कीजिए।

(५) उपयोगितावाद की महत्वपूर्ण देनों और लाभों पर प्रकाश डालिए।

दूसरा अध्याय

जॉन स्टुअर्ट मिल [१८०६–१८७३ ई०]

जीवनी—उपयोगितावाद का अन्तिम प्रबल समर्थक और पक्षपोषक जेम्स मिल का बड़ा पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल था। डनिंग ने यह ठीक ही लिखा है कि जेम्स मिल का जन्म १७७३ ई० में हुआ था और उसके बेटे जॉन मिल का देहान्त १८७३ में। इन दोनों के जन्म और अवसान के बीच की एक शताब्दी उपयोगितावाद के प्रादुर्भाव, विकास और ह्रास की शती है। जेम्स मिल बेन्थम का घनिष्ठ मित्र और प्रधान शिष्य था, उसने अपने पुत्र को बचपन से ही बेन्थम के आदर्शों के अनुसार ढालने का पूरा प्रयत्न किया, उसकी शिक्षा की ओर अत्यधिक ध्यान दिया। जेम्स मिल की शिक्षा के विषय में बड़ी अभिरुचि थी, उसने इस पर बहुत-कुछ लिखा था। वह संसार को यह प्रदर्शित करना चाहता था कि बुद्धिमत्ता-पूर्ण रीति से दी गई शिक्षा मनुष्य को कितना योग्य बना सकती है, अतः जॉन की शिक्षा उसने अपने हाथ में ली, तीन वर्ष की आयु में उसे यूनानी भाषा सिखाई, आठ वर्ष की अवस्था में उसे लैटिन, बीजगणित और ज्यामिति का अध्ययन कराया। जब अधिकांश बालक स्कूल की पढ़ाई आरम्भ करते हैं, उस समय तक जॉन यूनानी भाषा में प्लेटो के संवाद, हिराडोटस तथा जेनोफन की रचनाएँ पढ़ चुका था। यद्यपि उसे राबिन्सन क्रूसो के पढ़ने का शौक था, किन्तु उसका पिता उसे असाधारण विद्वान् बनाने पर तुला हुआ था। जॉन मिल ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि उसे बच्चों की कहानियों की पुस्तकें और खिलौने कभी नहीं दिए गए, ये उसे कभी-कभी सम्बन्धियों या परिचित व्यक्तियों से भेंट के रूप में मिलते थे। ११ वर्ष की आयु में उसे लिवी द्वारा लैटिन में लिखित 'रोमन शासन का इतिहास' पढ़ने के लिए दिया गया। १३ वर्ष की आयु होने पर पिता ने एडम स्मिथ और रिकार्डो की अर्थशास्त्रविषयक पुस्तकें तथा तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के गम्भीर एवं जटिल विषय उसे पढ़ाने शुरू किए। इस समय तक पिता ही उसका एकमात्र शिक्षक था, वह सुकरात की शैली में उससे प्रश्न पूछकर तथा उस पर कठोर नियन्त्रण और अनुशासन रखकर उसे अधिक-से-अधिक योग्य बनाने का प्रयत्न कर रहा था।

१४ वर्ष की आयु में उसे बेन्थम के छोटे भाई सर सैमुअल बेन्थम के साथ एक वर्ष के लिए फ्रांस भेजा गया। यहाँ उसे फ्रेंच भाषा, साहित्य और संस्कृति का ज्ञान कराया गया। दक्षिणी फ्रांस में उसे पिरेनीज़ पर्वतमाला में तथा अन्य स्थानों पर घुमाया गया। इसका उस पर गहरा प्रभाव पड़ा, उसे वनस्पतिशास्त्र और प्राणिशास्त्र के अध्ययन में अभिरुचि उत्पन्न हुई, उसमें घूमने का ऐसा शौक पैदा हुआ कि मृत्युपर्यन्त वह भ्रमण का शौकीन बना रहा। इंगलैण्ड वापिस लौटने पर उसे बेन्थम की 'कानून के सिद्धान्त' की ड्युमान्त द्वारा सम्पादित फ्रेंच पुस्तक पढ़ने को दी गई। उसने आत्मकथा में लिखा है कि

"इस पुस्तक के अध्ययन से मेरे जीवन में और मानसिक विकास में नवयुग का श्रीगणेश हुआ।" इसी समय जॉन आस्टिन से उसे रोमन कानून का अध्ययन कराया गया। १६ वर्ष की अवस्था में बेन्थम के सिद्धान्तों के अनुसार राजनीतिक और नैतिक प्रश्नों पर वाद-विवाद करने के लिए बनाई गई **उपयोगितावादी सोसायटी** (Utilitarian Society) का वह सदस्य बना और तीन वर्ष तक वह अन्य तरुणों के साथ इसके विवादों में प्रमुख भाग लेता रहा। बाद में वह इस प्रकार की दो अन्य वादविवाद सभाओं—The Speculative Debating Society में तथा The Political Economy Club में भाग लेता रहा; इनसे उसकी बौद्धिक तथा मानसिक प्रखरता का बहुत विकास हुआ।

१७ वर्ष की छोटी आयु में, अपने पिता के प्रभाव से उसे १८२३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारत के साथ होने वाले पत्र-व्यवहार विभाग के निरीक्षक के कार्यालय (Office of the Examiner of India Correspondence) में अपने पिता के नीचे नौकरी मिल गई। उसका कार्य भारत भेजे जाने वाले पत्रों के मसविदे या प्रारूप तैयार करना था, वह इस कला में अत्यन्त कुशल था। इण्डिया आफिस में कार्य करने से उसे शासन की वास्तविक समस्याओं का गहरा और क्रियात्मक अनुभव हुआ। १८५६ में वह इस विभाग का अध्यक्ष बना और १८५७ में जब भारतीय विद्रोह के बाद कम्पनी की समाप्ति का निश्चय किया जाने लगा तो उसे कम्पनी की ओर से इस निश्चय के विरुद्ध संसद् को दिए जाने वाले आवेदन-पत्र को तैयार करने का काम सौंपा गया। उसने इसे इतने प्रभावशाली ढंग से लिखा कि अर्ल ग्रे ने यह घोषणा की थी कि उसने उस समय तक इससे अधिक अच्छे किसी राजकीय पत्र को नहीं पढ़ा था।

१८५८ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समाप्त होने पर मिल को अच्छी पेन्शन मिली। वह अपनी पत्नी के साथ घूमने के लिए दक्षिण फ्रांस गया, वहाँ आविन्योन (Avignon) में आकस्मिक बीमारी से उसकी पत्नी की मृत्यु हो गई और वहीं उसकी समाधि बनाई गई। मिल ने अपने जीवन का शेष बड़ा भाग आविन्योन में ही बिताया, ताकि वह उसके पास रहता हुआ दिवंगत आत्मा से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रख सके। ५९ वर्ष की आयु में यह दार्शनिक उग्रसुधारदल वालों का प्रतिनिधि बनकर वैस्ट मिंस्टर के निर्वाचन क्षेत्र से १८६६ से ६८ तक पार्लियामेण्ट का सदस्य रहा। १८७३ में आविन्योन में अपनी पत्नी की समाधि वाले नगर में उसका देहावसान हो गया।

मिल की रचनाएँ—जॉन स्टुअर्ट की प्रधान रचनाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है : पहले वर्ग में उसके जीवन-काल में प्रकाशित होने वाली रचनाएँ आती हैं, ये कालक्रम से निम्नलिखित हैं—तर्कशास्त्र की पद्धति (System of Logic, 1843), अर्थशास्त्र के सिद्धान्त (Principles of Political Economy, 1848) ; १८५९ में उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'स्वतन्त्रता पर निबन्ध' (Essay on Liberty) प्रकाशित हुई। इसी वर्ष 'संसदीय सुधार पर विचार' (Thoughts on Parliamentary Reform) नामक पुस्तक छपी। १८६० में उसने 'प्रतिनिध्यात्मक शासन पर विचार' (Considerations on Representative Government) नामक पुस्तक लिखी। १८६१ में फ्रेज़र मैंगजीन में उपयोगितावाद पर उसका सुप्रसिद्ध निबन्ध छपा। १८६९ में 'स्त्रियों की पराधीनता' (Subjection of Women) नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक मुद्रित हुई। १८७३ में

उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित होने वाली पुस्तकें उसकी 'आत्मकथा' (१८७३) तथा 'धर्म पर तीन निबन्ध' (Three Essays on Religion, 1874), तथा एच० एम० आर० इलियट द्वारा १९१० में प्रकाशित पत्रों का संग्रह (Letters) हैं।

मिल के स्वतन्त्रताविषयक विचार—राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में जॉन स्टुअर्ट मिल की सबसे बड़ी देन व्यक्ति की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रवल समर्थन है। उसने इसका अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में 'स्वतन्त्रता पर निबन्ध' में जैसा प्रतिपादन किया है, वैसा सम्भवत: मिल्टन की सुप्रसिद्ध कृति में ही हुआ है, यह इस कृति Aeropagitica के समान स्वाधीनता का अमर महाकाव्य और इस विषय की सर्वोत्तम रचना समझा जाता है। डनिंग के शब्दों में, "उसने विचारों की स्वतन्त्रता का मिल्टन जैसे जोश से तथा उससे अधिक कुशाग्रबुद्धि से समर्थन किया।"[1]

मिल ने स्वाधीनता के दो लक्षण किए हैं: **पहला लक्षण व्यक्ति का अपने ऊपर सर्वोच्च सत्ता रखना है। यह स्वाधीनता शब्द के इस अर्थ से भलीभाँति सूचित होता है कि वह स्व के अर्थात् अपने अधीन है, उस पर किसी दूसरे का प्रभुत्व या नियन्त्रण नहीं है**; वह सर्वथा स्वतन्त्र है, वह जैसा चाहे, जो चाहे, काम कर सकता है। उसके मतानुसार सब प्रकार का नियन्त्रण या बन्धन अपने-आपमें बुरा है। उसे सब कार्य करने की तब तक पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए, जब तक वह दूसरों को हानि नहीं पहुँचाता। इस विषय में यह कहना सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को उस हद तक अपनी छड़ी घुमाने की स्वतन्त्रता है, जहाँ तक वह दूसरे व्यक्ति की नाक से या सिर से न टकराए। मिल की स्वाधीनता का **दूसरा लक्षण** यह है कि **"यह अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता है।"** यह पहले लक्षण से कुछ भिन्न है। इसके अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता कुछ अधिक मात्रा में नियन्त्रित की जा सकती है। मिल ने यह कहा कि यदि कोई व्यक्ति ऐसे पुल से गुजर रहा है, जिसके टूट जाने का भय है तो आपका उसे ऐसे पुल पर जाने से रोकना सर्वथा न्यायोचित है। इस विषय में उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती, क्योंकि **"स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी इच्छानुसार कार्य करना है और किसी व्यक्ति की यह इच्छा नहीं हो सकती कि वह नदी में गिर पड़े।"** मनुष्य की इच्छा पुल पार करने की है, किन्तु इसका नियन्त्रण करना इसीलिए न्यायोचित है कि उसकी इससे भी बड़ी—जीवित रहने की—इच्छा को नदी में गिरने से बचाकर पूरा किया जाए।

मिल ने स्वाधीनता के दो बड़े प्रकार माने हैं—पहला विचार और भाषण की स्वतन्त्रता है तथा दूसरा कार्य करने की स्वतन्त्रता। पहले प्रकार में मिल व्यक्ति को पूर्ण रूप से निर्बाध तथा सब प्रकार के प्रतिबन्धों से मुक्त स्वतन्त्रता देने का पक्षपाती है और दूसरे प्रकार में वह कुछ मर्यादाएँ या बन्धन मानता है। उसने दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता का समर्थन निम्नलिखित रूप से किया है।

विचार और भाषण की स्वाधीनता—मिल के मतानुसार मानव-समाज की

---

1. "He defended freedom of thought and expression with Miltonian fervour and more than Milton's acumen." Dunning, *Political Theories from Luther to Montesqueu*, p. 244.

उन्नति और प्रगति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को विचार और भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। इस विषय में वह इतना उदार है कि सभी प्रकार के पागल, झक्की और सनकी व्यक्तियों को भी उसने विचार की पूरी स्वतन्त्रता देने का प्रबल समर्थन किया है। क्योंकि यह सम्भव है कि **दस सनकियों में से एक सनकी समाज को नवीन क्रान्तिकारी विचारधारा प्रदान करे।**[1] यदि ऐसी स्वतन्त्रता न दी जाए तो समाज की प्रगति में बाधा पहुँचेगी। मिल ने निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर विचार और भाषण की स्वतन्त्रता को न्यायसंगत एवं तर्कानुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—

(१) **नई विचारधाराओं के विकास के लिए आवश्यक होना**—इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब कोई व्यक्ति प्रचलित विचारधारा के प्रतिकूल एक नई विचारधारा प्रस्तुत करता है तो उसका दमन नहीं किया जाना चाहिए, ऐसे व्यक्ति को समाज-विरोधी, सनकी, पागल कहकर उसे उसकी स्वतन्त्रता से वंचित नहीं करना चाहिए; क्योंकि यदि उसे स्वतन्त्रता नहीं दी जाएगी तो नई विचारधारा का प्रचार नहीं होगा। ऐसा न होना समाज के लिए घातक एवं हानिकर है, क्योंकि यह सम्भव है कि समाज में प्रचलित विचारधारा असत्य हो तथा नवीन विचारधारा सत्य हो। अतः मिल ने कहा है कि **"यदि केवल एक व्यक्ति को छोड़कर समूची जाति एक विचार को मानने वाली हो तो भी मानव-जाति के लिए यह न्यायसंगत नहीं है कि वह विरोधी मत रखने वाले एक व्यक्ति का दमन करे अथवा शक्तिसम्पन्न होने पर वह एक व्यक्ति मानव-जाति के विचार का दमन करे।"**[2]

मिल ने इस बात को सुकरात और ईसा के ऐतिहासिक दृष्टान्तों से समझाया है। ये दोनों उदाहरण मानव-जाति द्वारा नवीन सत्यों के दमन किए जाने के महान् अपराध और भारी भूलें हैं। मिल ने बड़े हृदयस्पर्शी शब्दों में कहा है कि मानव-जाति को इस बात का स्मरण कराने की आवश्यकता नहीं है कि कभी सुकरात नामक एक व्यक्ति हुआ था, उसमें तथा उसके समय के कानूनी अधिकारियों एवं लोकमत के बीच में एक स्मरणीय संघर्ष हुआ था। सुकरात प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों का मूल स्रोत होने के कारण २००० से अधिक वर्ष बीत जाने पर आज भी अमर है, किन्तु उसे उसके देशवासियों ने अधार्मिकता और अनैतिकता के अपराधों के कारण प्राणदण्ड दिया था। वह राज्य द्वारा स्वीकार किए जाने वाले देवी-देवताओं को न मानने के कारण अधार्मिक था, अपनी शिक्षाओं और सिद्धान्तों द्वारा युवकों के मन को दूषित करने के कारण वह अनैतिक था। न्यायालय ने उसे इन दोनों बातों में अपराधी पाया और ईमानदारी से ऐसे व्यक्ति को दण्ड दिया जो उस समय तक उत्पन्न हुआ सर्वश्रेष्ठ मानव था। ऐसे व्यक्ति को अपराधी की तरह मरवाना अत्यन्त क्रूरतापूर्ण था। दूसरा उदाहरण जेरूसलेम

---

1. "Nine out of ten cracks may be harmless idiots, but the tenth man may be useful to mankind than most of normal men put together." —J. S. Mill.

2. "If all mankind minus one were of one opinion, mankind would be no more justified in silencing that one person than he, if had the power, would be justified in silencing mankind." —J. S. Mill.

के निकट कैलवेरी नामक पहाड़ी पर सूली पर लटकाए जाने वाले ईसामसीह का है। आज दो हजार वर्ष बीतने के बाद भी जिसे करोड़ों व्यक्ति भगवान् समझते हैं, भगवान् का निन्दक होने के कारण उसी ईसामसीह को प्राणदण्ड दिया गया था। सनकी और पागल कहकर प्राणदण्ड से दण्डित किए जाने वाले ये दोनों महापुरुष योरोप में दर्शन और धर्म के जन्मदाता हैं। इन ऐतिहासिक उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए मिल ने कहा कि आज मानव-जाति जिन व्यक्तियों को सनकी समझते हुए उनकी विचारधारा का दमन करती है, वही भविष्य में अपूर्व एवं अनोखे तथा समाज को अधिक लाभ पहुँचाने वाले विचारों के जन्मदाता हो सकते हैं। इनके दमन से मानव-समाज का घोर अहित होता है।

(२) **सत्य की सुरक्षा**—विचारों की स्वतन्त्रता न देने का एक दुष्परिणाम सत्य का दमन है, इसे न होने देने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को विचार-स्वतन्त्रता का अधिकार दिया जाना चाहिए। जब हम कानूनी दण्डविधान द्वारा अथवा सार्वजनिक निन्दा के द्वारा किसी विचार को दबाते हैं तो यह सम्भव है कि हम सत्य का दमन कर रहे हैं, क्योंकि यह विचार सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है कि जिस बात को समाज में अधिकांश व्यक्ति स्वीकार करते हैं वह सत्य हो। उदाहरणार्थ, १७वीं शताब्दी तक योरोप के अधिकांश व्यक्ति यह मानते थे कि पृथ्वी ब्रह्माण्ड का केन्द्र है, और सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। ब्रूनो तथा गैलीलियो जैसे व्यक्तियों को इसलिए दण्डित होना पड़ा कि वे अधिकांश व्यक्तियों द्वारा स्वीकार किए जाने वाले उपर्युक्त भ्रान्त मत के प्रतिकूल यह मानते थे कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। कोई विचार इसलिए सत्य नहीं होता कि वह अधिकांश व्यक्तियों द्वारा चिरकाल से माना जा रहा है। प्रायः परम्परा और रिवाज से माने जाने वाले विचार गलत होते हैं, इन्हें ठीक करने के लिए और बहुमत का अत्याचार दूर करने के लिए व्यक्तियों द्वारा किए जाने वाले प्रयत्न अत्यावश्यक हैं। यह बात विचार और भावना के सभी क्षेत्रों में—धर्म, नीतिशास्त्र, राजनीतिक तथा सामाजिक रीति-रिवाजों में समान रूप से लागू होती है, अतः व्यक्ति को भाषण और विचार की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(३) **सत्य के विभिन्न पक्ष समझने के लिए आवश्यक होना**—सचाई किसी एक व्यक्ति या पक्ष की बपौती नहीं है। वस्तुतः सत्य का विराट् रूप होने से उसके अनेक पहलू होते हैं। विवाद में कोई एक पहलू पर बल देता है और कोई दूसरे पहलू पर। चार अन्धों तथा हाथी की सुप्रसिद्ध कथा के दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाएगा। एक गाँव के चार अन्धे जब हाथी को देखने गए तो उसके विभिन्न अंगों को स्पर्श से टटोलकर वे उसके सम्बन्ध में सर्वथा विभिन्न परिणामों पर पहुँचे। हाथी के पैर को टटोलने वाले ने उसे खंभे की तरह बताया, उसका कान छूने वाले को उसका स्वरूप सूप या छाज जैसा प्रतीत हुआ। तीसरे ने उसकी सूँड़ पकड़कर उसे छड़ी की तरह बताया और चौथे ने उसकी बगल को छूकर यह कहा कि हाथी दीवार की तरह होता है। सत्य की खोज में हम सबकी दशा इन अन्धों जैसी है। हम सचाई के समग्र रूप का दर्शन नहीं कर पाते, किन्तु अपने अनुभव के आधार पर आंशिक सत्य को ही पूर्ण समझने का आग्रह करते हैं। अतः सत्य के पूर्ण एवं वास्तविक रूप को समझने के लिए उसे जितने अधिक दृष्टिकोणों

से देखने की व्यक्तियों को स्वतन्त्रता दी जाएगी, हम सत्य को उतने ही अधिक अच्छे रूप में समझने में समर्थ होंगे। ये विभिन्न दृष्टिकोण एक-दूसरे के विरोधी नहीं, किन्तु पूरक हैं। इन सबके समन्वय से हमें पूर्ण सत्य का बोध हो सकता है। अतः सचाई के यथार्थ ज्ञान के लिए व्यक्ति को भाषण एवं विचार की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(४) **सत्य को सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक होना**—सत्य के समुचित स्पष्टीकरण के लिए तथा उसे सुदृढ़ बनाने के लिए भी विचारों की स्वाधीनता आवश्यक है। 'वादे-वादे जायते तत्वबोधः', विचार-विमर्श, वाद-विवाद और संघर्ष में सत्य का स्वरूप अधिकाधिक निखरता है और स्पष्ट होता है। विरोधी का प्रत्युत्तर देने के लिए हम अपने सिद्धान्तों का गम्भीर चिन्तन और मन्थन करते हैं, उसका स्वरूप स्पष्ट करते हैं, अपने पक्ष की निर्बलताओं और दोषों को दूर करते हैं और उसे सुदृढ़ प्रमाणों से पुष्ट करते हैं। कुछ समय के लिए विरोध भले ही बुरा प्रतीत हो, किन्तु अन्ततोगत्वा यह लाभकर होता है। वाद-विवाद में तर्क की कसौटी पर सत्य की परख होती है। तर्क द्वारा सत्य और असत्य के संघर्ष में सत्य की विजय होती है, इसका रूप अधिक प्रस्फुटित और विकसित होता है। इसे मानने वालों के विचारों में अधिक स्पष्टता आती है, वे अपने सिद्धान्तों पर अधिक दृढ़ता से आस्था रखते हैं और उसके प्रचार में तत्पर होते हैं। मिल ने इसे प्राचीन एवं आधुनिक ईसाई धर्म के दृष्टान्त से समझाया है। प्राचीन काल में ईसाई मत पर दूसरे धर्मों के प्रबल आक्षेप और आक्रमण होते थे। इनका उत्तर देने के लिए उस समय के ईसाई अपने धर्म के सिद्धान्तों का गहरा अध्ययन करते थे, उसके विषय में विरोधियों से तर्क करते थे। इस तर्क से उन्हें ज्ञान होता था कि उनका धर्म सत्य है और उसके सिद्धान्तों का उन्हें पालन करना चाहिए। किन्तु आधुनिक ईसाई को विधर्मियों के साथ अपने धर्म के बारे में कोई तर्क नहीं करना पड़ता, अतः उसे इसका पूरा ज्ञान नहीं है, उसका ईसाई धर्म में केवल अन्धविश्वास मात्र है। अन्धविश्वास मानव-समाज की प्रगति के लिए घातक होते हैं, अतः निरन्तर स्वतन्त्र विचार तथा तर्क द्वारा सत्य को सुदृढ़ बनाना चाहिए और उसमें गहरी आस्था रखते हुए उसके अनुसार आचरण करना चाहिए। मिल सत्य के विषय में डार्विन के जीवशास्त्र के इस नियम को लागू करता है कि योग्यतम की विजय होती है। उसका यह मत था कि वही विचार सत्य का रूप धारण करेगा, जो तर्करूपी संघर्ष में विजयी होगा। अतः राज्य को विचार एवं भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए, इसी दशा में समाज प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा।

(५) **मानव-समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है**—मिल द्वारा विचार की स्वतन्त्रता के उग्र समर्थन का प्रधान कारण यह था कि उसे इस बात की आशंका थी कि मनुष्य समाज के अत्याचार का शिकार बन रहा है। उसका यह कहना था कि अनादि काल से इतिहास में स्वतन्त्रता के प्रेमियों ने समाज में शक्तिशाली एवं अत्याचारी शासक बनने वाले व्यक्तियों के अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा है। १९वीं शताब्दी के उदारतावादी राजनीतिक विचारकों का यह मत था कि यदि जनता को नवीन अधिकार प्रदान करने वाले संविधान बना दिए जाएँ और जनता को ही अपना स्वामी बना दिया जाए तो शक्तिशाली के अत्याचार का निराकरण हो सकता है। अत्याचारी

शासक से सुरक्षा पाने के दो साधन हैं—पहला तो यह है कि जनता के अधिकारों का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया जाए, इनका उल्लंघन होने पर जनता को विद्रोह करने का अधिकार हो। दूसरा, राज्य के संविधान में ऐसे नियन्त्रण स्थापित किए जाएँ कि राजनीतिक अत्याचार न हो सके। किन्तु मिल इस विचारधारा से सहमत नहीं था, उसका कहना था कि लोकतन्त्र के विकास के साथ बहुमत के शासन और अत्याचार की सम्भावना बढ़ती चली जा रही है। 'बहुमत के अत्याचार' से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाने की आवश्यकता है। 'बहुमत का अत्याचार' केवल राजनीतिक सत्ता ही नहीं करती, इसे समाज भी बहुत बड़ी मात्रा में करता है। समाज का अत्याचार राज्य के अनेक प्रकार के अत्याचारों से अधिक प्रवल होता है। यद्यपि समाज राज्य की भाँति भीषण दण्डों की व्यवस्था नहीं करता, तथापि इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, समाज में प्रचलित विचारों, विश्वासों और आचरण एवं जीवनयापन की पद्धति की ऐसी सुदृढ़ लौह श्रृंखलाओं का निर्माण करता है कि इनमें लोकापवाद और निन्दा के कारण परम्परागत रीति-रिवाजों का पालन करने वाला जन-समुदाय बुरी तरह जकड़ा रहता है। मानव-समाज की प्रगति के लिए इन लौह श्रृंखलाओं से मुक्ति पाना आवश्यक है। इसलिए मिल ने व्यक्ति के लिए विचार और भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता का पूरी शक्ति के साथ उग्रतम समर्थन किया है।

कार्य करने की स्वतन्त्रता—विचारों के प्रकाशन तथा भाषण के क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता का पक्षपाती होते हुए भी, मिल व्यक्ति को कार्य करने के क्षेत्र में पूरी स्वाधीनता देने का समर्थक नहीं था। इस विषय में उसने बड़ी अनिच्छा से और काफी शर्तों के साथ कुछ प्रतिबन्धों का प्रतिपादन किया है। वह व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में बाँटता है : (१) **व्यक्तिगत या आत्मविषयक** (Self-regarding) **कार्य**—ये ऐसे कार्य हैं, जिनका प्रभाव इन कार्यों को करने वाले पर ही पड़ता है, दूसरे व्यक्तियों पर नहीं पड़ता। खाना, पीना, सोना, घूमने जाना, नहाना, कपड़े पहनना, अध्ययन करना इसी प्रकार के व्यक्तिगत कार्य हैं; मिल के मतानुसार शराब पीना, जुआ खेलना भी इसी श्रेणी में आते हैं। (२) **सामाजिक अथवा दूसरे व्यक्तियों पर प्रभाव डालने वाले** (Other-regarding) **कार्य**—हमारे जिन कार्यों का प्रभाव समाज के दूसरे व्यक्तियों पर पड़ता है, उन्हें सामाजिक कार्य कहा जाता है, जैसे चोरी करना, शोर मचाना, सार्वजनिक स्थानों को गन्दा करना, सार्वजनिक पद स्वीकार करके उसके कार्य को समुचित रीति से न करना, शान्ति भंग करना। मिल का यह मत है कि व्यक्तिगत अथवा आत्मविषयक कार्यों में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। इसमें राज्य का कोई हस्तक्षेप करना ठीक नहीं है। व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जैसा चाहे वैसा आचरण करे। यह सम्भव है कि किसी का आहार, वेशभूषा, रहन-सहन समाज में प्रचलित पद्धति से भिन्न हो, कोई व्यक्ति प्रचलित परम्परा के प्रतिकूल नमक न खाए, दाढ़ी या लम्बे बाल रखे, ऊँची धोती या चुस्त पोशाक पहने, इन मामलों में उसे पूरी स्वाधीनता होनी चाहिए तथा इसके लिए किसी प्रकार का उत्पीड़न नहीं होना चाहिए। यह सम्भव है कि उस व्यक्ति के आहारविषयक अथवा वेशभूषा के नवीन प्रयोग से समाज को भविष्य में लाभ पहुँचे, अतः व्यक्तिगत कार्यों के क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप

नितान्त अनुचित है।

सामाजिक अथवा दूसरों पर प्रभाव डालने वाले कार्यों के सम्बन्ध में उसे यह स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति को अपने घर में शराब पीने की पूरी स्वाधीनता है, किन्तु यदि वह शराब पीकर हल्ला-गुल्ला मचाता है और रात के बारह बजे पड़ोसियों की नींद हराम करता है तो उसे इस कार्य के लिए खुली छूट नहीं दी जा सकती, क्योंकि इससे दूसरे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने घर में गाना गाने का अधिकार है, किन्तु यदि वह रात को गर्दभ स्वर से रेंकते हुए पड़ोसियों को न सोने दे तो उसके इस कार्य पर प्रतिबन्ध लगाया जाना आवश्यक है, क्योंकि ऐसे कार्य से उसके पड़ोसी चैन से नहीं सो पाएँगे, उनकी अपने मकानों में सोने की स्वतन्त्रता पर आघात होगा। अतः ऐसे कार्यों में राज्य का हस्तक्षेप न केवल उचित, अपितु आवश्यक है। इस विषय में राज्य के हस्तक्षेप के मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए मिल ने लिखा है—"किसी व्यक्ति को अपने-आपको दूसरों के लिए दुःखदायी (Nuisance) नहीं बनाना चाहिए। यदि वह अपने से सम्बन्ध रखने वाली बातों में दूसरों को परेशान नहीं करता और अपने से सम्बद्ध विषयों में अपनी इच्छा और निर्णय के अनुसार कार्य करता है, तो जिन कारणों के आधार पर उसे अपनी स्वतन्त्र सम्मति रखनी चाहिए, वही कारण इस बात को भी सिद्ध करते हैं कि उसे अपनी सम्मतियों को क्रियात्मक रूप देने की अनुमति दी जानी चाहिए।" यही बात अपने से सम्बन्ध रखने वाले मामलों में व्यक्तियों द्वारा समुदाय अथवा संघ बनाने के विषय में लागू होती है।

मिल अन्य नागरिकों को हानि न पहुँचाते हुए व्यक्ति के कार्यों की अधिकतम स्वतन्त्रता का समर्थन **तीन प्रकार की युक्तियों** के आधार पर करता है।

(१) पहली युक्ति वैयक्तिक अनुभव द्वारा चरित्र-निर्माण और व्यक्ति के विकास की है। इसे मद्यपान के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। कोई व्यक्ति मद्यपान दो प्रकार से छोड़ सकता है, अपने वैयक्तिक अनुभव से अथवा राज्य के नियम से। पहले प्रकार में व्यक्ति यह अनुभव करता है कि शराब पीने से उसका, उसकी पत्नी और बच्चों का घोर अहित एवं अनिष्ट हो रहा है, इसके आधार पर वह मद्यपान को छोड़ने का संकल्प करता है। दूसरा प्रकार राज्य द्वारा शराब बनाने और बेचने पर प्रतिबन्ध लगाना है ताकि शराब पीने वाले मजदूरों के स्त्री तथा बाल-बच्चों का अहित न हो। मिल के मतानुसार इन दोनों में पहला प्रकार अधिक श्रेयस्कर एवं उत्कृष्ट है, क्योंकि शराब को छोड़ने का निश्चय व्यक्ति जब स्वयमेव अपने ठोस अनुभव के आधार पर करता है, तब उसे अपनी अच्छी-बुरी इच्छाओं, सत् एवं असत् संकल्पों को करना पड़ता है, इस संघर्ष के परिणामस्वरूप उसके चरित्र में दृढ़ता आती है। किन्तु राज्य के प्रतिबन्ध से ऐसा नहीं हो सकता, उसमें वह मद्यपान केवल दण्ड के भय से छोड़ता है, किन्तु उसे हानिकर समझते हुए नहीं छोड़ता है। इस दशा में यह सम्भव है कि अपनी आदत न छोड़ सकने के कारण वह चोरी-छिपे शराब पीना जारी रखे। व्यक्ति के निजी अनुभव के आधार पर आन्तरिक सुधार करने का पहला ढंग अधिक अच्छा है। दूसरे ढंग से शराब-बन्दी के दुष्परिणाम होते हैं। सं० रा० अमेरिका में शराब-बन्दी करने से तथा भारत

के विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारों द्वारा मद्यपान पर प्रतिबन्ध लगाने से शराब पीना बन्द हुआ, किन्तु उसका अवैध्र रीति से बनाना और विक्रय करना खूब बढ़ गया। अतः राज्यों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा डालने वाले ऐसे कार्य नहीं करने चाहिएँ। हाँ, वह परोक्ष या प्रत्यक्ष उपायों से इन्हें रोकने का कार्य कर सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य को मद्यपान की बुराइयों को उग्र रूप में प्रदर्शित करने वाले पोस्टरों, चित्रों, चलचित्रों तथा समुचित शिक्षा द्वारा लोगों के मन पर इसके विरुद्ध प्रभाव डालने की या इसे छोड़ने की प्रेरणा देने का प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु उसे इसको कानून द्वारा नहीं रोकना चाहिए क्योंकि जब तक मनुष्य अपनी आत्मा में होने वाले संघर्ष के आधार पर शराबखोरी की लत नहीं छोड़ता, तब तक समाज में स्थायी रूप से मद्यपान की बुराई का अन्त नहीं होगा, लोग अवैध रूप से शराब पीते रहेंगे। यही स्थिति जुआ खेलने के सम्बन्ध में है। मिल इस पर राज्य द्वारा प्रतिबन्ध लगाने के विरुद्ध था। व्यक्ति स्वयमेव इसकी बुराई को अनुभव करके इसका त्याग करे, यह विधि मिल को श्रेयस्कर प्रतीत होती थी, क्योंकि इसमें आत्मसंघर्ष द्वारा व्यक्ति के चरित्र का निर्माण होता है।

(२) **मिल मनुष्य को सामाजिक रीति-रिवाजों और परम्पराओं से इसलिए भी मुक्त रखना चाहता था कि ये सामाजिक विकास में बाधक हैं।** उसके मतानुसार प्राचीन काल में भारतवर्ष एक सभ्य देश था, किन्तु आजकल उसकी अधोगति का कारण परम्पराओं तथा सामाजिक रूढ़ियों से बँधा होना था। सामाजिक रूढ़ि व्यक्ति के आचरण को वैसे ही जकड़ देती है, जैसे चीनी स्त्री के पैर को बचपन से ही लकड़ी के जूते में रखकर उसका बढ़ना रोक दिया जाता है, अतः व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य द्वारा व्यक्ति के कार्यों में न्यूनतम हस्तक्षेप होना चाहिए।

(३) **व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का एक प्रबल तर्क नवीनता और आविष्कार का है।** साधारण जनता प्रायः रूढ़िवादी तथा लकीर की फकीर होती है। किन्तु समाज की उन्नति प्रायः नवीन आविष्कारों से होती है। प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी नई विचारधाराओं और आविष्कारों द्वारा नूतन पथों का प्रदर्शन करते हैं। इसके लिए अभिनव एवं अपूर्व बुद्धि आवश्यक है। यह रूढ़िवाद से तथा दकियानूसी परम्पराओं और पद्धतियों से नहीं आ सकती है। इसके लिए व्यक्तियों को नवीन परीक्षण करने की पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिए। मिल के मतानुसार समाज की प्रगति पागल, दीवाने या झक्की व्यक्तियों के कार्यों से ही होती है। अधिक झक्कियों का होना समाज की उन्नति का सूचक है, क्योंकि इनकी अधिकता का अर्थ है रुचियों तथा प्रयोगों की विभिन्नता। यह स्वतन्त्रता के वातावरण में ही सम्भव है।

स्वतन्त्रताविषयक सिद्धान्त की आलोचना—मिल के स्वतन्त्रताविषयक विचारों का राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में असाधारण महत्व है। इस विषय में मैक्सी ने यह सत्य लिखा है कि "राजनीतिक साहित्य के इतिहास में, मिल का 'विचार और विवाद की स्वतन्त्रता' पर लिखा गया अध्याय इस विषय की सुन्दरतम रचना है। इसमें वैसी ही उदात्त और उच्च भावनाएँ प्रकट की गई हैं, जैसी मिल्टन, स्पिनोजा, वाल्तेयर, रूसो, पेन, जेफरसन तथा विचार एवं भाषण की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन करने वाले अन्य व्यक्तियों की रचनाओं में मिलती हैं।" फिर भी मिल के उपर्युक्त विचारों में कुछ मौलिक

भ्रान्तियाँ और दोष हैं। अतः बार्कर, डेविडसन, ब्रिण्टन जैसे विचारकों ने मिल के इस सिद्धान्त की प्रबल आलोचना की है। बार्कर के शब्दों में, "मिल ने स्वाधीनता पर अपने निबन्ध में स्वतन्त्रता के विचार को अधिक गम्भीर और आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया। पुराने विचारकों के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति के कार्यों को बाह्य नियन्त्रण और हस्तक्षेप से इसलिए मुक्ति प्रदान करना था कि यह प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने भौतिक हितों के ज्ञान के लिए तथा इसका अनुसरण करने के लिए आवश्यक था। मिल ने इस दृष्टिकोण से ऊपर उठते हुए स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति के पौरुष को और अनेक प्रकार के वैविध्य को उद्बुद्ध एवं उत्पन्न करने वाली आध्यात्मिक मौलिकता तथा नवीनता की उन्मुक्त क्रीड़ा माना है। इसके मत में स्वतन्त्रता इसलिए आवश्यक थी कि वह व्यक्तियों के पुरुषार्थ एवं उत्साह द्वारा समाज की प्रगति एवं समृद्धि के लिए अभीष्ट वैविध्य एवं नवीनता प्रादुर्भूत कर सके।"...किन्तु स्वतन्त्रता के इस उदात्त विचार के बावजूद मिल "एक खोखली स्वाधीनता का तथा काल्पनिक या अमूर्त व्यक्ति (Abstract individual) का प्रतिपादन करने वाला पैगम्बर था। उसके पास अधिकारों के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट दर्शन नहीं था, इन्हीं अधिकारों से स्वतन्त्रता के विचार को एक ठोस अर्थ प्राप्त होता है। उसे ऐसे पूर्ण समाज का कोई स्पष्ट विचार नहीं था, जिसमें राज्य और समाज का भ्रान्त विरोध लुप्त हो जाता है।"[1] मिल द्वारा प्रतिपादित विचार और कार्य की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(१) मिल की स्वतन्त्रता खोखली और नकारात्मक है। वह केवल यही प्रतिपादित करती है कि व्यक्ति की स्वाधीनता पर राज्य का अंकुश या प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। उसकी यह मान्यता है कि राज्य या समाज के जितने कम प्रतिबन्ध होंगे, वैयक्तिक स्वतन्त्रता उतनी ही अधिक होगी; राज्य के प्रतिबन्ध जितने अधिक होंगे, स्वाधीनता उतनी कम होगी। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य का नियन्त्रण परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं। इस धारणा का आधार सम्भवतः रूसो का यह क्रान्तिकारी कथन है कि व्यक्ति स्वतन्त्र पैदा होता है किन्तु यह सभी ओर से अपने को दासता की बेड़ियों से जकड़ा हुआ पाता है। मिल इन बेड़ियों को काटने पर बल देकर स्वतन्त्रता के अभावात्मक रूप का ही प्रतिपादन करता है और यह भूल जाता है कि स्वतन्त्रता का भावात्मक पक्ष भी है और वास्तविक स्वाधीनता तथा राज्य का नियन्त्रण में पारस्परिक विरोध नहीं है, ये दोनों एक-दूसरे के सहायक तथा पूरक हैं। यदि राज्य का नियन्त्रण समाप्त हो जाए तो अराजकता एवं उच्छृङ्खलता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी, उसमें न तो शान्ति सम्भव होगी और न स्वतन्त्रता। अतः स्वतन्त्रता की सत्ता के लिए राज्य का नियन्त्रण आवश्यक है।

---

1. "Yet when all these allowances are made, it still remains true that Mill was the prophet of an empty liberty and an abstract individual. He had no clear philosophy of the rights through which the conception of liberty attains a concrete meaning. He had no clear idea of that social whole in whose realisation, the false antithesis of state and individual disappears."—E. Barker, *Political Thought in England from 1489 to 1914*, p. 10.

नकारात्मक अथवा अभावात्मक स्वतन्त्रता कितनी निरर्थक और खोखली है, यह इस बात से स्पष्ट हो जाएगा कि यदि किसी व्यक्ति को निर्जन टापू में छोड़ दिया जाए तो वहाँ उसे मिल की आदर्श स्वतन्त्रता प्राप्त होगी, क्योंकि वहाँ उसके कार्यों में हस्तक्षेप करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति न होगा। किन्तु ऐसी स्वतन्त्रता क्या वांछनीय है? क्या इसे कोई पसन्द करेगा? सम्भवतः ऐसी स्वतन्त्रता कोई पसन्द नहीं करेगा। इसका कारण यह है कि स्वतन्त्रता का अभिप्राय उत्तम जीवनयापन के लिए अभीष्ट एवं वांछनीय सुविधाएँ प्राप्त करना है, अतः राज्य के नियन्त्रण में रहना निर्जन टापू की स्वतन्त्रता से अधिक अच्छा तथा वरणीय है। राज्य हमारे कुछ कार्यों में हस्तक्षेप अवश्य करता है, इससे एक दिशा में हमारी स्वतन्त्रता अवश्य मर्यादित होती है, किन्तु इसके साथ ही दूसरी दिशाओं में इसका विस्तार भी होता है। उदाहरणार्थ, जब बालक को राज्य के नियम के द्वारा जबर्दस्ती पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजा जाता है तो उसके खेलने की तात्कालिक स्वतन्त्रता में अवश्य हस्तक्षेप होता है। किन्तु जब शिक्षा द्वारा बच्चा पढ़-लिखकर अपनी आजीविका का उपार्जन करने में समर्थ होता है तो उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता की क्षमता बहुत बढ़ जाती है। अतः मिल की नकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा बड़ी भ्रान्तिपूर्ण खोखली कल्पना है। सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग राज्य के हस्तक्षेप के बिना सम्भव नहीं है। स्वतन्त्रता में तथा राज्य के कार्यों में पारस्परिक विरोध आवश्यक नहीं है।

(२) **मिल का कार्य करने की स्वतन्त्रता के विषय में मानवीय कार्यों को आत्मविषयक या वैयक्तिक** (self-regarding) **तथा पर-विषयक या सामाजिक** (other-regarding) **नामक दो वर्गों में बाँटना भ्रान्तिपूर्ण और असम्भव है।** वास्तव में व्यक्ति के कार्यों में ऐसा भेद नहीं किया जा सकता है। मिल द्वारा दिए गए मद्यपान के सुप्रसिद्ध उदाहरण में यह सर्वथा आत्मविषयक या वैयक्तिक कार्य है, यह तभी सामाजिक रूप धारण करता है, जब शराब पीकर कोई व्यक्ति सड़क पर शोर मचाए या दंगा करे। किन्तु ऐसे व्यक्ति का अपने घर में शराब पीना भी विशुद्ध वैयक्तिक कार्य नहीं है, इसका उसकी पत्नी पर और बच्चों पर गहरा प्रभाव पड़ता है, यदि वह शराब में अन्धाधुन्ध पैसा न बरबाद करे तो वह यह धन अपनी पत्नी तथा बच्चों की शारीरिक एवं बौद्धिक उन्नति में लगा सकेगा और समाज को इससे लाभ पहुँचेगा। शराबी के बच्चे उसकी देखा-देखी उस दुर्व्यसन में फँस सकते हैं और इससे समाज को हानि होगी। वस्तुतः व्यक्ति का कोई भी ऐसा कार्य नहीं है, जिसका समाज पर साक्षात् अथवा परोक्ष रीति से प्रभाव न पड़ता हो। यहाँ तक कि आत्महत्या को वैयक्तिक कार्य नहीं माना जा सकता है; राज्य इसे रोकने के लिए दण्डविधान की व्यवस्था करता है, क्योंकि व्यक्ति का शरीर केवल उसका अपना ही नहीं है, इसके पालन-पोषण और विकास में समाज ने भाग लिया है, यह समाज की देन है, अतः इस पर उसका अधिकार है, वह इसका मनमाने ढंग से दुरुपयोग नहीं कर सकता है। वस्तुतः व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में रहते हुए ही अपना जीवनयापन कर सकता है, उसका कोई भी कार्य उसके बाहर नहीं हो सकता है। मिल की व्यक्ति और समाज के अन्तर्द्वन्द्व एवं विरोध की कल्पना युक्तियुक्त नहीं है। इसलिए बार्कर ने मिल की आलोचना करते हुए कहा है कि व्यक्ति

और समाज के विरोध की कल्पना करने के कारण उसका स्वतन्त्रता का विचार सही नहीं है।

(३) **मिल के मतानुसार राज्य को प्रत्यक्ष रूप से मद्यपान, जुए आदि पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए,** क्योंकि शराबी या जुआरी को अपने मानसिक संघर्ष या अनुभव के आधार पर मद्यपान या जुए के दुष्परिणामों को समझ लेना अधिक श्रेयस्कर है। किन्तु यह मार्ग बड़ा जटिल और श्रमसाध्य है। यदि मद्यपान पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाए तो शराबी का आत्मसंघर्ष में लगने वाला समय उसकी उन्नति में लग सकता है। इसी प्रकार यदि शिक्षा, जलपूर्ति, सफाई आदि का प्रबन्ध राज्य करे तो नागरिकों के श्रम और समय की भारी बचत हो सकती है और उन्हें मिल द्वारा महत्वपूर्ण समझे जाने वाले चरित्र-निर्माण के कार्यों के लिए पर्याप्त समय मिल सकता है।

(४) **मिल ने विचार की स्वतन्त्रता पर बल देते हुए इसे हास्यास्पद सीमा तक पहुँचा दिया है।** उसका यह कहना है कि सनकी या झक्की व्यक्तियों को भाषण और विचार की पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, क्योंकि यह सम्भव है कि दस सनकी व्यक्तियों में से एक अलौकिक प्रतिभासम्पन्न 'गुदड़ी का लाल' हो और वह समाज को नवीन क्रान्तिकारी विचारधारा तथा मौलिकता प्रदान करे। किन्तु यह तर्क ठीक प्रतीत नहीं होता। **डेविडसन ने लिखा है कि मिल यह भूल जाता है कि सनक या झक्कीपन चरित्र की उत्कृष्टता का नहीं, अपितु निर्बलता का परिणाम है;** इसके प्रोत्साहित करने की नहीं, किन्तु दमन करने की आवश्यकता है। एक अपूर्ण बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति की आड़ में नौ सनकी आदमी लकड़ी का ऐसा रद्दी टुकड़ा (crossgrained) होते हैं कि इसका राज्य में उपयोग नहीं किया जा सकता है। **प्रोफेसर मैकन्न का मत है कि "सनकीपन व्यक्तित्व का विकार है",** ऐसे विकृत मस्तिष्क वाले व्यक्तियों को स्वतन्त्रता देना समाज के लिए हितकर नहीं है।

(५) **तर्क की मर्यादा आवश्यक है**—मिल ने वाद-विवाद और विचार की स्वतन्त्रता पर बल देते हुए यह कहा है कि व्यक्ति को बिना तर्क किए किसी विचार-धारा को स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि तर्कहीन विश्वास अन्धविश्वास का रूप धारण कर लेता है। किन्तु तर्क की कोई मर्यादा होनी चाहिए, समाज के कुछ सिद्धान्त तर्क और विवाद से परे होने चाहिएँ; हत्या, सत्य, राजद्रोह आदि के बारे में जितना कम तर्क हो, वह समाज के लिए हितकर है। यदि राजद्रोह के सिद्धान्तों की चर्चा चौराहों पर होने लगे तो राज्य का भविष्य संकटापन्न हो जाएगा। तर्क को प्रधानता देने से समाज में निरर्थक वाद-विवाद या वितण्डा में समय नष्ट करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी। यदि प्रत्येक व्यक्ति छोटी-छोटी बातों पर तर्क करने लगे और तर्क के बिना उन्हें स्वीकार न करे तो बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। कोरा तर्क और शुष्क वितण्डावाद समाज के लिए हितकर नहीं है।

(६) मिल के मतानुसार झक्कियों तथा सनकी व्यक्तियों को नवीन परीक्षण करने की खुली छूट देने से समाज में मानवीय चरित्र के विविध रूप उत्पन्न होंगे और यह वैविध्य समाज की प्रगति और वृद्धि में सहायक होगा। किन्तु डेविडसन ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि चरित्र का मूल्यांकन गुणों के आधार पर किया जाना

चाहिए, न कि वैविध्य के आधार पर। यदि वैविध्य ही प्रगतिशीलता का मानदण्ड हो तो **"वह समाज अधिक प्रगतिशील कहलाएगा, जिसमें प्रत्येक सदस्य के कोट के बटन कन्धे, पीठ आदि विभिन्न स्थानों में लगे हुए हों।"** वस्तुतः पोशाक का सौन्दर्य उसकी अच्छी सिलाई पर है, न कि उसके वैविध्य पर। इसी प्रकार समाज का हित उसके सदस्यों के चरित्र की उत्कृष्टता पर अवलम्बित है, न कि भिन्नता पर। सनकियों की स्वतन्त्रता से भिन्नता या वैविध्य ही बढ़ेगा, चरित्र में उन्नति और समाज की प्रगति सम्भव न होगी; अतः इस विषय में मिल का मत दूषित तथा अप्रामाणिक है।

शासनविषयक विचार : प्रतिनिधि शासन-प्रणाली—मिल ने अपने शासन-सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन 'प्रतिनिधि शासन' (Representative Government) नाम की पुस्तक में किया है। इसमें उसने उत्तम शासन की कसौटी या लक्ष्य का वर्णन करते हुए कहा है कि आदर्श की दृष्टि से शासन का सर्वोत्तम प्रकार वह है **"जिसमें प्रभुसत्ता अथवा सर्वोच्च नियन्त्रक शक्ति समुदाय के समूचे व्यक्तियों में निहित है, प्रत्येक नागरिक को न केवल इस अन्तिम प्रभुसत्ता का प्रयोग करने का अधिकार है, अपितु वह स्थानीय अथवा सामान्य सार्वजनिक कार्य को व्यक्तिगत रूप से करके शासन में वास्तविक भाग लेता है।"** उसकी दृष्टि में व्यक्ति का लक्ष्य मानव की शक्तियों का सर्वांगीण विकास करना है और वही शासन-प्रणाली श्रेष्ठ है, जिसमें इनका अधिकतम विकास सम्भव हो। उसने लिखा है—"अन्ततोगत्वा राज्य का महत्व और योग्यता इसका निर्णय करने वाले व्यक्तियों के महत्व और योग्यता पर निर्भर है। जिस राज्य में नागरिकों के मानसिक विकास और उन्नति की अपेक्षा प्रशासन में कुशलता को महत्व दिया जाता है, जहाँ मनुष्य को इसलिए छोटा बना रहने दिया जाता है कि वे लाभदायक प्रयोजनों के लिए शासकों के हाथ में कठपुतली बने रहें, ऐसे राज्य में छोटे आदमियों की सहायता से वास्तव में कोई बड़ा कार्य पूरा नहीं किया जा सकता। अन्त में यह पता लगेगा कि राज्य के जिस शासनतन्त्र को पूर्ण बनाने के लिए व्यक्तियों के विकास का बलिदान किया गया था, उस तन्त्र को इससे कोई लाभ नहीं पहुँचेगा, क्योंकि इसने उसको अधिक उत्तम रीति से कार्य करने के लिए उसका संचालन करने वाली शक्ति से उसे वंचित कर दिया है।"

मिल का यह अभिप्राय है कि राज्य की प्राणशक्ति उसके चरित्रवान् व्यक्ति हैं, जिस शासन-प्रणाली में इनके विकास के अवसर नहीं हैं, वह शासन-प्रणाली ठीक नहीं है, भले ही उसमें कितनी अधिक क्षमता और प्रशासनिक कुशलता क्यों न हो। निरंकुश राजतन्त्र शक्तिशाली और क्षमतापूर्ण होने पर भी आदर्श नहीं हैं, क्योंकि उसमें व्यक्तियों को शासन में भाग लेकर अपने चरित्र के विकास का अवसर नहीं मिलता है। उसने प्रतिनिधि शासन वाले लोकतन्त्र को इसीलिए श्रेष्ठ शासन-प्रणाली बताया है कि इसमें व्यक्ति के बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकास जिस मात्रा तक सम्भव होता है, वैसा अन्य किसी शासन-पद्धति में या निरंकुश राजतन्त्र में सम्भव नहीं है। वह यहाँ तक कहता है कि एक बुरा निरंकुश शासन (Malevolent despotism) लोकोपकारी निरंकुश शासन (Benevolent despotism) से अधिक अच्छा है, क्योंकि वह नागरिकों में बुरे शासन के विरुद्ध प्रतिरोध और विद्रोह की भावना उत्पन्न करके उनके द्वारा

सार्वजनिक मामलों में बुद्धिमत्तापूर्वक भाग लेने की, तथा शासन में उत्तरदायित्व की अनुभूति की भावना को उत्पन्न करने में अधिक सहायक है। लोकतन्त्र-प्रणाली इसलिए उत्तम है कि इसमें अधिकांश जनता को मतदाता के रूप में शासन में भाग लेने का अधिकार मिलता है, स्थानीय स्वशासन में तथा जूरी आदि के कार्यों में भाग लेने से उसके बौद्धिक गुणों का विकास होता है। किन्तु जिन जातियों में सार्वजनिक भावना का तथा लोकतन्त्रीय शासन के कर्त्तव्यों के पालन का अभाव है, जिन्हें सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी नहीं है, उनके लिए प्रजातन्त्र की व्यवस्था ठीक नहीं है। इस विषय में मिल ने भारत का उदाहरण दिया है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी में कार्य करने से उसे भारत का कुछ अधकचरा ज्ञान था। इसके आधार पर उसने भ्रान्तिपूर्ण कपोलकल्पना करते हुए यह कहा है कि हिन्दुओं में यह वृत्ति है कि वे अपराधियों से सहानुभूति रखते हैं, उन्हें पकड़वाने में राजकर्मचारियों की सहायता नहीं करते; वे चोर के विरुद्ध गवाही देकर उसे पकड़वाने की अपेक्षा झूठी गवाही देकर उसे छुड़वाने का प्रयत्न करते हैं। सार्वजनिक कर्त्तव्यपालन की भावना न रखने वाली ऐसी जातियों के लिए लोकतन्त्र की प्रणाली उपयुक्त नहीं है।

लोकतन्त्र-प्रणाली को सर्वोत्तम मानते हुए भी, इसे सब जातियों के लिए उपयुक्त न मानने के कारण मिल बेन्थम से एक महत्वपूर्ण भेद रखता है। बेन्थम परम्परा और इतिहास को कोई महत्व न देते हुए अपने सिद्धान्तों को सार्वभौम रूप से सब देशों में और समयों में लागू होने योग्य मानता है, किन्तु मिल इससे सहमत नहीं है। वह यह समझता है कि किसी देश की शासन-प्रणाली वहाँ के अतीत इतिहास में पाई जाने वाली परिस्थितियों में विकसित होती है, सब देशों की परिस्थितियाँ भिन्न होने से शासन-पद्धतियाँ भी भिन्न प्रकार की होती हैं। मिल पर डार्विन के विकासवाद का तथा कोम्ते आदि फ्रेंच विचारकों का प्रभाव पड़ा था। वह राज्य को अन्य सजीव शरीरों की भाँति स्वयमेव विकसित होने वाली संस्था नहीं, अपितु मनुष्य द्वारा अपने प्रयत्नों से विकसित होने वाली संस्था मानता था। इस विषय में बेन्थम और मिल के दृष्टिकोण की तुलना मनोरंजक है। बेन्थम लोकतन्त्र-प्रणाली को मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव के कारण श्रेष्ठ समझता था। मनुष्य स्वभाव से इतने स्वार्थी हैं कि इनके स्वार्थों का नियन्त्रण लोकतन्त्र के अतिरिक्त किसी अन्य शासन-व्यवस्था में सम्भव नहीं। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और अन्य सभी शासन-प्रणालियाँ विशेष वर्गों के स्वार्थों की सिद्धि का साधन होती हैं। मिल यद्यपि यह मानता है कि लोकतन्त्र ही ऐसी प्रणाली है, जिसमें सब वर्गों के हित सुरक्षित रहते हैं; किन्तु इसके साथ ही वह यह भी मानता है कि सभी जातियाँ लोकतन्त्र के लिए उपयुक्त नहीं हैं। जिन व्यक्तियों में सार्वजनिक कर्त्तव्यों का पालन करने वाली उपयुक्त भावना और चरित्र न हो, उनके लिए लोकतन्त्र की व्यवस्था हितकर नहीं हो सकती है। अतः बेन्थम लोकतन्त्र को **मनुष्य की प्रकृति** के आधार पर श्रेष्ठ समझता है और मिल **मनुष्य की परिस्थिति** के आधार पर।

मिल लोकतन्त्र का समर्थक इसलिए नहीं है कि यह शासन-पद्धति मनुष्यों को अधिक सुखी बनाती है, वह इसका पक्षपोषण इसलिए भी करता है कि यह उन्हें **अधिक अच्छा** बनाती है, उनके चरित्र के विकास के सुअवसर प्रदान करती है। उसकी

दृष्टि में हमारे जीवन के लिए जिस प्रकार हवा जरूरी है, वैसे ही राजनीतिक प्राणी के लिए अपना वोट डालना, जूरी पद्धति में काम करना तथा अन्य सार्वजनिक कार्य करना आवश्यक है। मत देने के महत्व पर उसने जो विचार प्रकट किए हैं, सम्भवतः इस विषय पर इससे अधिक उदात्त विचार कभी अभिव्यक्त नहीं किए गए—"किसी भी राजनीतिक निर्वाचन में, सार्वभौम मताधिकार द्वारा होने वाले चुनाव में भी मतदाता का यह पूर्ण नैतिक कर्त्तव्य है कि वह अपने वैयक्तिक हित के स्थान पर जनता के हितों का ध्यान रखे और अपना वोट अपनी सर्वोत्तम सम्मति के अनुसार इस प्रकार दे, जैसे वही एक मात्र वोटर हो तथा सारा चुनाव उस पर निर्भर हो। उसके वोट में विकल्प का स्थान नहीं है, जूरी के निर्णय की भाँति उसे अपनी वैयक्तिक इच्छाओं का ध्यान नहीं रखना है। वोट देना उसका कर्त्तव्य है, उसे इसका पालन सार्वजनिक हित के सर्वोत्तम विचार के अनुसार करना चाहिए।"

किन्तु लोकतन्त्र का परम प्रशंसक और उपासक होते हुए भी, वह इसके दोषों को भली-भाँति जानता था। उसने जहाँ एक ओर लोकतन्त्र पर इंगलिश भाषा की एक अधिकतम प्रभावशाली रचना लिखी है, वहाँ दूसरी ओर इसकी बुराइयों का प्रतिपादन अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में किया है और इन बुराइयों के प्रतिकार के अनेक उपायों का वर्णन किया है। ये उपाय प्रधानरूप से निम्नलिखित हैं—(क) आनुपातिक प्रतिनिधित्व, (ख) शैक्षणिक योग्यताएँ, (ग) साम्पत्तिक योग्यताएँ, (घ) सार्वजनिक मतदान प्रणाली, (ङ.) बहुल मतदान (Plural Voting), (च) विधि आयोग (Law Commission) की व्यवस्था।

(क) आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation)—मिल के मतानुसार लोकतन्त्रात्मक प्रतिनिधि शासन का सबसे बड़ा दोष बहुमत का अत्याचार और उत्पीड़न तथा अल्पसंख्यकों की घोर उपेक्षा है। इसमें जिसे ५१ प्रतिशत वोट मिल जाते हैं, वह चुना जाता है और ४६ प्रतिशत वोटरों का प्रतिनिधि नहीं चुना जाता। चुनाव में अल्पसंख्यकों के सफल होने की आशा कभी नहीं की जा सकती, उनका प्रतिनिधित्व न होने से उनके हित सदैव उपेक्षित रहते हैं। इस दोष के प्रतिकार के लिए मिल ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली का समर्थन किया। इसका सर्वप्रथम प्रतिपादन लन्दन के एक बैरिस्टर थॉमस हेयर ने मिल के 'प्रतिनिधि शासन' के प्रकाशन से दो वर्ष पहले किया था। अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए हेयर ने यह व्यवस्था की कि इसमें एक उम्मीदवार को निर्वाचित होने के लिए वोटों की एक निश्चित संख्या प्राप्त करनी होती है, यह संख्या वोटों की पूरी संख्या को चुनी जाने वाली सीटों की कुल संख्या से भाग देकर प्राप्त की जाती है। इसमें वोटर अपने मत-पत्र पर अनेक उम्मीदवारों के नाम लिखता है। जिसे वह सबसे अधिक पसन्द करता है, उसका नाम पहले लिखने के बाद अपनी पसन्दगी के क्रम से अन्य उम्मीदवारों का नाम लिखता है। जब एक उम्मीदवार को निश्चित संख्या में वोट मिल जाते हैं, तब उसके शेष वोट वोटरों द्वारा दिए गए क्रम के अनुसार अन्य उम्मीदवारों को दिए जाते हैं। इस पद्धति के कुशलतापूर्वक प्रयोग से बहुत कम वोट बरबाद होते हैं और अल्पमतों को उनकी संख्या के अनुपात से प्रतिनिधित्व मिल जाता है। मिल ने हेयर की योजना

का स्वागत और प्रबल समर्थन किया, वह इसे अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए आदर्श मानता था। मिल द्वारा इस व्यवस्था के समर्थन से यह लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली का एक आवश्यक अंग बन गई है। हमारे देश में भी पार्लियामेण्ट और विधानसभाओं में विभिन्न समितियों के सदस्यों के चुनाव में इस पद्धति को अपनाया जाता है और इससे विरोधी दलों को समुचित प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

(ख) **शैक्षणिक योग्यताएँ**—मिल प्रजातन्त्र का एक और बड़ा खतरा यह समझता था कि बहुसंख्या का शासन होने के कारण यह अज्ञानी और निरक्षर व्यक्तियों का शासन बन जाएगा, क्योंकि देश में अधिकतर संख्या ऐसे ही व्यक्तियों की होती है। उसे यह आशंका थी कि यदि वोटरों की योग्यता और गुणों के बढ़ाने पर ध्यान नहीं दिया गया तो लोकतन्त्र में कम बुद्धि तथा योग्यता वाले लोग हावी हो जाएँगे। अतः लोकतन्त्र के भविष्य को उज्ज्वल और सुरक्षित बनाने के लिए आवश्यक है कि ऐसे लोगों को मताधिकार से वंचित किया जाए। इसलिए उसने निरक्षर व्यक्तियों को वोट का अधिकार देने का विरोध करते हुए कहा कि "मैं इस बात को पूर्णरूप से अस्वीकार करता हूँ कि जो व्यक्ति पढ़ने-लिखने में और गणित के सामान्य सवाल निकालने में समर्थ नहीं हैं, उसे मतदान में हिस्सा लेने दिया जाए।" उसके मत में वोट के लिए नाम दर्ज कराने से पहले वोटर बनने के इच्छुक व्यक्ति को अपनी योग्यता का परिचय देने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपना नाम वोटरों की सूची में दर्ज करने वाले अधिकारी के सम्मुख इंगलिश पुस्तक से एक वाक्य की प्रतिलिपि करके तथा सवाल करके अपने वोटर बनने की योग्यता को प्रमाणित करे। सार्वभौम मताधिकार से पहले वे सार्वजनिक शिक्षा को आवश्यक समझते थे।[1]

(ग) **साम्पत्तिक योग्यता**—शैक्षणिक योग्यता के अतिरिक्त मिल वोटर के लिए साम्पत्तिक योग्यता भी आवश्यक मानता था। उसका यह विश्वास था कि जिनके पास सम्पत्ति होती है, वे सम्पत्ति न रखने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा उत्तरदायित्व की भावना अधिक मात्रा में रखते हैं। उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि "यह बात महत्वपूर्ण है कि जो असेम्बली या विधानसभा सामान्य अथवा स्थानीय कर लगाती है, उसका चुनाव ऐसे मतदाताओं द्वारा ही हो, जो इस प्रकार लगाए जाने वाले टैक्सों का कुछ भाग देते हों। कर बिलकुल न देने वाले व्यक्तियों को यदि अपने मतों द्वारा दूसरे व्यक्तियों की सम्पत्ति पर कर लगाने का अधिकार दिया गया तो इस बात की सम्भावना है कि वे आर्थिक मामलों में खूब खर्च करने वाले तथा कोई बचत न करने वाले होंगे। उन्हें इस बात का अधिकार मिल जाता है कि वे जिस किसी बात को सार्वजनिक प्रयोजन समझते हैं, उसके लिए दूसरे व्यक्तियों की जेबों में हाथ डालें।" अतः मिल सम्पत्ति रखने वाले तथा कर देने वाले व्यक्तियों तक ही वोट का अधिकार सीमित रखना चाहता था।

(घ) **सार्वजनिक मतदान** (Public Voting)—मिल के समय में अन्य सभी

---

1. "Universal teaching must precede universal enfranchisement."
—J. S. Mill.

विचारक प्रजातन्त्र की सफलता के लिए गुप्त मतदान प्रणाली (Secret Ballot) के समर्थक थे, उनका यह मत था कि इससे चुनाव में घूँसखोरी और भ्रष्टाचार कम होता है। बेन्थम और जेम्स मिल इसी मत के थे, किन्तु जॉन मिल माँतेस्क्यू की भाँति यह मानता था कि सार्वजनिक मतदान द्वारा जनता को लोकतन्त्र की प्रणाली के लिए समुचित रूप से प्रशिक्षित किया जा सकता है। मिल इस प्रणाली का समर्थन इस तर्क के आधार पर करता था कि "मतदान का अधिकार सार्वजनिक कर्त्तव्य है, इसे अन्य सार्वजनिक कर्त्तव्यों की भाँति जनता की देख-रेख में उसकी आलोचना को सहते हुए खुले रूप में करना चाहिए।" यह ऐसा कर्त्तव्य है, जिसके समुचित पालन में सब लोगों का हित निहित है, अतः सब व्यक्तियों को यह देखने का अधिकार है कि इसका पालन ठीक ढंग से हो रहा है या नहीं हो रहा है। यदि गुप्त मतदान प्रणाली अपनायी गई तो इससे स्वार्थ-सिद्धि को प्रोत्साहन मिलेगा, सबकी निगाहों में रहते हुए वोट देते समय प्रतिकूल आलोचना के भय से मनुष्य अपने कर्त्तव्य का समुचित रीति से पालन करता है, गुप्त मतदान में यह भय न रहने से कर्त्तव्य का ठीक ढंग से पालन नहीं होगा।

(ड.) बहुल मतदान (Plural Voting)—मिल लोकतन्त्र की एक बड़ी बुराई यह समझता था कि इसमें समानता के सिद्धान्त के आधार पर सब व्यक्तियों को एक वोट का अधिकार दिया जाता है, किन्तु सब व्यक्तियों के वोटों का महत्व और मूल्य एक जैसा नहीं होता है। वस्तुतः समाज में बुद्धिमत्ता, शिक्षा और उत्कृष्ट गुण अज्ञान, मूर्खता और निकृष्ट गुणों से अधिक महत्व रखते हैं, अतः बुद्धिमान्, शिक्षित तथा उत्कृष्ट गुणों को रखने वालों को मूर्खों तथा अशिक्षितों से अधिक वोट देने का अधिकार होना चाहिए। उदाहरणार्थ, विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने वालों को दो वोट दिए जाने चाहिएँ। वह लोकतन्त्र के दो भेद करता था—सच्चा (True) लोकतन्त्र और झूठा (False) लोकतन्त्र। लोकतन्त्र संख्याओं को तथा वोटों को गिनने का लोकतन्त्र है, इसका मूल सिद्धान्त है कि एक व्यक्ति का एक वोट होना चाहिए, एक व्यक्ति का एक से अधिक वोट नहीं होना चाहिए। इस सिद्धान्त का मतलब ऐसा शासन स्थापित करना है, जो सबसे कम शिक्षित लोगों का तथा हाथ से काम करने वाले मजदूरों का शासन होगा। यह झूठा लोकतन्त्र है। इसके विपरीत सच्चे लोकतन्त्र में सब व्यक्तियों के वोट बराबर नहीं, किन्तु उनकी योग्यता के आधार पर होते हैं। इसमें शिक्षा, नैतिकता आदि की दृष्टि से योग्य व्यक्तियों को सामान्य व्यक्तियों से अधिक संख्या में वोट दिए जाते हैं। मिल ने इस विषय में एक विस्तृत योजना बनाई थी कि समाज के किन वर्गों को कितने वोट दिए जाने चाहिएँ, यह वर्गीकरण मानसिक और नैतिक गुणों के आधार पर किया गया था। यह सब लोकतन्त्र को अधःपतन के गर्त में गिरने से बचाने के लिए किया गया था, क्योंकि राज्य की रक्षा बुद्धि और चरित्र से ही हो सकती है। शिक्षित और बुद्धिमान् लोगों को अधिक संख्या में वोट देने का एक दुष्परिणाम यह हो सकता है कि शासन पर उनका आधिपत्य न स्थापित हो जाए, अतः मिल इसके दुष्परिणामों से बचने के लिए यह व्यवस्था करता है कि वोटों की यह बहुसंख्या समाज में ऐसे दरिद्रतम व्यक्ति को भी प्राप्त होगी, जो यह सिद्ध कर सके कि सब कठिनाइयों के बावजूद, बुद्धि की दृष्टि से वह अधिक वोट पाने का अधिकारी है। इस बात को 'स्वेच्छा-

पूर्वक दी जाने वाली परीक्षाओं से प्रमाणित किया जाना था।

(च) **विधि आयोग तथा लोकतन्त्र विषयक अन्य विचार**—पार्लियामेण्ट या प्रतिनिधि सभा के कार्य के सम्बन्ध में उसके विचार विलक्षण थे। इसका कार्य "शासन करना नहीं है, इस कार्य के लिए उसमें कोई योग्यता नहीं है, प्रतिनिधि सभा का समुचित कार्य सरकार का निरीक्षण और नियन्त्रण करना, इनके कार्यों पर प्रकाश डालना, इसके गर्हणीय कार्यों की निन्दा करना, सरकारी कर्मचारियों में निहित किए जाने वाले विश्वास का दुरुपयोग करने वाले अधिकारियों को पदच्युत करना है।" चूंकि "सार्वजनिक प्रशासन की प्रत्येक शाखा का कार्य निष्णात एवं चतुर व्यक्तियों द्वारा किया जाने वाला होता है; अतः प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रशासन के कार्य किए जाने का अर्थ यह होगा कि अयोग्यता तथा अनुभवशून्यता को योग्यता तथा अनुभव से अधिक महत्व दिया जा रहा है। इसलिए कानून बनाने का वास्तविक कार्य एक विशेष विधि आयोग (Special Legislation Commission) को करना चाहिए, इसके सदस्य सिविल सर्विस के व्यक्ति होने चाहिएँ। इन कानूनों को पास करने का कार्य पार्लियामेण्ट का होना चाहिए। विधि आयोग द्वारा कानूनों का प्रारूप तैयार होने पर पार्लियामेण्ट को इसमें संशोधन का कोई अधिकार नहीं होगा, वह इन्हें या तो पास करेगी या रद्द करेगी।"

मिल ने इस व्यवस्था द्वारा संख्या तथा गुण के सिद्धान्तों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। जनता की प्रभुसत्ता संख्या का सिद्धान्त है, शासन के कार्यों का वास्तविक संचालन योग्य व्यक्तियों द्वारा किया जाना तथा कानूनवेत्ताओं के आयोग द्वारा कानूनों का बनाया जाना गुण अथवा योग्यता का सिद्धान्त है। उसने इन दोनों का सामंजस्य करते हुए लोकतन्त्र के स्वरूप को विशुद्ध बनाने का प्रयत्न किया है।

सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए मिल कुछ अन्य सुधार भी करना चाहता है। उच्च अथवा द्वितीय सदन में वह ऐसे हितों का प्रतिनिधित्व करना चाहता है, जिनका प्रतिनिधित्व सामान्य मताधिकार द्वारा निर्वाचित निम्न सदन में नहीं होता था। इसका कार्य निम्न सदन की गलतियों और दोषों के विरुद्ध प्रबल प्रतिवाद करना था। मिराबो ने कहा था कि प्रतिनिधि सभाएँ नक्शों जैसी होती हैं, जिस प्रकार इनमें देश की सब भौगोलिक विशेषताएँ उचित अनुपातों के साथ लघु रूप में दिखाई जाती हैं, उसी प्रकार विधानसभाओं में देश के विभिन्न स्वार्थों और दलों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। मिल के मतानुसार निम्न सदन में यह प्रतिनिधित्व संख्या के आधार पर होता था, किन्तु उच्च सदन में विभिन्न स्वार्थों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। १८३२ के सुधार कानून से पहले इंगलैण्ड में विभिन्न हितों का ही प्रतिनिधित्व होता था। मिल ने स्वयमेव इस व्यवस्था के उन्मूलन के लिए प्रयत्न किया था, किन्तु तीस वर्ष के अनुभव से उसे विशेष हितों का प्रतिनिधित्व भी आवश्यक प्रतीत हुआ।

उसका दूसरा सुधार पार्लियामेण्ट के सदस्यों को वेतन या भत्ता न दिए जाने के बारे में था। उस समय इन्हें देने के लिए प्रबल आन्दोलन हो रहा था, किन्तु मिल इसका घोर विरोधी था। उसका यह कहना था कि इससे लोग आर्थिक प्रलोभन के कारण इसके सदस्य बनने लगेंगे, लोगों को अपने भाषणों से प्रभावित करने में समर्थ लोग (Demagogue) इस दिशा में आकृष्ट होने लगेंगे, चालाक और शासन करने में

नालायक आदमी पार्लियामेण्ट के सदस्य बन जाएँगे, इसकी पवित्रता और क्षमता नष्ट हो जाएगी। लोगों की निष्काम सेवा तथा कर्त्तव्य की भावना से पार्लियामेण्ट के सदस्य बनने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाएगी। सदस्यों को वेतन देने का विरोध करने के साथ वह सदस्यों पर चुनावों का अनावश्यक और अनुचित बोझ भी नहीं डालना चाहता था। उसका यह मत था कि चुनाव के खर्च का भार उम्मीदवार पर नहीं पड़ना चाहिए।

मिल लोकतन्त्र के महान् विचारकों में गिना जाता है। लोकतन्त्रविषयक उसके उपर्युक्त सुझावों में कई इस समय सर्वसम्मति से स्वीकार किए जा चुके हैं और कई सुझाव रद्द कर दिए गए हैं। उसके सर्वत्र माने जाने वाले सुझाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व और स्त्रियों का मताधिकार है। स्विट्ज़रलैण्ड में उसका विशेषज्ञ लोगों द्वारा कानूनों के निर्माण का सुझाव स्वीकार किया गया है, अन्य देशों में भी इस कार्य को विशेषज्ञों को सौंपने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। बहुल मतदान (Plural Voting) तथा उपरले सदन में विशेष हितों के प्रतिनिधित्व के विचार भी अनेक लोकतन्त्रों में माने जाते हैं। उदाहरणार्थ, भारतीय संविधान के अनुसार कुछ राज्यों में शिक्षकों और विश्वविद्यालयों के स्नातकों को अपने सामान्य वोट के अतिरिक्त दो अन्य मत देने का अधिकार है और विधानपरिषदों में शिक्षकों, स्नातकों, नगरपालिकाओं आदि के विशेष हितों का प्रतिनिधित्व होता है। मिल के स्वीकार न किए जाने वाले सुझावों में पार्लियामेण्ट के सदस्यों को वेतन न देना तथा खुले मतदान की व्यवस्था है।

मिल द्वारा उपयोगितावाद का संशोधन : बेन्थम और मिल के सिद्धान्तों के भेद—जॉन स्टुअर्ट मिल को उसके पिता ने बचपन से ऐसी शिक्षा दी थी कि वह उपयोगितावाद के साँचे में ढल सके, बेन्थम के सिद्धान्तों का प्रबल प्रचारक बन सके। किन्तु समय बीतने के साथ कई कारणों से जॉन मिल के विचारों में बड़ा परिवर्तन आने लगा। इसका **पहला** कारण २० वर्ष की आयु में मिल का मानसिक अवसाद या नैराश्य का दौरा था। इससे उपयोगितावाद के सिद्धान्त में उसकी आस्था शिथिल होने लगी। **दूसरा** कारण मिल द्वारा वर्ड्सवर्थ और कोलरिज की कविता का अध्ययन तथा उस पर डार्विन, कोम्ते, स्पेन्सर आदि की रचनाओं का प्रभाव था। **तीसरा** कारण इंगलैण्ड की परिवर्तित परिस्थितियाँ थीं। बेन्थम और जेम्स मिल ने ब्रिटिश समाज की जिन बुराइयों के संशोधन पर बल दिया था, वे लुप्त हो रही थीं। अब इनकी आलोचना पर बल देने की आवश्यकता नहीं थी। इस समय इनके स्थान पर उत्पन्न होने वाली नई बुराइयों के निराकरण के लिए नवीन चिन्तन की आवश्यकता थी। अतः इन कारणों से जॉन मिल के विचारों में शनैः-शनैः एक क्रान्ति हुई और उसने नवीन सिद्धान्तों पर बल देना शुरू किया। इससे उपयोगितावाद का आमूलचूल संशोधन हुआ, उसके स्वरूप में बहुत अन्तर आ गया। मिल ने उपयोगितावाद के स्थान पर व्यक्तिवाद (Individualism) पर अधिक बल दिया, अतः उसे **अन्तिम उपयोगितावादी** तथा **प्रथम व्यक्तिवादी** (Last utilitarian and first individualist) दार्शनिक कहा जाता है। मिल ने उपयोगितावाद के सम्बन्ध में अपने विचारों का विशद प्रतिपादन १८६१ में इस विषय पर लिखे 'Utilitarianism' नामक निबन्ध में किया। इसके आरम्भ में तो उसने इसके सिद्धान्तों को स्वीकार किया है, किन्तु आगे चलकर इसके प्रधान सिद्धान्तों

का परित्याग कर दिया है। यहाँ इसके आधार पर वेन्थम के उपयोगितावाद से उसके प्रधान मतभेदों का वर्णन किया जाएगा।

(१) वेन्थम से उसका **पहला भेद** सुख के स्वरूप के सम्बन्ध में था। पहले यह बताया जा चुका है कि वेन्थम सुखों में मात्रात्मक (Quantitative) भेद मानता था, किन्तु मिल ने उसमें गुणात्मक (Qualitative) भेद भी माना। वेन्थम के मतानुसार सुख की मात्रा एक-सी होने पर रसगुल्ले खाने के आनन्द में या कालिदास के काव्य का रसपान करने में कोई अन्तर नहीं है। मिल को यह बात मान्य नहीं थी। उपर्युक्त निबन्ध में वेन्थम के अधिकतम सुख के सिद्धान्त को मानने के बाद उसने यह लिखा है कि यह बात उपयोगिता के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है कि इस तथ्य को मान लिया जाए कि आनन्द के कुछ प्रकार अन्य प्रकारों की अपेक्षा अधिक वांछनीय और अधिक मूल्यवान् होते हैं। यह **बड़ी बेहूदी बात** होगी कि सब आनन्दों का मूल्यांकन करते समय **केवल मात्रा** पर ही विचार किया जाए। मिल के मतानुसार रसना के आनन्दों से बुद्धि के आनन्द अधिक उत्कृष्ट थे। उसने लिखा था कि सभी उपयोगितावादी लेखक इस बात को स्वीकार करते हैं कि शारीरिक सुखों की तुलना में मानसिक सुख अधिक उत्कृष्ट होते हैं, क्योंकि ये अधिक स्थायी एवं सुरक्षित होते हैं।

मिल ने सुखों में गुण की दृष्टि से उच्चतर तथा निम्नतर सुखों का भेद स्वीकार किया। उसका यह कहना था कि सुसंस्कृत एवं परिमार्जित रुचि वाले विद्वान् पुरुषों को जिन बातों में सुख मिलता है, वह मूढ़ लोगों के इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने वाले निम्नतर आनन्दों से कहीं उत्कृष्ट है। यदि विद्वान् और मनीषी अपनी स्थिति से सन्तुष्ट न हों तो भी उनकी यह अवस्था पूर्ण रूप से सन्तुष्ट निम्न कोटि वाले व्यक्ति से कहीं अधिक अच्छी है। उसने लिखा था कि **"असन्तुष्ट मानव सन्तुष्ट सूअर की अपेक्षा अच्छा है, असन्तुष्ट सुकरात पूर्णतया सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा उत्कृष्ट है।"** इसका यह अभिप्राय है कि सुकरात जैसे व्यक्तियों का सुख सूअर या मूर्ख के सुख की अपेक्षा मात्रा में न्यूनतर होने पर भी गुणात्मक दृष्टि से उच्चतर होने के कारण अधिक वांछनीय है। मिल का यह कहना था कि इस विषय में उन विद्वानों और पुरुषों का वचन प्रमाण मानना चाहिए, जिन्हें उच्चतर तथा निम्नतर दोनों प्रकार के सुखों का अनुभव है। उनकी साक्षी के आधार पर ही हमें इस गुणात्मक भेद को स्वीकार करना चाहिए। यदि सुखों में यह भेद मान लिया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि हम यह भी मानेंगे कि हमें उच्चतर सुख पाने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे उपयोगितावाद का आधार ही खण्डित हो जाता है, क्योंकि उपयोगितावाद सुखदायी होने से सुखों में मात्रा का ही भेद मानता है, गुणों का नहीं। अतः मिल ने सुखों को गुणात्मक मानकर उपयोगितावाद के एक बड़े आधारस्तम्भ को तिलांजलि दे दी।

(२) **दूसरा भेद** सुखों की मापक पद्धति (Felicific Calculus) के बारे में है। सुखों के गुणात्मक भेद मान लेने से उनको नापने या निष्पक्ष रीति से मूल्यांकन करने के सभी प्रयत्न निरर्थक हो जाते हैं, क्योंकि रसगुल्ला खाने से रसना को सुख देने वाले निम्नस्तर के ऐन्द्रियिक सुख की तुलना कालिदास के काव्यरसास्वादन के उत्कृष्ट सुख से नहीं हो सकती है। तुलसीदास ने कहा है कि स्वर्गादि के भोगों से प्राप्त होने वाले सुख

यदि एक पलड़े में रखे जाएँ और सत्संग का क्षण-भर का आध्यात्मिक सुख दूसरे पलड़े में रखा जाए तो स्वर्ग के सुख सत्संगति के सुख की तुलना नहीं कर सकते। भारतीय धर्मशास्त्रों में इसलिए आध्यात्मिक सुखों को भौतिक सुखों से उत्कृष्ट बताया गया है। महाभारत में कहा गया है कि सांसारिक काम या वासना की तृप्ति होने से जो सुख होता है और जो सुख स्वर्ग में मिलता है, ये दोनों सुख मिलकर तृष्णा के क्षय से होने वाले सुख के सोलहवें हिस्से के भी बराबर नहीं हैं। विभिन्न सुखों की यह तुलना विद्वानों द्वारा की जाती है। बेन्थम सुखों की मात्रा को आनन्दमापक गणना पद्धति से नापना चाहता था। किन्तु इस विषय में मिल का नपैना सर्वथा भिन्न है, वह इसके सम्बन्ध में विद्वानों को ही प्रमाण मानता है, क्योंकि इनके सिवाय इनकी जाँच या निर्णय किसी अन्य प्रकार से नहीं हो सकता। "दो सुख देने वाली अनुभूतियों की प्रगाढ़ता का निर्णय वही लोग कर सकते हैं, जिन्हें दोनों अनुभूतियों का ज्ञान हो।" अतः मिल का मत इस विषय में सर्वथा सत्य प्रतीत होता है कि सुखों को नापने का कार्य बेन्थम की आनन्द-मापक पद्धति से सम्भव नहीं है। यह मिल का बेन्थम से एक मौलिक भेद था तथा उपयोगिता के एक महान् मन्तव्य का परित्याग था।

(३) **तीसरा भेद** इतिहास एवं परम्पराओं के महत्व के सम्बन्ध में था। बेन्थम इनकी घोर उपेक्षा करता था, उसके मतानुसार उसके द्वारा तैयार किए गए संविधान और शासन-प्रणालियाँ दुनिया के किसी भी भाग में, असभ्यतम देशों में तथा सभ्यतम देशों में सर्वत्र समान रूप से लागू की जा सकती थीं। किन्तु मिल ऐसा नहीं मानता था, उसके मतानुसार प्रत्येक देश और जाति का अपना इतिहास, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ और नियम होते हैं, इनका उस देश की विशिष्ट परिस्थितियों में विकास होता है, प्रत्येक देश की शासन-प्रणाली वहाँ की परम्पराओं और परिस्थितियों के अनुसार होनी चाहिए। कोई भी शासन-प्रणाली ऐसी आदर्श या उन्नत नहीं हो सकती, जो सर्वत्र समान रूप से लागू की जा सके। पहले (पृ० ४१) यह बताया जा चुका है कि लोकतन्त्र की व्यवस्था को उत्कृष्ट मानते हुए भी मिल इसे भारत जैसे देशों के लिए उपयुक्त नहीं मानता था। अतः उसे ऐतिहासिक सापेक्षतावादी (Historical Relativist) कहा जाता है। इसलिए लोकतन्त्र को जहाँ बेन्थम मानव की प्रकृति (nature of man) के आधार पर उत्कृष्ट मानता है, वहाँ मिल इसे मनुष्य की परिस्थिति के आधार पर श्रेष्ठ समझता है।

(४) **चौथा भेद** मिल द्वारा व्यक्ति और राज्य के उद्देश्यों को ऊँचा बनाना तथा उपयोगितावाद में उच्च नैतिक सिद्धान्तों का समावेश करना है। बेन्थम मानव-जीवन का लक्ष्य अपने सुख की प्राप्ति और राज्य का लक्ष्य अपने नागरिकों को इसकी प्राप्ति में सहायता देना मानता है। वह अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख के सिद्धान्त पर बल देता है, वह नैतिकता के विचार को तनिक भी महत्व नहीं देता है (देखिए पिछला अध्याय)। मिल का मत इसके सर्वथा प्रतिकूल है। व्यक्ति का लक्ष्य केवल सुख की खोज नहीं, अपितु जर्मन विद्वान् विल्हैल्म वान हम्बोल्ड के मतानुसार "अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का उच्चतम तथा अधिकतम सामंजस्यपूर्ण विकास" करना है। राज्य का लक्ष्य अपने नागरिकों का सुख बढ़ाना नहीं, किन्तु उनके मानसिक गुणों को बढ़ाना है। मिल के मत में राज्य एक नैतिक संस्था है, उसका एक नैतिक उद्देश्य है। उसका लक्ष्य वैयक्तिक

सुख या उपयोगिता को ही बढ़ाना नहीं, किन्तु व्यक्तियों के गुणों का विकास और वृद्धि करना है। इस पर वेपर ने यह टिप्पणी की है कि मिल ने इस प्रकार उपयोगितावाद का समर्थन उसका पूर्ण परित्याग करके किया है।

यह बात उसके अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के सिद्धान्त की व्याख्या से स्पष्ट हो जाती है। उपयोगितावाद की एक बड़ी समस्या यह थी कि जब व्यक्ति स्वार्थी होने के कारण अपने वैयक्तिक सुखों पर बल देते हैं तो समष्टि का या 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' का लक्ष्य कैसे पूरा हो सकता है, क्योंकि विभिन्न सुखों और स्वार्थों के संघर्ष के कारण अधिकतम सुख का निर्धारण या प्राप्ति बहुत कठिन है। मिल इसे ईसा के स्वर्णिम नियम और उपयोगितावाद के नैतिकता के आधार पर स्पष्ट करता है। ईसा का उपदेश है कि "तुम दूसरे के साथ वैसा व्यवहार करो, जैसा तुम अपने साथ चाहते हो; अपने पड़ोसी से वैसा प्यार करो, जैसा तुम अपने साथ करते हो। यही उपयोगितावादी नैतिकता का आधार है। तुम अपना सुख और हित उसी बात में समझो, जिसमें दूसरे का सुख और हित हो।" मिल यह समझता है कि समुचित शिक्षा द्वारा मनुष्यों का ऐसा विकास हो सकता है कि वह समष्टि के या अधिकतम व्यक्तियों के सुख को अपना सुख समझे, वह अपना आचरण ऐसा बनाए कि उससे उसको तथा अधिकतम व्यक्तियों को आनन्द प्राप्त हो।

मिल की उपयोगितावाद की यह व्याख्या बेन्थम के मत के सर्वथा प्रतिकूल है। उसके मतानुसार मानवीय आचरण और व्यवहार में हमारा चरम लक्ष्य भौतिक सुख की प्राप्ति है। उसमें नैतिकता के प्रश्नों तथा व्यक्ति के सुख के उपर्युक्त रीति से समष्टि के सुख में रूपान्तरित होने का कोई प्रश्न नहीं है। बेन्थम के मतानुसार मनुष्य सभ्यता की जिस दशा में हो, उसे सुख मिलना चाहिए; मिल मनुष्यों की दशा उन्नत करके उसमें सुख के स्वरूप को उत्कृष्ट बनाना चाहता था। मैक्सी ने दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है, "बेन्थम का उपयोगितावाद का सिद्धान्त भेड़ियों के समाज में स्वार्थ को महत्व देता है और सन्तों के समाज में साधुता को। मिल का यह संकल्प था कि चाहे कोई भी समाज हो, उसमें उपयोगिता की कसौटी साधुता (saintliness) ही होनी चाहिए।"

(५) **पाँचवाँ भेद** राजनीतिक संस्थाओं के बारे में है। मिल बेन्थम की भाँति इन्हें मनुष्यों की कृति मानता है, किन्तु वह इस बात पर बेन्थम की अपेक्षा अधिक बल देता है कि राज्य आदि सभी संस्थाओं का आधार इच्छा (Will) है। यह इच्छा केवल संख्या पर ही आधारित नहीं है, अपितु गुणों पर टिकी हुई है। संस्थाओं का निर्माण करने वाली इच्छा धर्म जैसे सुदृढ़ धार्मिक विश्वास का रूप धारण कर सकती है। अतएव मिल का यह कहना था कि "सुदृढ़ विश्वास रखने वाला एक व्यक्ति केवल अपना स्वार्थ या हित रखने वाले ९९ व्यक्तियों के समान सामाजिक शक्ति रखता है।" बेन्थम इससे बिलकुल सहमत नहीं था, वह राज्य को इच्छा के स्थान पर हितों (interests) का परिणाम या कार्य मानता है। मिल राज्य में मानवीय इच्छा या व्यक्तित्व की उपेक्षा करने वाले किसी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता, यह बेन्थम के मत के सर्वथा प्रतिकूल था।

(६) **छठा भेद** राज्य के आर्थिक कार्यक्षेत्रों के सम्बन्ध में है। पुराने उपयोगिता-

वादियों की यह धारणा थी कि व्यक्तियों द्वारा अपने सुखों की प्राप्ति के प्रयत्न से समाज को सुख प्राप्त होगा। मिल ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' (Political Economy) में इसका खण्डन किया है। इस विचार में इस बात की सर्वथा उपेक्षा कर दी गई है कि सब व्यक्तियों की शक्ति में बड़ा अन्तर होता है और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ सर्वत्र एक जैसी नहीं होतीं। यदि भूतकालीन परिस्थितियों के कारण कुछ व्यक्तियों के पास अधिक साधन सम्पत्ति है तो उन्हें आर्थिक प्रतियोगिता में कम साधन-सम्पन्न व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक लाभ रहेगा। भू-सम्पत्ति पर, कारखानों पर तथा ज्ञान पर थोड़े से व्यक्तियों का एकाधिकार है, शासन-सत्ता भी इन्हीं के हाथ में है, इन्होंने सब कानूनों का निर्माण अपने स्वार्थों की सिद्धि के उद्देश्य से किया है। अतः ये लोग इन कानूनों से साधारण जनता के जीवन को दयनीय बना रहे हैं और लाखों व्यक्तियों के सर्वांगीण विकास में बाधाएँ डाल रहे हैं। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इन बाधाओं का निराकरण करे और सार्वजनिक कल्याण और सुख की वृद्धि करे। यद्यपि मिल कट्टर व्यक्तिवादी होने के कारण राज्य के कार्यक्षेत्र को संकुचित करने पर तथा उसके कार्य कम करने पर बल देता था, फिर भी वह व्यक्ति के विकास और मानव-जाति की प्रगति को अवरुद्ध करने वाले कार्यों को रोकना चाहता था। इस दृष्टि से उसने भू-सम्पत्ति का विरोध किया, वह भूमि पर वैयक्तिक अधिकार को समाज के लिए उपयोगी या हितकर नहीं मानता था। यह बेन्थम के सम्पत्ति को पवित्र और महत्वपूर्ण मानने के विचार से सर्वथा प्रतिकूल था। वह नागरिकों के विकास के लिए अनिवार्य शिक्षा-पद्धति का समर्थक था, यद्यपि वह राज्य द्वारा शिक्षा का पाठ्यक्रम निर्धारित किए जाने का विरोधी था। वह उत्तराधिकार द्वारा पुत्रों के विशाल सम्पत्ति प्राप्त करने का विरोध करता था, उसका यह मत था कि किसी व्यक्ति को एक निचिश्त मात्रा से अधिक सम्पत्ति प्राप्त नहीं होनी चाहिए। वह कारखानों की दशाओं में सुधार करने वाले, विशेषतः बच्चों की स्थिति सुधारने वाले कानून बनाने के पक्ष में था। उसके मतानुसार काम करने के घण्टे नियन्त्रित होने चाहिएँ। वह राज्य को आर्थिक मामलों में मजदूरों के कल्याण और हित की दृष्टि से हस्तक्षेप करने का पूरा अधिकार प्रदान करता था और इस दृष्टि से वह समाजवादी था। अतः एबेन्स्टाइन ने यह सत्य ही लिखा है कि मिल ने अपने जीवन का आरम्भ उपयोगितावादी के रूप में तथा अन्त समाजवादी के रूप में किया। बेन्थम आर्थिक क्षेत्र में एडम स्मिथ की अहस्तक्षेप (laissez faire) की नीति का समर्थक था, मिल ने इसका विरोध उपयोगितावाद के प्रधान आधार—अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख एवं सार्वजनिक कल्याण के आधार पर किया।

(७) **सातवाँ भेद** स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में है। बेन्थम ने इसे विशेष महत्व नहीं दिया था, इसका स्थान सुरक्षा के बाद माना था; किन्तु मिल के मतानुसार राजनीतिक और सामाजिक जीवन में इसका सर्वोच्च स्थान था (देखिए पृष्ठ ३०)।

(८) **आठवाँ भेद** गुप्त मतदान प्रणाली के बारे में था, बेन्थम इसका कट्टर समर्थक और मिल उग्र विरोधी था (ऊपर पृष्ठ ४०)।

(९) **नवाँ भेद** स्त्रियों के मताधिकार के बारे में था। जॉन मिल ने इसका जैसा उग्र समर्थन किया था, वह हमें बेन्थम और जेम्स मिल की रचनाओं में नहीं मिलता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जॉन स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद में अनेक महत्वपूर्ण संशोधन किए हैं। वेपर ने तो यहाँ तक लिखा है कि उपयोगितावाद पर किए जाने वाले आक्षेपों से इसकी रक्षा करने के लिए मिल इतनी दूर तक चला गया कि उसने उपयोगितावाद के समूचे सिद्धान्त का परित्याग कर दिया। उसका संशोधनकार्य इतना अधिक था कि मिल द्वारा इसकी पुनर्व्याख्या के बाद इसमें उपयोगितावाद का कुछ भी अंश नहीं रह गया। **वेपर ने इसकी तुलना के लिए एक मनोरंजक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि यदि किसी गम्भीर दार्शनिक के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह बच्चे को नहलाने-धुलाने के बाद उसे उठाना भूल गया था तो यह बात मिल के बारे में ही पूर्ण रूप से कही जा सकती है।** उसने उपयोगितावाद की इतनी सफाई की कि उसका नाम-निशान बाकी नहीं रहा। किन्तु लैंकास्टर आदि अन्य विद्वान् वेपर की इस अतिरंजित आलोचना से सहमत नहीं हैं। मिल ने उपयोगितावाद में महत्वपूर्ण संशोधन किए। उसने इसे नवीन दिशाओं में विस्तीर्ण करके इसकी नींवों को खोखला बनाया, किन्तु वह इस दृष्टि से अन्तिम समय तक "बेन्थम का अनुयायी बना रहा कि वह एक प्रकार के समाजशास्त्र में विश्वास रखता था और यह मानता था कि मनुष्य का ज्ञान बढ़ने के साथ मानवीय मामलों का संचालन अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण रीति से हो सकता है।"

मिल का महत्व और अनुदान—मिल के राजनीतिक चिन्तन की कड़ी आलोचना की गई है और अनेक विद्वानों ने इसके दोषों को प्रदर्शित किया है। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि उसने उपयोगितावाद का समर्थन करते हुए उसकी नींव खोखली कर दी, उसके मौलिक सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी। उसकी रचनाओं और विचारों में विरोध, असंगति और अस्पष्टता है, उसके कई तर्क थोथे और हेत्वाभासपूर्ण हैं। मिल के स्वतन्त्रता के विचार की आलोचना पहले ही की जा चुकी है (पृ० ३६—४०)। उसने विचार-विमर्श और विवाद की स्वतन्त्रता पर इतना अधिक बल दिया है कि यह समाज में अस्थिरता और निर्बलता उत्पन्न करने वाली है। बर्क ने यह सत्य ही कहा था कि वाद-विवाद की प्रवृत्ति अधिक बढ़ जाने पर हम अपने कर्त्तव्यों के बारे में भी सन्देह करने लगते हैं।

किन्तु मिल की इन आलोचनाओं के बावजूद हमें यह मानना पड़ता है कि वह उपयोगितावादी दार्शनिकों में सर्वश्रेष्ठ और अधिकतम सन्तोषजनक है। उसने उपयोगितावाद के सिद्धान्तों को बेन्थम तथा अपने पिता की अपेक्षा अधिक गहराई, ऊँचाई और उदात्तता प्रदान की है। उसने उस समय लोकतन्त्र की निर्बलताओं और दोषों का प्रतिपादन किया, जब सर्वत्र इसका गुणगान हो रहा था। स्वतन्त्रता पर अत्यधिक बल देने के कारण वह राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सदैव चिरस्मरणीय रहेगा। बीसवीं शताब्दी में हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन जैसे तानाशाहों के अभ्युत्थान से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को जो भीषण संकट उत्पन्न हो गया था, उसे देखते हुए मिल के व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विचारों को असाधारण महत्व प्राप्त हो जाता था। बहुमत और लोकमत के अत्याचारों से व्यक्ति की स्वाधीनता के कुचले जाने का संकट १९वीं शताब्दी की अपेक्षा बीसवीं शताब्दी में अधिक बढ़ गया है। रेडियो, सिनेमा, टेलीविजन, और नीट्शे के शब्दों में प्रातःकालीन प्रार्थना का स्थान लेने वाला समाचारपत्र प्रचार के इतने प्रबल

साधन बन गए हैं कि कोई भी तानाशाह इनकी सहायता से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पूर्ण दमन कर सकता है। ऐसे समय में मिल जैसे सनकी और झक्की आदमी मानव-समाज की स्वतन्त्रता सुरक्षित बनाए रखने के लिए परम आवश्यक हैं। जब तक मानव-जीवन में स्वतन्त्रता को महत्व दिया जाएगा, तब तक इसके प्रबल पोषक जॉन स्टुअर्ट मिल को इसके समर्थन के लिए सदैव स्मरण किया जाएगा। स्त्रियाँ अपने मताधिकार का और पुरुषों के तुल्य समानाधिकार पाने के आन्दोलन का श्रीगणेश करने के लिए मिल के प्रति अत्यन्त आभारी हैं। व्यक्तिवाद और उदारवाद की विचारधाराएँ आज भी मिल को अपना मूलस्रोत मानती हैं।

सारांश

जॉन स्टुअर्ट मिल जेरेमी बेन्थम के प्रमुख शिष्य थे। उन्होंने अपने गुरु के उपयोगितावाद के सिद्धान्त में कई महत्वपूर्ण संशोधन और परिवर्तन किए तथा स्वतन्त्रता, प्रतिनिधि शासन और व्यक्ति एवं राज्य के बारे में महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए। उनके प्रमुख विचार निम्नलिखित हैं—

स्वतन्त्रताविषयक विचार—मिल ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रबल समर्थन अपनी **स्वतन्त्रता पर निबन्ध** (On Liberty) नामक पुस्तक में अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में किया है। मिल स्वाधीनता के दो प्रकार मानता है : (क) विचार और भाषण की स्वतन्त्रता, (ख) कार्य करने की स्वतन्त्रता। दोनों का समर्थन वह निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर करता है : (i) यह नई विचारधारा के विकास के लिए आवश्यक है। (ii) इससे सत्य की सुरक्षा होती है। (iii) सत्य के विभिन्न पक्षों को समझने के लिए इसकी आवश्यकता है। (iv) सत्य को सुदृढ़ बनाने के लिए यह जरूरी है। (v) मानव-समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है।

मिल अन्य नागरिकों को हानि न पहुँचाते हुए व्यक्ति द्वारा कार्य करने की स्वतन्त्रता का समर्थन तीन युक्तियों के आधार पर करता है—(क) वैयक्तिक अनुभव द्वारा चरित्र निर्माण तथा व्यक्ति का विकास। (ख) सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति। (ग) नवीन परीक्षण तथा आविष्कार।

मिल की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की आलोचना—(१) मिल की स्वतन्त्रता खोखली और नकारात्मक है। (२) मिल का स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में मनुष्यों के कार्यों को दो वर्गों में बाँटना भ्रान्तिपूर्ण है। (३) मिल का यह विचार ठीक नहीं है कि राज्य को मद्यपान, जुए आदि पर प्रतिबन्ध लगाना ठीक नहीं है। (४) मिल ने विचार की स्वतन्त्रता पर बल देते हुए इसे हास्यास्पद सीमा तक पहुँचा दिया है। (५) मिल का यह विचार ठीक नहीं है कि व्यक्ति को बिना तर्क किए किसी विचारधारा को स्वीकार नहीं करना चाहिए। तर्क की भी मर्यादा आवश्यक है। (६) मिल ने प्रत्येक प्रकार के विचार को नवीन परीक्षण के नाम पर जो स्वाधीनता दी है वह ठीक नहीं है।

मिल प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली वाले लोकतन्त्र का प्रबल समर्थक है, किन्तु इसकी बुराइयों को दूर करने के लिए उसने निम्नलिखित उपायों का समर्थन किया है : (क) आनुपातिक प्रतिनिधित्व, (ख) शैक्षणिक योग्यताएँ, (ग) साम्पत्तिक योग्यताएँ, (घ) सार्वजनिक मतदान प्रणाली, (ङ) बहुल मतदान (Plural Voting), (च) विधि आयोग (Law Commission) की व्यवस्था।

उपयोगितावाद में संशोधन—मिल द्वारा बेन्थम के उपयोगितावाद में किए गए संशोधन तथा बेन्थम और मिल के सिद्धान्तों का भेद—(१) बेन्थम सुखों में मात्रात्मक (Quantitative) भेद मानता था, मिल ने इसमें गुणात्मक (Qualitative) भेद भी माना है। (२) दूसरा भेद सुखों की मापक पद्धति (Felicific Calculus) के बारे में है। (३) तीसरा भेद इतिहास और परम्पराओं के महत्व का है। बेन्थम इनकी घोर उपेक्षा करता था, किन्तु मिल इन्हें बहुत महत्वपूर्ण समझता है। (४) चौथा भेद मिल द्वारा उपयोगितावाद में उच्च नैतिक सिद्धान्तों का समावेश करना है। (५) पाँचवाँ भेद राजनीतिक संस्थाओं के बारे में है। मिल राज्य में मानवीय इच्छा की उपेक्षा करने वाले किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता है। (६) छठा भेद राज्य के आर्थिक कार्यक्षेत्र के बारे में है। बेन्थम एडम स्मिथ की अहस्तक्षेप की नीति का समर्थक है। मिल ने इसका विरोध सार्वजनिक कल्याण के आधार पर किया है। (७) सातवाँ भेद स्वतन्त्रता के बारे में है। मिल उसे बेन्थम की अपेक्षा बहुत अधिक महत्व देता है। (८) आठवाँ भेद गुप्त मतदान प्रणाली का बेन्थम द्वारा कट्टर समर्थन और मिल द्वारा उग्रविरोध करना है। (९) नवाँ भेद मिल द्वारा स्त्रियों के मताधिकार का प्रबल समर्थन है।

प्रश्न

(१) मिल ने विचार और भाषण की स्वतन्त्रता का समर्थन किन तर्कों के आधार पर किया है?

(२) मिल के स्वतन्त्रताविषयक सिद्धान्त की आलोचना कीजिए।

(३) स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में मिल के विचारों को समझाइए। स्वतन्त्रता के बारे में मिल और बेन्थम के विचारों में क्या अन्तर है? (राजस्थान, १९७७)

(४) व्यक्ति एवं राज्य पर मिल के विचारों का परीक्षण कीजिए। (राजस्थान, १९७८)

(५) मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए। वे बेन्थम के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों से किस प्रकार भिन्न हैं?

(६) बेन्थम के उपयोगितावाद में मिल द्वारा लाए गए परिवर्तनों की विवेचना कीजिए। (गोरखपुर, १९७३)

(७) प्रतिनिधि शासन पर जे० एस० मिल के तर्कों का मूल्यांकन कीजिए।

तीसरा अध्याय

थामस हिल ग्रीन [१८३६–१८८२ ई०]

जीवन-चरित्र—इंगलैण्ड के सुप्रसिद्ध आदर्शवादी दार्शनिक ग्रीन का जन्म ६ अप्रैल १८३६ को यार्कशायर जिले के बिरकिन नामक स्थान पर हुआ। उसका पिता इंगलैण्ड के चर्च का सुप्रसिद्ध पादरी और इंजीलवादी (Evangelical) सम्प्रदाय का अनुयायी था। ग्रीन पर अपने पिता की नैतिकता का और प्रचण्ड धार्मिक उत्साह का गहरा प्रभाव पड़ा। १४ वर्ष तक घर पर शिक्षा पाने के बाद उसे रगबी के विद्यालय में भेजा गया। पाँच वर्ष तक यहाँ शिक्षा पाने के बाद वह १८५५ में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ, इसके पश्चात् उसने अपना शेष सारा जीवन यहीं व्यतीत किया। विद्यार्थी जीवन में, पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों के अध्ययन में ग्रीन ने विशेष अभिरुचि प्रदर्शित नहीं की, किन्तु स्वयमेव वह विभिन्न विषयों का व्यापक अध्ययन करता रहा।

१८६० में वह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के बेलियोल कालेज में अनुसन्धान तथा अध्यापन कार्य करने के लिए फैलो (Fellow) चुना गया, १८ वर्ष बाद १८७८ में उसे इस विश्वविद्यालय में नैतिक दर्शन (Moral Philosophy) का प्रोफेसर बनाया गया। ग्रीन ने आक्सफोर्ड में इतिहास, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, शिक्षा और दर्शन का इतिहास आदि विभिन्न विषय पढ़ाए। वह अध्ययन-अध्यापन के साथ, सार्वजनिक मामलों में तथा व्यावहारिक राजनीति में भी काफी भाग लेता था। वह कई वर्ष तक आक्सफोर्ड की नगर-परिषद् का सदस्य रहा। वह लिबरल पार्टी के चुनाव आन्दोलनों में भाषण दिया करता था, वह कई सरकारी आयोगों का भी सदस्य रहा। उसने मद्यनिषेध आन्दोलन में भी काफी भाग लिया, वह शराब के व्यापार पर सरकार की ओर से नियन्त्रण स्थापित करने की बात पर बल देता रहा।

ग्रीन बहुत गम्भीर स्वभाव का व्यक्ति था। वह ४६ वर्ष की अल्पायु में ही दिवंगत हुआ। वह अपने जीवन में कोई बड़ा स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं डाल सका, किन्तु उसने अपने शिष्यों पर अमिट प्रभाव डाला और इन शिष्यों ने गुरु की कीर्ति और प्रभाव को उसकी मृत्यु के बाद चरम शिखर पर पहुँचाया।

रचनाएँ—ग्रीन के जीवनकाल में उसकी कोई कृति प्रकाशित नहीं हुई। उसके शिष्य आर० एल० नेटलशिप ने उसकी सब कृतियों को तीन खण्डों में उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित किया। ये सब उसके व्याख्यानों के विद्यार्थियों द्वारा लिए गए नोटों के आधार पर हैं। उसकी अधिकांश रचनाएँ दर्शनशास्त्र और राजनीतिशास्त्रविषयक हैं। राजनीतिशास्त्रविषयक उल्लेखनीय रचनाएँ केवल दो हैं—

(१) **लिबरल दल का कानूननिर्माण तथा अनुबन्ध की स्वतन्त्रता** (Liberal Legislation and Freedom of Contract)।

(२) **राजनीतिक दायित्व के सिद्धान्तों पर व्याख्यान** (Lectures on the Principles of Political Obligation)—इसमें उसके राजनीतिक सिद्धान्तों का व्यवस्थित प्रतिपादन है। इसे नेटलशिप ने ग्रीन के नोटों पर तथा उसके शिष्यों के द्वारा लिए गए उसके व्याख्यानों के नोटों के आधार पर तैयार किया है। ग्रीन के राजनीतिक विचार उसके दार्शनिक विचारों पर आधारित हैं, अतः यहाँ पहले इनका वर्णन किया जाएगा।

दार्शनिक विचार—ग्रीन अद्वैतवादी (Monist) है। **वह इस विश्व के मूल में एक ही अध्यात्म तत्व मानता है**। ग्रीन इसे **शाश्वत चैतन्य** (Eternal Consciousness) का नाम देता है। इसे ईश्वर भी कहा जा सकता है। यही समूचे विश्व में अथवा ब्रह्माण्ड की जड़ एवं चेतन वस्तुओं में ओत-प्रोत है, संसार में इससे पृथक् कोई अन्य तत्व नहीं हो सकता है। हमारी आत्मा भी ब्रह्माण्ड में व्याप्त इसी शाश्वत चैतन्य का अंश है। आत्मा के शाश्वत चैतन्य या ईश्वर का अंग होने से ग्रीन ने कई महत्वपूर्ण परिणाम निकाले हैं—

(१) मनुष्य केवल जड़ प्रकृति का अंश नहीं है, वह अपना चेतन (Conscious) स्वरूप रखता है।

(२) शाश्वत चैतन्य (Eternal Consciousness) का अंश होने के कारण मनुष्य का लक्ष्य कोरे भौतिक सुख को प्राप्त करना नहीं, अपितु उच्च नैतिक जीवन को बिताना है।

(३) शाश्वत चैतन्य की एक विशेषता स्वतन्त्रता (Freedom) है, अतः इसका अंश होने से मनुष्य की भी एक विशिष्टता स्वाधीनता का गुण है।

(४) मनुष्य की आत्मा इस संसार में व्याप्त दैवी तत्व (Divine Element) का अंश है, अतः उसका लक्ष्य केवल अपना हित साधना नहीं, अपितु समूचे समाज का कल्याण करना और उसे लाभ पहुँचाना है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे अपने वैयक्तिक हितों के साथ-साथ सामाजिक हितों का ध्यान रखना चाहिए।

(५) ग्रीन व्यक्ति को विशेष गौरव एवं महत्व देता है। शाश्वत चैतन्य या ईश्वर का अंश होने से मनुष्य में दैवी तत्व हैं, अतः उसका अपना महत्व है। इसके उत्कृष्टतम विकास पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए।

(६) प्रत्येक व्यक्ति विशिष्ट महत्व रखता है, अतः इस दृष्टि से सभी व्यक्ति समान हैं और भ्रातृभाव के बन्धन में बँधे हुए हैं।

(७) दैवी सत्ता का अंश होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपने नैतिक विकास के लिए दैवी गुणों को अपने चरित्र में ढालकर अपने को दिव्य (Divine) बनाने का यत्न करे। इसके लिए अच्छे कार्य करना ही पर्याप्त नहीं, अपितु उसे स्वयमेव अच्छा बनना चाहिए।

ग्रीन के विचारों की इस दार्शनिक पृष्ठभूमि का परिचय देने के बाद उसके प्रधान राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन किया जाएगा।

राजनीतिक विचार

स्वतन्त्रताविषयक विचार—ग्रीन अपने विचारों का श्रीगणेश स्वतन्त्रता के विचार से करता है और इसी के आधार पर अधिकारों का तथा राज्य का प्रतिपादन करता है। **ग्रीन स्वतन्त्रता को शाश्वत चैतन्य** (Eternal Consciousness) **या ईश्वर का एक अंश—मानवीय आत्मा—का आवश्यक गुण मानता है।** मनुष्य की आत्मा सदैव स्वतन्त्रता चाहती है, यदि उसे स्वतन्त्रता न रहे तो वह किसी अन्य शक्ति द्वारा संचालित किया जाने वाला यन्त्र या मशीन मात्र ही रह जाती है। अतः स्वतन्त्रता मनुष्य का आवश्यक तत्व और प्राण है। यह स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है—आन्तरिक तथा बाह्य।

(क) **आन्तरिक स्वतन्त्रता**—यह नीतिशास्त्र से सम्बन्ध रखती है, इसका मुख्य आशय यह है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों का, वासनाओं का तथा बुरी मनोवृत्तियों का दास तथा कठपुतली न बने, अपितु उन्हें अपने वश में रखकर स्वतन्त्र बना रहे। यदि वह बुरी मनोवृत्तियों और वासनाओं के वशीभूत हो जाता है तो वह अपनी स्वतन्त्रता खो देता है। **यदि हम अपनी इच्छाओं से संचालित एवं नियन्त्रित होते हैं तो हम स्वतन्त्र नहीं रहते हैं,** हम गुलामों या दासों की भाँति इच्छाओं के आदेशों का पालन करते हैं। हमें सच्ची आन्तरिक स्वतन्त्रता तभी मिल सकती है, जब हम अपनी इच्छाओं, मनोवृत्तियों, इन्द्रियों और वासनाओं को नियन्त्रण में रखें तथा उनका संचालन अपनी इच्छा के अनुसार करें।

(ख) **बाह्य स्वतन्त्रता**—यह राजनीतिशास्त्र का विषय है, इसका अभिप्राय ऐसी बाहरी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है, जिनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने वास्तविक हित के कार्यों को पूरा कर सके और उसे अपनी आत्मा का विकास करने में किसी बाधा का सामना न करना पड़े। **ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने की शर्तों को ही अधिकार (Rights) कहा जाता है,** इनसे ही हमें स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। परन्तु इन अधिकारों को सुरक्षित बनाए जाने की आवश्यकता है। इन अधिकारों की रक्षा के लिए ही राज्य का निर्माण होता है।

ग्रीन के राजनीतिक जीवन का सारांश बार्कर के मतानुसार **तीन सूत्रों** में कहा जा सकता है[1]—

(१) **मनुष्य की आत्मा का आवश्यक गुण स्वतन्त्रता है।**
(२) **स्वतन्त्रता के विकास के लिए अधिकार आवश्यक हैं।**
(३) **अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य आवश्यक है।**

यहाँ इसी क्रम से तीनों का प्रतिपादन किया जाएगा।

स्वतन्त्रता के विचार की विशेषताएँ—ग्रीन की स्वतन्त्रता के विचार की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं और ये दोनों ग्रीन से पहले प्रचलित स्वतन्त्रता की धारणा का खण्डन करती हैं—

1. "Human consciousness postulates liberty, liberty involves rights and rights demand the State."—F. Barker, *Political Thought in England*, p. 33.

(१) पहली विशेषता स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी इच्छानुसार मनमाना कार्य करने की स्वाधीनता नहीं, अपितु एक निश्चित प्रकार का (determinate) कार्य करने की स्वतन्त्रता है, जिसके द्वारा मनुष्य उस सुख या वस्तु को प्राप्त कर सके, जो सामाजिक एवं नैतिक दृष्टिकोण से प्राप्त करने योग्य हो। प्राय: सामान्य रूप से स्वतन्त्रता या स्वाधीनता का अर्थ किसी दूसरे के बन्धन, अनुशासन या नियन्त्रण से मुक्त हो, स्वयं अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार तन्त्र या शासन करना स्वतन्त्रता समझा जाता है। उदाहरणार्थ, विद्यार्थी अपने को तब स्वतन्त्र समझते हैं, जब उन्हें विद्यालय में तथा परीक्षा-भवन में मनमाना या स्वच्छन्द आचरण करने की खुली छूट मिल जाए। मजदूर अपने को उसी दशा में स्वतन्त्र मानते हैं, जब उन्हें कारखाने में अपनी इच्छानुसार काम करने का अधिकार हो। किन्तु ग्रीन के मतानुसार यह स्वतन्त्रता नहीं, किन्तु उच्छृङ्खलता और अनुशासनहीनता है। **वह सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से करने योग्य समाज के सुख एवं हित के लिए किए जाने वाले निश्चित प्रकार के कार्य को ही स्वतन्त्रता समझता है।** उदाहरणार्थ, विद्यार्थी या छात्र को सामाजिक हित की दृष्टि से अपना पूरा ध्यान अपने शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास में एवं योग्यता प्राप्त करने में लगाना चाहिए ताकि समाज को योग्य, विद्वान्, कुशल, बलिष्ठ, ईमानदार, सच्चे और कर्त्तव्यपरायण नागरिक प्राप्त हो सकें और वह उन्नति कर सके। अत: विद्यार्थी की स्वतन्त्रता का अर्थ उनके द्वारा उन्हें तथा समाज को हानि पहुँचाने वाला मनमाना व्यवहार—स्कूल से छुट्टी मनाना, हड़ताल करनो, नारे लगाना, जलूस निकालना और अन्य प्रकार के आन्दोलन करना नहीं है, किन्तु बड़े मनोयोग से अपने पाठ्य विषयों का अध्ययन करना, विभिन्न प्रकार के खेलों तथा व्यायामों से अपने शरीर को सुदृढ़ बनाना तथा अपने चरित्र में उत्तम नैतिक गुणों का विकास करना ही स्वतन्त्रता है। इसी प्रकार मजदूरों के लिए स्वतन्त्रता का आशय अपनी माँगें पूरी करवाने के लिए मनमाने ढंग से कारखानों में मशीनों की तोड़-फोड़, हड़ताल या विध्वंसात्मक कार्यवाही करना, मालिकों का विरोध करना नहीं, अपितु देश का उत्पादन वढ़ाने के लिए और उसे समृद्ध बनाने के लिए कठोर परिश्रम से निश्चित प्रकार के ऐसे कार्य करना है, जिनसे देश को सम्पन्न बनाने का लक्ष्य पूर्ण हो सके। अत: स्वतन्त्रता का अर्थ मनमाना कार्य नहीं, अपितु निश्चित प्रकार के कार्य करना है।

(२) दूसरी विशेषता स्वतन्त्रता का नकारात्मक या अभावात्मक (Negative) न होकर सकारात्मक या भावात्मक (Positive) होना है। यहाँ इन दोनों विशेषताओं को क्रमश: स्पष्ट किया जाएगा।

(क) निश्चित प्रकार के कार्य करने की स्वाधीनता—ग्रीन से पहले उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी विचारक व्यक्ति के अधिकारों का उग्र समर्थन करते हुए इस बात पर बल देते थे कि स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार सभी प्रकार के कार्य करने की स्वाधीनता देना है। कुछ कार्य नैतिक और धार्मिक दृष्टि से निन्दनीय हो सकते थे, जैसे शराब पीना, जुआ खेलना आदि। व्यक्तिवादी यह मानते थे कि मनुष्य को इन्हें करने में पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए; किन्तु ग्रीन इससे सहमत

नहीं है। वह मनुष्य की आत्मा को शाश्वत चैतन्य या ईश्वर का अंश मानता है, अतः मनुष्य एक नैतिक प्राणी है; उसका चरम लक्ष्य अन्य प्राणियों का तथा समाज का हित सम्पादन करना है। जो कार्य इस उद्देश्य को पूरा करें, मनुष्य का नैतिक विकास तथा सामाजिक उन्नति करने में सहायक हों, उन्हीं कार्यों को करना स्वतन्त्रता है। इससे मनुष्य को सच्चा सन्तोष, सुख और शान्ति मिलती है तथा समाज का कल्याण होता है। मनुष्य को बुरे कार्य करने में भी क्षणिक आत्मसन्तोष मिलता है, परन्तु ये कार्य आत्मा के विकास और उन्नति में बाधक होते हैं, अतः **इन कार्यों को उसे न करने देना ही स्वतन्त्रता है।** वस्तुतः बुरे कार्यों को करता हुआ मनुष्य स्वतन्त्र नहीं, अपितु परतन्त्र हो जाता है। बार्कर ने ग्रीन के मत का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—**"अच्छे काम करने की प्रेरणा देने वाली, भली इच्छा के आदेशों का पालन करने की स्वतन्त्रता ही सच्ची स्वाधीनता हो सकती है।"**

ग्रीन का यह विचार काण्ट के मत से कुछ साम्य रखता है। दोनों यह मानते हैं कि जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों का सुख पाने में और विषयोपभोग में रत होता है, उस समय उस पर आसुरी प्रवृत्तियाँ अपना शासन स्थापित करती हैं। तब वह स्वतन्त्र न होकर, इनका दास हो जाता है। अतः काण्ट अन्तःकरण (conscience) के पथ-प्रदर्शन में **नैतिक कर्त्तव्यादेश** (categorical imperative) के अनुसार काम करने को स्वतन्त्रता मानता है, ग्रीन की दृष्टि में आत्मविकास और सामाजिक कल्याण में सहायक होने वाले कार्यों का करना ही स्वतन्त्रता है। काण्ट की स्वतन्त्रता सीमित तथा वैयक्तिक है, उसका समाज के अथवा राज्य के हित से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु ग्रीन की स्वतन्त्रता व्यक्ति तक सीमित न रहकर, समूचे समाज और राज्य के कल्याण का सम्पादन करना चाहती है। अतः ग्रीन की स्वतन्त्रता का विचार अधिक व्यापक और विशाल तथा वस्तुगत (objective) है।

(ख) स्वतन्त्रता का सकारात्मक या भावात्मक रूप—ग्रीन से पूर्ववर्ती उपयोगितावादी विचारक राज्य द्वारा बनाए गए सभी कानूनों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुचलने वाला समझते थे। उनका यह दृढ़ मत था कि पार्लियामेण्ट को ऐसे सभी कानून रद्द कर देने चाहिएँ, जिनसे व्यक्ति पर किसी प्रकार का बन्धन लगता हो। एडम स्मिथ ने इस मत का प्रतिपादन किया था कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए, सब मामलों में 'खुला छोड़ दो' (laissez faire) की नीति अपनानी चाहिए। व्यक्ति पर राज्य द्वारा किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण, बन्धन या प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए, इनके मतानुसार राज्य के प्रतिबन्धों का या हस्तक्षेप का अभाव ही स्वतन्त्रता है। इसमें सब प्रकार के प्रतिबन्धों या कानूनों के अभाव पर या इनको हटाए जाने पर बल दिया जाता था, अतः इसे अभावात्मक स्वतन्त्रता (Negative Freedom) कहा जाता था।

मिल जैसे कुछ विचारकों का मत था कि यदि राज्य को सभी मामलों में हस्तक्षेप करने की पूरी स्वतन्त्रता दी गई तो व्यक्ति की स्वाधीनता का एवं व्यक्तित्व का विकास रुक जाएगा। ग्रीन ने इस आशंका को दूर करने के लिए उपयोगितावादियों की 'नकारात्मक या अभावात्मक' (Negative) स्वतन्त्रता के स्थान पर 'सकारात्मक

या भावात्मक स्वतन्त्रता (Positive Freedom) के विचार का समर्थन किया। इसका यह अभिप्राय है कि व्यक्ति द्वारा अपनी योग्यताओं और गुणों के विकास के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था से, आर्थिक एवं औद्योगिक उन्नति के कानूनों से, कारखानों में कानूनों द्वारा स्वास्थ्यजनक परिस्थितियों को उत्पन्न करने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई आंच नहीं आती है, अपितु शिक्षा तथा अन्य साधनों द्वारा व्यक्ति की आत्मोन्नति के अवसर बढ़ जाते हैं। अतः राज्य द्वारा ऐसे कार्य करने से व्यक्ति एवं समाज का हित होता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता में तथा राज्य के कार्यों में कोई विरोध नहीं रहता है, अतः राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शोषक नहीं, किन्तु पोषक है।

अतः ग्रीन के मतानुसार स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति पर राज्य द्वारा किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाए, उसे मनमाने काम करने, शराब पीने, जुआ खेलने आदि की स्वतन्त्रता हो, अपितु स्वतन्त्रता का अभिप्राय ऐसे कार्यों के किए जाने से है जो हमारी आत्मोन्नति में तथा समाज की उन्नति में सहायक हों। इसका अभिप्राय आत्मा तथा समाज के लिए आदर्श एवं हितकर समझे जाने वाले कार्य करने की स्वाधीनता है।

ग्रीन के शब्दों में, एक व्यक्ति उस दशा में स्वतन्त्र कहला सकता है "**जब वह आत्मा की उन्नति के आदर्श को प्राप्त करे तथा उस नियम का पालन करना कर्त्तव्य समझे, जिसके बारे में उसका यह विचार है कि उसे पालन करना चाहिए।**" अतः ग्रीन का दृष्टिकोण व्यक्तिवादियों के इस नकारात्मक दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था कि राज्य का हस्तक्षेप न होना ही स्वतन्त्रता है। इसके विपरीत, उसका यह कहना था कि व्यक्ति एवं समाज के विकास के लिए आवश्यक सभी कार्य—शिक्षा का प्रसार, कारखानों में काम करने की परिस्थितियों का नियन्त्रण, मद्यनिषेध आदि राज्य को पूरी दिलचस्पी से करने चाहिएँ। यही ग्रीन का 'भावात्मक स्वतन्त्रता' (Positive Freedom) का विचार है।

ग्रीन की स्वतन्त्रता का विचार हेगल की स्वाधीनता की धारणा से गहरा सादृश्य रखता है। दोनों ही मनुष्य को तभी स्वतन्त्र मानते हैं, जब वह दिव्य आत्मा (Divine Spirit) के साथ अभेद स्थापित करता है। हेगल के मतानुसार राज्य विश्वात्मा का सर्वोत्तम रूप है और उसके आदेशों का पालन करना ही स्वतन्त्रता है। ग्रीन भी स्वतन्त्रता का अभिप्राय व्यक्ति एवं समाज के विकास के लिए आवश्यक कार्य समझता है। उसके मत में मनुष्य तभी स्वतन्त्र होता है, जब वह अपने में दिव्य नैतिक गुणों का विकास करता है।

अधिकारविषयक विचार

ग्रीन का 'अधिकारों का विचार' जॉन लॉक द्वारा प्रतिपादित 'प्राकृतिक अधिकारों' (Natural Rights) के विचार से बहुत भिन्न है। लॉक व्यक्ति को जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति-रक्षा के तीन अधिकार प्रदान करता है, इन्हें वह व्यक्ति के जन्मसिद्ध, स्वाभाविक और प्राकृतिक अधिकार मानता है तथा राज्य का प्रादुर्भाव

इन्हीं की रक्षा के लिए मानता है। किन्तु ग्रीन का विचार इससे सर्वथा भिन्न है। वह अधिकारों को प्राकृतिक और स्वाभाविक न मानकर समाज द्वारा व्यक्ति को समाज के हित को भलीभाँति सम्पादित करने की दृष्टि से स्वीकार किया हुआ मानता है। वह अधिकार को दो प्रकार का रूप समझता है। इसके दो पक्ष या रूप हैं : पहला पक्ष वैयक्तिक (Personal) है और दूसरा सामाजिक (Social)।

(क) **अधिकार का वैयक्तिक पक्ष या रूप** यह है कि एक व्यक्ति द्वारा अपने किसी गुण या योग्यता को स्वतन्त्रतापूर्वक क्रियारूप में परिणत करने की माँग, जैसे व्यक्ति का स्वाधीन रहते हुए अपने जीवन को बिताने की माँग करना।

(ख) **सामाजिक पक्ष**—इसका दूसरा पक्ष समाज द्वारा इस माँग को मान लेना तथा व्यक्ति को वैसा करने की स्वाधीनता देना है।

ग्रीन का यह कहना था कि "**अधिकारों का निर्माण समाज द्वारा इन्हें मान्यता (recognition) देने से होता है।**" कोई बात तब तक अधिकार का रूप धारण नहीं करती, जब तक इसे मान्यता नहीं दी जाए। मेरी यह इच्छा हो सकती है कि मैं राष्ट्रपति बनूँ, किन्तु समाज ने भारतीय संविधान में राष्ट्रपति के चुनाव की एक विधि निश्चित की है, उस विधि के अनुसार चुने जाने वाले व्यक्ति को ही भारतीय समाज राष्ट्रपति स्वीकार करेगा। मेरा राष्ट्रपति बनने की इच्छा रखना विशुद्ध रूप से वैयक्तिक पक्ष है, किन्तु यथाविधि निर्वाचित होना तथा राष्ट्र द्वारा इसकी स्वीकृति पाकर राष्ट्रपति का अधिकार पाना सामाजिक पक्ष है। अतः इसमें वैयक्तिक और सामाजिक दोनों पक्ष हैं। प्रत्येक अधिकार (Right) में दोनों पक्ष होते हैं। अधिकार के इन दोनों पक्षों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। हम ऐसे अधिकारों को इस अर्थ में 'प्राकृतिक' (Natural) कह सकते हैं कि ये माँगें राज्य द्वारा इस कारण स्वीकार की जानी चाहिएँ, क्योंकि समाज में सब व्यक्ति समान रूप से इस बात को अनुभव करते हैं कि व्यक्तियों को ऐसे अधिकार दिए जाने चाहिएँ। ये अधिकार प्राकृतिक तथ्य न होकर विचार-जगत् में रहने वाले आदर्श (Ideals) हैं। अतः समाज की नैतिक चेतना में परिवर्तन आने के साथ-साथ इन अधिकारों में भी परिवर्तन आता है। अधिकार की अन्तिम कसौटी समाज के कल्याण में सहायक होना तथा सहयोग देना है, इसमें सहयोग देने वाली प्रत्येक व्यक्ति की माँग को अधिकार माना जाता है और इस कसौटी पर खरी न उतरने वाली माँग को समाज अधिकार के रूप में मान्यता नहीं प्रदान करता है।

ग्रीन के मतानुसार "**अधिकार व्यक्ति द्वारा अपने ऐसे उद्देश्यों को पूर्ण करने की शक्ति है, जिन उद्देश्यों को वह अपने लिए हितकर समझता है तथा समाज यह अधिकार व्यक्ति को इस आधार पर प्रदान करता है कि इस अधिकार के प्रयोग से समाज को लाभ पहुँचेगा।**" अतः ग्रीन की दृष्टि में व्यक्ति को कोई ऐसे प्राकृतिक तथा अविच्छेद्य अधिकार नहीं प्राप्त हैं, जो उससे छीने न जा सकें तथा सर्वत्र एवं सर्वथा उसे प्राप्त रहें। यह लॉक द्वारा स्वीकृत व्यक्ति के अधिकारों की धारणा से सर्वथा भिन्न धारणा थी। ग्रीन ने व्यक्ति के सभी अविच्छेद्य और प्राकृतिक अधिकारों को एक ही अधिकार में परिणत कर दिया है; यह समाज के सब व्यक्तियों के हित के साथ सामंजस्य

रखते हुए अपने वैयक्तिक हित का सम्पादन करना है। ग्रीन ने इस दृष्टि से व्यक्ति का सम्पत्ति रखने का, उत्तराधिकार तथा व्यापार की स्वतन्त्रता का अधिकार स्वीकार किया है।

ग्रीन द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त धारणा से यह स्पष्ट है कि इस विषय में उसका सिद्धान्त उस समय प्रचलित दो प्रकार के सिद्धान्तों से भिन्न है। पहला सिद्धान्त लॉक का तथा उसके अनुयायी एवं सामाजिक समझौते में विश्वास रखने वालों का था। ये व्यक्ति के अधिकार को जन्मसिद्ध, स्वाभाविक, प्राकृतिक और अविच्छेद्य मानते थे। उनका यह मत था कि ये अधिकार मनुष्य को राज्य-निर्माण से पहले की प्राकृतिक दशा (Natural State) से प्राप्त हैं। बेन्थम आदि उपयोगितावादी विचारकों ने इसका खण्डन किया था। ग्रीन का यह मत था कि अधिकार मनुष्य को **समाज का तथा राज्य का सदस्य होने के कारण तथा इसके द्वारा मान्यता दिए जाने से ही मिलते हैं;** अतः इन्हें राज्य से पहले की प्राकृतिक दशा में उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता है। मनुष्य के अधिकार की उत्पत्ति सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। मनुष्य में इच्छाशक्ति है, वह विभिन्न वस्तुओं को पाने की इच्छाएँ रखता है, किन्तु इनमें से केवल उन्हीं इच्छाओं को बुद्धिमत्तापूर्ण इच्छा (Reasoned Will) कहा जा सकता है, जो मनुष्य के नैतिक विकास में तथा समाज का सामान्य हित बढ़ाने में सहायक हों।

प्राकृतिक अधिकारों के स्थान पर उपयोगितावादियों ने यह सिद्धान्त निश्चित किया था कि सभी अधिकारों का मूलस्रोत एक प्रभु या सर्वोच्च प्रमुसत्ता-सम्पन्न व्यक्ति (Sovereign) होता है; मनुष्य को ऐसा कोई भी अधिकार नहीं मिल सकता, जिसे प्रभु उसे देने से इनकार करे। ग्रीन इसे स्वीकार नहीं करता है। वह उपयोगितावादियों की भाँति यह नहीं मानता कि राज्य किसी शक्तिशाली सत्ता द्वारा स्थापित व्यवस्था है, वह इसे समाज के सामान्य हित के लिए तथा अधिकारों की रक्षा के लिए बनाया गया संगठन समझता है, इसमें व्यक्तियों की निजी इच्छाओं का समाज की आवश्यकताओं के साथ सामंजस्य बना रहता है। इस प्रकार समाज द्वारा स्वीकृत की जाने वाली माँगें ही अधिकार कहलाती हैं।

अधिकारविषयक विचार की आलोचना—लैंकास्टर (Lancaster) ने ग्रीन के अधिकार-सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि उसने दो विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय करने का विफल प्रयास किया है। एक ओर तो वह प्रबल व्यक्ति-वादी (Individualist) है, वह राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यों का समर्थन इसी आधार पर करता है कि वे व्यक्ति के विकास में सहायक होंगे। वह यह मानता है कि व्यक्तियों के चरित्र की उच्चता से राज्य उच्च होगा। किन्तु वह इसका समर्थन मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में जिस प्रकार के सिद्धान्त से करता है, वह सर्वथा अमान्य है। उसने मनुष्य की प्रकृति को आदर्श, बहुत ऊँचा और अच्छा माना है, उसमें आसुरी तत्वों के स्थान पर दैवी तत्वों की प्रधानता मानी है; परन्तु संसार में सर्वत्र आसुरी वृत्तियों का साम्राज्य दिखाई देता है। ग्रीन ने इस स्पष्ट तथ्य की उपेक्षा की है, मानव-प्रकृति को अतीव उज्ज्वल माना है, अतः उसका अधिकारों का सिद्धान्त सचाई से दूर, अव्यवस्थित और असंगत प्रतीत होता है।

अधिकार और नैतिकता

ग्रीन अधिकारों का नैतिकता से गहरा सम्बन्ध और भेद मानता है। अधिकारों का नैतिक जीवन के साथ यह सम्बन्ध है कि इनके बिना नैतिक जीवन को बिताना सम्भव नहीं है। किन्तु दोनों में एक मौलिक भेद यह है कि अधिकारों का पालन बलपूर्वक कराया जाना सम्भव है, किन्तु नैतिक कर्त्तव्यों का पालन स्वेच्छापूर्वक ही होना चाहिए, अन्यथा उनका कोई महत्व नहीं रहता है। उदाहरणार्थ, बच्चों की शिक्षा के प्रश्न को लिया जा सकता है। अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने वाले देशों में बालक को शिक्षा पाने का अधिकार है; यदि बच्चे का पिता इसमें बाधा डालता है तो राज्य उसे अपने बच्चे को स्कूल में भेजने के लिए बाधित कर सकता है, यह अधिकार का बलपूर्वक पालन कराना है। किन्तु नैतिक कर्त्तव्योंमें ऐसा बल प्रयोग या जोर-जबर्दस्ती नहीं की जा सकती। जैसे एक बालक का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह अपने माता-पिता का सम्मान करे; यदि उसमें ऐसी भावना नहीं है तो उसे यदि इस कार्य के लिए बलपूर्वक बाध्य किया जाएगा तो वह माता-पिता के प्रति जो सम्मान प्रकट करेगा, वह वास्तविक नहीं होगा, अपितु बाहरी दिखावा मात्र होगा। अतः अधिकार और नैतिक कर्त्तव्य में यह भेद है कि पहले का सम्बन्ध केवल शारीरिक कार्य मात्र से है, अतः उसका बलपूर्वक पालन कराना सम्भव है; किन्तु नैतिकता का सम्बन्ध आन्तरिक मनोभावना से है, उसका पालन शक्ति के प्रयोग से नहीं कराया जा सकता है।

अधिकार और कानून

अधिकार और कानून में गहरा सम्बन्ध है। किसी भी अधिकार को कानूनी रूप देकर उसका पालन राज्य द्वारा बलपूर्वक कराया जा सकता है। अधिकार आरम्भ में नैतिक अथवा स्वाभाविक माँगें (Moral Demands) होती हैं, बाद में उन्हें कानूनी रूप देकर अधिकार बनाया जाता है। उदाहरणार्थ, व्यक्ति को मानसिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक योग्यताओं के विकास के लिए उसे शिक्षा दी जानी आवश्यक है, किन्तु जब राज्य अनिवार्य रूप से शिक्षा देने का कानून बनाता है तो यह नैतिक कर्त्तव्य अधिकार (Right) बन जाता है।

किन्तु अधिकार और कानून में एक महत्वपूर्ण भेद भी है। सभी कानून अथवा विधिसम्मत अधिकार नैतिक और न्यायपूर्ण नहीं हो सकते हैं। राज्य द्वारा अन्यायपूर्ण कानून भी बनाए जा सकते हैं। प्राचीन समय में और मध्यकाल में दास-प्रथा का प्रचलन था, यह प्रथा कानून-सम्मत थी, उस समय मनुष्यों को दास रखने और उन्हें खरीदने एवं मार डालने तक के कानूनी अधिकार थे, किन्तु इन्हें सच्चे नैतिक या न्यायपूर्ण अधिकार नहीं कहा जा सकता है।

हिन्दू समाज में अस्पृश्यता की अन्यायपूर्ण व्यवस्था चिरकाल तक विधिसम्मत थी, यद्यपि यह नैतिक दृष्टि से अनुचित और अन्यायपूर्ण थी। स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों ने इसका घोर विरोध किया। अन्त में, इस व्यवस्था को **अस्पृश्यता उन्मूलन कानून** से ही अवैध बनाया गया है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि समाज की सभी व्यवस्थाएँ और कानून नैतिक नहीं होते हैं।

अधिकार दो प्रकार के हैं : कुछ अधिकार तो अभी नैतिक कर्त्तव्य मात्र हैं, इन्हें कानून द्वारा स्वीकार नहीं किया गया है। ये नैतिक दृष्टि से आवश्यक समझे जाते हैं और भविष्य में नैतिक उन्नति होने से इन्हें कानूनी रूप दिया जाना सम्भव है। उदाहरणार्थ, राज्य का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि प्रत्येक नागरिक को भरपेट भोजन, पर्याप्त वस्त्र, मकान, शिक्षा आदि की सुविधा मिलनी चाहिए, बेकारी दूर होनी चाहिए, प्रत्येक व्यक्ति को काम पाने का अधिकार होना चाहिए। किन्तु हमारे देश में अभी इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह सबको भरपेट भोजन देने के आदर्श को क्रियात्मक रूप दे सके। अतः उसने इसे कानूनी रूप नहीं दिया है, इस समय कोई भी भूखा व्यक्ति भारत की सरकार से रोजी या रोटी पाने का दावा नहीं कर सकता। ये वस्तुतः ग्रीन के शब्दों में आदर्श (ideal) या प्राकृतिक अधिकार (natural rights) हैं। किन्तु दूसरी ओर दासता आदि कुछ ऐसे अधिकार हैं, जिन्हें कानून स्वीकार कर रहा है, फिर भी इन्हें नैतिक नहीं कहा जा सकता है। इसके सुप्रसिद्ध उदाहरण दास-प्रथा तथा अस्पृश्यता हैं। अधिकारों की सुरक्षा राज्य द्वारा दी जाती है, अतः अधिकारों के बाद ग्रीन ने राज्य का प्रतिपादन किया है।

राज्यविषयक विचार

राज्य का निर्माण तथा सामान्य इच्छा (general will)—राज्य का निर्माण अधिकारों की रक्षा के लिए होता है। जब हम शान्तचित्त होकर बुद्धिपूर्वक विचार करते हैं तो हमें यह प्रतीत होता है कि अपने अधिकारों के समान ही अन्य व्यक्तियों के अधिकारों की भी रक्षा की जानी चाहिए; किन्तु स्वार्थ, घृणा या क्रोध के आवेश में हम दूसरों के अधिकारों की अवहेलना करते हैं। ऐसे अवसरों पर अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को कोई हानि न पहुँचे, इस बात की आवश्यकता सब लोगों द्वारा अनुभव की जा सकती है। **अतः सभी लोगों की यह सामान्य इच्छा है कि सभी दशाओं में अधिकारों की रक्षा करने वाली कोई संस्था होनी चाहिए, यह संस्था राज्य है।**

फ्रेंच विचारक रूसो की भाँति ग्रीन भी **दो इच्छाओं का सिद्धान्त** मानता है। रूसो के मतानुसार ये इच्छाएँ मनुष्य के वैयक्तिक हित को ध्यान में रखने वाली **स्वार्थ-पूर्ण इच्छा** (actual will) तथा व्यक्ति के और समाज के हितों में समन्वय करने वाली **सामाजिक इच्छा** (real will) हैं। ग्रीन ने इसका अनुसरण करते हुए कहा है कि प्रत्येक मनुष्य में रूसो की सामाजिक इच्छा जैसी एक सदिच्छा (good will) होती है, यह उसे कुछ निश्चित कार्यों को करने की प्रेरणा देती है, ये प्रेरणाएँ ग्रीन के शब्दों में नैतिक आदेश (moral imperatives) हैं, इन आदेशों के अनुसार कार्य करने वाला व्यक्ति नैतिक व्यक्ति है। सब मनुष्यों की सदिच्छाएँ एक ऐसी सामान्य इच्छा को उत्पन्न करती हैं जिसका प्रधान उद्देश्य समाज के सामान्य हित में सहायक हो सकने वाले सभी कार्यों को करना है। समाज के सभी व्यक्तियों की यह एक सामान्य इच्छा है कि समाज के हित सुरक्षित हों तथा सबकी उन्नति हो। **यही सामान्य इच्छा राज्य का मूल प्रेरणास्रोत है तथा सब प्रकार के कानूनों और विधियों को उत्पन्न करती है,** क्योंकि

समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो नैतिक चेतना के आदेशों के विरुद्ध स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक कार्य करते हैं; ऐसे व्यक्तियों को समाज-विरोधी कार्यों से रोकने के लिए कानून बनाने की आवश्यकता होती है। इनसे राज्य का कार्य आसान हो जाता है।

राज्य का वास्तविक आधार इच्छा है, बल नहीं है—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राज्य के निर्माण का मौलिक तत्व सामान्य इच्छा (General Will) है। यह इच्छा किसी भी राज्य के सभी व्यक्तियों में सामान्य रूप से पाई जाती है और यह सभी को राज्य की उन्नति के सामान्य उद्देश्य के लिए प्रेरित करती है। ग्रीन के मतानुसार यही इच्छा **राज्य का आधार है, न कि बल इसका आधार है।**[1] उसके इस सूत्र को समझने के लिए ग्रीन से पहले की विचारधारा पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

ग्रीन से पहले के विचारक राज्य के नैतिक आधार के विषय में यह धारणा रखते थे कि राज्य राजा एवं प्रजा के दो मौलिक तत्वों से मिलकर बनता है और इसका आधार शक्ति का प्रयोग है। वे प्रजाजनों अथवा शासितों को कुछ जन्मसिद्ध प्राकृतिक अधिकारों से सम्पन्न समझते थे और राजा या शासक को उन्हें अपने वश में रखने वाली तथा अपने आदेशों का पालन कराने वाली शक्ति से सम्पन्न समझते थे। **"राज्य की सैनिक शक्ति के भय से डरकर नागरिक राज्य के कानूनों की अवहेलना नहीं करते हैं, अतः राज्य का आधार शक्ति है।"** यदि इसे पूर्ण रूप से सत्य मान लिया जाए तो राज्य को अपनी शक्ति के अनुसार प्रजाजनों पर यथेच्छ रूप से शासन करने का अधिकार मिल जाएगा, नागरिक पूर्ण रूप से उसकी कृपा पर जीवित रहने वाले तथा सब प्रकार के अधिकारों से वंचित हो जाएँगे। इस अवांछनीय स्थिति से बचने के लिए लॉक, रूसो आदि दार्शनिकों ने सामाजिक समझौते (Social Contract) के सिद्धान्त की कल्पना करते हुए यह माना था कि इसके अनुसार मनुष्यों को कुछ स्वाभाविक अधिकार प्राप्त हैं, इन्हें राज्य को सुरक्षित रखना चाहिए। इस अपवाद के अतिरिक्त वे राज्य को शक्ति पर ही टिका हुआ मानते हैं, क्योंकि उसके दण्ड देने की शक्ति के भय से ही नागरिक राज्य के नियमों और कानूनों का पालन करते हैं।

ग्रीन ने इस विचारधारा का खण्डन करते हुए यह बताया है कि **राज्य के कानूनों का पालन हम दण्ड के भय से नहीं करते हैं, अपितु इसलिए करते हैं कि इनका पालन करना हमारे लिए तथा समाज के लिए हितकर है।** हमारा हित और भलाई राज्य के कानूनों का पालन करने में है, अतः हम इनका पालन स्वेच्छापूर्वक करते हैं, न कि राज्य की दण्डशक्ति के भय से। अतः राज्य का आधार इच्छा है, न कि शक्ति।

किन्तु राज्य में ऐसे अवांछनीय तत्वों की भी कमी नहीं होती जो सबकी भलाई में अपनी भलाई नहीं समझते हैं, समाज के हित का ध्यान न रखते हुए वैयक्तिक हितों का ध्यान रखते हैं, स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से दूसरों को तथा समाज को हानि पहुँचाने वाले काम करते हैं। इस दशा में राज्य को ऐसे समाज-विरोधी तत्वों (anti-social elements) का और कार्यों का दण्ड की शक्ति से दमन करना आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः अधिकांश मनुष्यों की प्रवृत्ति ऐसी होती है, उसका विरोध करने के लिए राज्य को पुलिस,

1. "Will, not force is the basis of the State." —Green.

न्यायालय, जेलखाना और सेना की शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। किन्तु ग्रीन इस शक्ति के प्रयोग को भी सामान्य इच्छा का ही दूसरा रूप समझता है। उदाहरणार्थ, जब मनुष्य स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से दूसरे की सम्पत्ति चुराता है तो वस्तुतः वह अपनी नैतिक चेतना के साथ समाज की सामान्य इच्छा के प्रतिकूल कार्य करता है। समाज में यदि ऐसी व्यवस्था सामान्य रूप से प्रचलित हो जाए तो किसी की भी सम्पत्ति सुरक्षित न रह सकेगी। अतः समाज की सामान्य इच्छा चोरी करने का विरोध करने वाली भावना है, पुलिस और न्यायालय के रूप में समाज ने इस भावना या इच्छा को सुरक्षित करने की व्यवस्था की है, इसमें चोर की वास्तविक इच्छा भी सम्मिलित है, भले ही कुछ समय के लिए वह वैयक्तिक लाभ से प्रेरित होकर स्वार्थपूर्ण इच्छा से चोरी करे। अतः जब पुलिस तथा न्यायालय उसे दण्ड देते हैं तो वे किसी शक्ति का प्रदर्शन नहीं करते हैं, अपितु चोर की अपनी यथार्थ नैतिक इच्छा का तथा समाज की इस सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं कि चोर को दण्ड दिया जाना चाहिए। इसलिए चोर को चोरी के लिए दिया जाने वाला दण्ड किसी शक्ति का नहीं, किन्तु उसकी इच्छा का परिणाम है। इससे यह स्पष्ट है कि राज्य के जिन कार्यों में हमें शक्ति का प्रयोग दिखाई देता है, वह भी वस्तुतः उसकी सामान्य इच्छा से ही उत्पन्न होते हैं, अतः राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं।

प्रभुसत्ता का विचार

ग्रीन की प्रभुसत्ता का विचार 'सामान्य इच्छा' से सम्बद्ध तथा अन्य राजनीतिक विचारकों के इस विचार से कुछ भिन्न है। ग्रीन से पहले इस विषय में दो परस्पर-विरोधी विचार प्रचलित थे—

(क) पहला विचार रूसो का था। इसके अनुसार प्रभुसत्ता या राज्य के नियमों का बाधित रूप से पालन कराने वाली सर्वोच्च शक्ति 'सामान्य इच्छा' (general will) में रहती है।

(ख) दूसरा विचार आस्टिन का था। वह यह मानता था कि यह प्रभुसत्ता सदैव किसी ऐसे निश्चित सर्वोच्च मानव-अधिकारी में निहित होती है, जिसके आदेशों का पालन समाज के अधिकांश भाग द्वारा स्वाभाविक रूप से किया जाता है और जो स्वयमेव किसी अन्य सत्ता के आदेशों का पालन नहीं करता है।

ये दोनों दृष्टिकोण विरोधी प्रतीत होते हैं, क्योंकि रूसो की 'सामान्य इच्छा' रखने वाला कोई निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति-समूह नहीं हो सकता है, अपितु यह जनता में रहती है। जनता अपने-आपमें अस्पष्ट और अनिश्चित सत्ता है।

किन्तु ग्रीन प्रभुसत्ता के उपर्युक्त दोनों विचारों को विरोधी न मानता हुआ इनमें समन्वय करने का तथा संगति बैठाने का प्रयत्न करता है। वह आस्टिन के प्रभुसत्ता के लक्षण को यहाँ तक तो सही मानता है कि कानूनों के निर्माण और पालन करवाने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें बनाने वाला तथा पालन कराने वाला एक निश्चित मानव या मानव-समूह हो। किन्तु यदि हम इससे अधिक गहराई में जाएँ तो

हमें ग्रीन के मतानुसार आस्टिन की प्रभुसत्ता की परिभाषा दोषपूर्ण प्रतीत होती है, क्योंकि वह इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता कि प्रभुसत्ता के आदेशों का पालन स्वाभाविक रूप से क्यों किया जाता है। आस्टिन तथा उसके अनुयायियों का मत है कि प्रजा द्वारा सर्वोच्च सत्ता के आदेशों और कानूनों का पालन राजकीय शक्ति और दण्ड के भय के कारण किया जाता है। किन्तु ग्रीन इस विचारधारा से असहमत है, उसके मतानुसार प्रजा द्वारा राज्य के कानूनों का पालन करने का प्रधान कारण राजकीय शक्ति के दण्ड का भय नहीं, अपितु जनता का यह विश्वास है कि ये कानून उसके हित के लिए बनाए गए हैं। उसके मतानुसार सर्वोच्च प्रभुसत्ता में समाज की सामान्य इच्छा मूर्त्त रूप धारण करती है और अपने को अभिव्यक्त करती है। यह **सार्वभौम बुद्धिपूर्ण इच्छा** (Universal Rational Will) मनुष्य की प्रवृत्तियों पर गहरा प्रभाव डालने वाली शक्ति है, किन्तु कभी-कभी असाधारण दशाओं में मनुष्यों की समाज-विरोधी प्रवृत्तियों का दमन करने के लिए राजकीय दण्ड की शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। इस प्रकार ग्रीन आंशिक रूप से आस्टिन से सहमत होता हुआ भी अन्त में रूसो की सामान्य इच्छा को प्रभुसत्ता मानने का सिद्धान्त स्वीकार करता है। वह आस्टिन तथा रूसो के प्रभुसत्ता के लक्षणों का समन्वय करते हुए यह कहता है कि **प्रभुसत्ता का अन्तिम निवास-स्थान तो सामान्य इच्छा है, किन्तु विभिन्न राज्यों में इसका वास्तविक उपभोग करने वाले कुछ निश्चित उच्च अधिकारी हैं।** प्रभुसत्ता का उपभोग करने वाले इन मानव-अधिकारियों की सत्ता का मूल स्रोत सामान्य इच्छा है, ये उसे मूर्त्त रूप देने वाले उसके सेवक मात्र हैं। जब इस सामान्य इच्छा का समर्थन इन अधिकारियों को नहीं प्राप्त होता तो इनकी प्रभुसत्ता नष्ट हो जाती है।

राज्य के कार्य

राज्य का उद्देश्य मनुष्य को उसके पूर्ण नैतिक विकास में सहायता पहुँचाना है, अतः राज्य को वही कार्य करने चाहिएँ, जो इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हों। किन्तु आत्मा का नैतिक विकास वस्तुतः ऐसा कार्य है जिसे बाह्य साधनों या शक्तियों से नहीं किया जा सकता है। आत्मा के नैतिक विकास के लिए प्रार्थना या उपासना आवश्यक है, यह किसी बाह्य शक्ति के दबाव से नहीं की जा सकती है। इसका महत्व इसी बात में है कि हम स्वयमेव अपने विकास के लिए इसे आवश्यक कर्त्तव्य समझें और इसे निष्काम भाव से करें। राज्य इस विषय में कुछ भी सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि वह आन्तरिक प्रेरणा देने में असमर्थ है, राज्य इस प्रकार का कानून बना सकता है कि कोई व्यक्ति चोरी न करे। इससे वह मनुष्यों के चोरीविषयक कार्यों को ही रोक सकता है, किन्तु मनुष्यों के मन में चोरी का विचार उत्पन्न होने का नियन्त्रण नहीं कर सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि राज्य अपने कार्यों से प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य को धार्मिक या नैतिक नहीं बना सकता है, क्योंकि सच्ची नैतिकता का विकास तभी हो सकता है जब मनुष्य उसका पालन स्वेच्छापूर्वक आन्तरिक प्रेरणा से करे। यदि कोई व्यक्ति राजदण्ड के भय से नैतिक बनता है तो वह केवल ढोंग करता है। अतः ग्रीन का मत यह है कि **"राज्य को प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से ऐसे कार्य नहीं करने चाहिएँ जो नैतिकता को बढ़ाने में सहायक हों,**

अपितु जीवन बिताने के लिए ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिएँ, जिनमें नैतिकता का विकास सम्भव हो सके।"[1] राज्य को अपने कानून और नियम इस प्रकार बनाने चाहिएँ कि व्यक्ति के नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाएँ दूर हो जाएँ। **अतः राज्य का प्रधान कार्य उत्तम जीवन बिताने के मार्ग में आने वाली बाधाओं—अशिक्षा, निर्धनता, दूषित भूमिव्यवस्था, मद्यपान की बुराई आदि का निवारण करना है।**

इस प्रकार ग्रीन के मतानुसार राज्य का प्रधान कार्य **निषेधात्मक** (negative) है। यह कार्य उन बाधाओं को हटाने तक ही सीमित है जो मनुष्य द्वारा किए जाने योग्य कार्यों में बाधा डालते हैं। ये बाधाएँ प्रधान रूप से निम्नलिखित हैं—

(१) **पहली बाधा अशिक्षा और अज्ञान की है।** अतः राज्य का एक बड़ा कार्य इस बाधा को दूर करने के लिए विद्यालयों की स्थापना करना तथा प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बनाना है।

(२) **दूसरी बाधा दरिद्रता की है।** इसका मूल कारण दूषित भूमिव्यवस्था थी, अतः इस बाधा को दूर करने के लिए ग्रीन ने जमींदारी प्रथा के राज्य द्वारा उन्मूलन किए जाने पर बल दिया है।

(३) **तीसरी बाधा मद्यपान की बुराई है।** उसने राज्य द्वारा मद्य-विक्रय का निषेध किए जाने के लिए उग्र आन्दोलन किया।

(४) **चौथी बाधा लोगों के उत्तम स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का न होना था।** अतः उसने राज्य द्वारा बीमारी रोकने के लिए आवश्यक रूप से टीका लगाए जाने तथा नगरों की सफाई की व्यवस्था पर बहुत बल दिया।

(५) **पाँचवीं बाधा कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों—विशेषतः बच्चों और स्त्रियों की दयनीय दुर्दशा थी।** इसे सुधारने के लिए वह राज्य के हस्तक्षेप को आवश्यक समझता था।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ग्रीन राज्य का प्रधान कार्य मनुष्य के नैतिक विकास तथा उत्तम जीवन बिताने के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निवारण करना ही मानता है।

ग्रीन के राज्य के कार्यविषयक सिद्धान्त की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं : **पहली** विशेषता यह है कि इसने व्यक्ति को विशेष महत्व प्रदान करते हुए उसे राज्य का साधन नहीं माना, अपितु साध्य बना दिया है। **ग्रीन का चरम लक्ष्य व्यक्ति और उसका विकास है, राज्य नहीं। दूसरी** विशेषता लोकहितकारी राज्य (Welfare State) के विचार को जन्म देना था। ग्रीन ने सर्वप्रथम इस विचार पर जोर दिया कि राज्य को जनता के कल्याण के लिए सभी प्रकार के आवश्यक कानून बनाने चाहिएँ।

दण्डविषयक सिद्धान्त

राज्य उत्तम जीवन बिताने के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण करने के लिए अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था करता है। अपराधी अनेक प्रकार के

---

1. "The state should allow and remove obstacles that lie before human capacity, when he seeks to do things worth doing." —Green.

समाज-विरोधीकार्य—हत्या, हिंसा, चोरी, डकैती करके अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को हानि पहुँचाते हैं, अतः राजा का कर्त्तव्य है कि वह इन्हें दण्ड देकर व्यक्तियों के अधिकारों को सुरक्षित बनाए, समाज की उन्नति में बाधा बनने वाले अपराधियों का दमन करे। अतः दण्ड देने का उद्देश्य समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए उसकी नैतिक इच्छानुसार कार्य करने के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाना है।

दण्ड देने के सम्बन्ध में ग्रीन के समय में तीन प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित थे—

(क) पहला और सबसे पुराना **प्रतिशोध या बदला लेने का सिद्धान्त** (Retributive Theory) था। इसके अनुसार दण्ड का उद्देश्य अपराधी से किए गए अपराध का बदला लेना था। यह बर्बरतापूर्ण सिद्धान्त सभी जंगली जातियों में प्रचलित था।

(ख) दूसरा **निवारक सिद्धान्त** (Deterrent Theory) था। इसका यह अभिप्राय है कि अपराधी को दण्ड इस उद्देश्य से और इस प्रकार देना चाहिए कि अपराधी की दुर्दशा से भयभीत होकर अन्य व्यक्ति भविष्य में ऐसे अपराध करने का साहस न करें। १८५७ के सैनिक विद्रोह में अंग्रेजों ने भारतीय विद्रोहियों के साथ अत्यन्त क्रूरतापूर्ण व्यवहार इसी दृष्टि से किया था कि भविष्य में कोई भारतीय अंग्रेजों के विरुद्ध बगावत करने का दुस्साहस न करे।

(ग) तीसरा **सुधार का सिद्धान्त** (Reformatory Theory) है। इसके अनुसार दण्ड देने का प्रयोजन अपराधी का सुधार करना होता है, दण्डित होने पर अपराधी को पश्चात्ताप होता है और वह भविष्य में अपराध न करने का निश्चय करता है।

ग्रीन दण्ड देने के उपर्युक्त इन तीनों सिद्धान्तों में गम्भीर दोष देखता है। उसके मतानुसार पहला सिद्धान्त इतना बर्बरतापूर्ण है कि वह जंगली और असभ्य जातियों के लिए ही उपयुक्त हो सकता है, क्योंकि राज्य केवल बदला लेने के हीन उद्देश्य से प्रेरित होकर अपराधियों को दण्ड नहीं देता है। दूसरा निवारक सिद्धान्त भी उसे मान्य नहीं है, क्योंकि अपराधी अपने को स्वयमेव सुधारने के तथा अपनी बुरी इच्छा को ठीक करने के मौलिक कर्त्तव्य का पालन करने के अवसर से वंचित रह जाता है। वह तीसरे 'सुधार सिद्धान्त' को भी ठीक नहीं मानता है, क्योंकि अपराधी का सुधार दण्ड से नहीं, किन्तु आन्तरिक प्रेरणा से ही हो सकता है।

इस प्रकार तीनों सिद्धान्तों का खण्डन करने के बाद ग्रीन अपना यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि **इसका उद्देश्य व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक स्वतन्त्र वातावरण और उपयुक्त परिस्थितियाँ बनाना तथा इसमें आने वाली बाधाओं को दूर करना है।** प्रत्येक अपराध—हिंसा, हत्या, चोरी, डकैती—राज्य द्वारा सुरक्षित किए जाने वाले स्वतन्त्र जीवन और सम्पत्ति के अधिकारों पर किया जाने वाला भीषण आक्रमण है, इससे समाज की प्रतिष्ठित व्यवस्थाओं और अधिकारों पर कुठाराघात होता है। इसे रोकने के लिए राज्य दण्ड की शक्ति का प्रयोग करता है; अतः दण्ड का उद्देश्य समाज-विरोधी शक्तियों का विध्वंस, उत्तम जीवन की बाधाओं का निवारण तथा नैतिक विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण करना है। इस प्रकार दण्ड ऐसी शक्ति है जिसका प्रयोग स्वतन्त्रता का विरोध करने वाली शक्ति के निवारण

के लिए किया जाता है।[1]

राज्य के अन्य कार्यों की भाँति दण्ड देने का एक स्पष्ट नैतिक प्रयोजन है। यह इस अर्थ में नैतिक है कि इसका अन्तिम उद्देश्य ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है कि जिनमें समाज का प्रत्येक सदस्य अपने नैतिक विकास के लिए आवश्यक कार्यों को स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है। यह इस अर्थ में भी नैतिक है कि यह अपराधी का नैतिक सुधार करता है। वैसे तो यह सुधार अपराधी की आन्तरिक प्रेरणा से सम्पन्न होता है, किन्तु राज्य दण्ड देकर उसकी प्रसुप्त नैतिक चेतना को जागृत करता है और वह अपने सुधार के मार्ग पर अग्रसर होने लगता है।

सम्पत्तिविषयक विचार

सम्पत्ति के विषय में ग्रीन न तो उग्र समाजवादी था और न घोर व्यक्तिवादी। **वह निजी सम्पत्ति रखने का इस आधार पर समर्थन करता है कि यह व्यक्ति की योग्यताओं और गुणों का विकास करने का साधन है।** इसे वह जीने के अधिकार से स्वभावतः प्राप्त होने वाला अधिकार समझता था। यदि मनुष्य को अपना नैतिक विकास करने के लिए जीने का अधिकार है तो उसे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक साधन रखने का भी अधिकार होना चाहिए। इस दृष्टि से सम्पत्ति का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह अपनी आत्मा के विकास तथा समाज के सामान्य हित की वृद्धि के लिए आवश्यक साधनों का समूह है। ग्रीन के इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि सम्पत्ति का प्रयोजन सामाजिक कल्याण का सम्पादन करना है।

ग्रीन तथा अन्य समाजवादियों में सम्पत्ति के विषय में दो बड़े भेद हैं: **पहला भेद** सम्पत्ति की विषमता के सम्बन्ध में है। सभी समाजवादी यह मानते हैं कि अमीर-गरीब के भेद का तथा साम्पत्तिक वैषम्य का उन्मूलन होना चाहिए। किन्तु ग्रीन इसका समर्थन इस आधार पर करता है कि सामाजिक हित एवं कल्याण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इस समाज में विभिन्न व्यक्ति विभिन्न स्थितियों में रहते हुए कार्य करें और उनकी सम्पत्ति में विषमता बनी रहे। इस प्रकार समाज में सम्पत्ति का भेद बना रहना आवश्यक है और यह समाज के लिए मंगलकारी है।

दूसरा बड़ा भेद व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध में है। समाजवादी इसे सारे अनर्थों की जड़ समझते हुए इसके उन्मूलन पर बल देते हैं। किन्तु ग्रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रबल समर्थक था। उसका यह कहना था कि पूँजी का प्रयोग सदैव सामाजिक कल्याण के लिए होता है, इसे लगाकर कल-कारखाने खोलने से हजारों व्यक्तियों को काम तथा वेतन मिलता है। एक व्यक्ति के पास अधिक पूँजी होने से दूसरे के मार्ग में बाधा नहीं पड़ती, वह गरीब नहीं होता, क्योंकि पूँजी का विस्तार अपरिमित मात्रा में हो सकता है। मजदूर भी परिश्रम और अध्यवसाय से पूँजीपति बन सकते हैं।

---

1. "It is a force used to prevent a force opposed to freedom."
—Green.

समाजवादी विचारक दरिद्र एवं सर्वहारावर्ग (Proletariat) की निर्धनता का मूल कारण पूँजीवाद को समझते थे, किन्तु **ग्रीन इसका वास्तविक कारण दूषित भूमि-व्यवस्था को समझता था।** भूमि के बड़े भाग पर जमींदारों का अधिकार स्थापित होने से ही सर्वहारावर्ग की उत्पत्ति हुई है, अतः इस प्रथा का तत्काल उन्मूलन होना चाहिए।

मिल और ग्रीन के विचारों की तुलना और विरोध—इन दोनों के विचारों में जहाँ एक ओर कई समानताएँ हैं, वहाँ दूसरी ओर कई विरोध भी पाए जाते हैं। दोनों १९वीं सदी में इंगलैण्ड के महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारक थे, दोनों ने व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थन किया, व्यक्ति के विकास पर बहुत बल दिया तथा व्यक्ति के अधिकारों का विस्तृत प्रतिपादन किया। दोनों व्यक्तियों के लिए स्वतन्त्रता को अत्यधिक महत्वपूर्ण समझते हैं और लोकतन्त्र की शासन-प्रणाली के उग्र समर्थक हैं। किन्तु इन समानताओं के होते हुए भी दोनों में निम्नलिखित महत्वपूर्ण मतभेद और विरोध पाए जाते हैं—

मिल और ग्रीन के विचारों में पहला विरोध स्वतन्त्रता के स्वरूप के सम्बन्ध में है। ग्रीन से पहले मिल जैसे उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी विचारक व्यक्ति के अधिकारों का उग्र समर्थन करते हुए इस बात पर बल देते थे कि स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार सभी प्रकार के कार्य करने की स्वाधीनता देना है। कुछ कार्य नैतिक और धार्मिक दृष्टि से निन्दनीय हो सकते हैं, जैसे शराब पीना, जुआ खेलना; किन्तु व्यक्तिवादी विचारक यह मानते थे कि इन्हें करने में भी मनुष्य को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। मिल के मतानुसार मद्यपान और जुआ खेलना विशुद्ध रूप से वैयक्तिक कार्य हैं, इनके विषय में मनुष्य को पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए; किन्तु ग्रीन इससे सहमत नहीं है। वह मनुष्य की आत्मा या शाश्वत चैतन्य को ईश्वर का अंश मानता है, अतः मनुष्य एक नैतिक प्राणी है, इसका चरम लक्ष्य न केवल आत्म-विकास करना, अपितु ईश्वर के अंशरूप अन्य प्राणियों का तथा समाज का हित-सम्पादन करना है। जो कार्य इस उद्देश्य को पूरा करे, मनुष्य का नैतिक विकास तथा सामाजिक उन्नति करने में सहायक हो, उसी कार्य को करने की स्वतन्त्रता है। इसमें मनुष्य को सच्चा सन्तोष, सुख और शान्ति मिलती है तथा समाज का कल्याण होता है। मनुष्य को शराब पीने, जुआ खेलने जैसे बुरे काम करने में भी क्षणिक आत्मसन्तोष मिल सकता है, किन्तु उसके ये कार्य उसकी आत्मा के विकास व उन्नति में बाधक होते हैं। अतः इन कार्यों को उसे न करने देना ही स्वतन्त्रता है, इसलिए राज्य को मद्यपान, जुआ जैसे कार्यों को रोकने के लिए प्रतिबन्ध लगाना चाहिए; जबकि मिल इन कार्यों को करने के लिए व्यक्ति को स्वतन्त्रता देना चाहता है और इन पर राज्य द्वारा प्रति-बन्ध लगाना व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करना समझता है।

मिल और ग्रीन में **अन्य महत्वपूर्ण मतभेद** ये हैं कि मिल तया अन्य उपयोगिता-वादी विचारक राज्य द्वारा बनाए गए सभी कानूनों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुचलने वाला समझते थे, उनका यह दृढ़ मत था कि पार्लियामेण्ट को ऐसे सभी कानून रद्द कर देने चाहिएँ जिनसे व्यक्ति पर किसी प्रकार की पाबन्दी या बन्धन लगता हो। एडम स्मिथ ने इस मत का प्रतिपादन किया था कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र में किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए—सभी मामलों में 'खुला छोड़ दो'

(Laissez faire) की नीति अपनानी चाहिए। व्यक्ति पर राज्य द्वारा किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण, बन्धन या प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए, इनके मतानुसार राज्य में प्रतिबन्धों या हस्तक्षेप का अभाव ही स्वतन्त्रता है। इसमें सभी प्रकार के. प्रतिबन्धों या कानूनों के अभाव पर ही बल दिया जाता था। अतः इसे **अभावात्मक स्वतन्त्रता** (Negative freedom) कहा जाता था। इस विचार ने इंगलैण्ड में पूँजीपतियों को कारखानों में मजदूरों का भीषण शोषण करने की खुली छूट देकर भयंकर दुष्परिणाम उत्पन्न किए, जिसके कारण उदार दल ने राज्य द्वारा कारखानों के संचालन के आवश्यक कानूनों के बनाने पर बल दिया और राज्य द्वारा हस्तक्षेप न करने के पुराने सिद्धान्त को खण्डित करना शुरू कर दिया। किन्तु मिल ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर पूरा बल दिया और अभावात्मक स्वतन्त्रता का पूर्ण समर्थन किया, उसे यह भय बना हुआ था कि यदि राज्य को सभी मामलों में हस्तक्षेप करने की खुली छूट दी गई तो व्यक्ति की स्वाधीनता का लोप हो जाएगा, उसके व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाएगा।

ग्रीन ने इस अभाव को दूर करने के लिए उपयोगितावादी **अभावात्मक स्वतन्त्रता के स्थान पर भावात्मक या सकारात्मक स्वतन्त्रता** (Positive freedom) के विचारों का समर्थन किया। इसका यह मतलब था कि व्यक्ति के गुणों के विकास के लिए राज्य की शक्ति का उपयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था करने से, आर्थिक एवं औद्योगिक उन्नति के कानूनों से, स्वास्थ्यजनक परिस्थितियों को उत्पन्न करने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई हानि नहीं पहुँचती है। यदि राज्य शिक्षा की व्यवस्था करता है तो इससे व्यक्ति और समाज का कल्याण होता है। अतः मिल जैसे विचारकों का विरोध करते हुए ग्रीन व्यक्ति की स्वतन्त्रता में और राज्यों के कार्यों में कोई विरोध नहीं मानता है। इसलिए ग्रीन के मतानुसार स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं था कि व्यक्ति को मनमाने काम करने, शराब पीने, जुआ खेलने आदि की स्वतन्त्रता हो, अपितु स्वतन्त्रता का अभिप्राय ऐसे कार्यों के करने से है जो व्यक्ति की तथा समाज की उन्नति में सहायक हों। इससे यह स्पष्ट है कि मिल और ग्रीन के विचारों में बहुत अधिक अन्तर है।

ग्रीन की आलोचना

ग्रीन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की निम्नलिखित दृष्टियों से कड़ी आलोचना की गई है—

(१) **वह रूढ़िवादी एवं अनुदार है।** यह कहा जाता है कि उसका झुकाव वर्तमान व्यवस्था को बनाए रखने तथा उसका समर्थन करने का था; वह अमीर-गरीब के भेद को, सम्पत्ति की विषमता को तथा पूँजीवाद को सर्वथा न्यायोचित समझता था। राज्य के कार्यों के विषय में उसका दृष्टिकोण अभावात्मक था। उसे श्रमिकों की समस्याओं का कोई ज्ञान नहीं था।

(२) **उसका प्रभुसत्ता का सिद्धान्त दोषपूर्ण है,** इसमें उसने आस्टिन और रूसो के सिद्धान्तों के समन्वय का विफल प्रयत्न किया है। वह इसे 'सामान्य इच्छा' का

समर्थन पाने पर भी सर्वोच्च शक्ति मानता है। जहाँ तक इसका इच्छा होने का सम्बन्ध है, यह सामान्य नहीं है और जहाँ तक यह सामान्य है, वहाँ तक इच्छा नहीं है।

(३) **ग्रीन का एक बड़ा दोष अत्यधिक बुद्धिवादी होकर सब समस्याओं का समाधान करना है।** वह यह समझता है कि मनुष्य सभी कार्य बुद्धिपूर्वक सोच-विचार-कर ही करता है; वस्तुतः मनुष्य अधिकांश कार्य अचेतन मन से तथा मनोभावनाओं के प्रवल आवेगों में वहकर करता है।

(४) **मनुष्य के सम्बन्ध में उसने अत्यन्त उज्ज्वल आदर्श और आशावादी दृष्टिकोण रखा है,** उसमें दैवी प्रवृत्तियों की सदैव प्रधानता मानते हुए यह विचार प्रकट किया है कि वह हमेशा आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति में तथा समाज का कल्याण करने में लगा रहता है। यह एकांगी दृष्टिकोण है, वस्तुतः मनुष्य के हृदय में देवासुर-संग्राम चलता रहता है, आसुरी और दैवी प्रवृत्तियों का संघर्ष होता है, शुरू में काफी समय तक आसुरी प्रवृत्तियों का पलड़ा भारी रहता है, किन्तु अन्त में तथा वड़े संघर्ष के बाद ही दैवी प्रवृत्तियों की विजय होती है।

(५) **उसका प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त परस्पर विरोधी है** और असंगतियों के कारण दूषित है। वह एक ओर तो अन्तःकरण को ही सभी प्रश्नों का अन्तिम न्यायालय मानता है, दूसरी ओर इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति को राज्य या समाज का विरोध करने का कोई अधिकार नहीं है, वह केवल शान्तिपूर्ण रीति से उसका सुधार ही कर सकता है।

किन्तु उपर्युक्त आलोचनाओं के सत्य होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि ग्रीन सभी आदर्शवादियों में सबसे अधिक उदार, युक्तियुक्त, ग्रहणीय और स्वीकरणीय प्रतीत होता है।

ग्रीन की देन—राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में ग्रीन की **पहली देन उपयोगितावाद एवं उदारवाद में समयानुकूल संशोधन करके इसमें नवजीवन का संचार करना तथा इसे प्रबल शक्ति बनाना था।** उससे पूर्व उपयोगितावाद निष्प्राण हो चुका था, इसपर कई विचारधाराएँ प्रवल प्रहार कर रही थीं। ग्रीन ने उन विरोधी विचार-धाराओं में समन्वय करके इसे अपने नवीन सिद्धान्तों द्वारा नवजीवन प्रदान किया। उसने मनुष्य को कोरे भौतिक सुख का अन्वेषण करने वाला नहीं, अपितु अपनी आत्मा का विकास तथा समाज का हित चाहने वाला प्राणी माना।

ग्रीन की दूसरी देन आदर्शवाद का संशोधन था। हेगल ने व्यक्ति को साधन बनाकर उसके हितों का राज्य के लिए बलिदान कर दिया था, राज्य को अपने-आपमें साध्य तथा नैतिकता का स्रोत माना था, युद्ध का समर्थन किया था तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों पर कोई नैतिक बन्धन न मानते हुए उन्हें मनमाना कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान की थी। ग्रीन ने इन दूषित सिद्धान्तों का संशोधन करते हुए इस बात पर बल दिया कि व्यक्ति साध्य है, राज्य के लिए उसके हितों का बलिदान नहीं करना चाहिए। राज्यों का काम आपस में लड़ाई करना नहीं है। ग्रीन युद्ध को प्रत्येक दशा में अनैतिक समझते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्यों के संघर्षों को समाप्त **करना चाहता था।**

ग्रीन का मूल्यांकन—वेपर ने ग्रीन के महत्व का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि उसने उदारवाद और आदर्शवाद के दोषों का संशोधन किया। ग्रीन की बड़ी उपलब्धि यह थी कि उसने उदारवाद को एक नया धार्मिक विश्वास प्रदान किया, व्यक्तिवाद को नैतिक एवं सामाजिक बनाया तथा आदर्शवाद का परिष्कार और परिमार्जन किया।

सारांश

ब्रिटिश आदर्शवादी दार्शनिक ग्रीन के राजनीतिक विचार उनकी उस विचार-धारा पर आधारित हैं जिसके अनुसार इस समूचे विश्व की सब वस्तुएँ ईश्वर जैसे एक शाश्वत चैतन्य (Eternal consciousness) से ओतप्रोत हैं। संसार में इससे पृथक् कोई अन्य तत्व नहीं हो सकता है। ग्रीन स्वतन्त्रता को इस चेतन तत्व वाली मानवीय आत्मा का एक आवश्यक गुण मानता है।

स्वतन्त्रताविषयक विचार—मनुष्य की आत्मा सदा स्वतन्त्रता चाहती है। स्वतन्त्रता दो प्रकार की है : (क) आन्तरिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय मनुष्य का अपनी वासनाओं और बुरी मनोवृत्तियों का दास न बनकर उन पर अपना नियन्त्रण रखते हुए स्वतन्त्र बना रहना है। (ख) बाह्य स्वतन्त्रता ऐसी बाहरी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है जिनमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा का विकास कर सके। स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी इच्छानुसार मनमाने कार्य करने की स्वाधीनता नहीं, अपितु ऐसे निश्चित प्रकार के कार्य करना है जो सामाजिक और नैतिक दृष्टिकोण से करने योग्य हैं।

ग्रीन की स्वतन्त्रता सकारात्मक या भावात्मक है।

अधिकारविषयक विचार—ग्रीन के मतानुसार अधिकार व्यक्ति द्वारा अपने ऐसे उद्देश्यों को पूर्ण करने की शक्ति है जिन्हें वह अपने लिए हितकर समझता है तथा समाज यह अधिकार व्यक्ति को इस आधार पर प्रदान करता है कि इस अधिकार के प्रयोग से समाज को लाभ पहुँचेगा। ग्रीन लॉक द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को नहीं मानता है।

राज्यविषयक विचार—राज्य का निर्माण अधिकारों की रक्षा के लिए होता है और यह सब लोगों द्वारा अनुभव की जाने वाली समाज के लिए हितकर सामान्य इच्छा पर आधारित होता है। राज्य का वास्तविक आधार इच्छा है, बल नहीं। ग्रीन से पहले के विचारक यह मानते थे कि नागरिक राज्य की सैनिक शक्ति के भय से डरकर कानूनों का पालन करते हैं, अतः राज्य का आधार शक्ति है। किन्तु ग्रीन का यह कहना है कि नागरिक कानूनों का पालन इसलिए करते हैं कि वे इन्हें अपने तथा समाज के लिए हितकर समझते हैं। इनका पालन स्वेच्छा से होता है, न कि राज्य की दण्डशक्ति के भय से, अतः राज्य का आधार इच्छा है, न कि शक्ति।

राज्य के कार्य—राज्य का उद्देश्य मनुष्य को उसके पूर्ण नैतिक विकास में सहायता पहुँचाना है, अतः राज्य को वही कार्य करने चाहिएँ जो व्यक्ति के नैतिक विकास के मार्ग में बाधाएँ दूर करें। इस दृष्टि से राज्य का प्रधान कार्य उत्तम जीवन बिताने के मार्ग में आने वाली बाधाओं, अशिक्षा, निर्धनता, दूषित भूमिव्यवस्था, मद्यपान आदि की बुराइयों का निवारण करना है।

दण्डविषयक सिद्धान्त—ग्रीन से पहले दण्ड देने के बारे में तीन प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित थे—

(क) प्रतिशोध या बदला लेने का सिद्धान्त (Retributive Theory)

(ख) निवारक सिद्धान्त (Deterrent Theory)

(ग) सुधार का सिद्धान्त (Reformatory Theory)

ग्रीन इन तीनों सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए दण्ड का उद्देश्य यह बताता है कि इसका लक्ष्य समाज-विरोधी शक्तियों का विध्वंस, उत्तम जीवन की बाधाओं का निवारण तथा नैतिक विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण करना है।

सम्पत्तिविषयक विचार—ग्रीन निजी सम्पत्ति का समर्थन इस आधार पर करता है कि यह व्यक्ति की योग्यताओं और गुणों का विकास करने का साधन है। इसे वह जीने के अधिकार से स्वभावतः प्राप्त होने वाला अधिकार समझता था। वह व्यक्तिगत सम्पत्ति का इस कारण समर्थन करता था कि पूँजी का प्रयोग सदैव सामाजिक कल्याण के लिए होता है।

ग्रीन की देन—(१) उपयोगितावाद और उदारवाद में समयानुकूल संशोधन करके इसमें नवजीवन का संचार करना। (२) हेगल के आदर्शवाद का संशोधन करना।

प्रश्न

(१) ग्रीन के स्वतन्त्रताविषयक विचार का आलोचनात्मक परिचय दीजिए।

(२) ग्रीन के मतानुसार अधिकार का स्वरूप स्पष्ट कीजिए। इसका नैतिकता और कानून से सम्बन्ध बताइए।

(३) राज्य का आधार "बल नहीं, वरन इच्छा है।" ग्रीन के इस कथन को स्पष्टता के साथ समझाइए। (राजस्थान, १९७७)

(४) ग्रीन के दण्ड तथा सम्पत्तिविषयक विचारों का संक्षिप्त प्रतिपादन कीजिए।

चौथा अध्याय

कार्ल मार्क्स [१८१८–१८८३ ई०]

मार्क्स का महत्व—वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) के प्रवर्त्तक, क्रान्तिकारी विचारक, महर्षि मार्क्स समाजवादी विचारकों में असाधारण महत्व रखते हैं। पिछली एक शताब्दी में उनके विचारों ने संसार पर जितना गहरा प्रभाव डाला है, उतना सम्भवतः इस युग के किसी अन्य विचारक ने नहीं डाला है। इस दृष्टि से उनकी तुलना संसार के महान् धर्मप्रवर्त्तकों—बुद्ध, ईसा और मुहम्मद से की जा सकती है। आज संसार में करोड़ों व्यक्ति कार्ल मार्क्स को नवयुग का देवता मानते हैं, उसकी उपासना करते हैं, उसके ग्रन्थों को वेद, बाइबल और कुरान जैसा पवित्र धर्मग्रन्थ मानते हैं, उसके ग्रन्थों में अगाध श्रद्धा और प्रबल आस्था रखते हैं, उससे प्रेरणा पाते हुए आदर्श साम्यवादी समाज के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान करने के लिए उद्यत हैं। मार्क्स के विचारों ने दुनिया को बदल डाला है। विश्व की जनसंख्या का एक बड़ा भाग उसके सिद्धान्तों का अनुयायी है। जिन देशों में पूँजीवादी व्यवस्था है, वहाँ भी मार्क्स का गहरा प्रभाव पड़ा है। डार्विन और फ्रायड की भाँति उसने मानव-समाज की विचारधारा को नई दिशा प्रदान की है।

मार्क्स की जीवनी—मार्क्स का जन्म राइन नदी के तटवर्ती जर्मन प्रदेश राइनलैण्ड के एक छोटे-से नगर ट्रेयर या ट्रीव्ज़ (Treves) में १८१८ ई० में हुआ। चौथी शताब्दी ई० में इस नगर ने ईसाइयत के एक महान् सन्त एम्ब्रोज (Ambrose) को पैदा किया था, १९वीं शताब्दी में इसने साम्यवाद के सन्त को जन्म देने का श्रेय प्राप्त किया। मार्क्स का पिता एक मध्यमवर्गीय यहूदी वकील था। मार्क्स की प्रारम्भिक शिक्षा उसके भावी श्वसुर तथा उदार विचारक वैस्टफेलन के घर पर और एक विद्यालय में सम्पन्न हुई। उसने वैस्टफेलन के सम्पर्क से शेक्सपीयर, शिलर, दांते आदि महाकवियों की कृतियों का रसास्वादन किया; इसने उसमें सहृदयता और कविता की प्रेरणा को उत्पन्न किया। यहाँ बचपन से ही उसने अपनी योग्यता को पीड़ित और शोषित मानव-जाति के प्रति अगाध प्रेम में प्रदर्शित किया। विद्यालय में उसके शिक्षक उसकी योग्यता को सराहते थे, किन्तु उसके हस्तलेख के भद्देपन की तथा लेखन शैली की जटिलता की आलोचना करते थे।

विद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के बाद, उसने सत्रह वर्ष की आयु में पहले जेना के तथा बाद में बर्लिन के विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। उसका पिता मार्क्स को कानून की शिक्षा दिलवाना चाहता था, किन्तु मार्क्स ने यहाँ दर्शन और इतिहास का अध्ययन किया। बर्लिन में अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद उसने १८४१ में जेना के

विश्वविद्यालय से 'डेमोक्रिटस और एपिक्यूरस के प्राकृतिक दर्शनों' पर निबन्ध लिखकर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। मार्क्स पर हेगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectics) का, एपिक्यूरस के भौतिकवाद का तथा फ्यूरबाख के भगवान् की वास्तविक सत्ता के खण्डन के विचार का प्रभाव पड़ा।

मार्क्स को अपने बाइबल-विरोधी नास्तिक विचारों के कारण किसी सरकारी विश्वविद्यालय में नौकरी नहीं मिल सकती थी, अतः उसने पत्रकारिता को अपनी आजीविका का साधन बनाया। सम्पादन-कार्य करते हुए ही उसका ध्यान समाजवाद की ओर गया और उसने समाजवादी साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया।

इसी समय २५ वर्ष की आयु में उसका विवाह वैस्टफेलन की पुत्री जेनी से हुआ। उसने जेनी पर अनेक कविताएँ लिखी थीं। मार्क्स जेनी के रूप और बुद्धि पर तथा जेनी मार्क्स की दृढ़ता पर मुग्ध थी। घोर दरिद्रता, भीषण बीमारी और भयंकर कष्टों में जेनी ने सदैव अपने पति की सेवा की; उसकी तुलना भारत की सती-साध्वी, पतिव्रता सीता और सावित्री से की जा सकती है।

विवाह के बाद जेनी के जीवन में सुख नहीं बदा था। उसे अपने पति के साथ विभिन्न देशों में भटकना पड़ा; मार्क्स जिस देश में जाता, वहाँ उसे क्रान्तिकारी विचारों के कारण निर्वासित कर दिया जाता था। १८४३ में मार्क्स को जर्मनी छोड़कर पेरिस आना पड़ा। यहाँ वह फ्रैंको-जर्मन अब्दकोशों (Franco-German Year Books) का सम्पादक बना। यहीं १८४४ में उसका परिचय फ्रेडरिक एंगल्ज़ से हुआ। यह परिचय शीघ्र ही घनिष्ठ मित्रता में परिणत हो गया और इसी कारण मार्क्स अपना शेष जीवन साहित्यिक अध्ययन और लेखन में लगा सका।

मार्क्स के दुर्भाग्य से अब्दकोश का प्रकाशन शीघ्र ही बन्द हो गया। बेकार हो जाने पर उसने ब्रिटेन और फ्रांस में प्रचलित अर्थशास्त्र, इतिहास और समाजवाद के सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन करके **'पवित्र परिवार'** (The Holy Family) नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसमें उसने इतिहास की आर्थिक व्याख्या तथा वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों को बीज रूप में प्रतिपादित करते हुए निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को दरिद्र एवं सर्वहारावर्ग (Proletariat) द्वारा समाप्त करने पर बल दिया। १८४५ में जर्मन सरकार के आग्रह पर फ्रेंच सरकार ने मार्क्स को फ्रांस छोड़कर चले जाने का आदेश दिया। मार्क्स को विवश होकर बेल्जियम की राजधानी ब्रूसेल्स में शरण लेनी पड़ी। इसके बाद वह जर्मन मजदूरों का संघ सुदृढ़ करने में लग गया, उसे इसने 'कम्यूनिस्ट संघ' का नाम दिया। इस संस्था ने अपनी दूसरी बैठक में मार्क्स को एक कार्यक्रम तैयार करने का आदेश दिया। यह कार्यक्रम ही सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक **कम्यूनिस्ट घोषणापत्र** (Communist Manifesto) है। कम्यूनिस्ट घोषणापत्र मार्क्स और एंगल्ज़ की संयुक्त कृति है, १८४८ में योरोप के अनेक देशों में क्रान्तियाँ होने के समय इसका प्रकाशन हुआ। इन क्रान्तियों में मार्क्स ने जर्मनी और फ्रांस में इन्हें सफल बनाने का प्रयत्न किया। किन्तु इनके विफल होने पर १८४९ में वह पेरिस से निर्वासित होकर लन्दन चला आया, उसने अपने जीवन के शेष वर्ष यहीं व्यतीत किए।

लन्दन आने पर मार्क्स को तथा उसके परिवार को दस वर्ष (१८५१—६०) तक

घोर निर्धनता का जीवन व्यतीत करना पड़ा। १८६० के बाद मार्क्स की आर्थिक दशा कुछ सुधर गई, १८६७ में उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक **पूँजी** (Das Capital) का प्रथम खण्ड जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। इसमें उसने पूँजीवाद का बड़ा गम्भीर विश्लेषण किया। वह इसके शेष दो खण्ड अपने जीवनकाल में पूरा नहीं कर सका। इनको मार्क्स द्वारा तैयार की गई सामग्री के आधार पर एंगल्ज़ ने पूरा किया।

मार्क्स ने 'पूँजी' के प्रकाशन के बाद अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में अपने सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने के लिए मजदूर आन्दोलन को संगठित करने का प्रयत्न किया। १८७५ से उसका स्वास्थ्य बहुत खराब रहने लगा। १४ मार्च १८८३ को वह दिवंगत हुआ। एंगल्ज़ ने उसकी मृत्यु पर अपने एक अमेरिकन मित्र को पत्र में लिखा—"मानव-जाति में आज एक मस्तिष्क कम हो गया, वह वस्तुतः वर्तमान युग का सबसे महत्वपूर्ण मस्तिष्क था।"

वैज्ञानिक समाजवाद का स्वरूप

कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों को आजकल 'मार्क्सवाद' का नाम दिया जाता है, किन्तु उसने स्वयमेव इन्हें **वैज्ञानिक समाजवाद** का नाम दिया है। मार्क्स यह मानता था कि उससे पहले के विचारकों ने समाजवाद की आदर्श अथवा हवाई योजनाएँ बनाई थीं, वे केवल आर्थिक विषमता के स्थान पर समाज में धन के न्यायोचित वितरण पर बल देते थे; किन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि यह विषमता समाज में क्यों उत्पन्न होती है, इसका उत्पादन की विधियों के साथ क्या सम्बन्ध है; उन्होंने समाज की प्रगति और विकास के नियमों को समझने का प्रयत्न नहीं किया था। अतः मार्क्स ने पूर्ववर्ती विचारकों के समाजवाद को हवाई अथवा आदर्श योजनाओं वाला स्वप्नलोकीय (Utopian) समाजवाद कहा है।

उसने अपने मत को वैज्ञानिक इसलिए कहा है कि उसने एक वैज्ञानिक की भाँति समाज के स्वरूप एवं विकास के नियमों की खोज करने का प्रयत्न किया था, उसने यह पता लगाया कि समाज में परिवर्तन क्यों होते हैं, भविष्य में ये परिवर्तन किस प्रकार तथा किन दशाओं में होंगे। वह अपने अध्ययन से इस परिणाम पर पहुँचा था कि मानव-समाज में परिवर्तन अकस्मात् और अकारण नहीं होते हैं, अपितु बाह्य प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों की भाँति कुछ विशिष्ट नियमों के अनुसार होते हैं। इन नियमों की खोज के बाद मानव-समाज के सम्बन्ध में ऐसे वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निरूपण किया जा सकता है, जो कोरी कल्पनाओं पर आधारित न होकर मानव-जाति के वास्तविक अनुभवों पर तथा इसके विकास को संचालित करने वाले वैज्ञानिक नियमों पर आश्रित हों। मार्क्स का विचार था कि उसका मत वैज्ञानिक सामग्री के आधार पर निश्चित किया गया है, अतः उसने इसे 'वैज्ञानिक समाजवाद' (Scientific Socialism) का नाम दिया। इसके प्रधान सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

मार्क्स के प्रमुख सिद्धान्त

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
(Dialectic Materialism)

यह मार्क्स के विचारों का मूल आधार है । उसके मतानुसार सारे संसार की सभी समस्याओं के समाधान में यह हमारा पथ-प्रदर्शन करता है । किन्तु यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि मार्क्स ने अपने ग्रन्थों में इसका कहीं सुस्पष्ट प्रतिपादन नहीं किया है ।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में दो शब्द हैं, इनमें पहला शब्द तो उस प्रक्रिया को स्पष्ट करता है, जिसके अनुसार सृष्टि का विकास हो रहा है और दूसरा शब्द सृष्टि के मूलतत्व को सूचित करता है । यहाँ पहले भौतिकवाद का वर्णन करने के बाद द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का वर्णन किया जाएगा ।

जड़ प्रकृति या भूत (Matter) **का स्वरूप**—मार्क्स विशुद्ध अद्वैतवादी है, वह इस सृष्टि का एक मात्र मूलतत्व जड़ प्रकृति या भूत (Matter) को समझता है । भूत का तात्पर्य अपनी इन्द्रियों से दिखाई देने वाला जड़ जगत् है । इसे सृष्टि का मौलिक तत्व मानने वाला सिद्धान्त भौतिकवाद (Materialism) कहलाता है । मार्क्स का यह कहना है कि हम आत्मा का अनुभव नहीं कर सकते हैं, अतः उसका हमारे लिए कोई अस्तित्व नहीं है । इसके विपरीत मिट्टी, पेड़-पौधे, मकान आदि जो वस्तुएँ हमें प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ती हैं, वे हमारे लिए सर्वथा सत्य हैं । हमें अपने विचार का आधार प्रत्यक्ष एवं सुस्पष्ट दिखाई देने वाली भौतिक वस्तुओं को बनाना चाहिए । आत्मा, ईश्वर जैसी अप्रत्यक्ष एवं अस्पष्ट वस्तुओं की मृग-मरीचिका के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए । मार्क्स ईश्वर को मनुष्य की कल्पना की सृष्टि मानता था, अतः उसने जगत् का मूलतत्व ईश्वर को न मानकर प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले जड़ पदार्थों वाले भौतिक जगत् को माना है ।

जड़ प्रकृति की विशेषताएँ—मार्क्स ने जड़ प्रकृति के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेषताएँ और नियम बताए हैं—

१. **गतिशीलता**—जड़ प्रकृति स्वतःगतिशील है । निरन्तर गति में बना रहना प्रकृति का स्वरूप है । भले ही ऊपर से हमें ईंट, पत्थर और मकान स्थिर दिखाई देते हैं, वस्तुतः ये ऐसे नहीं हैं । ये सब परमाणुओं से मिलकर बने हैं । प्रत्येक परमाणु के भीतर उसका निर्माण करने वाले इलेक्ट्रोन तथा प्रोटोन सदैव गतिशील बने रहते हैं । अतः इनसे बनने वाला सारा जड़ जगत् सदैव गतिशील है, उसे गति देने के लिए दूसरे व्यक्ति की शक्ति की जरूरत नहीं होती है । वह स्वयं गतिशील है ।

२. **परिवर्तनशीलता**—प्रकृति निरन्तर गतिशील होने के कारण परिवर्तनशील है, उसमें सदैव कुछ वस्तुओं का उद्भव और विकास होता है और कुछ वस्तुओं का ह्रास और विनाश होता है । प्रकृति निरन्तर अपने रूप बदलती रहती है, उसमें कोई चिरंतन, शाश्वत और स्थायी सत्ता नहीं है । परिवर्तन ही सृष्टिचक्र का शाश्वत नियम है ।

३. **सम्बद्धता**—भौतिक जगत् की सब वस्तुएँ और घटनाएँ एक-दूसरे से पृथक्, स्वतन्त्र और असम्बद्ध न होकर एक-दूसरे से सम्बद्ध तथा एक-दूसरे पर निर्भर हैं । किसी भी घटना को दूसरी घटनाओं से या वस्तुओं से पृथक रूप में नहीं समझा जा सकता है ।

प्रत्येक घटना अन्य घटनाओं से घिरी होती है, उन सबका प्रत्येक घटना पर तथा प्रत्येक घटना का अन्य सब पर प्रभाव पड़ता है, इन्हें समझे बिना हम किसी का यथार्थ स्वरूप नहीं समझ सकते हैं।

४. **विरोधी तत्वों का संगम**—प्रत्येक जड़ पदार्थ में सदैव विरोधी तत्वों का संगम या उपस्थिति बनी रहती है। यह बात ऊपर से देखने में अटपटी लगती है, किन्तु सत्य है। उदाहरणार्थ, आप जिस कुर्सी पर बैठे इस पुस्तक को पढ़ रहे हैं, उसकी लकड़ी कड़ी और नरम दोनों ही है। यदि यह कड़ी न होती तो यह आपका बोझ कैसे सँभालती। यह नरम भी है; यदि नरम न होती तो इसे कुल्हाड़ी से काटकर कुर्सी न बनाया जा सकता। अतः यह मानना पड़ता है कि लकड़ी में दो विरोधी गुण—कड़ापन और नर्मी—पाए जाते हैं। इसी प्रकार बिजली में धन और ऋण विद्युत् के दो परस्पर विरोधी तत्व होते हैं, इनसे मिलकर ही बिजली बनती है।

५. **आन्तरिक असंगतियाँ**—मार्क्स ने इस सिद्धान्त को हेगल से ग्रहण करते हुए इसे सामाजिक परिस्थितियों पर सर्वथा नवीन ढंग से लागू किया है। यह उसका **आन्तरिक विरोधों या असंगतियों का सिद्धान्त** (Theory of Inner Contradictions) है। उसका यह कहना है कि सृष्टि का विकास इन आन्तरिक विरोधों के कारण होता है। प्रत्येक वस्तु में उसका एक विरोधी तत्व निहित होता है। इनके पारस्परिक संघर्ष से परिवर्तन या विकास की प्रक्रिया चलती है। हिंसा, बलप्रयोग एवं पीड़ा इस संघर्ष के अनिवार्य तत्व हैं। हमें अच्छा लगे या न लगे, प्रकृति का यही नियम है। माता की प्रसव-वेदना के बिना शिशु का जन्म सम्भव नहीं है। योरोप में पहले सामन्तवाद की प्रथा प्रचलित थी, उसकी आन्तरिक असंगतियों और विरोधों से पूँजीवाद का जन्म हुआ, पूँजीवाद की आन्तरिक असंगतियों से समाजवाद का जन्म होगा। मार्क्स प्रत्येक वस्तु में विरोधी तत्वों का संगम मानता है और इनके संघर्ष को सृष्टि के परिवर्तन और विकास का मूल कारण समझता है।

द्वन्द्वात्मक विकास (Dialectics) का स्वरूप तथा उसके नियम

सृष्टि में यह परिवर्तन द्वन्द्वात्मक पद्धति से होता है। इस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रकृति का विकास कुछ निश्चित नियमों के अनुसार होता है। इसके प्रधान नियम निम्नलिखित हैं—

(क) यह विकास **द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया** (Dialectical Method) **की पद्धति** से होता है। मार्क्स ने इसे कुछ परिवर्तनों के साथ हेगल से ग्रहण किया था। इसके तीन अंग हैं। इन तीनों के नाम निम्नलिखित हैं—

(१) वाद (Thesis)
(२) प्रतिवाद (Antithesis)
(३) संवाद (Synthesis)

हेगल का अनुसरण करते हुए मार्क्स ने यह माना था कि प्रत्येक विचार या घटना दो विरोधी विचारों—वाद और प्रतिवाद—के संघर्ष से उत्पन्न होती है। वाद और प्रतिवाद की सचाइयों को ग्रहण करके इनका एक नवीन समन्वय (synthesis)

होता है। यह समन्वय नया वाद बन जाता है, फिर इसका विरोधी प्रतिवाद उत्पन्न होता है। इसके बाद इन दोनों के विरोध के समाधान से नया समन्वय पैदा होता है, किन्तु आगे चलकर वही वाद (thesis) बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक समन्वय का समाधान अस्थायी है, क्योंकि जब इसमें माने जाने वाले सिद्धान्त पर बल दिया जाता है तो इसका विरोध या प्रतिवाद पैदा हो जाता है, इस कारण इन दोनों का सामंजस्य करने की आवश्यकता होती है, इस प्रकार वाद, प्रतिवाद और संवाद की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। एक वाद, प्रतिवाद और संवाद के तीन तत्वों को त्रैत (triad) कहते हैं। सृष्टि एवं विचारों के विकास में त्रैतों की अविच्छिन्न परम्परा निरन्तर चलती रहती है।

द्वन्द्वात्मक विकास की इस प्रक्रिया को एक उदाहरण से भली-भाँति समझा जा सकता है। एक व्यक्ति वाद (thesis) के रूप में यह मत उपस्थित करता है कि सोना उपयोगी पदार्थ है। दूसरा व्यक्ति इसके प्रतिवाद (antithesis) के रूप में यह कह सकता है कि सोना उपयोगी नहीं है। तीसरा व्यक्ति इन दोनों का समन्वय प्रस्तुत करते हुए यह संवाद (synthesis) प्रस्तुत करता है कि उपयोगिता परिस्थितियों पर निर्भर है : कुछ परिस्थितियों में यह उपयोगी होता है, जैसे दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता आदि महानगरों में आप इसे बेचकर इससे अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर सकते हैं, अतः सोना उपयोगी है; किन्तु राजस्थान के निर्जन मरुस्थल में यदि आप प्यास से तड़प रहे हैं और सोने के बदले पानी नहीं प्राप्त कर सकते हैं तो सोना आपके लिए कोई उपयोगिता नहीं रखता है। अतः संवाद (synthesis) में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सोना उपयोगी और निरुपयोगी दोनों है, इसमें वाद और प्रतिवाद का समन्वय हो गया है।

यह विकास सदैव ऊर्ध्वमुखी और निरन्तर अग्रसर होने वाली प्रक्रिया है। यह वाद, प्रतिवाद और संवाद के त्रैत से सर्वदा निरन्तर ऊपर की ओर होता है। यह विकासक्रम पेचकस की गरारियों की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी चक्करदार, किन्तु ऊपर की ओर चढ़ने वाली रेखा की भाँति है। इसका प्रत्येक चक्कर या घुमाव वाद-प्रतिवाद-संवाद की तीन कड़ियों से मिलकर पूरा होता है। प्रत्येक कड़ी अपने से पहली कड़ी का विलोम, निषेध या विपरिणाम (negation) होती है, किन्तु प्रत्येक चक्कर के अन्त में हम पहले की अपेक्षा थोड़ा ऊँचा उठ जाते हैं।

इस प्रक्रिया को मार्क्स तथा उसके अनुयायियों ने गेहूँ के पौधे के दृष्टान्त से समझाया है। यह गेहूँ के पौधे के उदाहरण से अधिक स्पष्ट हो जाएगा। पौधे में सबसे नीचे बीज या वाद है। इसे भूमि में बोने पर तथा जलवायु की अनुकूल परिस्थिति होने पर इसका विकास होता है। यह गलकर या नष्ट होकर अंकुरित होता है और पौधा बढ़ता है। यह पौधे के विकास की दूसरी कड़ी प्रतिवाद या विपरिणाम (negation) है। तीसरी कड़ी पौधे में गेहूँ की बाली का आना, इसके पकने पर गेहूँ के दाने का बनना तथा पौधे का सूखकर नष्ट होना है—यह तीसरी दशा संवाद या **विपरिणाम का विपरिणाम** (negation of negation) है। इस विषय में दूसरा दृष्टान्त तितली का दिया जाता है। तितली वाद है, इसका अण्डे से निकलना प्रतिवाद या विपरिणाम है, इसके बाद अनेक

दशाओं में होते हुए अण्डे पैदा करना तथा मर जाना संवाद या विपरिणाम का विपरिणाम है। जड़ प्रकृति से विकास का तीसरा दृष्टान्त चट्टानों का लिया जा सकता है। तेज धूप, प्रबल आँधी और भीषण ठण्ड के प्रभाव से चट्टानें टूटती हैं और चूर्ण बनती हैं, यह **वाद** है। इस चूर्ण का वर्षा के जल द्वारा बहकर समुद्र में जाना **प्रतिवाद** है। बहुत काल तक समुद्र में रहने के बाद अनेक प्राकृतिक कारणों से इसका पुनः चट्टानों का रूप धारण करना संवाद है।

विकास का यह पहला नियम हमें परिवर्तन या विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को, इसके विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध को बताता है; इसमें वाद, प्रतिवाद (विपरिणाम या निषेध) तथा संवाद (विपरिणाम के विपरिणाम या निषेध के निषेध) की तीन कड़ियाँ होती हैं, अतः अन्तिम कड़ी के आधार पर इसे **विपरिणाम के विपरिणाम का नियम** (Law of negation of negations) भी कहते हैं।

(ख) विरोधी तत्वों के अन्तःप्रवेश या विपरीत समवाय का नियम (Law of interpenetration of opposites)—विकास का दूसरा नियम इसका आन्तरिक विरोध से संचालित होना है। पहले यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु में विरोधी तत्व और गुण मिले रहते हैं, उसमें एकता का और विरोधी तत्वों का मिश्रण रहता है। इसका यह अर्थ है कि एक ही वस्तु में दो विरोधी तत्व उसके प्रत्येक अंश में घुसे होते हैं। अतः विकास के इस दूसरे नियम को **विरोधी तत्वों के अन्तःप्रवेश या विपरीत समवाय का नियम** कहा जाता है। इसे चुम्बक के उदाहरण से समझा जा सकता है। एक चुम्बक के दो सिरे उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव (North and South Poles) हैं। ये सिरे यद्यपि एक-दूसरे के विरोधी और स्पष्ट रूप से भिन्न होते हैं, फिर भी ये पृथक् रूप से अलग-अलग केवल उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव के रूप में नहीं रह सकते हैं। यदि चुम्बक को मध्य भाग से ठीक दो हिस्सों में काट दिया जाए तो उसके एक हिस्से में केवल उत्तरी ध्रुव तथा दूसरे हिस्से में केवल दक्षिणी ध्रुव हो, ऐसा नहीं होता, अपितु दोनों टुकड़ों में ही दोनों ध्रुव उत्पन्न हो जाते हैं। इसका यह अर्थ है कि एक ही वस्तु में दो विरोधी तत्व उसके प्रत्येक अंश में घुसे होते हैं।

जब तक विरोधी तत्व प्रसुप्त या सन्तुलित रहते हैं, तब तक परिवर्तन नहीं होता है। किन्तु जब एक तत्व प्रबल होने लगता है तो परिवर्तन आरम्भ हो जाता है। उदाहरणार्थ, हमारे शरीर में इसका निर्माण करने वाले कोषों के निर्माण और विध्वंस की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। बच्चे के शरीर में निर्माण की प्रक्रिया प्रबल होती है, अतः इसका तेजी से विकास होता है, बूढ़े व्यक्ति की देह में विध्वंस की प्रक्रिया प्रबल होती है, अतः उसका ह्रास तथा एक दिन मृत्यु हो जाती है। विरोधी तत्वों का यह संघर्ष निरन्तर चल रहा है, यह विकास एवं गतिशीलता का मूल कारण है।

(ग) मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों के रूपान्तर का नियम (The law of transformation of quantitative into qualitative changes)—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विकास का तीसरा नियम यह है कि मात्रा में बड़ा अन्तर होने से गुण में भी अन्तर पड़ जाता है। यह नियम प्रकृति में होने वाले आकस्मिक परिवर्तनों की व्याख्या करता है। वैसे तो सभी वस्तुओं में मात्रा के थोड़े-बहुत परिवर्तन सदैव होते

रहते हैं, इनसे उनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, किन्तु एक विशेष मात्रा में परिवर्तन होने पर उनके गुणों में अन्तर आ जाता है। एक विशेष मात्रा तक पहुँचने पर यह परिवर्तन मानो सहसा छलाँग लगा के होता है।

उदाहरणार्थ, यदि हम पानी को गरम करें तो यह अनन्त मात्रा तक अधिकाधिक गरम नहीं होगा, किन्तु एक निश्चित बिन्दु अर्थात् १००° सेण्टीग्रेड पर एकदम वाष्प बनकर उड़ने लगेगा, यह एक गुणात्मक परिवर्तन (Qualitative change) है, इसमें तरल जल ने वाष्प के रूप में गैस का बिलकुल नया रूप और गुण (quality) धारण कर लिया है और अपना पिछला रूप छोड़ दिया है। इसी प्रकार यदि पानी को निरन्तर ठंडा करते जाएँ तो यह अनन्त मात्रा तक ठण्डा नहीं होता जाएगा, अपितु शून्य सेण्टीग्रेड (०°) पर पहुँचकर जमकर बर्फ बन जाएगा, यह तरल जल का एक दूसरे ठोस रूप में गुणात्मक परिवर्तन (Qualitative change) है। किसी सामाजिक क्षेत्र में इस प्रकार से सहसा होने वाले परिवर्तनों को हम 'क्रान्ति' कहते हैं। कुछ समय तक शनैः-शनैः परिवर्तन होने के बाद औद्योगिक क्रान्ति, फ्रेंच राज्यक्रान्ति, रूसी राज्यक्रान्ति जैसे परिवर्तन समाज में सहसा होते हैं। उदाहरणार्थ, औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) या पूँजीवाद (Capitalism) का परिवर्तन होने से पहले उपनिवेशों की लूटपाट से कुछ थोड़े व्यक्तियों के हाथ में पूँजी एकत्र होने लगती है, दूसरी ओर किसानों से जमीनें छिन जाने के कारण भू-सम्पत्तिहीन सर्वहारावर्ग (Proletariat) की संख्या बढ़ने लगती है। ये दोनों परिवर्तन शनैः-शनैः होते हैं, किन्तु शीघ्र ही एक ऐसा बिन्दु आ जाता है, जब उद्योग-धन्धों तथा कारखानों के बनाने के लिए काफी पूँजी तथा कारखानों में काम करने के लिए पर्याप्त व्यक्ति उपलब्ध हो जाते हैं। इसी समय समाज में गुणात्मक परिवर्तन होता है, औद्योगिक क्रान्ति होकर पूँजीवाद की स्थापना होती है।

मार्क्सवादी इस नियम के आधार पर कहते हैं कि विशेष दशाओं में जड़ जगत् में जिस प्रकार गुणात्मक परिवर्तन दिखाई देते हैं, उसी प्रकार के परिवर्तनों से जड़ प्रकृति से चेतना, मन और आत्मा उत्पन्न हुए हैं। मार्क्स के मतानुसार मानव-समाज के सभी क्षेत्रों में उपर्युक्त नियमों के अनुसार द्वन्द्वात्मक पद्धति से ही सब प्रकार का विकास होता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना

मार्क्स के इस सिद्धान्त के दोनों तत्वों की उग्र आलोचना हुई है। भौतिकवाद की **पहली आलोचना यह है कि यह आत्मतत्व की घोर उपेक्षा करता है।** मार्क्स चार्वाकों की भाँति प्रत्यक्षवादी है, वह इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले ज्ञान को ही प्रामाणिक मानता है। किन्तु इन्द्रियों से न दिखाई देने पर भी हमें अपनी आत्मा की अनुभूति इतनी प्रबलता से होती है कि इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। व्यक्ति में आत्मा की सत्ता उसके वैयक्तिक अनुभव के आधार पर स्वतःसिद्ध है। अतः मार्क्स का भौतिकवाद तथा आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करना पूर्ण रूप से सत्य नहीं।

दूसरी आलोचना चेतन तत्व के जड़ जगत् के पदार्थों के संयोग से बनने और

संचालित होने की है। यह सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है। संसार में सर्वत्र चेतन व्यक्ति द्वारा जड़ शक्ति के संचालन के उदाहरण देखे जाते हैं। वस्तुतः जड़ पदार्थ में कोई गति स्वयमेव नहीं उत्पन्न हो सकती है। मार्क्स का जड़ जगत् को स्वयमेव गतिशील और विकासशील मानना समुचित नहीं प्रतीत होता है। ऐसा विकास और गति केवल चेतन पदार्थों में ही सम्भव है।

द्वन्द्वात्मक पद्धति की आलोचना

(१) **इसकी पहली आलोचना यह है कि मार्क्स का यह कथन ठीक नहीं है कि सृष्टि में सम्पूर्ण विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति से ही होता है।** गेहूँ के बीज का अनुकूल परिस्थितियों में स्वयमेव स्वाभाविक विकास होता है, इसमें किसी व्यक्ति को उस समय तक कोई वाद, प्रतिवाद या संवाद नहीं दिखाई देता है, जब तक कि वह मार्क्स के सिद्धान्तों को पढ़कर उनमें अगाध श्रद्धा या विश्वास न रखे। पौधों में किसी निष्पक्ष वैज्ञानिक को वाद-प्रतिवाद का कोई संघर्ष नहीं दिखाई देता है, यह मार्क्स की कपोल कल्पना मात्र है।

(२) **दूसरी आलोचना यह है कि संसार में विरोध और संघर्ष अवश्य मिलता है, किन्तु यह सामान्य रूप से होता है, द्वन्द्वात्मक पद्धति से नहीं।** द्वन्द्वात्मक पद्धति की दो विशेषताएँ ये हैं—विरोधी तत्वों का स्वयमेव संघर्ष करते हुए नए वाद-प्रतिवाद-संवाद उत्पन्न करना तथा इन तीन कड़ियों की शृंखला में ऊपर की दिशा में आगे बढ़ते जाना। प्रकृति के जिन क्षेत्रों में हमें परस्पर-विरोधी शक्तियों के संघर्ष और सन्तुलन के उदाहरण मिलते हैं, वहाँ द्वन्द्वात्मक पद्धति की उपर्युक्त विशेषताएँ नहीं दिखाई देती हैं। उदाहरणार्थ, एक पुल में या सौरमण्डल में विरोधी शक्तियों से काम हो रहा है, परन्तु वहाँ द्वन्द्वात्मक पद्धति की उपर्युक्त विशेषताएँ दृष्टिगोचर नहीं होती हैं।

(३) **तीसरी आलोचना यह है कि द्वन्द्वात्मक पद्धति को पुष्ट करने के केवल दृष्टान्त दिए गए हैं, प्रमाण नहीं।** इन दृष्टान्तों में भी बड़ी खींचतान और मनमानापन है। इन्हें मान लिए जाने पर भी यह कल्पना करना ठीक नहीं है कि भौतिक जगत् में जो नियम काम करते हैं वही नियम उसी रूप में मानव-समाज में भी लागू हो सकते हैं। वस्तुतः प्राणिशास्त्र और जीवशास्त्र के नियम इतिहास के तथा अर्थशास्त्र के नियमों से भिन्न प्रकार के होते हैं।

इतिहास की भौतिकवादी या आर्थिक व्याख्या
(Economic or Materialistic Interpretation of History)

मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त का उपयोग करते हुए मानव-इतिहास में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों और घटनाओं के बारे में यह बतलाया है कि ये सभी परिवर्तन भौतिक अथवा आर्थिक कारणों से होते हैं, अतः उसका यह सिद्धान्त **'इतिहास की आर्थिक या भौतिकवादी व्याख्या'** कहलाता है।

यह बड़े आश्चर्य और दुर्भाग्य की बात है कि मार्क्स ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध और विशद् रूप से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। एंगल्ज़ तथा परवर्ती लेखकों ने उसके विभिन्न ग्रन्थों में बिखरे हुए कुछ उद्धरणों की व्याख्या की है, इनके आधार पर इस सिद्धान्त का संक्षिप्त स्वरूप निम्नलिखित है।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का स्वरूप

इस सिद्धान्त का मौलिक तत्व यह है कि मनुष्य के जीवन के लिए भोजन पहली आवश्यकता है, उसका जीवित रहना इस बात पर निर्भर है कि वह प्रकृति के साधनों से अपने लिए कितनी भोजन-सामग्री प्राप्त कर सकता है, अतः मनुष्य के सब कार्यों में भोजन-सामग्री या आहार का उत्पादन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। मनुष्य दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर बने हुए समाज के माध्यम से अधिक उत्पादन कर सकता है, अतः जीवन के लिए आवश्यक पदार्थों के उत्पादन की दृष्टि से समाज की रचना होती है। परन्तु समाज वस्तुओं के उत्पादन से अपने सभी सदस्यों को सन्तुष्ट नहीं कर सकता है। सभी समाजों में निर्धन व्यक्तियों को असन्तोष बना रहता है, इससे समाज में अशान्ति बनी रहती है। **समाज में अनादि काल से दो वर्ग चले आ रहे हैं : एक तो उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाला, समाज के निर्धन व्यक्तियों से लाभ उठाने वाला तथा उनका शोषण करने वाला शोषक वर्ग है और दूसरा इन साधनों से वंचित तथा शोषित (exploit) होने वाला वर्ग।** शोषक वर्ग राज्य की व्यवस्था का, कानूनों का तथा सामाजिक संस्थाओं का निर्माण उत्पादन पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने की दृष्टि से करता है। **अतः आर्थिक परिस्थितियाँ ही मनुष्य के आचार-विचार का, धर्म का, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं का, कला एवं सभ्यता का निर्माण करती हैं और उनका स्वरूप निश्चित करती हैं।**[1]

मानव-इतिहास के पाँच युग—मार्क्स के अनुयायियों ने मानव-इतिहास के विकास पर आर्थिक कारणों का प्रभाव स्पष्ट करने के लिए इसे पाँच युगों में बाँटा है। इनमें से पहले तीन युग बीत चुके हैं, चौथा युग चल रहा है और पाँचवाँ युग अभी आना है। इन पाँच युगों का सामान्य परिचय निम्नलिखित है—

(क) **आदिम साम्यवादी युग**—यह समाज की प्राचीनतम दशा है। इस युग में मनुष्य अपना आहार प्रधान रूप से संचय, पशुओं और मछलियों आदि के शिकार से करता है। इसके लिए पहले पत्थर के तथा बाद में ताँबे, काँसे, लोहे के बने हथियारों तथा तीर-कमान का उपयोग होता था। यही उत्पादन के साधन थे। उस समय उत्पादन के साधनों पर किसी व्यक्ति का अधिकार नहीं था, अतः समाज शोषक और शोषित के

1. "All the social, political and intellectual relations, all religious and legal systems, all the theoretical outlooks which emerge in the course of history are derived from the material conditions of life."

—Marx, quoted by Wayper, *Ibid*., p. 204.

दो वर्गों में नहीं बँटा हुआ था। उस समय समाज में सर्वत्र समानता और साम्यवाद का साम्राज्य था, किसी प्रकार की विषमता नहीं थी। इसे **'आदिम साम्यवाद'** (Primitive Communism) का युग कहते हैं।

(ख) दास-पद्धति का युग—इसमें मनुष्य ने पशुपालन और खेती का आविष्कार किया। इस उत्पादन-प्रणाली में यह लाभ था कि एक मनुष्य भूमि पर परिश्रमपूर्वक खेती करके कई मनुष्यों द्वारा खाने योग्य भोजन-सामग्री उत्पन्न कर सकता था। इस प्रकार इस युग में यह सम्भव हो गया कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर आधिपत्य स्थापित करके उसके परिश्रम से लाभ उठाकर स्वयं बिना काम करते हुए मौज से जीवन बिता सके। अतः इस युग में स्वाभाविक रूप से समाज में दो वर्ग उत्पन्न हो गए—पहला वर्ग दास रखने वाले स्वामियों तथा ज़मींदारों का था और दूसरा वर्ग दासों का। इस युग में सर्वप्रथम दास-प्रथा (Slavery) का आविर्भाव हुआ, अतः इसे **दास-पद्धति** (Slave Sytsem) **का युग** कहते हैं। इसमें दासों के स्वामी दासों से बड़ी नृशंसता, कठोरता और क्रूरता से अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए काम लेते थे, अतः उनमें प्रतिरोध और विद्रोह की भावना उत्पन्न हुई। इसे कुचलने के लिए अत्याचार के एक नए साधन 'राज्य' का आविष्कार किया गया। दास-पद्धति का सर्वोत्तम रूप हमें प्राचीन यूनान के एथेन्स, स्पार्टा आदि के राज्यों में दिखाई देता है।

(ग) सामन्तवादी पद्धति (Feudal System) **का युग**—इसमें उत्पादन के साधनों पर सामन्तों का शासन होता है। राजा आवश्यकता पड़ने पर सैनिकों को देने की एवं सैनिक सेवा प्रदान करने की कुछ शर्तों के साथ राज्य की भूमि को अपने प्रमुख साथियों या सरदारों में बाँट दिया करता था। ये सरदार सामन्त (Feudal Lords) कहलाते थे। उत्पादन के प्रधान साधन—भूमि पर इनका अधिकार था। खेती करने वाले किसान इनके वशवर्ती थे, यद्यपि ये दासों की भाँति पूर्णरूप से उनकी सम्पत्ति नहीं थे। अतः इन्हें अर्द्धदास या भूदास (Serf) कहा जाता था। इन्हें सामन्तों से अपने निर्वाह के लिए जमीन मिलती थी, किन्तु इसके बदले में इन्हें अपने जमींदारों की जमीन की जुताई-बुवाई आदि बेगार के रूप में करनी पड़ती थी और युद्ध के समय उनकी सेना में सिपाहियों के रूप में भरती होना पड़ता था।

इस युग में उत्पादन के छोटे-मोटे साधनों पर कारीगरों का स्वामित्व होता था, अतः इनको उन्नत करके इनसे उत्पादन बढ़ाने में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। इस कारण इस समय उद्योग-धन्धों के उत्पादन में तथा व्यापार की वृद्धि में अभूतपूर्व विकास हुआ। नगरों तथा नगरों में रहने वाले व्यापारियों का, वकालत, डाक्टरी आदि विभिन्न पेशे करने वाले नगरवासी मध्यमवर्ग का विकास होने लगा। उस समय समाज में उच्च, मध्यम एवं भूदासों और मजदूरों के तीन ही वर्ग रह गए। इतिहास में यह स्थिति १३वीं, १४वीं शताब्दी ई० तक रही। इस युग में समूची शासन-पद्धति भूमि जैसे उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाले एवं शोषण करने वाले सामन्तवर्ग के हाथ में थी। किन्तु मध्ययुग की समाप्ति पर सामन्तयुग की उत्पादन-शक्तियों में तथा उत्पादन-सम्बन्धों में परिवर्तन आने लगे। सामन्त-पद्धति से असन्तुष्ट सभी वर्ग—भूदास, शहरों में घोर दरिद्रता में रहने वाला निम्नवर्ग सामन्त-प्रथा के विरुद्ध विद्रोह करने में

नगरवासी (बूर्जुआ) का सहयोग करने लगे। सामन्त-पद्धति के ध्वंसावशेषों पर पूँजीपति-पद्धति का आविर्भाव होता है।

(घ) **पूँजीपति-पद्धति का युग—इस युग में उत्पादन के प्रधान साधन—कल-कारखानों पर पूँजीपति का स्वामित्व होता है।** ये उत्पादन के साधनों से सर्वथा वंचित मजदूरों का अधिकतम शोषण करते हैं। इस युग में वाष्प, बिजली आदि की शक्तियों का उपयोग करने से उत्पादन की मात्रा में अधिकतम वृद्धि होती है। अब समाज में वर्ग-संघर्ष उग्र होने लगता है, सामन्त-पद्धति के तीन वर्गों के स्थान पर केवल दो ही वर्ग—छोटा-सा पूँजीपति वर्ग और उत्तरोत्तर संख्या में बढ़ने वाला श्रमजीवी वर्ग—ही रह जाते हैं। पूँजीपति वर्ग संख्या में अत्यल्प होता हुआ भी, उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व और नियन्त्रण रखने के कारण मजदूर वर्ग का भीषण शोषण करता है, मजदूर जीविका का कोई अन्य साधन न होने के कारण भुखमरी से बचने के लिए पूँजीपतियों के शोषण का शिकार बनते हैं। किन्तु इससे उनके हृदय में इस पद्धति के प्रतिरोध और असन्तोष की भीषण ज्वाला उद्बुद्ध होती है। इसे दबाने के लिए पूँजीपति राजनीतिक संस्थाओं को अपने हाथ में लेते हैं।

सामन्तयुगीन राजतन्त्र (Feudal Monarchy) के स्थान पर संसदीय लोकतन्त्र (Parliamentary Democracy) की स्थापना की जाती है, किन्तु इस लोकतन्त्रीय शासन में भी वास्तविक शासन-सत्ता पूँजीपतियों के हाथ में रहती है; शनैः-शनैः पूँजीवाद अपने भीषण दुष्परिणामों के रूप में आन्तरिक विरोधों को उत्पन्न करता है। इनके निवारण का एकमात्र उपाय एक क्रान्ति द्वारा उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों के स्वामित्व को हटाकर इन पर समाज का स्वामित्व स्थापित करना है। मजदूर वर्ग या सर्वहारा वर्ग इस क्रान्ति के बाद अपना अधिनायकतन्त्र स्थापित करता है। इसे **सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व** (Dictatorship of Proletariat) कहते हैं। इसका उद्देश्य पूँजीवाद का समूलोन्मूलन तथा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना है।

(ङ) **साम्यवाद का युग**—अन्तिम युग साम्यवाद (Communism) का है। इसमें उत्पादन के सभी प्रकार के साधनों पर समाज का स्वामित्व होगा, वितरण लोगों के परिश्रम या योग्यता के अनुसार न होकर, लोगों की आवश्यकता के अनुसार होगा। समाज में पूर्ण समानता और साम्य का साम्राज्य होगा। पूँजीपति वर्ग बिलकुल लुप्त हो जाएगा, समाज में केवल श्रमजीवियों का वर्ग बच जाएगा। विरोधी वर्ग न रहने से वर्ग-संघर्ष समाप्त हो जाएगा। यह अन्तिम दशा अभी तक किसी देश में नहीं आई है, रूस वाले अपनी व्यवस्था को समाजवादी (Socialistic) कहते हैं, उनका अन्तिम ध्येय साम्यवादी (Communistic) व्यवस्था स्थापित करना है।

इतिहास की उपर्युक्त आर्थिक व्याख्या का प्रतिपादन मार्क्स से पूर्व रावर्ट ओवन, हैरिंगटन और स्पेन्सर कर चुके थे। मार्क्स को इस बात का श्रेय है कि उसके इस सिद्धान्त ने आजकल के ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों पर गहरा प्रभाव डाला है, अब अन्य सभी सिद्धान्तों की अपेक्षा इसे अधिक सत्य माना जाता है।

आर्थिक व्याख्या के सिद्धान्त की आलोचना—इतिहास की आर्थिक व्याख्या के सिद्धान्त में कई दोष बताए जाते हैं, इनमें से प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(१) इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह आर्थिक उत्पादन-प्रणाली के तत्व पर अधिक बल देने के कारण एकांगी सिद्धान्त है और इतिहास पर प्रभाव डालने वाले अन्य तत्वों की घोर उपेक्षा करता है। इतिहास की घटनाएँ किसी एक आर्थिक तत्व से निश्चित और निर्धारित न होकर अनेक प्रकार के तत्वों—वैयक्तिक महत्वाकांक्षा, लोभ, शक्ति पाने की आकांक्षा, धर्म, विशिष्ट विचारधारा आदि से प्रेरित होती हैं। इनमें से कभी एक तत्व प्रधान होता है और कभी दूसरा तत्व। यह आवश्यक नहीं है कि सदैव आर्थिक तत्व ही प्रधान हों। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। सिकन्दर ने पश्चिमी एशिया, मिस्र, ईरान और भारत पर हमला किया, इसमें उसका कोई आर्थिक उद्देश्य—पूर्वी देशों के व्यापार पर एकाधिपत्य स्थापित करने की लालसा नहीं था, अपितु विश्व-विजयी बनने की वैयक्तिक महत्वाकांक्षा थी। प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्धों का कारण केवल आर्थिक स्वार्थ ही नहीं, अपितु लोकतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र की विरोधी विचारधाराओं का एवं राष्ट्रीयता का संघर्ष था। इस समय विश्व दो विरोधी गुटों में बँटा हुआ है, एक ओर सं० रा० अमेरिका तथा उसके समर्थक देश हैं; दूसरी ओर रूस, चीन तथा इसके पृष्ठपोषक देश हैं। इन दोनों का संघर्ष किन्हीं आर्थिक कारणों से प्रेरित होकर नहीं हो रहा है, अपितु इनकी परस्पर-विरोधी पूँजीवाद और साम्यवाद की विचारधाराओं के संघर्ष का परिणाम है।

इतिहास में अनेक घटनाएँ प्रधान रूप से धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर हुई हैं। उदाहरणार्थ, भारत में महात्मा बुद्ध ने प्राणिमात्र की मंगल की कामना से बौद्ध धर्म का प्रवर्त्तन किया। धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन करते हुए बुद्ध का कोई आर्थिक उद्देश्य या स्वार्थ नहीं था।

(२) इस सिद्धान्त का दूसरा दोष यह है कि यह इतिहास में संयोगवश होने वाली घटनाओं के प्रभाव की उपेक्षा करता है। यह संयोग ही था कि न्यूटन ने अकस्मात् पेड़ से सेब गिरते देखा और इसके आधार पर गुरुत्वाकर्षण के महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। पास्कल (१६२३—६२) यह कहा करता था कि क्लियोपैट्रा (Cleopatra) की नाक थोड़ी छोटी होती अर्थात् वह अनिन्द्य सुन्दरी न होती, तो रोम का इतिहास दूसरे ढंग से लिखा जाता। १७६९ में नेपोलियन के जन्म से केवल एक वर्ष पहले कोर्सिका के टापू को जिनोआ ने फ्रांस को दिया था। यदि यह न दिया जाता तो नेपोलियन फ्रांस का प्रजाजन न बनता और उसे फ्रांस के तथा योरोप के अधीश्वर बनने का अवसर न मिलता। संयोग से महान् ऐतिहासिक परिवर्तनों के होने के अन्य बीसियों उदाहरण दिए जा सकते हैं।

(३) तीसरा दोष यह मान लेना है कि आर्थिक कारण ही राजनीतिक शक्ति तथा सत्ता का मूल है। प्रायः ऐसा होता है, किन्तु सर्वत्र और सर्वथा आर्थिक कारण सत्ता और शक्ति के मूल में नहीं होते हैं। प्राचीन भारत में धन रखने वाले वैश्यों को ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बाद स्थान दिया गया था। नेपोलियन ने फ्रांस की राजनीतिक सत्ता अपनी सैनिक शक्ति और प्रतिभा के कारण प्राप्त की थी, किसी आर्थिक कारण से नहीं।

(४) **चौथा दोष यह है कि यदि आर्थिक उत्पादन की प्रणाली सामाजिक और ऐतिहासिक परिवर्तनों का मूल कारण है** तो उसे विभिन्न देशों में एक प्रकार की उत्पादन-प्रणाली में एक ही प्रकार के परिवर्तन उत्पन्न करने चाहिएँ, क्योंकि समान कारण समान कार्यों को पैदा करते हैं। उदाहरणार्थ, पूँजीवादी व्यवस्था यदि अपने आन्तरिक विरोधों के कारण साम्यवादी क्रान्ति व समाजवादी पद्धति को उत्पन्न करती है और उसने रूस एवं चीन में ऐसे परिवर्तन उत्पन्न किए हैं, तो पूँजीवाद के गढ़—ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका में उसने ऐसे परिणाम उत्पन्न क्यों नहीं किए? पिछले दोनों देशों में साम्यवाद के प्रबल होने की कोई सम्भावना नहीं प्रतीत होती है। इसका यह अर्थ है कि साम्यवादी क्रान्ति का मूल या अन्तिम कारण केवल आर्थिक परिस्थितियाँ ही नहीं, किन्तु कुछ अन्य तत्व भी हैं।

(५) **पाँचवाँ दोष यह है कि यह सिद्धान्त ऐतिहासिक परिवर्तनों की व्याख्या पूरी तरह से नहीं करता है।** यदि यह माना जाए कि आर्थिक कारण सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि ये आर्थिक कारण किन कारणों से उत्पन्न होते हैं। इसका उत्तर दिए विना इतिहास की व्याख्या नहीं हो सकती है और मार्क्स इसका कोई उत्तर नहीं देता है।

(६) **छठा दोष यह है कि मार्क्स ने इस सिद्धान्त को इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन एवं गम्भीर अनुशीलन करके नहीं निकाला है,** उसने अपने सिद्धान्त को प्रमाणों से पुष्ट नहीं किया है, किन्तु इतिहास के अध्ययन से पहले ही हेगल के द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स ने इसकी कल्पना कर ली है। इसकी कल्पना करने का कारण यह था कि वह पूँजीवाद के विध्वंस के लिए कटिबद्ध था, उसके सभी सिद्धान्त इसी उद्देश्य से बनाए गए थे। उसने इसी को पुष्ट करने के लिए इतिहास की आर्थिक व्याख्या का सिद्धान्त निश्चित किया, अत: निष्पक्ष ऐतिहासिक अध्ययन पर आधारित न होने के कारण इतिहास की आर्थिक व्याख्या का सिद्धान्त कुछ अंशों में सत्य होते हुए भी भ्रान्तिपूर्ण है।

ऐतिहासिक नियतिवाद (Historical Determinism)—इतिहास की आर्थिक व्याख्या के उपर्युक्त सिद्धान्त से स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि इतिहास के सभी परिवर्तन एक निश्चित दिशा में हो रहे हैं, यह पूँजीवाद के पतन और विध्वंस की दिशा में है। विश्व में होने वाले सभी परिवर्तनों का अन्तिम उद्देश्य यही है। द्वन्द्वात्मक पद्धति से इतिहास में भविष्य की अर्थात् पूँजीवाद के पतन की दिशा को पहले से ही नियत या निश्चित कर दिया गया है; हम चाहें या न चाहें, इस दिशा में इतिहास की प्रगति का होना अनिवार्य है। इसी को ऐतिहासिक नियतिवाद कहा जाता है।

वर्ग-संघर्ष
(Class Struggle)

वर्ग-संघर्ष मार्क्स का एक प्रमुख सिद्धान्त है और समाज में होने वाले परिवर्तनों की प्रक्रिया को सूचित करता है, जबकि इतिहास की आर्थिक व्याख्या इनके मौलिक

सिद्धान्त पर प्रकाश डालती है। इससे हमें यह ज्ञात होता है कि इतिहास में द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार संघर्ष द्वारा एक ऐतिहासिक अवस्था से दूसरी दशा—सामन्तवाद से पूँजीवाद तथा पूँजीवाद से समाजवाद की दशा—विभिन्न वर्गों के संघर्ष से कैसे उत्पन्न होती है। इस प्रसंग में पहले वर्ग का तथा संघर्ष का स्वरूप बताया जाएगा।

वर्ग—इसमें पहला प्रश्न है कि वर्ग किसे कहते हैं। इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर बल देने के कारण मार्क्स इसका लक्षण आर्थिक तत्वों पर बल देते हुए यह करता है कि **जिस समूह के आर्थिक हित एक-से होते हैं, उसको वर्ग कहते हैं**, जैसे जमींदारों का, मिल-मालिकों का, किसानों का तथा मजदूरों का वर्ग।

संघर्ष—संघर्ष का अर्थ केवल हथियारों से लड़ी जाने वाली लड़ाई नहीं है, किन्तु इसका व्यापक अर्थ असन्तोष, रोष और आंशिक असहयोग भी है। जब यह कहा जाता है कि वर्गों में अनादि काल से सदैव संघर्ष होता रहा है तो उसका यह अभिप्राय नहीं है कि हमेशा युद्ध की ज्वालाएँ भड़कती रहती हैं। ये केवल थोड़े ही समय के लिए भड़कती हैं। सामान्य रूप से असन्तोष और रोष की भावना धीरे-धीरे शान्तिपूर्ण रीति से सुलगती रहती है, केवल कुछ ही अवसरों पर यह भीषण ज्वाला या विस्फोट का रूप धारण करती है।

मार्क्स का यह मत है कि वर्गों के स्वरूप में भले ही अन्तर आता रहे, किन्तु समाज में एक वर्ग उत्पादन के साधनों पर—भूमि और पूँजी पर अधिकार रखता है, इसे जमींदार या पूँजीपति वर्ग (Capitalist Class) कहते हैं; दूसरा इन पर आश्रित रहने वाला तथा घोर परिश्रम करके जीने वाला मजदूर, कृषक अथवा श्रमजीवी वर्ग है। पहला वर्ग बिना कुछ परिश्रम किए हुए दूसरे वर्ग के परिश्रम से लाभ उठाना चाहता है, इसी को **शोषण** (Exploitation) कहा जाता है। इस दृष्टि से पहले को शोषक (Exploiter) वर्ग तथा दूसरे को शोषित (Exploited) वर्ग कहा जाता है। इस प्रकार वर्ग-संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। मानव-समाज का अब तक का पूरा इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।[1]

वर्ग-संघर्ष के मूल कारणों पर प्रकाश डालते हुए मार्क्स ने कहा है कि आजीविका के आधार पर समाज को दो बड़े वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—पूँजीपति वर्ग तथा श्रमजीवी वर्ग। पूँजीपति उत्पादन के साधनों—भूमि, पूँजी, कच्चा माल, कारखाने आदि पर स्वामित्व रखकर अपना जीवन-निर्वाह करता है और श्रमजीवी वर्ग अपना श्रम बेचकर। दोनों को एक-दूसरे की जरूरत है। यदि जमींदार या मिल-मालिक को मजदूर न मिलें तो उसके खेतों की जुताई-बुवाई नहीं हो सकती, उसके कारखाने नहीं चल सकते। दूसरी ओर यदि मजदूरों को खेतों और कारखानों में काम न मिले तो वे भूखे मर जाएँगे। फिर भी इन दोनों के हितों में विरोध है, इसी कारण इनमें संघर्ष होना अनिवार्य है। पूँजीपति अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाना चाहता है, इस कारण वह मजदूरों को कम-से-कम मजदूरी देना चाहता है। अतः दोनों में संघर्ष आरम्भ हो जाता है। इसमें पूँजीवाद का पतन और मजदूरों की विजय होना निश्चित है।

1. "The history of all hitherto society is the history of class struggle." —Marx and Engels in *Communist Manifesto*.

वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की आलोचना

मार्क्स के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त की निम्नलिखित गम्भीर आलोचनाएँ की गई हैं—

(१) **यह सिद्धान्त संघर्ष के तत्व पर आवश्यकता से अधिक बल देने के कारण एकांगी और दोषपूर्ण है।** 'कम्यूनिस्ट घोषणापत्र' के आरम्भ में कहा गया है कि "अब तक समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।" यदि वास्तव में मानव-समाज में ऐसा संघर्ष होता तो यह कभी का समाप्त हो गया होता। इसमें संघर्ष की अपेक्षा सहयोग, प्रेम, सहानुभूति की भावनाएँ अधिक प्रबल हैं, इन्हीं पर समाज टिका हुआ है। गीता (३।१०—१६) में कहा गया है कि इस विश्व का संचालन एक महान् यज्ञ के रूप में हो रहा है, इसमें सब एक-दूसरे को सहयोग देते हुए तथा एक-दूसरे के लिए स्वार्थ-त्याग करते हुए अपना कार्य कर रहे हैं। इसी से सृष्टि की वृद्धि और उन्नति हो रही है। समाज के विभिन्न वर्ग—कृषक, कारीगर, व्यापारी एक-दूसरे से सहयोग न करें तो सामाजिक जीवन विश्रृंखल और छिन्न-भिन्न हो जाए। समाज के अन्य वर्गों की भाँति यदि मजदूर और पूँजीपति में सहयोग न हो तो उत्पादन-कार्य सम्भव नहीं हो सकता है। मजदूर पूँजीपति के बिना भूखों मरता है, पूँजीपति मजदूरों के सहयोग के बिना अपना कारखाना चलाने में असमर्थ है। यदि संघर्ष ही मानव-जीवन का एकमात्र सत्य हो, मालिक और मजदूर में सहयोग न हो तो वस्तुओं का उत्पादन नहीं हो सकता है तथा मानव-समाज का कार्य चलना असम्भव हो जाए। मार्क्स ने सहयोग की उपेक्षा करते हुए संघर्ष के तत्व पर अधिक बल देकर एक बड़ी भूल की है। मानव-समाज में सहयोग की भावना संघर्ष से अधिक महत्वपूर्ण है।

(२) **मार्क्स की 'वर्ग की परिभाषा' बड़ी अस्पष्ट और दोषपूर्ण है।** मार्क्स ने अपनी सभी रचनाओं में समाज के दो प्रधान वर्गों—पूँजीपति तथा सर्वहारा (Proletariat) का कोई स्पष्ट और सुनिश्चित लक्षण नहीं किया है।

(३) **दो वर्गों के स्थान पर कई वर्गों का होना**—इस सिद्धान्त में एक बड़ी व्यावहारिक कठिनाई यह है कि समाज में एक बड़ी संख्या मध्यमवर्ग के लोगों—अध्यापकों, वकीलों, कारखाने के प्रबन्धकों, इंजीनियरों, उच्च सरकारी सेवा करने वाले कर्मचारियों की है। इस वर्ग की सत्ता मार्क्स के दो वर्गों में होने वाले संघर्ष के सिद्धान्त का प्रबल खण्डन करती है। समाज में दो वर्ग नहीं, अपितु कई वर्ग हैं।

(४) **मार्क्स ने कहा है कि मानव-इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है तथा यथार्थ स्थिति को नहीं प्रकट करता है।** इतिहास की अनेक घटनाएँ लड़ाइयों के वर्णनों से परिपूर्ण हैं, किन्तु इन लड़ाइयों को मार्क्स की व्याख्या के अनुसार वर्ग-संघर्ष नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ये दो वर्गों—पूँजीपति तथा सर्वहारा में नहीं हुए और न ही इन संघर्षों का कोई आर्थिक उद्देश्य था। प्रायः ये युद्ध एक ही वर्ग अथवा सामाजिक स्थिति रखने वाले व्यक्तियों में निजी स्वार्थों तथा वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं के संघर्ष के कारण हुए। केवल कुछ इने-गिने ही विद्रोह वर्ग-संघर्ष के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अतः इनके आधार पर समूचे मानव-इतिहास को

वर्ग-संघर्ष का इतिहास बताना एक अतिशयोक्ति और मिथ्या कल्पना है।

(५) **समाज में धनी और निर्धन का अन्तर**—ऐसा सम्भवतः मानव-समाज के आरम्भ से ही चला आ रहा है, किन्तु इस आधार पर इनके शाश्वत संघर्ष की मार्क्सवादी कल्पना न केवल सर्वथा अनैतिहासिक है, प्राचीन और मध्ययुग के इतिहास में ही नहीं मिलती है, अपितु पूँजीवाद के वर्तमान युग में भी नहीं मिलती है। पिछले दो महायुद्धों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मार्क्स की वर्ग-चेतना की अपेक्षा राष्ट्रीयता की भावना अधिक प्रबल है, क्योंकि इन युद्धों में एक देश के अमीर और गरीब वर्ग ने, पूँजीपति और मजदूर ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल एक-दूसरे को प्रबल सहयोग देते हुए शत्रु के साथ संघर्ष किया है। यह उसके वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के सत्य न होने का प्रबल प्रमाण है।

(६) **मार्क्स की एक बड़ी भूल यह है कि वह सामाजिक श्रेणियों को आर्थिक आधार पर संगठित वर्ग मानकर इनमें संघर्ष की कल्पना करता है।** इसमें कोई सन्देह नहीं है कि समाज में सनातन काल से श्रेणी-भेद चला आया है, यह भी सत्य है कि इनमें संघर्ष चलता रहा है। किन्तु यह संघर्ष आर्थिक कारणों से नहीं हुआ, अपितु राजनीतिक सत्ता पाने के लिए होता रहा है। मार्क्स ने इस संघर्ष के स्वरूप को ठीक-ठीक न समझते हुए इसे शोषक और शोषित का संघर्ष कहा है। मार्क्स का यह संघर्ष तभी हो सकता है, जब दोनों वर्गों का स्वरूप स्पष्ट हो, उनमें परस्पर एकता और सुदृढ़ संगठन हो तथा एक-दूसरे के प्रति प्रबल शत्रुता की भावना हो; किन्तु इतिहास में ऐसी स्थिति दिखलाई नहीं पड़ती है, अपितु एक ही वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में संघर्ष दिखलाई देते हैं।

(७) **साम्यवाद की विजय निश्चित न होना**—मार्क्स वर्ग-संघर्ष में मजदूरों की विजय को अटल सत्य मानता है। परन्तु यह विश्वास ऐतिहासिक सत्य को प्रकट नहीं करता है। उसका सिद्धान्त वैज्ञानिक तत्वों पर नहीं, किन्तु आशाओं और इच्छा पर आधारित है। यदि हम इस बात को सत्य मान लें कि पूँजीवाद का पतन अनिवार्य है, तो भी इससे यह परिणाम नहीं निकलता है कि साम्यवाद की विजय अवश्य होगी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इटली में लोकतन्त्रीय शासन के विफल होने पर मुसोलिनी के फासिज्म का तथा जर्मनी में हिटलर की तानाशाही का विकास हुआ। ये दोनों अधिनायक साम्यवाद के कट्टर विरोधी थे। अतः इतिहास ने मार्क्स के इस कथन को मिथ्या सिद्ध किया कि वर्ग-संघर्ष के कारण साम्यवाद की सफलता और विजय सर्वथा निश्चित है।

(८) **भविष्यवाणी सत्य न होना**—इसी प्रकार वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप पूँजीवाद के विनाश के सम्बन्ध में की गई मार्क्स की भविष्यवाणी भी सत्य नहीं सिद्ध हुई है। मार्क्स का यह मत था कि पूँजीवाद का विकास होने से उसका पतन अनिवार्य है किन्तु अभी तक पूँजीवाद का चरम विकास करने वाले—इंगलैण्ड, सं० रा० अमेरिका आदि में इसका विध्वंस नहीं हुआ है।

(९) **वर्गहीन समाज की दोषपूर्ण कल्पना**—वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप मार्क्स ने अन्त में एक वर्गहीन समाज के स्थापित होने की कल्पना की है। उसका यह मत था कि पूँजीवादी समाज में पूँजीपति और मजदूर नामक दो वर्ग हैं, मजदूर जब पूँजीपति

वर्ग का विध्वंस कर देंगे तो समाज में वर्ग-भेद की समाप्ति होकर समानता का साम्राज्य होगा।

किन्तु मार्क्स की यह कल्पना कई कारणों से सत्य प्रतीत नहीं होती। **पहला कारण यह है कि मजदूर वर्ग पूँजीवाद का विरोध करने के लिए संगठित हो सकता है, किन्तु इसके विनाश के बाद उसमें यह एकता और संगठन बना रहेगा, इसकी सम्भावना बहुत कम प्रतीत होती है। दूसरा कारण इसका मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति से विरोध** है। एक ओर तो मार्क्स इस पद्धति के अनुसार विश्व में सतत संघर्ष की तथा एक वस्तु द्वारा स्वयमेव अपना विरोधी तत्व उत्पन्न करने की बात मानता है और दूसरी ओर यह मानता है कि वर्गहीन समाज की दशा में सम्पूर्ण संघर्ष समाप्त हो जाएगा। यह उसके द्वन्द्वात्मक विकास के मौलिक मन्तव्य के सर्वथा प्रतिकूल है। **तीसरा कारण** रूस जैसे साम्यवादी देशों का उदाहरण है। रूस में पूँजीवादी पद्धति का विध्वंस हो चुका है, किन्तु वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हुई है।

पूँजीवाद का स्वरूप

मार्क्स के मतानुसार पूँजीवाद का विध्वंस अवश्यम्भावी है, क्योंकि यह स्वयमेव ऐसे आन्तरिक विरोध तथा ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है, जो इसके विनाश का कारण बनती हैं। इन परिस्थितियों को समझने के लिए पूँजीवाद की विशेषताओं को जान लेना उचित है। इसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **मुनाफे की भावना**—इसकी पहली विशेषता मुनाफे की दृष्टि से उत्पादन है।

(२) **मन्दी पैदा करना**—दूसरी विशेषता अधिक उत्पादन से मन्दी आदि के भीषण आर्थिक संकट उत्पन्न करना है।

(३) **साम्राज्यवाद को जन्म देना**—तीसरी विशेषता साम्राज्यवाद का विकास है। स्वदेश में अपने माल या पूँजी की पूरी खपत न होने पर पूँजीवादी देश पिछड़े देशों में अपना माल खपाने के लिए तथा आवश्यक कच्चा माल प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, इससे साम्राज्यवाद की उत्पत्ति होती है। विभिन्न देशों में साम्राज्य बनाने के लिए होड़ शुरू हो जाती है, इससे विश्व-युद्ध आरम्भ होते हैं। किन्तु इन युद्धों के परिणामस्वरूप एक ओर तो पूँजीपति वर्ग क्षीण हो जाता है और दूसरी ओर जनता को महँगाई आदि के भीषण कष्ट भोगने पड़ते हैं। अतः श्रमजीवी वर्ग क्रान्ति करके पूँजीवाद को उखाड़ फेंकता है।

(४) **गरीबी-अमीरी का बढ़ना**—चौथी विशेषता मार्क्स की यह कल्पना है कि इसका अधिक विकास होने पर पूँजीपति अधिक धनी और निर्धन अधिक गरीब होते चले जाएँगे, पूँजीपतियों की संख्या उत्तरोत्तर घटती जाएगी तथा मजदूरों की संख्या बढ़ती चली जाएगी। भविष्य में समाज में केवल दो ही वर्ग रह जाएँगे—पूँजीपतियों का वर्ग तथा निर्धन जनता का अथवा सर्वहारा वर्ग (Proletariat)।

(५) **पाँचवीं विशेषता इसकी अन्तर्राष्ट्रीयता** (Internationalism) है। नई मशीनों के आविष्कार से उत्पादन की मात्रा बहुत बढ़ जाने पर इसकी खपत के लिए

मण्डियाँ खोजी जाती हैं, यातायात एवं संचार-साधनों की विलक्षण वैज्ञानिक उन्नति से दूसरे देशों के साथ व्यापार करना सुगम हो जाता है, उन्नतिशील पूँजीवादी देशों के पूँजीपति दूसरे देशों में भी अपनी पूँजी लगाते हैं, इस प्रकार पूँजीवाद विश्वव्यापी और अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप धारण करता है। श्रमिक सभी देशों में समान रूप से पूँजीवाद के शोषण और अत्याचारों से पीड़ित हो रहा है। चूँकि पूँजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर चुका है, अतः इसके विध्वंस के लिए सब मजदूरों को मिलकर अपनी राष्ट्रीयता के संकीर्ण बन्धनों से ऊपर उठते हुए विशाल अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन करके समूचे विश्व में पूँजीवाद का विध्वंस और समाजवाद की स्थापना करनी चाहिए।

मार्क्सवादी पूँजीवाद के सिद्धान्त की आलोचना—इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(१) **मध्यमवर्ग का लुप्त न होना**—मार्क्स की समाज को दो हिस्सों में बाँटने या द्विधा विभाजन (Polarization of Society) की अर्थात् पूँजीपति एवं सर्वहारा नामक दो वर्गों में बँट जाने की एवं मध्यमवर्ग के लुप्त होने की तथा श्रमिक वर्ग की संख्या बढ़ने की कल्पना सर्वथा मिथ्या सिद्ध हुई है। यहाँ इस समय सबसे बड़ा पूँजीपति देश माने जाने वाले सं० रा० अमेरिका के उदाहरणों से यह बताया जाएगा कि मार्क्स का सिद्धान्त और भविष्यवाणियाँ किस प्रकार गलत सिद्ध हो रही हैं।

(क) **सर्वहारा वर्ग की संख्या का घटना**—मार्क्स का यह कहना था कि सर्वहारा वर्ग की संख्या निरन्तर बढ़ती जाएगी। बीसवीं शताब्दी के पहले पचास वर्षों में सं० रा० अमेरिका की श्रमशक्ति में होने वाले परिवर्तनों से यह ज्ञात होता है कि मार्क्स के सर्वहारा वर्ग में आने वाले खेतिहर मजदूरों तथा अदक्ष औद्योगिक मजदूरों की संख्या १९१० में २९·२ प्रतिशत थी। किन्तु १९५० में यह घटकर १२·४ प्रतिशत ही रह गई। मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार इसे बढ़ना चाहिए था।

(ख) **मध्यमवर्ग की संख्या बढ़ना**—मार्क्स का यह कहना था कि मध्यमवर्ग लुप्त हो जाएगा और यह सर्वहारा वर्ग में मिल जाएगा। किन्तु यह भविष्यवाणी भी गलत सिद्ध हुई है, क्योंकि इसकी संख्या निरन्तर बढ़ रही है। उदाहरणार्थ, ऊपर के कथन से स्पष्ट है कि १९१० में सं० रा० अमेरिका में मध्यमवर्ग में आने वाले—क्लर्कों, बिक्री करने वाले व्यक्तियों की संख्या १०·२ प्रतिशत थी, १९५० में यह दुगुनी अर्थात् २०·२ प्रतिशत हो गई। इसी प्रकार इसी काल में अर्द्धदक्ष तथा दक्ष मजदूरों को संख्या २९·४ प्रतिशत से बढ़कर ३६·४ प्रतिशत हो गई। ये यद्यपि मजदूर कहलाते हैं, किन्तु अधिक सम्पन्न होने के कारण ये अपने को अदक्ष मजदूरों से ऊँचा तथा मध्यमवर्ग का समझते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मध्यमवर्ग की संख्या निरन्तर बढ़ रही है।

(२) **मार्क्स का 'वर्धमान दरिद्रता का सिद्धान्त'** (Theory of Increasing Poverty) **भी गलत सिद्ध हुआ है।** मजदूरों की दशा में निरन्तर सुधार हो रहा है, उनकी दरिद्रता बढ़ने के स्थान पर घट रही है, उनकी दशा पहले से अच्छी हो रही है और मजदूरी की दर में वास्तविक वृद्धि हो रही है। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड में १८७० की अपेक्षा इस समय श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी दुगुनी हो गई। सं० रा० अमेरिका में १८४० से १८५० के बीच श्रमिकों को प्रतिघण्टा के हिसाब से दी जाने वाली वास्तविक

मजदूरी में छः गुना वृद्धि हुई है। आज अमेरिका के सामान्य मजदूर के पास न केवल पर्याप्त अन्न और वस्त्र तथा उत्तम निवास-स्थान है, अपितु उसे मोटर, रेडियो, टेलीफोन, टेलीविज़न आदि की सुविधाएँ भी बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं।

(३) **पूँजी का केन्द्रित न होना**—मार्क्स की यह भविष्यवाणी भी सत्य सिद्ध नहीं हुई है कि पूँजीवाद के विकास के साथ पूँजी मुट्ठी-भर पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हो जाएगी। अब लगभग सभी कारखाने किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर कम्पनियों की सम्पत्ति होते हैं। ये कम्पनियाँ संयुक्त पूँजी (Joint Stock) वाली होती हैं। इनके हिस्से हजारों व्यक्ति खरीदते हैं। इनमें मध्यम एवं मजदूर वर्ग के व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं। अतः पूँजी और सम्पत्ति का केन्द्रीकरण मार्क्स की कल्पना के अनुसार नहीं हो रहा है।

(४) **पूँजीवाद का पतन न होना**—मार्क्स का यह मत था कि पूँजीवाद से उत्पन्न होने वाले आर्थिक संकटों से, भीषण मन्दी से तथा इसके परिणामस्वरूप मुनाफे की दर में निरन्तर कमी होने के नियम से पूँजीवादी व्यवस्था का पतन अनिवार्य है। १९२९-३० की भीषण मन्दी से प्रतीत होता था कि मार्क्स की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हो रही है, किन्तु इसी बीच में पूँजीवाद ने अपने दोषों को दूर कर लिया तथा १९५० तक मार्क्स की उपर्युक्त सभी भविष्यवाणियाँ भ्रान्त सिद्ध होने लगीं।

(५) **पूँजीवाद के संकटों की मिथ्या कल्पना**—मार्क्स ने मन्दी के कारण उत्पन्न होने वाले पूँजीवाद के संकटों (crises) का बड़े विस्तार से उल्लेख किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि १९३० में भीषण मन्दी से एक महान् संकट उत्पन्न हुआ था। किन्तु ऐसा संकट पूँजीवादी देशों में ही आता हो, सो बात नहीं है। सोवियत संघ में भी कई बार बाजार में ऐसा माल बड़ी मात्रा में जमा हो जाता है जिसकी कोई बिक्री नहीं होती है। इसके न बिकने के अनेक प्रकार के कारण हैं, जैसे फैशन में परिवर्तन आ जाना, मूल्य अधिक होना, माल की उत्कृष्टता में कमी होना। इस दृष्टि से समाजवादी और साम्यवादी व्यवस्था वाले देशों में भी वैसे ही मन्दी के संकट उत्पन्न होते हैं, जैसे पूँजीवादी देशों में होते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि पूँजीवादी देशों में मण्डी में न बिकने वाली वस्तुओं का प्रभाव इन्हें तैयार करने वाले कारखानों पर बहुत जल्दी पड़ता है, इनके बन्द होने से बेकारी बढ़ने लगती है। किन्तु साम्यवादी देशों में कारखानों पर राज्य का नियन्त्रण होने से ऐसे प्रभाव देर में दृष्टिगोचर होते हैं। अतः इसके आधार पर यह भ्रान्तिपूर्ण कल्पना कर ली जाती है कि साम्यवादी अर्थव्यवस्था में मन्दी जैसे संकट उत्पन्न नहीं होते हैं। वस्तुतः मार्क्स का पूँजीवादी देशों में ही मन्दी जैसे आर्थिक संकट पैदा होने का विचार सत्य नहीं प्रतीत होता है। अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के अनुसार मार्क्स यह मानता है कि पूँजीपति मजदूरों को बहुत थोड़े समय की मजदूरी देकर शेष समय में तैयार किए गए माल का मूल्य स्वयं हड़प लेता है। यदि इस सिद्धान्त को पूरी तरह सत्य माना जाए तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि यदि कभी पूँजीपति को अपने कारखाने में कोई नुकसान उठाना पड़े तो इस दशा में क्या मजदूर अपने वेतन कम करवाने के लिए तैयार होंगे, क्योंकि यह घाटा उनके दोषपूर्ण श्रम के कारण हुआ है।

मार्क्स के इस सिद्धान्त से इस बात की व्याख्या करना सम्भव नहीं है कि एक ही वस्तु को तैयार करने वाले विभिन्न कारखानों में मुनाफे की दरें अलग-अलग क्यों होती हैं। उदाहरणार्थ, भारत में यदि विभिन्न चीनी या कपड़ा मिलों को देखा जाए तो इनमें कुछ मिलें अधिक मुनाफा कमा रही हैं और कुछ मिलें घाटे पर चल रही हैं, यद्यपि दोनों में मजदूर समान रूप से चीनी या कपड़ा तैयार कर रहे हैं। वस्तुतः इनके मुनाफे और घाटे का कारण श्रम के अतिरिक्त कुछ अन्य वस्तुएँ हैं जिनमें मुख्य रूप से उल्लेखनीय तत्व हैं—कारखाने के मालिकों की प्रबन्धपटुता, जागरूकता एवं कुशलता, पूँजी का बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग और नवीन पद्धतियों एवं तकनीकों का आविष्कार। कई बार बड़ी छोटी-छोटी और बाद में अतीव सामान्य प्रतीत होने वाली नई पद्धतियाँ और तकनीक उत्पादन में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर देते हैं। यह कहा जाता है कि डिट्रायट में फोर्ड के मोटर बनाने वाले कारखाने में जब 'वाहकपट्टा पद्धति' (Conveyor Belt System) की तकनीक का उपयोग किया गया तो इस कारखाने में काम करने वाले मजदूरों की उत्पादकता पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक बढ़ गई, क्योंकि अब इस पट्टे की सहायता से कई मशीनों को एकसाथ चलाया जा सकता था और कारखाने में तैयार होने वाले माल को सुगमतापूर्वक और बड़ी जल्दी विभिन्न स्थानों पर पहुँचाया जा सकता था। इस प्रकार के नवीन आविष्कारों में श्रमिक का कोई योगदान नहीं होता है। क्या इस प्रकार के आविष्कारों से होने वाले कारखाने के मुनाफे को प्राप्त करने का एकमात्र अधिकार मजदूरों को ही है?

(६) **अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का खण्डन**—मार्क्स का यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है कि विश्वव्यापी पूँजीवाद का विध्वंस करने के लिए सब देशों के मजदूर राष्ट्रीयता की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठकर एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का संगठन करके एक विश्वव्यापी क्रान्ति करेंगे, क्योंकि सभी देशों के मजदूरों को पूँजीवाद का विध्वंस अभीष्ट है। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले साम्यवादियों का यह विश्वास था कि सब देशों के समाजवादी अपनी राष्ट्रीयता के बन्धनों से ऊपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीय एवं विश्वव्यापी क्रान्ति करने में सहयोग देंगे। किन्तु १९१४ का युद्ध छिड़ने पर सभी देशों के समाजवादी दलों ने आँख मूँदकर अपने देश का साथ दिया। इस समय यद्यपि ८७ देशों में साम्यवादी दल हैं, किन्तु वे राष्ट्रीयता के साथ-साथ ही साम्यवाद के उपासक हैं। राष्ट्रीयता के आधार पर यूगोस्लाविया के मार्शल टिटो का स्तालिन से घोर मतभेद उत्पन्न हुआ, इसी कारण मास्को और पेकिंग में इस समय उग्र विरोध है। ये सब घटनाएँ मार्क्स के अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक आन्दोलन तथा विश्वव्यापी क्रान्ति को संगठित करने के विचार को गलत सिद्ध करती हैं

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
(Theory of Surplus Value)

मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को समझने के लिए मूल्य का स्वरूप जान लेना आवश्यक है।

मूल्य का स्वरूप—मार्क्स अन्य अर्थशास्त्रियों की भाँति वस्तु के मूल्य को पैदा करने वाले दो प्रकार के आधार मानता है : पहला आधार उपयोगिता (Utility) है और दूसरा आधार विनिमय (Exchange) है।

(क) **उपयोगिता-मूल्य**—उपयोगिता-मूल्य का अर्थ है मनुष्य की इच्छा पूरी करना। जो वस्तुएँ मनुष्य की इच्छाएँ पूरी करती हैं, वे उसके लिए उपयोगी हैं, अतः वे मनुष्य के लिए मूल्यवान् और महत्वपूर्ण हैं। जो वस्तुएँ उसकी इच्छाओं को पूरी नहीं करती हैं, वे उसके लिए उपयोगी न होने के कारण कोई मूल्य नहीं रखती हैं। उदाहरणार्थ, मरुस्थल में पानी बहुत कम और रेत बहुत अधिक होती है, मनुष्यों की प्यास बुझाने की इच्छा पूरी करने के लिए पानी अत्यन्त उपयोगी है, किन्तु रेत का कोई उपयोग नहीं है। अतः इस उपयोगिता के कारण वहाँ पानी अत्यन्त मूल्यवान् पदार्थ तथा रेत कोई मूल्य न रखने वाला पदार्थ है।

(ख) **विनिमय-मूल्य**—मूल्य का दूसरा आधार विनिमय (Exchange) है, इसे विनिमय-मूल्य (Exchange Value) कहते हैं। यह उस अनुपात को कहते हैं, जिसके आधार पर किसी वस्तु का दूसरी वस्तुओं से अदला-बदला किया जाता है। उदाहरणार्थ, किसान के पास गेहूँ अधिक मात्रा में है, उसे कपड़े की आवश्यकता है; जुलाहे के पास कपड़ा है तथा उसे गेहूँ की आवश्यकता है। दोनों अपनी वस्तुओं का अदला-बदला करते हैं, किसान एक मन गेहूँ देकर जुलाहे से १० गज कपड़ा लेता है तो हम इस विनिमय-मूल्य को इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं—

एक मन गेहूँ = दस गज कपड़ा

श्रम के आधार पर वस्तुओं का विनिमय-मूल्य निश्चित होता है। यदि एक मन गेहूँ का विनिमय-मूल्य दस गज कपड़ा है तो इसका यह कारण है कि एक मन गेहूँ पैदा करने में उतना ही श्रम लगता है, जितना दस गज कपड़ा उत्पन्न करने में। इससे यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगाए गए श्रम के आधार पर निश्चित होता है, परन्तु मजदूर को केवल उतनी ही मजदूरी दी जाती है जिससे वह जीवित रहते हुए अपना पेट भर सके, अपना तथा बाल-बच्चों का भरण-पोषण करते हुए सन्तानोत्पादन कर सके। इसको **मजदूरी का लौह नियम** (Iron Law of Wages) कहा जाता है। मजदूर की मजदूरी इसी के अनुसार निश्चित होती है।

अतिरिक्त मूल्य का स्वरूप—मार्क्स का यह कहना है कि उपर्युक्त नियम के अनुसार निश्चित होने वाली मजदूरी पाने वाला श्रमिक अपनी मजदूरी के बराबर मूल्य रखने वाली वस्तुओं को थोड़े समय में ही बना लेता है, किन्तु मिल-मालिक उससे बहुत अधिक समय तक काम लेता है और इस समय में उत्पन्न किए गए उसके माल का मूल्य स्वयमेव हड़प लेता है, यही **अतिरिक्त मूल्य** है।[1] उदाहरणार्थ, मजदूरी के लौह नियम के अनुसार दैनिक मजदूरी की दर दो रुपया है। मिल में काम करने वाला मजदूर उसे

1. "Surplus value is the difference between the value of the wages which a labour produces and which he actually receives."

—Karl Marx

दी जाने वाली मजदूरी के मूल्य की अर्थात् दो रुपये की वस्तुएँ चार घण्टे में ही बना लेता है, किन्तु मिल-मालिक उससे आठ घण्टे काम लेता है। इसका मतलब यह है कि वह दिन-भर में चार रुपये के मूल्य की वस्तुएँ उत्पन्न करता है, मिल-मालिक दो रुपये उसे देकर दो रुपये अपनी जेब में डाल लेता है। मार्क्स के मतानुसार यह अतिरिक्त मूल्य श्रमिक को मिलना चाहिए, किन्तु मिल-मालिक उसके श्रम की चोरी करता है, यही चोरी उसका मुनाफा है, इसी से उसकी पूँजी का निर्माण होता है। उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ अतिरिक्त मूल्य भी बढ़ता है। इस अतिरिक्त मूल्य के कुछ हिस्से को पूँजीपति अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए रख लेता है, शेष धन उत्पादन-कार्य में लगा देता है, इसी को पूँजी कहते हैं, इसे निरन्तर बढ़ाना ही पूँजीपति का लक्ष्य होता है। दूसरी ओर मजदूर अपनी मजदूरी बढ़ाने के लिए श्रमिक-संघों (Trade Unions) के संगठन, हड़ताल आदि के उपायों का अवलम्बन करते हैं। इस प्रकार पूँजीपतियों और श्रमिकों का संघर्ष प्रारम्भ होता है और यह पूँजीवाद के विनाश के बीज बोता है।

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की आलोचना—यह सिद्धान्त ऊपरी दृष्टि से बड़ा आकर्षक और मनोरम प्रतीत होता है, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से निम्नलिखित कारणों के आधार पर इसकी कड़ी आलोचना की गई है—

(१) **मूल्य में श्रम का एकमात्र महत्व न होना**—अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का मौलिक आधार यह विचार है कि **वस्तु के मूल्य के निर्धारण का एकमात्र मूलतत्व उसके उत्पादन में लगने वाला मजदूर का श्रम है,** अतः उसका सारा मूल्य मजदूर को मिलना चाहिए, पूँजीपति इस समय उसे इसका थोड़ा हिस्सा देता है, शेष भाग अतिरिक्त मूल्य के रूप में हड़प लेता है। **यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि मूल्य का निर्धारण केवल श्रम से नहीं होता है।** वस्तुओं के उत्पादन के लिए पूँजी, मशीनें, कच्चा माल, वैज्ञानिक ज्ञान, पुरुषार्थ और प्रबन्धपटुता आवश्यक है। श्रमिक इन सबके सहयोग के बिना केवल अपने श्रम से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं कर सकता है, अतः मूल्य-निर्धारण करने में श्रमिक के श्रम के अतिरिक्त ये सभी तत्व प्रभाव डालते हैं। अतः मार्क्स के इस सिद्धान्त का यह मौलिक विचार गलत है कि वस्तु का मूल्य उस पर लगाए गए श्रम से निश्चित होता है। इसके आधार पर बनाया गया उसका अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण है।

(२) **मूल्य निर्धारण के महत्वपूर्ण कारकों की उपेक्षा**—**पूँजीपति को वस्तुओं के उत्पादन में श्रमिक के अतिरिक्त अन्य बहुत सी बातों के लिए धनराशि व्यय करनी पड़ती है, मार्क्स इसकी सर्वथा उपेक्षा करता है।** उसे कारखाने के सुधार के लिए, मशीनों की घिसावट के लिए, श्रमिकों के जीवन को उत्तम बनाने की आवश्यक सुविधाएँ देने के लिए काफी धनराशि व्यय करनी पड़ती है। वस्तु के मूल्य का निर्धारण करते समय इन सब तत्वों को ध्यान में रखना पड़ता है, इन सबका व्यय अतिरिक्त मूल्य में से पूरा होता है, अतः उसका यह कहना सत्य नहीं है कि पूँजीपति मजदूरी के सिवाय समूचा अतिरिक्त मूल्य स्वयमेव हड़प लेता है।

(३) **परस्पर-विरोधी सिद्धान्त**—मार्क्स यह मानता है कि पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य या मुनाफा बढ़ाने के लालच से अधिकाधिक मात्रा में नई मशीनें लगाता है ताकि

वह इनसे अधिक उत्पादन करते हुए मजदूर को जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक मजदूरी (wages) का उत्पादन कम-से-कम समय में करके शेष समय में अधिकतम अतिरिक्त मूल्य पाने के लिए उत्पादन कर सके। किन्तु इसके साथ ही वह यह मानता है कि स्थायी पूंजी—मशीनों, कच्चे माल आदि से कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं मिलता है, उसे अतिरिक्त मूल्य मजदूरों से प्राप्त होता है। दोनों बातें परस्पर-विरोधी और असंगत हैं। एक ओर मार्क्स का कहना है कि पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य पाने के लिए नई मशीनें लगाता है, दूसरी ओर उसका मत है कि मशीनों से कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं मिलता, वह केवल मजदूरों से मिलता है। यदि वास्तव में ऐसा है तो वह मजदूरों के श्रम को कम करने वाली मशीनें क्यों लगाता है। उसे ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे मजदूरों के श्रम की चोरी से प्राप्त होने वाले पूंजीपति के मुनाफे में कमी आ जाएगी। कोई भी पूंजीपति अपने मुनाफे को स्वयमेव कम करना पसन्द नहीं करेगा।

(४) **मूल्य से पूंजी का न बनना—मार्क्स के मतानुसार अतिरिक्त मूल्य से स्वयमेव नई पूंजी बनती चली जाती है, किन्तु उसकी यह कल्पना ठीक नहीं प्रतीत होती है।** यदि पूंजी अतिरिक्त मूल्य से स्वयमेव वढ़ती चली जाती तो पूंजीपति को अपनी पूंजी बढ़ाने के लिए प्रयत्न करने की, भारी सूद पर ऋण लेने की, कम्पनी के हिस्से बेचकर नई पूंजी प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए थी।

(५) **परस्पर-विरोधी सिद्धान्त**—मार्क्स ने 'पूंजी' के पहले खण्ड में प्रतिपादित श्रमसिद्धान्त के साथ मुनाफे की एक जैसी दर का समन्वय करने के लिए 'पूंजी' के तीसरे खण्ड में यह कहा है कि "वस्तुओं का विनिमय-मूल्य (Exchange Value) उत्पादन के दामों (Cost of production) के आधार पर निश्चित होता है। उत्पादन का दाम लागत-मूल्य तथा औसत मुनाफे के योगफल के समान होता है, इसका उनके मूल्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है।" पहले खण्ड में वह पदार्थों के विनिमय-मूल्य का प्रतिपादन करता है और तीसरे खण्ड में वह दामों (Prices) की चर्चा करते हुए कहता है कि वस्तुओं का मूल्य उनके विनिमय-मूल्य के आधार पर नहीं, किन्तु उनके दाम के आधार पर होता है। ये दोनों परस्पर-विरोधी सिद्धान्त असंगति को पैदा करते हैं।

(६) **शब्दों का अर्थ अनिश्चित होना**—मार्क्स के इस सिद्धान्त में एक बड़ा दोष यह है कि वह इसमें मूल्य (Value), **दाम** (Price) **आदि शब्दों का प्रयोग मनमाने तथा अनिश्चित ढंग से करता है।** उसके सामान्य मजदूर और मिल-मालिक वर्तमान वास्तविक जगत् के नहीं, किन्तु कल्पनालोक के प्राणी हैं। मार्क्स की निराली दुनिया में प्रत्येक पूंजीपति अतिरिक्त मूल्य और मुनाफा कमाने पर तुला हुआ है, मजदूर दुगने या तिगुने कर दीजिए, मुनाफा भी दुगना या तिगुना स्वयमेव हो जाएगा, इसमें किसी प्रकार की कुशलता, प्रबन्ध, संगठन या योग्यता की कोई आवश्यकता नहीं है। उसके मत में पूंजी तब तक पूंजी नहीं है, जब तक वह अतिरिक्त मूल्य न उत्पन्न करे। पूंजीपति केवल वही व्यक्ति है जो अतिरिक्त मूल्य पर गुलछर्रे उड़ाता है। इसके अतिरिक्त उसने यह कहीं भी नहीं बताया है कि वह मूल्य शब्द का प्रयोग किस अर्थ में कर रहा है। मार्क्स ने इसी प्रकार अन्य सभी महत्वपूर्ण आर्थिक शब्दों की मनमानी व्याख्या की है, इस कारण इनसे उसका असली अभिप्राय समझना कठिन कार्य है।

(७) **श्रम के अतिरिक्त अन्य तत्वों की उपेक्षा**—कार्ल मार्क्स वस्तुओं के मूल्य को निर्धारित करने का एक मात्र तत्व मजदूरों के श्रम को मानता है। उसके कथनानुसार **"वस्तुओं का मूल्य उसके निर्माण पर लगने वाले मजदूर के घनीभूत कार्य** (congealed work) **की एक निश्चित मात्रा है।"** इस विषय में मार्क्स पर रिकार्डो तथा मालथस जैसे पुराने अग्रगण्य अर्थशास्त्रियों की विचारधारा का प्रभाव पड़ा था। इस सिद्धान्त को मानने में एक बड़ी कठिनाई यह थी कि विभिन्न मजदूरों की कार्यक्षमता तथा योग्यता अलग-अलग होती है और वे एक वस्तु के निर्माण में अपनी योग्यता के अनुसार कम या अधिक समय तथा श्रम की मात्रा को लेते हैं। इसलिए इस विषय में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मूल्य के निर्धारण में कौनसे श्रम या समय को आधार माना जाएगा। इस कठिनाई से बचने के लिए मार्क्स ने यह सिद्धान्त बनाया कि मूल्य का निर्धारण "समाज की औसत श्रमशक्ति (Average Labour Power) से निर्धारित होता है।" यह अपने-आपमें अत्यधिक अस्पष्ट विचार है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री पाल सैमुअलसन ने लिखा है कि "यदि श्रमिकों को श्रम के लिए दी जाने वाली मजदूरी ही मूल्य के श्रमसिद्धान्त (Labour Theory of Value) के अनुसार एकमात्र लागत समझी जाए तो एक जैसा गेहूँ का बीज होने पर भी गेहूँ की दो प्रकार की उपज देने वाली जमीनों से पैदा होने वाले गेहूँ का एक ही मूल्य नहीं रखा जा सकता है।" अधिक उपजाऊ भूमि में गेहूँ पाने के लिए कम श्रम की जरूरत होगी। उदाहरणार्थ, बंगाल में गंगा तथा ब्रह्मपुत्र के उपजाऊ डेल्टे में किसान को भूमि में केवल बीज बखेरने का श्रम करना पड़ता है, हिमालय की पर्वतमाला में खेती करने वाले किसान को बीज बोने के लिए पहाड़ काटकर भूमि को समतल बनाने, उसमें कंकड़ पत्थर निकालने, सिंचाई की व्यवस्था करने का भगीरथ श्रम करना पड़ता है। मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार कम उपज देने वाले भूखण्ड में उत्पन्न होने वाले गेहूँ पर अधिक श्रम लगा होने के कारण इसका दाम अधिक तथा कम श्रम होने के कारण की अपेक्षा यह कम कीमत पर मिलना चाहिए, क्योंकि उस पर कम मजदूरी लगी है।" दूसरे शब्दों में हम यूँ कह सकते हैं कि कम उपज देने वाली जमीन पर किसान को बहुत अधिक श्रम करना पड़ता है, अतः इससे पैदा होने वाले गेहूँ का मूल्य यदि श्रम के आधार पर निश्चित होता हो तो बाजार में इस गेहूँ को अधिक मूल्य पर बिकना चाहिए। पर बाजार में ऐसा नहीं होता है। अच्छी और बुरी दोनों जमीनों पर पैदा किया गया गेहूँ बाजार के कुछ अन्य तत्वों के आधार पर समान मूल्य पर बिकता है। वस्तुतः मार्क्स ने मण्डी में वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने वाले श्रम के अतिरिक्त अन्य तत्वों की उपेक्षा की है।

(८) **मूल्य में विज्ञापन आदि का व्यय न जोड़ना**—मण्डी में किसी वस्तु का मूल्य प्रधान रूप से 'माँग और पूर्ति के नियम' (Law of Supply and Demand) के आधार पर निर्धारित होता है। यदि किसी वस्तु की माँग बहुत अधिक है, किन्तु पूर्ति उसकी तुलना में बहुत कम है तो इस वस्तु का मूल्य बढ़ जाएगा। ऐसा न होने पर इसके मूल्य में गिरावट आ जाएगी। माँग का स्वरूप अत्यधिक जटिल है, यह लोगों की रुचि, फैशन, क्रयशक्ति, स्थानापन्न वस्तुओं की सुलभता और विज्ञापन आदि अनेक विभिन्न प्रकार के तत्वों पर अवलम्बित होती है। आजकल बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ भारी पैमाने पर

विज्ञापन करके नई-नई वस्तुओं की माँग पैदा करती रहती हैं। **चाय, कॉफी, कोकाकोला आदि वस्तुओं की विश्वव्यापी माँग इन्हें तैयार करने वाली कम्पनियों के बहुत बड़े पैमाने पर किए जाने वाले विज्ञापनों द्वारा पैदा की गई है। इनके मूल्य में मजदूरी की तुलना में विज्ञापनों पर किया जाने वाला व्यय कहीं अधिक महत्व रखता है।** अतः वर्तमान परिस्थितियों में मार्क्स का श्रम के आधार पर मूल्य को निश्चित करने वाला सिद्धान्त सत्य नहीं प्रतीत होता है।

मार्क्स के विषय में यह कहा जाता है कि वह सर्वहारा वर्ग के आन्दोलनों के नियमों के अन्वेषक तथा अग्रगामी समाजशास्त्री के रूप में असाधारण महत्व रखता है, किन्तु आर्थिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में उसका महत्व एक आन्दोलनकारी से अधिक नहीं है, अतः उसके अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को सत्य नहीं माना जा सकता है।

साम्यवादी दल का संगठन तथा कार्यक्रम

मार्क्स के मतानुसार पूँजीवाद का पतन अवश्यम्भावी है, किन्तु इसके आधार पर हमें इसकी प्रतीक्षा में चुपचाप नहीं बैठ जाना चाहिए। साम्यवादियों का यह कहना है कि यद्यपि भविष्य में पूँजीवाद के विध्वंस के लिए साम्यवादी क्रान्ति अवश्य होनी है, फिर भी इसे शीघ्र लाने के लिए पूरा प्रयास करना चाहिए। समाज में इस क्रान्ति को लाने के लिए तथा सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि साम्यवादी विचारों का प्रचार करने के लिए सभी साम्यवादी दलों का सुदृढ़ संगठन किया जाए।

साम्यवादी दल का कार्यक्रम—कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो में यह बताया गया है कि पूँजीवाद के विनाश के लिए मजदूरों को तथा साम्यवादी दलों को निम्नलिखित कार्यक्रम सामान्य रूप से अपनाना चाहिए—

(१) भूमि के रूप में सम्पत्ति की व्यवस्था का अन्त किया जाए, भूमि के तमाम लगान का उपयोग सार्वजनिक कार्यों के लिए किया जाए।

(२) आय-कर इस तरह लगाया जाए कि आमदनी के साथ-साथ वह भी काफी मात्रा में बढ़ता जाए।

(३) उत्तराधिकार की प्रथा बिलकुल समाप्त कर दी जाए।

(४) राज्य की पूँजी से राष्ट्रीय बैंक खोलकर लेन-देन के समूचे कार्य को राज्य के हाथ में केन्द्रित कर दिया जाए, बैंकों पर राज्य का एकाधिकार हो।

(५) भगोड़ों और विद्रोहियों की सम्पत्ति जब्त कर ली जाए।

(६) डाक-तार तथा यातायात के साधनों पर राज्य का पूरा अधिकार स्थापित किया जाए।

(७) एक बड़ी योजना बनाकर राज्य के सभी उद्योग-धन्धों तथा उत्पादन के साधनों का विस्तार किया जाए, परती पड़ी हुई तमाम जमीन को आबाद किया जाए और जमीन को अधिक उपजाऊ बनाया जाए।

(८) प्रत्येक व्यक्ति के लिए कार्य करना अनिवार्य हो। उद्योग-धन्धों को चलाने के लिए और विशेष रूप से खेती-बाड़ी के लिए लोगों को संगठित किया जाए।

(९) खेती-बाड़ी के कार्य का उद्योग-धन्धों के कार्य के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाए, देश की आबादी को शहरों और गाँवों में उचित रूप से बाँटकर नगरों और ग्रामों के भेद को धीरे-धीरे मिटा दिया जाए।

(१०) सार्वजनिक पाठशालाओं में सब बच्चों के लिए मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था की जाए। बच्चों से कारखानों में काम लेने की वर्तमान प्रथा को बिलकुल समाप्त कर दिया जाए। पढ़ाई-लिखाई का सम्बन्ध औद्योगिक उत्पादन के साथ जोड़ा जाए।

साम्यवादी कार्य-पद्धति—उपर्युक्त कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए तथा क्रान्ति की उपर्युक्त तैयारी के लिए एक विशिष्ट कार्य-पद्धति अपनायी जाती है। इसमें निम्नलिखित चार बातों पर बल दिया जाता है—

(क) **पहली बात मजदूरों के नेतृत्व में शोषितों एवं निर्धन व्यक्तियों का संगठन करना है।** श्रमजीवी वर्ग ही क्रान्तिकारी आन्दोलन का नेता हो सकता है, क्योंकि सम्पत्ति-हीन होने के कारण उसे वर्तमान व्यवस्था को बनाए रखने का कोई प्रलोभन नहीं है, जबकि मध्यमवर्ग एवं पूँजीपति अपनी सम्पत्ति को बनाने की आकांक्षा के कारण वर्तमान व्यवस्था के समर्थक तथा क्रान्ति के विरोधी हैं। श्रमिकों को क्रान्ति से कोई भय नहीं है। इसका अनुसरण करते हुए साम्यवादी सर्वप्रथम औद्योगिक श्रमजीवियों का संगठन करते हैं, उनके श्रमिक-संघों पर आधिपत्य स्थापित करते हैं, मजदूरों को साम्यवाद के प्रमुख तत्वों को समझाते हैं, हड़तालें कराके उन्हें वर्ग-संघर्ष की व्यावहारिक शिक्षा देते हैं।

(ख) **दूसरी बात विद्यार्थी समुदाय में साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार करना तथा उन्हें साम्यवाद का अनुयायी बनाना है।** छात्रों में तरुणाई का जोश, उत्साह और आदर्शवाद होता है, वे क्रान्तिकारी कार्यों में गहरी दिलचस्पी रखते हैं तथा इसके लिए निरन्तर दिन-रात कार्य करने वाले उत्साही कार्यकर्त्ता बन सकते हैं।

(ग) **तीसरी बात जन-आन्दोलन को निरन्तर जारी रखना है।** साम्यवादी निम्न वर्गों की कठिनाइयों तथा असुविधाओं को लेकर सरकार के विरुद्ध निरन्तर आन्दोलन जारी रखके जनता की सहानुभूति एवं विश्वास पाने का पूरा प्रयत्न करते हैं।

(घ) **चौथी बात विभिन्न देशों की परिस्थितियों के अनुसार 'साम्यवादी कार्यक्रम' को निर्धारित करना है।** यदि देश परतन्त्र होता है तो साम्यवादी अन्य दलों के साथ मिलकर स्वतन्त्रता के संघर्ष में पूरा भाग लेते हैं। यदि देश स्वतन्त्र है तो वे चुनाव लड़कर बहुमत प्राप्त करने तथा राजनीतिक सत्ता हथियाने का प्रयत्न करते हैं। हर हालत में साम्यवादियों का लक्ष्य क्रान्ति करके **सर्वहारा की अधिनायकता** (Dictatorship of Proletariat) स्थापित करना और पूँजीवाद का विध्वंस करना होता है।

राज्यविषयक सिद्धान्त

मार्क्स तथा एंगल्ज़ ने राज्य के विषय में अपने सिद्धान्त का बहुत ही कम विवेचन किया है। इस सम्बन्ध में पहला प्रश्न इसके आदिम रूप का है। मानव-समाज

की आरम्भिक दशा 'आदिम साम्यवाद' (Primitive Communism) की अवस्था थी। मार्क्स के साथी एंगल्ज़ के मतानुसार इस दशा में मनुष्यों के आपसी विवादों का निर्णय करने के लिए, सार्वजनिक व्यवस्था और शान्ति की तथा जलपूर्ति की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए राज्य की संस्था बनी हुई थी। किन्तु कुछ अन्य स्थलों पर एंगल्ज़ ने राज्य की सत्ता को अस्वीकार भी किया है। इस प्रकार परस्पर-विरोधी मत प्रतिपादित करते हुए भी एंगल्ज़ यह कहीं नहीं बताता है कि राज्य ने विशेष वर्ग का प्रभुत्व स्थापित करने वाले एक अत्याचारपूर्ण परोपजीवी (Parasite) शासन का रूप किस प्रकार प्रारम्भ किया।

राज्य का उद्देश्य और स्वरूप—मजदूरों के शोषण का साधन—इस विषय में मार्क्स का मत राजनीतिशास्त्र के अन्य विचारकों से बिलकुल भिन्न है। अरस्तू ने कहा था कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य के जीवन को उत्तम बनाना तथा पूर्ण रूप से विकसित करना है, राज्य की सत्ता इसलिए है कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपना उच्चतम विकास कर सके। यह सबके सहयोग से सामान्य हित के कार्य करने वाला समुदाय है। किन्तु मार्क्स इसके सर्वथा विपरीत यह मानता है कि राज्य शासक वर्ग के हितों को सुरक्षित बनाए रखने का तथा अन्य वर्गों के शोषण करने का साधन है।

वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में राज्य पूँजीपतियों का संगठन है, इसका उद्देश्य मजदूर वर्ग का शोषण करना है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह अपनी सम्पत्ति एवं हितों की रक्षा की दृष्टि से कानूनों का निर्माण करता है। कम्यूनिस्ट घोषणापत्र में राज्य को **'पूंजीपतियों की कार्यकारिणी समिति'** (Executive Committee of Bourgeoise) कहा गया है। **मार्क्स के मतानुसार राज्य का मौलिक उद्देश्य शासक वर्ग के हितों का संरक्षण और अन्य वर्गों का उत्पीड़न, अत्याचार एवं दमन करना है।**[1]

राज्यविषयक सिद्धान्त की विशेषताएँ—मार्क्स के राज्यविषयक सिद्धान्त की कई विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। ये निम्नलिखित हैं—

(१) वर्ग-संघर्ष का परिणाम—पहली विशेषता इसका वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के साथ गहरा सम्बन्ध है। इस वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के अनुसार समाज में सदैव वर्ग-संघर्ष चलता रहता है, राज्य इसका सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है, इसमें एक वर्ग दूसरे वर्ग का दमन करता रहता है।

(२) मजदूरों का शोषण—इसकी दूसरी विशेषता यह सूचित करती है कि राज्य सदैव मजदूरों का शोषण करता है, इन दोनों वर्गों के विरोध की समस्या का समाधान कभी नहीं हो सकता है। अतः मजदूरों का उद्देश्य राज्य के साथ निरन्तर संघर्ष करते हुए इसका विध्वंस करना होना चाहिए।

(३) पाशविक शक्ति पर आधारित—तीसरी विशेषता यह है कि यह राज्य का आधार पाशविक शक्ति को मानता है, इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि इसकी समाप्ति के लिए बल के प्रयोग को आवश्यक माना जाए, अतः वर्तमान पूँजीवादी-राज्य का उन्मूलन करने के लिए क्रान्ति और हिंसा की आवश्यकता स्वतःसिद्ध है।

---

1. "State is nothing more than a machine for the oppression of one class by another."
—Marx.

(४) **पूँजीपतियों के हितों की रक्षा-चौथी विशेषता राज्य के दमनात्मक और दण्डात्मक पहलू पर बल देना है।** इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का प्रधान कार्य पूँजीपति वर्ग के हितों को शक्ति द्वारा सुरक्षित बनाना है; अतः राज्य इस वर्ग को क्षति पहुँचाने वाले सभी कार्यों का दमन करता है। इससे मार्क्स ने यह परिणाम निकाला कि राज्य का प्रधान कार्य जनता का कल्याण करना नहीं, किन्तु उसका दमन करना है।

(५) **राज्य का लुप्त होना—पाँचवीं विशेषता भविष्य में राज्य की संस्था का समाप्त हो जाना है।**

राज्यविषयक सिद्धान्त की आलोचना—मार्क्स के राज्य के उपर्युक्त सिद्धान्त में कई गम्भीर दोष हैं—

(१) **राज्य शोषण का नहीं, नैतिक विकास का साधन है—मार्क्स राज्य के स्वाभाविक और वास्तविक स्वरूप के स्थान पर उसका एकांगी, दूषित तथा विकृत दृष्टिकोण उपस्थित करता है।** राज्य का प्रधान कार्य मनुष्य के उत्तम जीवन को बिताने के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है, वह यह कार्य विदेशी शत्रुओं के आक्रमणों से सुरक्षा प्रदान करके तथा देश में भीतरी शान्ति की व्यवस्था उत्पन्न करके करता है। किन्तु मार्क्स राज्य के मौलिक एवं प्रधान कार्यों की उपेक्षा करते हुए उसके दमनात्मक कार्यों को अनावश्यक महत्व प्रदान करता है। सभी राज्य सदैव साधारण जनता के हितों का शोषण करते हैं, इस सिद्धान्त को सार्वभौम रूप से सत्य नहीं माना जा सकता है। प्राचीन एवं मध्यकाल के इतिहास में जनता के कल्याण को सर्वोपरि रखने वाले राजाओं और राज्यों की कमी नहीं रही है।

(२) **राज्य का आधार शक्ति नहीं है**—ग्रीन तथा अन्य आदर्शवादी विचारकों ने इस बात को भली-भाँति प्रमाणित किया है कि राज्य पाशविक शक्ति पर नहीं टिका हुआ है। उसका आधार बल नहीं, किन्तु जनता की इच्छा है (Will, not force, is the basis of the State)।

(३) **राज्य द्वारा कल्याणकारी कार्य करना**—मार्क्स ने अपना सिद्धान्त एक शताब्दी पूर्व बनाया था, **इसके बाद का इतिहास उसकी धारणा को पुष्ट नहीं करता है।** उसके मतानुसार पूँजीवादी देशों में पूँजीपति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए मजदूरों तथा जनता को लाभ पहुँचाने वाले कानून नहीं बनने देते हैं। किन्तु पिछले सौ वर्षों में लगभग सभी औद्योगिक देशों—इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, सं०रा० अमेरिका आदि में मजदूरों की दशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाले कानून राज्य द्वारा बनाए गए हैं। अब सर्वत्र कल्याणकारी राज्य (Welfare State) का विचार स्वीकार किया जाने लगा है। सैबाइन ने लिखा है कि यह सिद्ध करना कि राज्य केवल शोषण का एजेंण्ट है, एक क्रान्तिकारी अल्पमत का प्रचार मात्र है।[1] ये सब तथ्य मार्क्स के इस कथन को मिथ्या सिद्ध करते हैं कि राज्य पूँजीपतियों द्वारा निर्धन जनता के शोषण का प्रधान साधन हैं। इस समय राज्य वस्तुतः इनके उत्थान और कल्याण का प्रमुख साधन बने हुए हैं।

---

1. "The theory that states are merely agents of exploitation is essentially the propaganda of a revolutionary minority." —Sabine.

(४) **पूँजीवादी राज्यों का शान्तिपूर्ण उपायों से साम्यवादी राज्य बनना**—मार्क्स का यह कथन भी सत्य नहीं है कि क्रान्ति के बिना वर्तमान पूँजीवादी राज्य में परिवर्तन नहीं हो सकता है ; पूँजीवादी राज्य के विध्वंस और समाजवादी राज्य की स्थापना का एकमात्र साधन हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन है। इंगलैण्ड, अमेरिका तथा भारत जैसे लोकतन्त्रीय परम्परा वाले देशों में शान्तिपूर्ण और वैध उपायों से पूँजीवादी राज्य समाजवादी राज्य में परिणत हो रहे हैं। भारत में कांग्रेसी सरकार ने जमींदारी उन्मूलन आदि के कानून बनाकर जमींदार वर्ग की समाप्ति बड़ी शान्तिपूर्ण रीति से की है। विनोबा भावे ने भूदान आन्दोलन द्वारा भारत की भूमि-व्यवस्था में एक महान् क्रान्ति की है। सं० रा० अमेरिका में राष्ट्रपति जैक्सन ने इसी प्रकार के परिवर्तन किए, १९३० की मन्दी के बाद राष्ट्रपति रूज़वैल्ट ने अपनी 'नवीन व्यवस्था' (New Deal) द्वारा महान् परिवर्तन किए। इंगलैण्ड में १८३२ के सुधार कानून से शासन-सत्ता जमींदार वर्ग के हाथ से निकलकर मध्यमवर्ग के हाथ में आ गई, इसने वहाँ सुधार के कानूनों की लम्बी परम्परा का श्रीगणेश किया। ये सब उदाहरण मार्क्स के इस मत का खण्डन करते हैं कि समाज में परिवर्तन का एकमात्र उपाय क्रान्ति है। **ये उदाहरण इस बात को सिद्ध करते हैं कि पूँजीवादी राज्य को शान्तिपूर्ण वैध उपायों से समाजवादी राज्य में परिवर्तित किया जा सकता है।**

(५) **आधुनिक राज्य मजदूरों के शत्रु नहीं, अपितु मित्र हैं**—मार्क्स ने राज्य को पूँजीपतियों की संस्था तथा मजदूरों का शोषण करने वाला शत्रु माना है, किन्तु पिछली आधी शताब्दी में सभी तथाकथित पूँजीवादी राज्यों ने कल्याणकारी राज्य (Welfare State) का विचार मान लिया है। श्रमिकों की दशा सुधारने, काम के घण्टों को नियन्त्रित करने, न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने, बेकारी, बीमारी, बुढ़ापे की दशा में उनकी सहायता करने के लिए प्रायः सभी प्रगतिशील राज्य विभिन्न प्रकार के कानून बना रहे हैं, इससे यह स्पष्ट है कि **आजकल राज्य मजदूरों का शत्रु नहीं, अपितु उनके सर्वांगीण कल्याण का प्रधान साधन बना हुआ है।**

(६) **राज्य की समाप्ति की भविष्यवाणी का मिथ्या होना**—मार्क्स मजदूर-वर्ग की अधिनायकता के संक्रमणकाल के बाद ऐसी आदर्श अवस्था की कल्पना करता है जिसमें राज्य और सरकार का अन्त हो जाएगा। इसमें पहली बार मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करेगा। उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार होगा। सब लोग अपनी शक्ति के अनुसार काम करेंगे, उन्हें अपनी आवश्यकतानुसार उपभोग योग्य वस्तुएँ दी जाएँगी। **यह राज्यहीन और वर्गहीन समाज होगा।**

वस्तुतः यह स्थिति मार्क्स के राज्यविषयक सिद्धान्त का स्वाभाविक तर्कसंगत परिणाम है। वह राज्य को सत्तारूढ़ प्रबल वर्ग द्वारा निर्बल वर्ग के शोषण का साधन समझता है। उसके मतानुसार राज्य की उपयोगिता शासक वर्ग के विशेषाधिकारों की रक्षा करना है। अतः जब तक समाज में वर्ग बने रहेंगे, तब तक एक विशेष वर्ग की सत्ता के समर्थक राज्य की सत्ता बनी रहेगी। किन्तु सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता हो जाने पर पूँजीपतियों के वर्ग का उन्मूलन हो जाएगा और वर्गहीन समाज की स्थापना होगी। कोई विशेष वर्ग न रहने के कारण उसकी सत्ता को बनाए रखने वाले राज्य की भी

आवश्यकता या उपयोगिता न रह जाएगी। अतः राज्य की व्यवस्था स्वयमेव लुप्त हो जाएगी। एंगल्ज़ ने लिखा है कि "**वह युग आने वाला है जब राज्य संग्रहालयों में रखी जाने योग्य प्राचीन वस्तुओं—चर्खे या काँसे के कुल्हाड़े की भाँति अतीत काल की वस्तु बन जाएगी।**

किन्तु मार्क्स और एंगल्ज की यह भविष्यवाणी पूर्ण रूप से मिथ्या सिद्ध हुई है। रूस में साम्यवादी क्रान्ति हुए ६० से भी अधिक वर्ष हो चुके हैं किन्तु वहाँ राज्य निरन्तर प्रबल होता चला जा रहा है। उसकी विलुप्त होने और अतीत की वस्तु बन जाने की कोई आशा नहीं है। वस्तुतः सत्ता में कुछ ऐसा आकर्षण होता है कि जो उसे एक बार पा लेता है वह उसे कभी नहीं छोड़ना चाहता है, सदा उसके साथ चिपका रहना चाहता है। लास्की ने यह ठीक ही लिखा है कि शक्ति के मद का दुष्प्रभाव प्रसिद्ध ही है और यह मानना बहुत कठिन है कि साम्यवादी इसके प्रभाव से मुक्त रहेंगे। रूस और चीन जैसे साम्यवादी देशों में राज्य के समाप्त होने के कोई लक्षण नहीं प्रतीत होते हैं, इस दशा में मार्क्स का यह विचार बिलकुल भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होता है कि राज्य की व्यवस्था का अन्त अवश्यम्भावी है और इसका इस धरती से बिलकुल लोप हो जाएगा।

मार्क्स की देन—मार्क्स राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में अपनी कई विशिष्ट देनों के कारण अमर तथा चिरस्मरणीय है। उसकी प्रमुख देनें निम्नलिखित हैं—

(१) **दार्शनिक रूप देना—वह वैज्ञानिक समाजवाद और साम्यवाद की विचारधाराओं का प्रवर्तक और प्रबलतम समर्थक है।** उससे पहले यह विचारधारा राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र मात्र माना जाता था, मार्क्स ने इसे दर्शन बनाया, निश्चित दिशा प्रदान की।[1]

(२) **इतिहास की आर्थिक व्याख्या** (Economic Interpretation of History) **का सिद्धान्त सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में उसकी बड़ी देन थी।** एकांगी तथा दोषपूर्ण होते हुए भी इस सिद्धान्त ने तत्कालीन विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला।

(३) **सम्भवतः मार्क्स की सबसे बड़ी देन उसका समाजवादी एवं आर्थिक आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान करना है।** उसने पूँजीवाद का सैद्धान्तिक विवेचन ही नहीं किया, अपितु मजदूरों के आन्दोलन को संगठित किया, इसके लिए **प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ** का निर्माण किया। मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त ने श्रमिकों को दो बातों का ज्ञान कराया—

(क) पूँजीवाद का पतन तथा उनकी विजय अनिवार्य है। (ख) उनका कल्याण पूँजीवाद का प्रबल विरोध करने में है। इन दोनों बातों ने मार्क्स के श्रमिक आन्दोलन को मजदूरों में लोकप्रिय बनाया, इसे पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रबल प्रेरणा तथा अजस्र शक्ति प्रदान की है। मार्क्स से पहले समाजवाद पुस्तकों तक ही सीमित था, उसने इसे जन-आन्दोलन बनाया।

---

1. "He found Socialism a conspiracy and let it a movement. Through him it acquired a philosophy and direction."
—Louis Washerman.

मार्क्स का मूल्यांकन—मार्क्स की महत्ता के सम्बन्ध में दो परस्पर-विरोधी दृष्टिकोण हैं : पहला दृष्टिकोण उसके प्रशंसकों और भक्तों का है, वे उसे देवता या भगवान् का अवतार मानते हैं। दूसरा दृष्टिकोण उसके आलोचकों तथा पूँजीपतियों का है, उनके मतानुसार वह शैतान या राक्षस है। किन्तु इन दोनों दृष्किोणों में मतभेद होते हुए भी उसके महत्व के सम्बन्ध में एक बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि उसने विश्व पर अमिट प्रभाव डाला है। मार्क्स के सिद्धान्तों की कितनी ही आलोचना क्यों न की जाए, किन्तु इससे इनकार नहीं किया जा सकता है कि संसार के अधिकांश देशों पर उसकी समाजवादी विचारधारा ने गहरा असर डाला है; इस समय विश्व की एक अरब के लगभग जनता प्रत्यक्ष रूप से मार्क्स के सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाले साम्यवादी राज्यों में निवास करती है। ग्रे ने मार्क्स के सम्बन्ध में लिखा है कि "उसके ग्रन्थों में अत्यधिक नीरसता है, उसके सिद्धान्तों में बड़ी गड़बड़ी और स्वाभाविक अन्तः-विरोध है, उसके स्वभाव और चरित्र में ऐसे दोष हैं जो उसे जनता का वीर नायक बनने में समर्थ नहीं बनाते हैं; किन्तु इन सब कमियों के होते हुए भी यह बात निर्विवाद है कि मार्क्स उन्नीसवीं शताब्दी का अधिकतम प्रभावशाली व्यक्ति है।" वेपर के मतानुसार, "अपने सन्देश के प्रभाव की, अपनी शिक्षाओं द्वारा दी जाने वाली प्रेरणा की तथा भावी विकास पर डाले जाने वाले प्रभाव की दृष्टि से मार्क्स का स्थान विश्व में राजनीतिक चिन्तन करने वाले आचार्यों के किसी भी समूह में पूर्णरूप से सुरक्षित है।"[1] मार्क्स के प्रभाव का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि इस समय विश्व की एक-तिहाई जनता शोषित एवं निर्धनता के कष्टों से पीड़ित मानवता को मुक्ति दिलाने वाले मसीहा और भगवान् के रूप में उसकी उपासना करती है एवं उसके कट्टर विरोधी भी उसे विश्व का एक अत्यन्त प्रभावशाली विचारक और दार्शनिक स्वीकार करते हैं।

सारांश

कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों को मार्क्सवाद या वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) का नाम दिया जाता है। उसके प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

मार्क्स के प्रमुख सिद्धान्त

१, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectic Materialism)—मार्क्स के मतानुसार इस सृष्टि का एकमात्र मूल तत्व जड़ प्रकृति या भूत (matter) है। जड़ प्रकृति की पाँच विशेषताएँ हैं—गतिशीलता, परिवर्तनशीलता, सम्बद्धता, विरोधी तत्वों का संगम तथा आन्तरिक असंगतियाँ। सृष्टि में सर्वत्र परिवर्तन द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से होते हैं। इसके तीन

1. "For the power of his message and for his influence upon the future movement of Communism Marx can be sure of his place in any collection of the world's great masters of political thought."
—Wayper, *Political Thought*, p. 125.

अंग—वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) और संवाद (Synthesis) हैं। यह बात पौधे के द्वन्द्वात्मक विकास से स्पष्ट हो जाती है।

२. इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या या आर्थिक नियतिवाद (Economic interpretation of History : Economic Determinism)—मार्क्स के मतानुसार मानव-इतिहास में सभी-परिवर्तन भौतिक अथवा आर्थिक कारणों से होते हैं। समाज में आरम्भ से आर्थिक उत्पादन के आधार पर दो वर्ग चले आ रहे हैं : (क) उत्पादन के साधनों (Means of production) पर स्वामित्व रखने वाला और समाज के निर्धन व्यक्तियों से लाभ उठाने वाला शोषक वर्ग। (ख) उत्पादन के साधनों से वंचित शोषित सर्वहारा वर्ग (Proletariat)।

मानव-समाज के इतिहास को आर्थिक उत्पादन के साधनों के आधार पर पाँच युगों में बाँटा जा सकता है—

पहला आदिम साम्यवादी युग (Primitive Communist) वर्गहीन था, किन्तु इसके बाद दास पद्धति, सामन्त पद्धति और पूँजीपति पद्धति के युगों में समाज में शोषक व शोषित वर्ग का निरन्तर संघर्ष होता रहा है। पाँचवें साम्यवादी युग में शोषण करने वाले पूँजीपति वर्ग का विध्वंस होने पर वर्ग-संघर्ष की समाप्ति हो जाएगी और श्रमजीवी वर्ग की अधिनायकता (Dictatorship of the Proletariat) स्थापित हो जाएगी।

दोष—(१) आर्थिक उत्पादन पर अधिक बल देने के कारण यह एकांगी सिद्धान्त है। (२) यह इतिहास में संयोगवश होने वाली घटनाओं के प्रभाव की उपेक्षा करता है। (३) यह भ्रान्तिपूर्ण रीति से आर्थिक कारणों को राजनीतिक शक्ति व सत्ता का मूल मान लेता है। (४) यह ऐतिहासिक परिवर्तनों की व्याख्या पूरी तरह से नहीं करता है। (५) यह सिद्धान्त इतिहास के गम्भीर वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित नहीं है।

३. वर्ग-संघर्ष (Class Struggle)—मार्क्स के मतानुसार इतिहास में सदैव शोषक और शोषित वर्ग में निरन्तर संघर्ष चलता रहा है। इस समय पूँजीपतियों और मजदूरों में यह संघर्ष चल रहा है; इसमें पूँजीवाद का पतन व मजदूरों की विजय निश्चित है।

दोष—(१) यह संघर्ष के तत्व पर आवश्यकता से अधिक बल देता है। (२) मार्क्स के वर्ग की परिभाषा बड़ी अस्पष्ट व दोषपूर्ण है। (३) समाज में दो वर्गों के अतिरिक्त एक बड़ी संख्या मध्यमवर्ग के लोगों की है। (४) यह सिद्धान्त अतिशयोक्तिपूर्ण है। (५) मार्क्स की पूँजीवाद के विनाश की भविष्यवाणी भी सत्य नहीं सिद्ध हुई है। (६) मार्क्स की वर्गहीन समाज की स्थापना होने की कल्पना भ्रान्तिपूर्ण है।

४. पूँजीवाद (Capitalism) **का सिद्धान्त तथा विशेषताएँ**—मार्क्स के मतानुसार इसकी (१) पहली विशेषता मुनाफे की दृष्टि से उत्पादन है। (२) यह मन्दी आदि के भीषण आर्थिक संकट पैदा करता है। (३) यह साम्राज्यवाद को जन्म देता है। (४) पूँजीवाद का अधिक विकास होने पर पूँजीपति अधिक धनी तथा निर्धन और अधिक गरीब होते चले जाएँगे। (५) मध्यमवर्ग का लोप हो जाएगा। (६) पूँजी शनैः-शनैः मुट्ठी-भर लोगों के हाथों में केन्द्रित हो जाएगी। (७) पूँजीवाद का विध्वंस अवश्यम्भावी है।

दोष—मार्क्स ने समाज को पूँजीपति व सर्वहारा नामक दो वर्गों में बाँटते हुए मध्यमवर्ग के लुप्त होने और श्रमिक वर्ग की संख्या बढ़ने की कल्पना की थी, किन्तु

श्रमिक वर्ग की संख्या घट रही है और मध्यमवर्ग की संख्या बढ़ रही है । (२) मजदूरों की दशा में निरन्तर सुधार हो रहा है। (३) पूँजीवाद के विकास के साथ पूँजी मुट्ठी-भर पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित नहीं हुई है । (४) मार्क्स द्वारा पूँजीवाद के विध्वंस की भविष्यवाणी सौ वर्ष से अधिक समय बीत जाने पर भी सत्य नहीं सिद्ध हुई है।

५. अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) **का सिद्धान्त**—मार्क्स के मतानुसार मिल-मालिक मजदूर से बहुत अधिक समय तक काम लेता है और उसे इस समय में उत्पन्न किए गए माल के मूल्य का बहुत थोड़ा अंश मजदूरी के रूप में देता है, शेष वह स्वयमेव हड़प लेता है। यही अतिरिक्त मूल्य है । यह सिद्धान्त निम्नलिखित कारणों से दोषपूर्ण है—(१) वस्तु के मूल्य के निर्धारण का एकमात्र मूल तत्व मजदूर का श्रम नहीं है, किन्तु पूँजीपति की पूँजी, मशीनें, कच्चा माल, उसका पुरुषार्थ और प्रवन्धपटुता भी है। (२) पूँजीपति को श्रमिक की मजदूरी के अतिरिक्त अन्य बहुत सी बातों के लिए भी धनराशि व्यय करनी पड़ती है।

६. साम्यवादी दल का संगठन तथा कार्यक्रम—मार्क्स ने दस बिन्दुओं पर आधारित संगठन (पृ० १००) और कार्यक्रम सफल बनाने हेतु चार बातों (पृ० १०१) पर बल दिया था।

७. राज्यविषयक सिद्धान्त—मार्क्स के मतानुसार वर्तमान राज्य शासक वर्ग के हितों को सुरक्षित बनाने और अन्य वर्गों के शोषण का साधन है । पूँजीवादी व्यवस्था में राज्य पूँजीपतियों का संगठन है। यह सदैव मजदूरों का शोषण करता है, पाशविक शक्ति पर आधारित है । अतः इसकी समाप्ति बल-प्रयोग से ही की जा सकती है। भविष्य में वर्गहीन समाज की स्थापना होने पर विशेष वर्ग के हितों का पोषण करने वाले राज्य की संस्था समाप्त हो जाएगी।

दोष—(१) मार्क्स का राज्यविषयक दृष्टिकोण एकांगी, दूषित तथा विकृत है। (२) राज्य विषयक मार्क्सवादी धारणा इतिहास से पुष्ट नहीं होती है। (३) राज्य की संस्था का रूस जैसे साम्यवादी राज्यों में आधी शताब्दी से अधिक समय बीत जाने पर अभी तक अन्त नहीं हुआ है और भविष्य में भी इसकी समाप्त होने की कोई सम्भावना नहीं है।

प्रश्न

(१) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से आप क्या समझते हैं ? आर्थिक नियतिवाद तथा वर्ग-संघर्ष सम्बन्धी मार्क्स के सिद्धान्तों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए । (राजस्थान, १९७९)

(२) 'पूंजीवादी' राज्य और 'वर्ग-संघर्ष' के विषय में मार्क्स के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए । (राजस्थान, १९८०)

(३) "मार्क्स के विचार को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत किया जा सकता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि जब तक वर्ग-शोषण एवं अन्धविश्वास हैं, तब तक मार्क्स का औचित्य बना रहेगा ।" इसकी विवेचना कीजिए । (राजस्थान, १९७८)

(३) मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का आलोचनात्मक परिचय दीजिए ।

(४) इतिहास की भौतिकवादी या आर्थिक व्याख्या अथवा आर्थिक नियतिवाद के सिद्धान्त का परिचय देते हुए इसकी आलोचना कीजिए ।

(५) वर्ग-संघर्ष का क्या अभिप्राय है ? इसकी क्या आलोचना की जाती है ?

(६) मार्क्स के मतानुसार पूंजीवाद का स्वरूप स्पष्ट कीजिए। इस सिद्धान्त की आलोचना कीजिए।

(७) "अतिरिक्त मूल्य उन दो मूल्यों का अन्तर है जिसे मजदूर अदा करता है और जिसे वह वास्तव में पाता है।" मार्क्स के इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

(राजस्थान, १९७७)

(८) अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का आलोचनात्मक परिचय दीजिए।

(९) मार्क्स के राज्यविषयक सिद्धान्त का विवेचन कीजिए।

(१०) मार्क्स की राजनीतिशास्त्र को क्या देन है ? उसके प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए।

पाँचवाँ अध्याय

महात्मा गांधी [१८६९–१९४८ ई०]

गांधीवाद—महात्मा गांधी ने न केवल भारत के राजनीतिक क्षेत्र में विलक्षण कार्य किया, अपितु संसार के राजनीतिक चिन्तन में बड़ी क्रान्तिकारी मौलिक देन दी। गांधी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को **गांधीवाद** का नाम दिया जाता है। गांधी जी ने प्लेटो, अरस्तू या मार्क्स की भाँति क्रमबद्ध या व्यवस्थित रूप से किन्हीं विशेष सिद्धान्तों की विवेचना नहीं की, अपितु अपने सामने आने वाली समस्याओं के समाधान के लिए उस समय की परिस्थितियों के अनुसार चिन्तन किया, अपने विचार प्रकट किए तथा लेख लिखे। इस कारण विभिन्न अवसरों पर प्रकट किए गए उनके विचारों में कुछ विरोध भी मिलता है, अतः गांधीवाद कोई सुव्यवस्थित दर्शन नहीं है। यहाँ पहले उनके जीवन का संक्षिप्त परिचय देने के बाद उनके सिद्धान्तों का वर्णन किया जाएगा।

जीवनी—महात्मा गांधी का जन्म २ अक्टूबर १८६९ को पोरबन्दर (सौराष्ट्र) के एक वैष्णव वैश्य कुल में हुआ। उनकी माता अत्यन्त श्रद्धालु, व्रत, पूजा-पाठ और धार्मिक अनुष्ठान करने वाली थी। उन पर अपनी माता की धर्मनिष्ठा का बड़ा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त बचपन में प्रह्लाद आदि की धार्मिक कथाओं के सुनने तथा धार्मिक नाटकों के देखने का भी उन पर गहरा असर पड़ा। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक ने उन पर बड़ा प्रभाव डाला था। यही कारण था कि जब उनके स्कूल में एक बार इंस्पैक्टर महोदय निरीक्षण के लिए पधारे तथा उनके शिक्षक ने गांधी जी को दूसरे विद्यार्थियों की नकल करने का इशारा किया तो गांधी जी उसे नहीं समझे और नकल नहीं की। स्कूल में कुसंगति में पड़ जाने के कारण उन्होंने माँस खाना, तम्बाकू पीना, चोरी करना तथा झूठ बोलना शुरू किया। किन्तु बाद में अपनी भूल समझ में आने पर उन्हें बड़ी ग्लानि हुई, उन्होंने आत्महत्या तक का प्रयत्न किया। पिताजी के आगे उन्होंने सभी अपराध स्वीकार किए, सत्यनिष्ठा उनके जीवन का ध्रुवतारा बन गई। १८८७ में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद अगले वर्ष वे बैरिस्टरी के अध्ययन के लिए लन्दन गए। विलायत जाने से पहले माताजी के सम्मुख उन्होंने शपथ ली कि "मैं तीन वस्तुओं—मद्य, माँस तथा नारी—का सेवन नहीं करूँगा।"

विलायत में इस शपथ ने, सत्यनिष्ठा ने, सादे जीवन तथा आस्तिकता ने सभी प्रकार के प्रलोभनों से उनकी रक्षा की। यहाँ पर रहते हुए उन्होंने बाइबल का अध्ययन किया, इसके न्यू टैस्टामेण्ट में अहिंसा का प्रतिपादन करते हुए ईसा द्वारा **पर्वत पर दिए गए प्रवचन** (Sermon on the Mount) का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। गीता का

परिचय उन्हें सर्वप्रथम एडविन आर्नाल्ड के इस ग्रन्थ के अनुवाद 'स्वर्गीय संगीत' (Song Celestial) से मिला। वे इस पर मुग्ध हो गए। गीता उनके जीवन की मार्गदर्शिका बन गई। १० जून १८९० को दो वर्ष के परिश्रम और अध्ययन के बाद उन्हें बैरिस्टरी की उपाधि मिली, वे १२ जून को स्वदेश के लिए रवाना हो गए।

विलायत से लौटने के बाद पहले राजकोट में तथा इसके बाद बम्वई हाईकोर्ट में उन्होंने वकालत की, किन्तु बम्बई का व्यय अधिक होने के कारण वे पुनः राजकोट लौट आए। यहाँ पोरबन्दर की एक फर्म ने अपना मुकदमा लड़ने के लिए गांधी जी को एक वर्ष के लिए १८९३ में दक्षिणी अफ्रीका भेजा। गांधी जी अपने जीवन के अगले २१ वर्ष तक (१८९३—१९१४) मुख्य रूप से यहीं रहे। इसी समय उनके मौलिक सिद्धान्तों—निःशस्त्र प्रतिरोध (Passive Resistance) एवं सत्याग्रह की पद्धति का आविष्कार एवं प्रयोग हुआ। १८९४ में आपसी समझौते द्वारा उपर्युक्त मुकदमे का निपटारा हो गया।

इस बीच में गांधी जी को दक्षिणी अफ्रीका में रहते हुए वहाँ की समस्याओं की तथा सरकारी नीति की बड़ी अच्छी जानकारी हो गई थी। वे मुकदमा समाप्त होने के बाद कुछ समय के लिए भारत आना चाहते थे। इसी समय उन्होंने समाचारपत्रों में यह पढ़ा कि नेटाल सरकार भारतीयों को मताधिकार से वंचित करने के लिए एक कानून बनाने वाली है। गांधी जी ने समाचार पढ़ते ही भारत लौटने का विचार छोड़ दिया और इस विषय में आन्दोलन चलाने के लिए 'नेटाल इण्डियन कांग्रेस' की स्थापना की।

दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए गांधी जी ने अपने सिद्धान्तों का विकास और प्रयोग किया। अपने आदर्शों और सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने के लिए डरबन से कुछ मील की दूरी पर उन्होंने एक आदर्श कृषि बस्ती स्थापित की। यह उनका पहला आश्रम था, यहाँ प्रत्येक आश्रमवासी को अपने हाथ से सब काम करते हुए व्यक्तिगत श्रम और सहयोग के आधार पर काम करना पड़ता था। १९०६ तथा १९०७ में ट्रांसवाल की सरकार ने वहाँ पर भारतीयों का प्रवेश रोकने के लिए कुछ कानून बनाए। गांधी जी ने इन कानूनों के विरुद्ध एक आन्दोलन का संचालन तथा नेतृत्व किया, इस आन्दोलन के लिए 'सत्याग्रह' के नाम का आविष्कार किया गया। अन्त में, १९१४ में दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने भारतीयों के विरुद्ध बनाए गए अधिकांश कानूनों को रद्द किया, सत्याग्रह में सफलता पाने के बाद गांधी जी भारत लौट आए। भारत में अगले ३३ वर्ष तक (१९१४—१९४८) गांधी जी भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम में एवं जन-कल्याण के कार्यों में लगे रहे।

भारत आकर उन्होंने १९१५ में अहमदाबाद में साबरमती नदी के तट पर अपना एक आश्रम स्थापित किया, प्रथम विश्वयुद्ध में भारतीयों को अंग्रेजों की सहायता करने के लिए प्रेरित किया। १९१७ में, भारत में सर्वप्रथम उन्होंने बिहार के चम्पारन जिले में अपने सत्याग्रह का पहला सफल प्रयोग नील की खेती करने वाले भारतीय कृषकों पर गोरों द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों के विरुद्ध किया। १९१९ में गांधी जी ने नागरिकों की मौलिक स्वतन्त्रताएँ छीनने वाले रौलट एक्ट का शान्तिपूर्ण प्रति-रोध करने का आन्दोलन प्रारम्भ किया। ३० मार्च से ६ अप्रैल १९१९ तक इस कानून

के विरुद्ध सारे देश में हड़तालें की गईं । १३ अप्रैल को अमृतसर में जलियांवाला बाग का हत्याकाण्ड हुआ । इससे देश में ब्रिटिश सरकार के अत्याचारों के विरुद्ध तीव्र रोष उत्पन्न हुआ । देश की सबसे बड़ी राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वराज्य प्राप्ति के लिए शान्तिपूर्ण तथा सत्ययुक्त अहिंसात्मक 'असहयोग आन्दोलन' (Non-Cooperation Movement) शुरू किया । गांधी जी इस आन्दोलन को पूर्ण रूप से अहिंसात्मक रखना चाहते थे किन्तु गोरखपुर जिले में चौरीचौरा आदि कुछ स्थानों पर हिंसात्मक घटनाएँ हुईं । इस पर गांधी जी ने १९२२ में इस आन्दोलन को बन्द कर दिया ।

१९३० में गांधी जी ने पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिए 'नमक कर' आदि सरकारी कानून तोड़ने की दृष्टि से 'सविनय आज्ञा-भंग आन्दोलन' (Civil Disobedience Movement) आरम्भ किया । इसकी समाप्ति १९३१ में **गांधी-इर्विन समझौते** से हुई । १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर १९४२ में गांधी जी ने 'भारत छोड़ो' (Quit India) नामक प्रवल आन्दोलन किया । ब्रिटिश सरकार ने गांधी जी को तथा कांग्रेस के अन्य सभी नेताओं को बन्दी बना लिया । अन्त में गांधी जी तथा कांग्रेस के प्रयत्नों के फलस्वरूप १५ अगस्त १९४७ को भारत को स्वतन्त्रता मिली, किन्तु अंग्रेजों ने देश का विभाजन करने के बाद ही स्वाधीनता प्रदान की । इसके बाद देश में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष चरम सीमा पर पहुँच गया । गांधी जी ने साम्प्रदायिक विद्वेष की अग्नि शान्त करने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दी । ३० जनवरी १९४८ को एक प्रार्थना-सभा में जाते हुए गांधी जी नाथूराम गोडसे की गोलियों का शिकार होकर स्वर्गवासी हुए ।

गांधी जी की कृतियाँ—गांधी जी ने अपने सिद्धान्तों और प्रयोगों का प्रतिपादन प्रधान रूप से दो पुस्तकों—'हिन्द स्वराज्य' तथा अपनी आत्मकथा या 'मेरे सत्य के प्रयोग' (My Experiments with the Truth) में किया है । पहली पुस्तक १९०८ में लन्दन से लौटते हुए जहाज पर उन्होंने प्रश्नोत्तर की शैली में लिखी थी । इसमें पश्चिम की आधुनिक सभ्यता की बड़ी कड़ी आलोचना है, हिन्दुस्तान की वर्तमान दुर्दशा के कारणों का विवेचन है । दूसरी पुस्तक आत्मकथा गांधी जी ने अपने एक आश्रमवासी स्वामी आनन्द की प्रेरणा से १९२१ तक के अपने जीवन की घटनाओं के विवरण के रूप में लिखी है । इसके अतिरिक्त गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में 'इण्डियन ओपीनियन' नामक साप्ताहिक पत्र का, भारत में 'यंग इण्डिया', 'नवजीवन' (हिन्दी), 'हरिजन' (अंग्रेजी), 'हरिजन सेवक' (हिन्दी), 'हरिजन बन्धु' (गुजराती) आदि पत्रों का सम्पादन करते हुए अपने विचारों का प्रतिपादन किया तथा सैकड़ों भाषणों में अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट किया । भारत सरकार का प्रकाशन विभाग गांधी जी के सभी लेखों और भाषणों का प्रामाणिक संग्रह कई खण्डों में प्रकाशित कर रहा है ।

गांधी जी के विचारों के प्रेरणा-स्रोत—गांधी जी के विचारों के प्रधान स्रोतों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—पूर्वी और पश्चिमी । पूर्वी स्रोतों में उन्हें अपनी माता जी से प्राप्त वैष्णव हिन्दू धर्म के प्रभाव, जैन और बौद्ध धर्म, गीता और उपनिषदें, भारत के विभिन्न साधु-सन्तों की वाणियाँ तथा उपदेश एवं जैन साधक श्री

रायचन्द्र जी का सम्पर्क है। पश्चिमी स्रोतों में बाइबल, विशेषतः उसका 'पर्वत प्रवचन' (Sermon on the Mount), टालस्टाय (१८२८—१९१०), जॉन रस्किन (१८१९-१९००) तथा थोरो (१८१७—६२) की रचनाएँ हैं। गांधी जी को अहिंसक प्रतिकार (Passive Resistance) की कल्पना सर्वप्रथम श्यामलाल भट्ट रचित एक गुजराती कविता से सूझी थी।

उपर्युक्त पश्चिमी लेखकों तथा उनकी पुस्तकों के अतिरिक्त गांधी जी पर कार्लाइल की 'वीर-पूजा' (Hero Worship) का तथा इर्विंग वाशिंगटन की 'हज़रत मुहम्मद तथा उसके उत्तराधिकारियों के जीवन-चरित्र' का प्रभाव पड़ा। एडोल्फ जुस्ट की पुस्तक 'प्रकृति की ओर लौटो' (Return to Nature) से वे प्राकृतिक चिकित्सा के भक्त बने।

गांधी जी के मौलिक दार्शनिक सिद्धान्त

सत्य—गांधी जी के मतानुसार सत्य सत् शब्द से निकला है, इसका अर्थ है अस्तित्व या होना। उनके मतानुसार सत्य ही परमात्मा है और परमात्मा ही सत्य है। इसका कारण यह है कि सत्य वही है, जिसकी सत्ता होती है, जो सदा टिका रहता है। ब्रह्म या परमात्मा की सत्ता तीनों कालों में बनी रहती है, अतः वह सत्य है। गांधी जी अपने जीवन का ध्येय सत्य की शोध करना समझते थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा का नाम ही 'मेरे सत्य के प्रयोग' (My Experiments with the Truth) रखा है। शाश्वत सत्य की खोज के लिए वे अरबों मनुष्यों के जीवनों के बलिदान को श्रेयस्कर समझते थे।

किन्तु सत्य की शोध और ज्ञान आसान काम नहीं है। सत्य क्या है ? गांधी जी के शब्दों में "यह बड़ा कठिन प्रश्न है, किन्तु स्वयं मैंने अपने लिए इसका समाधान कर लिया है। तुम्हारी अन्तरात्मा जो कहती है, वह सत्य है। किन्तु सबका अन्तःकरण एक जैसी बात नहीं कहता है। दुष्टों की अन्तरात्मा बुरी बातों को सत्य कहती है। अतः सत्य के लिए अन्तरात्मा की शुद्धि आवश्यक है।" आत्मशुद्धि के प्रधान साधन पतंजलि के मतानुसार निम्नलिखित पाँच यम हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति को इकट्ठा न करना)। गांधी जी समझते थे कि इन साधनों के पालन से चरित्र उत्तरोत्तर निर्मल होता चला जाता है, वह सत्य के ग्रहण में अधिक समर्थ हो जाता है। गांधी जी के मतानुसार सत्य का सम्पूर्ण दर्शन अहिंसा के पालन के बाद ही हो सकता है। अतः अब अहिंसा का वर्णन किया जाएगा।

अहिंसा—अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में अहिंसा को बहुत महत्व दिया जाता रहा है। 'अहिंसा' (Non-violence) का शब्दार्थ हिंसा या हत्या न करना है। हिंसा का अर्थ किसी भी जीव को स्वार्थवश, क्रोधवश या दुःख देने की इच्छा से कष्ट पहुँचाना या मारना है। इस प्रकार हिंसा के मूल में स्वार्थ, क्रोध या विद्वेष की भावना है। अहिंसा के उपासक को इन सभी पर विजय पाते हुए प्राणिमात्र के प्रति, अपने घोरतम शत्रु के प्रति भी अगाध प्रेम और मैत्री की भावना रखनी चाहिए। इसी को

'अहिंसा' कहते हैं। सामान्य रूप से हिंसा को पाप समझा जाता है, किन्तु गांधी जी जीवन निर्वाह के लिए की जाने वाली हिंसा को पाप नहीं मानते।

अहिंसा के दो पक्ष हैं—अभावात्मक या नकारात्मक (Negative) तथा भावात्मक या सकारात्मक (Positive)। किसी प्राणी को काम, क्रोध तथा विद्वेष के अधीन होकर हिंसा न पहुँचाना इसका नकारात्मक रूप है। इससे अहिंसा के पूरे स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता है। इसका यथार्थ रूप तो इसके भावात्मक पक्ष से पता लगता है। भाव पक्ष वाली अहिंसा को सार्वभौम प्रेम और करुणा की भावना कहा जाता है। इसके चार मूलतत्व हैं : प्रेम, धैर्य, अन्याय का विरोध और वीरता।

गांधी जी की **अहिंसा का आधार** अद्वैत की भावना है। इस संसार की सभी वस्तुओं में एक ही चेतन सत्ता या ब्रह्म ओतप्रोत है। एक ही दैवी सत्ता का अंश होने से इनमें मौलिक एकता, समानता और प्रेमभाव है। यह अद्वैत की भावना सृष्टि के सभी प्राणियों के प्रति प्रेम और अहिंसा के धर्म का पालन करने के लिए बाधित करती है।

अहिंसा की श्रेष्ठता—गांधी जी इतिहास के आधार पर अहिंसा की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। द्वन्द्वात्मक संघर्ष में विश्वास रखने वाले कार्ल मार्क्स से सर्वथा विपरीत वे मानव-समाज के इतिहास को उसकी अहिंसा का निरन्तर अग्रगामी विकास मानते हैं। आदिम जातियों के बारे में कहा जाता है कि वे नरमांसभक्षी थीं। किन्तु बाद में मनुष्यों ने मनुष्यों का मांस खाना अनुचित समझा, वे शिकार द्वारा पशुओं के मांस से क्षुधा-तृप्ति करने लगे। कुछ समय बाद मानव ने आखेट द्वारा आहार प्राप्त करने की पद्धति का परित्याग किया, अब उसने खेती करना शुरू किया। इससे उसके जीवन में स्थिरता आई; गाँवों, नगरों, राष्ट्रों का तथा सभ्यता का विकास हुआ। इस प्रकार सभ्यता के उपर्युक्त विकास से यह स्पष्ट है कि इतिहास में हिंसा का प्रयोग निरन्तर घटता जा रहा है और अहिंसा का प्रयोग बढ़ रहा है। यदि ऐसा न होता, हिंसा बढ़ती चली जाती और अहिंसा की मात्रा घटती जाती, तो मानव-जाति बहुत पहले ही नष्ट हो जाती।

गांधी जी की अहिंसा की दो विशेषताएँ—गांधी जी की अहिंसा की दो बड़ी विशेषताएँ हैं : पहली विशेषता इसका सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन है तथा दूसरी इसके क्षेत्र का विस्तार करके इसे नई गति तथा नया विस्तार प्रदान करना है।

(क) **पहली विशेषता अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन है।** गांधी जी से पहले अहिंसा का सामान्य अर्थ किसी जीव का प्राण न लेना तथा इसे खान-पान के विषय तक सीमित रखना था। गांधी जी ने इसका विस्तृत विवेचन करते हुए कहा कि यह खाद्याखाद्य के विषय से परे है। मांसाहारी अहिंसक हो सकता है, फलाहारी या अन्नाहारी घोर हिंसा करते देखे जाते हैं। एक व्यापारी झूठ बोलता है, ग्राहकों को ठगता है, कम तोलता है; किन्तु यह व्यापारी चींटी को आटा डालता है, फलाहार करता है। फिर भी यह व्यापारी उस मांसाहारी व्यापारी की अपेक्षा अधिक हिंसक है, जो मांसाहार करते हुए भी ईमानदार है और किसी को धोखा नहीं देता। इस प्रकार गांधी जी ने जीवहिंसा की विवेचना करते हुए अहिंसा की परम्परागत परिभाषा और सीमा में नवीन क्रान्तिकारी परिवर्तन और विस्तार किया।

(ख) दूसरी विशेषता अहिंसा के कार्यक्षेत्र का विस्तार है। गांधी जी ने अहिंसा को व्यक्तिगत और कौटुम्बिक क्षेत्र की संकीर्ण परिधि से निकालकर इसे सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सभी प्रकार के अन्यायों का प्रतिकार करने का शस्त्र बनाया।[1] अहिंसा के विषय में गांधी जी की यह सबसे बड़ी मौलिक देन थी। भारत की स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए राजनीतिक क्षेत्र में अहिंसा के सफल प्रयोग से उन्होंने अपने उपर्युक्त दावे को सत्य सिद्ध किया। उन्होंने अन्याय व अत्याचार के विरुद्ध अहिंसा का प्रयोग 'सत्याग्रह' के रूप में किया।

अहिंसा के तीन रूप—गांधी जी ने अहिंसा के स्वरूप और प्रकारों का गम्भीर विवेचन किया है और इसके विभिन्न रूपों पर सुन्दर प्रकाश डाला है। उनके मतानुसार इसके तीन बड़े रूप हैं—वीरों की अहिंसा, निर्बलों की अहिंसा और कायरों की अहिंसा।

(क) वीरों की अहिंसा (Non-violence of the Brave)—इसे गांधी जी अहिंसा का उच्चतम और सर्वश्रेष्ठ रूप समझते थे। उनका यह कहना था कि यह अहिंसा किसी लाचारी से स्वीकार नहीं की जाती है, अपितु नैतिक दृष्टि से अपनी अन्तरात्मा की पुकार को सुनकर अपनायी जाती है; जीवन के किसी एक क्षेत्र में नहीं, अपितु सभी क्षेत्रों में इसका पालन किया जाता है। इसे स्वीकार करने वाला व्यक्ति इसको बिना किसी ननुनच के स्वीकार करता है और बड़े-से-बड़ा संकट आने पर भी अहिंसा के मार्ग से विचलित नहीं होता है। उसे इसमें अगाध विश्वास होता है; वह इसमें अपनी अविचल, अटूट निष्ठा के कारण, गांधी जी के शब्दों में, "पर्वतों तक को हिला सकता है" और समाज के समूचे जीवन में गंभीर परिवर्तन कर सकता है, जैसे गांधी जी ने भारत में किया था।

(ख) निर्बलों की अहिंसा (Non-violence of the Weak)—इसका आशय अहिंसा की ऐसी वृत्ति से है जो इस सिद्धान्त में अगाध विश्वास के कारण नहीं, अपितु परिस्थितियों से लाचार और मजबूर होकर स्वीकार की जाती है और इसे एक उत्तम नीति समझकर अपनाया जाता है। जैसे भारतीयों ने ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतिरोध करने के लिए हथियार सब भारतीयों के लिए सुलभ न होने के कारण, अहिंसा की नीति को अपनाया। यह नीति निर्बलों की अहिंसा इसलिए कहलाती है कि इसका सहारा प्रायः वही लोग लेते हैं जिनके पास भौतिक शक्ति और सामर्थ्य नहीं होती है। यदि इस अहिंसा का अनुसरण ईमानदारी, सचाई और साहस के साथ किया जाए तो इससे भी अच्छे परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं। किन्तु यह वीरों की अहिंसा जैसी प्रभावशाली नहीं है, क्योंकि यह केवल नीति पर आधारित है और आवश्यकता पड़ने पर इसका अनुयायी हिंसा को अपनाने में भी संकोच नहीं करता है।

(ग) कायरों की अहिंसा (Non-violence of the Cowards)—कायर प्रायः अपनी निर्बलता को छिपाने के लिए अहिंसा की आड़ लेता है और अपने अहिंसक होने

---

1. "I believe that it is possible to introduce uncompromising truth and honesty in the political life of the country .. I would strain every nerve to make truth and Non-violence accepted in all our national activities."

—Mahatma Gandhi.

की बड़े जोर से घोषणा करता है, किन्तु मामूली-सा संकट आने पर उसका अहिंसक रीति से सामना करने के बजाय मैदान से भाग खड़ा होता है। गांधी जी इसे अस्वाभाविक, अपमानजनक और अमानवीय मानते थे और इस प्रकार की अहिंसा से हिंसा को अधिक अच्छा समझते थे। वे चुपचाप असहाय होकर हिंसा को बर्दाश्त करने से हिंसा को ज्यादा अच्छा समझते थे। उन्होंने कहा है कि **"यदि हमारे दिल में हिंसा हो तो हिंसक होना इसकी अपेक्षा अधिक अच्छा है कि हम अपनी नपुंसकता को छिपाने के लिए अहिंसा का बाना धारण करें"**।[1] क्योंकि इस बात की आशा रखी जा सकती है कि हिंसक आदमी किसी दिन अहिंसक बन सकता है, किन्तु कायर कभी अहिंसक नहीं बन सकता। इसलिए मैंने कई बार यह कहा है कि यदि हम अपनी स्त्रियों की और अपने धर्म-स्थानों की रक्षा कष्ट उठाकर अहिंसक रीति से नहीं कर सकते हैं तो हमें आदमी होने के नाते लड़कर इनकी रक्षा करनी चाहिए।"

गांधी जी ने कहा था कि "अहिंसा की शिक्षा उसे नहीं दी जा सकती है जो मौत से डरता है और जिसमें प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं है। एक बेचारा चूहा इसलिए अहिंसक नहीं हो सकता है कि वह हमेशा बिल्ली द्वारा खाया जाता है। यदि उसमें शक्ति होती तो वह बड़ी खुशी से बिल्ली को मार देता, किन्तु वह सदा बिल्ली को देखते ही भागने की कोशिश करता है। हम उसे कायर नहीं कहते हैं, क्योंकि प्रकृति ने उसे ऐसा बनाया है। किन्तु यदि कोई मनुष्य संकट आने पर चूहे की तरह व्यवहार करता है तो उसे कायर कहना बिलकुल ठीक है। उसके दिल में हिंसा और घृणा है और अपने को नुकसान पहुँचाए बिना वह अपने शत्रु को मारना चाहता है। उसमें बहादुरी नाम की कोई वस्तु नहीं है।"[2]

गांधी जी की कार्य-पद्धति : सत्याग्रह

सत्याग्रह का नामकरण—गांधी जी ने अहिंसा के सिद्धान्त को मूर्त्त रूप देने के लिए राजनीतिक क्षेत्र में जिस कार्य-पद्धति का प्रयोग किया, वह सत्याग्रह है; इसके नाम और मौलिक सिद्धान्तों का विकास दक्षिण अफ्रीका में किया गया था। वहाँ की गोरी सरकार भारतीयों के प्रति अन्यायपूर्ण कानून पास कर रही थी। वहाँकेभारतीयों ने गांधी जी के नेतृत्व में इस अन्याय का अहिंसात्मक प्रतिरोध करने का निश्चय किया। उस समय इस आन्दोलन को 'निष्क्रिय प्रतिरोध' (Passive Resistance) का नाम दिया गया। गांधी जी को यह शब्द पसन्द नहीं था। उस समय श्री मगन लाल गांधी ने 'सदाग्रह' शब्द सुझाया, इसका अर्थ है अच्छे काम में निष्ठा। पूरे अर्थ को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से गांधी जी ने इसमें संशोधन करके इसका नाम 'सत्याग्रह' रखा। इसका अर्थ है सत्य के लिए आग्रह करना; इसका आधार है सत्य की अर्थात् सत्य से उत्पन्न होने

1. "It is better to be violent if there is violence in our breast than to put on the cloak of non-violence to cover impotence."

२. 'हरिजन,' २० जुलाई, १९३५.

वाली प्रेम तथा अहिंसा की शक्ति। यह शारीरिक बल अथवा शस्त्रों की भौतिक शक्ति से सर्वथा भिन्न है। यह आत्मा की शक्ति है।

सत्याग्रह का स्वरूप—'सत्याग्रह' का अर्थ है सत्य पर आग्रह करते हुए अत्याचारी का प्रतिरोध करना, उसके सामने सिर को न झुकाना तथा उसकी बात को न मानना। यदि लोग यह दृढ़ संकल्प कर लें और यह घोषणा कर दें कि 'तुम चाहे जो करो, हम तुम्हारी आज्ञा का पालन नहीं करेंगे' तो अत्याचारी शासक उन्हें मरवा सकता है, किन्तु उनसे अपनी आज्ञा का पालन नहीं करवा सकता है। जब उसे इस बात का निश्चय हो जाता है कि वह अपने प्रजाजनों को मार डालने पर भी अपनी इच्छा इनसे नहीं मनवा सकता तो वह प्रजा का दमन करना निरर्थक समझता है और इसे छोड़ देता है। इसके अतिरिक्त उसके हृदय पर सत्याग्रहियों द्वारा झेली जाने वाली कठोर यातनाओं और कष्टों का भी प्रभाव पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप अन्त में एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि अत्याचारी की आँखें खुल जाती हैं, उसे अपने किए अत्याचारों पर पश्चात्ताप होने लगता है। उस समय वह सत्याग्रहियों से समझौता कर लेता है और सत्याग्रह की विजय होती है। यह आतमबल द्वारा अत्याचारी के हृदय-परिवर्तन पर बल देने वाली प्रक्रिया है।

यह आतमबल का शरीरबल अथवा पशुबल के साथ संघर्ष है। इसमें पशुबल पर आत्मबल की विजय निश्चित है। एक भी सच्चरित्र और दृढ़प्रतिज्ञ सत्याग्रही बड़े-से-बड़े साम्राज्य से टक्कर ले सकता है। स्वयं गांधी जी ने शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लिया था।

सत्याग्रही के गुण—'हिन्द स्वराज्य' में गांधी जी ने १६०८ में सत्याग्रही के आवश्यक गुण सत्यनिष्ठा या ईमानदारी, निर्भयता, ब्रह्मचर्य, निर्धनता और अहिंसा बताए थे। सत्यनिष्ठा का अर्थ है कि सत्याग्रही कभी किसी छल, झूठ या चालाकी का आश्रय नहीं लेता है। निर्भयता सत्याग्रही का एक बड़ा गुण है। उसे सभी बातों में निर्भय होना चाहिए ; किसी प्रकार की मोह-ममता न रखकर भूमि, घर, रुपया-पैसा, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा जीवन तक का बलिदान करने को तैयार होना चाहिए। ब्रह्मचर्य का अर्थ विषय-वासना के बन्धनों से मुक्त होना है। सत्याग्रही को निर्धनता का व्रत लेने की आवश्यकता है। पैसे का लोभ और सत्याग्रही की साधना दोनों चीजें एकसाथ नहीं हो सकती हैं। अहिंसा सत्याग्रह का मूल है ; इसका अर्थ है मन, वचन तथा कर्म से अहिंसा अर्थात् शत्रु को न तो मारना-पीटना, न कठोर वचन कहना और न मन से उसका बुरा सोचना। 'हिन्द स्वराज्य' में प्रतिपादित उपर्युक्त व्रतों में गांधी जी ने कुछ अन्य व्रतों की वृद्धि करके ११ व्रतों का पालन और साधना आवश्यक बताई। ये व्रत निम्नलिखित हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह या असंग्रह, शरीर-श्रम, अस्वाद, निर्भयता, सब धर्मों को समान दृष्टि से देखना, स्वदेशी तथा अस्पृश्यता-निवारण।

सत्याग्रह के नियम—सत्याग्रह के शस्त्र का प्रयोग बड़ी सावधानी और बुद्धिमत्ता के साथ उस समय करना चाहिए, जब शान्तिपूर्ण रीति से अन्याय का प्रतिकार करने के अन्य साधनों का प्रयोग विफल हो चुका हो। सत्याग्रह शुरू करने से पहले अपनी

न्यूनतम माँग निश्चित कर लेनी चाहिए, इस माँग को पूरा करने पर आग्रह करना चाहिए और घोर अत्याचार और दमन होने पर भी इस माँग के पूरा होने तक आन्दोलन जारी रखना चाहिए। इसमें अहिंसा का पालन पूर्ण रूप से आवश्यक है। इसका उद्देश्य विरोधी को हराना या नीचा दिखाना नहीं, किन्तु उसका हृदय-परिवर्तन करके उसे अपने अनुकूल बनाना है। यह कार्य सत्याग्रही अपने ऊपर कष्ट झेलकर करता है।

सत्याग्रही के वैयक्तिक जीवन में गांधी जी ने प्रधान रूप से निम्नलिखित नियमों के पालन पर बल दिया था—

(१) सत्याग्रही अपने मन में गुस्से को कोई स्थान नहीं देगा।

(२) वह विरोधियों के रोष को सहन करेगा।

(३) ऐसा करते हुए वह बदले की भावना से विरोधियों पर हाथ नहीं उठाएगा। शत्रु द्वारा क्रोधावेश में दी गई आज्ञा, दण्ड या अन्य किसी प्रकार के भय के सामने अपना सिर नहीं झुकाएगा।

(४) जिस समय कोई अधिकारी सविनय आज्ञा-भंग करने वाले को पकड़ने आएगा तो वह स्वयं गिरफ्तार हो जाएगा। जब कोई अधिकारी उसकी सम्पत्ति जब्त करने अथवा उसे ले जाने के लिए आएँगे तो वह उनका प्रतिकार नहीं करेगा।

(५) यदि सत्याग्रही किसी सम्पत्ति का ट्रस्टी है तो वह इसे सरकार के कब्जे में देने से इनकार करेगा, भले ही उसके प्राण खतरे में पड़ जाएँ।

(६) सविनय कानून-भंग करने वाला विरोधियों का भी अपमान नहीं करेगा, ऐसा कोई नारा नहीं लगाएगा जो अहिंसा के विरुद्ध हो।

(७) इस संघर्ष में यदि कोई किसी अधिकारी का अपमान करता है अथवा उस पर हमला करता है तो सविनय आज्ञा-भंगकारी अपने प्राणों को संकट में डालकर भी उस अधिकारी की रक्षा करेगा।

सत्याग्रह के विभिन्न रूप—गांधी जी ने भारत के राजनीतिक आन्दोलनों में सत्याग्रह का तीन विभिन्न रूपों में प्रयोग किया—

(क) असहयोग (Non-Cooperation)

(ख) सविनय आज्ञा-भंग (Civil Disobedience)

(ग) व्यक्तिगत सत्याग्रह (Individual Satyagraha)

इससे पहले दक्षिण अफ्रीका में उनके द्वारा चलाए गए आन्दोलन को 'निष्क्रिय प्रतिरोध' (Passive Resistance) का नाम दिया जाता है, यद्यपि उन्होंने स्वयं इसे 'सत्याग्रह आन्दोलन' कहा था।

(क) असहयोग आन्दोलन—१९२०-२१ में गांधी जी द्वारा चलाए गए आन्दोलन को 'असहयोग' का नाम दिया गया, क्योंकि इस समय गांधी जी ने इस बात पर बल दिया था कि ब्रिटिश सरकार की पराधीनता से मुक्त होने का एकमात्र उपाय भारतीयों द्वारा ब्रिटिश सरकार से सब प्रकार का असहयोग करना—उनकी नौकरियों को छोड़ना, अदालतों, स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार करना है। यदि सरकार को शासन-कार्य में सहायता देने वाले हजारों व्यक्ति ब्रिटिश सरकार से असहयोग कर दें तो मुट्ठी-भर अंग्रेज भारत पर शासन नहीं कर सकते हैं। इससे भारतवर्ष को अहिंसक

रीति से स्वराज्य मिल जाएगा।

(ख) **सविनय आज्ञा-भंग**—गांधी जी का दूसरा आन्दोलन १९३०-३१ में सविनय आज्ञा-भंग का था। जब ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार भारत को पूर्ण स्वराज्य देना स्वीकार नहीं किया तो गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार के अन्यायपूर्ण कानूनों की अवहेलना करने के लिए सविनय आज्ञा-भंग आन्दोलन चलाया।

(ग) **व्यक्तिगत सत्याग्रह**—१९४०-४१ में अंग्रेजों द्वारा भारत को द्वितीय विश्वयुद्ध में घसीटने के बाद उन्होंने ब्रिटिश सरकार के विरोध में व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन शुरू किया, इसमें श्री विनोबा भावे को प्रथम सत्याग्रही बनाया गया।

इन तीन अखिल भारतीय सत्याग्रह आन्दोलनों के अतिरिक्त गांधी जी के नेतृत्व में कई अन्य सत्याग्रह भी सफलतापूर्वक चलाए गए।

सत्याग्रह के साधन—गांधी जी ने सामूहिक रूप से बड़े पैमाने पर सत्याग्रह के लिए निम्नलिखित साधनों के प्रयोग का परामर्श दिया है—(क) असहयोग, (ख) सविनय कानून-भंग, (ग) उपवास, (घ) हिजरत या देशत्याग, (ङ) धरना, (च) हड़ताल, (छ) सामाजिक बहिष्कार।

(क) **असहयोग**—किसी देश का शासन उसकी सैनिक शक्ति पर नहीं, अपितु जनता के सक्रिय सहयोग पर आधारित होता है। यदि जनता सरकार को यह सहयोग या समर्थन न प्रदान करे तो शासन सर्वथा निराधार होकर शीघ्र समाप्त हो जाएगा। किन्तु असहयोग के समय सत्याग्रही को सर्वथा अहिंसक होना चाहिए।

(ख) **सविनय कानून-भंग**—दूसरा साधन सविनय कानून-भंग करने का है। गांधी जी ने १९३० में इसका आन्दोलन चलाया था। इसके द्वारा अन्यायपूर्ण कानूनों की अवहेलना की जाती है।

(ग) **उपवास**—तीसरा साधन उपवास है। गांधी जी इसे अपने शस्त्रागार में सबसे अधिक फलदायक अस्त्र मानते थे। उपवास के दो बड़े प्रयोजन आत्मशुद्धि तथा असत्य और अन्याय के विरुद्ध प्रतिकार हैं। गांधी जी उपवास को न केवल आत्मशुद्धि के लिए, अपितु दूसरों की शुद्धि के लिए और राजनीतिक समस्याओं को हल करने के लिए भी करते रहे हैं। गांधी जी ने अपने उपवासों से अस्पृश्यता की और हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्याओं का सराहनीय समाधान किया।

(घ) **हिजरत या देशत्याग**—यह बहुत पुराना साधन है। गांधी जी यह समझते थे कि जब किसी देश में शासक के अत्याचार असह्य हो जाएँ, वहाँ सम्मानपूर्वक जीवन बिताना असम्भव हो जाए तो सत्याग्रही को वह स्थान छोड़कर चला जाना चाहिए। १९२८ के करबन्दी आन्दोलन में बारडोली के कृषकों पर जब भीषण अत्याचार किए गए तो गांधी जी ने उन्हें हिजरत करने की सलाह दी। वहाँ के किसान पड़ोस के बड़ोदा राज्य में चले गए।

(ङ) **धरना** (Picketing)—धरना देकर बैठने का अर्थ है कि जब तक हमारी बात नहीं मानी जाएगी, तब तक हम एक आसन पर स्थिर होकर बैठे रहेंगे। वे शान्तिपूर्ण रीति से धरना देने के पक्षपाती थे।

(च) **हड़ताल** (Strike)—इसका आशय किसी अन्याय का प्रतिकार करने के

लिए सारे व्यापार और कारोबार को तथा अन्य सभी दुकानों और कार्यालयों को बन्द रखना है। इसका उद्देश्य सरकार और जनता का ध्यान किसी अन्याय की ओर आकृष्ट करना तथा उसका प्रतिकार करना है। गांधी जी हड़ताल का प्रयोग विशुद्ध अहिंसक रहते हुए ही करना चाहते थे। श्रमिक संघवादियों (Syndicalists) की तरह वे हड़ताल का हिंसापूर्ण प्रयोग नहीं करना चाहते थे।

(छ) **सामाजिक बहिष्कार**—यदि कोई व्यक्ति समाज द्वारा जघन्य या बुरा समझा जाने वाला काम करता है तो उसकी जाति या बिरादरी उसके साथ सभी प्रकार का सामाजिक सम्पर्क रखना बन्द कर देती है, दूसरे शब्दों में इसे हुक्का-पानी बन्द करना कहते हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उस पर इसका प्रबल प्रभाव पड़ता है और वह समाज-विरोधी कार्य छोड़ने के लिए बाधित हो जाता है। गांधी जी ने इस साधन का प्रयोग अहिंसक रूप से किए जाने पर बहुत बल दिया है। अन्याय करने वाले किसी सरकारी अधिकारी का बहिष्कार इस रूप में भी हो सकता है कि उसके घर में काम करने वाले नौकर-चाकर और भंगी काम करना छोड़ दें, उसे दुकानदार खाद्य-सामग्री और वस्त्र देने से इनकार करें, डाक्टर उसका इलाज करना बन्द कर दें, गांधी जी की दृष्टि में ऐसा करना हिंसापूर्ण दबाव डालना है। किन्तु यदि ऐसे व्यक्ति को अपने सामाजिक समारोहों तथा पर्वों पर निमन्त्रित न किया जाए तो ऐसा अहिंसक बहिष्कार सर्वथा न्यायोचित है।

राजनीति और धर्म का सम्बन्ध

सत्याग्रह के अतिरिक्त गांधी जी की एक बड़ी विशेषता राजनीति को धार्मिक तथा आध्यात्मिक बनाना था। उनसे पहले राजनीति और धर्म दो सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र क्षेत्र समझे जाते थे। धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता था। धर्म ऋषि-मुनियों, साधु-सन्तों और महात्माओं का क्षेत्र था; राजनीति धर्म और नैतिकता से कोई सम्बन्ध न रखने वाले धूर्त्त, चालाक, अवसरवादी, न्यायान्यायविवेक-शून्य राजनीतिज्ञों का रंगमंच माना जाता था। गांधी जी ने इन दोनों का अद्भुत समन्वय किया। गांधी जी ने भारतीय जनता के कल्याण के लिए साधु-सन्तों की वैयक्तिक साधना के लोभ का परित्याग किया और राजनीति में प्रवेश करके भारतीय राजनीति को उच्च नैतिकता और धार्मिकता की भावना से ओत-प्रोत किया।

उनकी धार्मिक भावना सभी क्षेत्रों में अन्याय और अत्याचार का प्रबल प्रतिरोध करती थी। दक्षिण अफ्रीका में तथा भारत में वह सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र के सभी अन्यायों के विरुद्ध आजीवन संघर्ष करते रहे, इसके लिए उन्होंने सत्य और अहिंसा के धार्मिक साधनों का प्रयोग किया तथा साध्य के समान साधन की पवित्रता और नैतिकता बनाए रखने पर बल दिया। उन्होंने धार्मिक विश्वासों—आस्तिकता, आत्मबल की प्रधानता, चराचर जगत् में एक ही सत्ता का व्याप्त होना, अहिंसा, सत्य आदि के सिद्धान्तों को राजनीतिक क्षेत्र में लागू किया। उनके मतानुसार मनुष्य का सबसे बड़ा लक्ष्य अपनी आत्मा का विकास करना था; यह तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि

वह समूचे मानव-समाज से अपने को अलग न समझे और सब व्यक्तियों के हित-साधन को अपने जीवन का लक्ष्य न बनाए। इसकी पूर्ति के लिए उसे राजनीति में भाग लेना चाहिए। उदाहरणार्थ, राजनीतिक बुराइयाँ—पराधीनता और इससे उत्पन्न होने वाले दुष्परिणाम आत्मा के विकास में बाधक हैं। अतः इनके लिए राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करना आवश्यक है। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष करना अनिवार्य है। इस प्रकार धर्म और राजनीति अभिन्न हैं, इनमें गहरा सम्बन्ध है।

गांधी जी राजनीति को धर्ममूलक तथा सत्य और अहिंसा के धार्मिक सिद्धान्तों से ओत-प्रोत और संचालित किया जाने वाला मानते थे, वे राजनीति को धार्मिक क्षेत्र के समान आध्यात्मिक और शुद्ध पवित्र बनाना चाहते थे।

मानवीय प्रकृति का स्वरूप—इस संसार में सर्वत्र भगवान् का रूप देखने वाले गांधी जी मानव-प्रकृति में ईश्वर के दिव्य अंश का दर्शन करते हैं। उनके मतानुसार प्रत्येक प्राणी की आत्मा सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त दैवी सत्ता का अंश है। वे मनुष्य को न तो विशुद्ध देवता समझते थे और न कोरा पशु। उनका यह कहना था कि "हम में से प्रत्येक प्राणी सत्-असत् का, अच्छाई-बुराई का तथा दैवी-आसुरी प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण है। हममें बुराई की मात्रा बहुत अधिक है। मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वह मुझे इससे मुक्त करके शुद्ध एवं पवित्र बनाए।" वे यह जानते थे कि आरम्भ में, मनुष्य में पाशविक प्रवृत्तियाँ प्रबल थीं। अतः वे इस बात पर बल देते थे कि मनुष्य को अपनी पाशविक प्रवृत्तियों का दमन करते हुए दैवी प्रवृत्तियों को विकसित करना चाहिए।

गांधी जी को मनुष्य की प्रकृति के सुधार में अगाध विश्वास था। बुरे-से-बुरे मनुष्य में भी दैवी प्रवृत्तियों का सात्विक अंश होता है। उसे प्रेरित और जागृत करके उसका सुधार किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति में ऊँचा उठने की सामर्थ्य है, साधारण-से-साधारण व्यक्ति दैवी गुणों का विकास करके अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है, क्योंकि सब व्यक्तियों में एक ही दैवी आत्मा का निवास है।

राज्यविषयक सिद्धान्त

गांधी जी किसी भी रूप में राज्य की सत्ता के प्रबल विरोधी तथा अराजकतावादी (Anarchist) थे। वे दार्शनिक, नैतिक, ऐतिहासिक और आर्थिक कारणों के आधार पर राज्य का विरोध करते थे, अतः उनके सिद्धान्तों को दार्शनिक अराजकतावाद (Philosophical Anarchism) कहा जाता है।

राज्य का विरोध करने के कारण

(१) दार्शनिक आधार पर राज्य का विरोध इसलिए किया जाता है कि राज्य में व्यक्ति की नैतिकता के विकास के कोई अवसर नहीं हैं। कोई कार्य उसी दशा में नैतिक हो सकता है, जब उसका करना हमारी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर हो। कोई भी

ऐसा कार्य, जो हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं है, नैतिक नहीं कहा जा सकता है । राज्य अनैतिक इसलिए है कि वह हमें सब कार्य अपनी इच्छा से नहीं, किन्तु दण्ड के भय से और कानून की शक्ति से बाधित करके कराना चाहता है।

(२) राज्य के विरोध का एक कारण यह भी है कि वह हिंसा और पाशविक शक्ति पर आधारित है। राज्य कितना ही अधिक लोकतन्त्रात्मक क्यों न हो, उसका आधार सेना और पुलिस का पाशविक बल है। गांधी जी अहिंसा के पुजारी हैं, वे राज्य का विरोध इसलिए करते हैं कि यह हिंसामूलक है ।

(३) राज्य के विरोध का तीसरा कारण इसके अधिकारों में निरन्तर वृद्धि होना है, इससे व्यक्ति के विकास में बड़ी बाधा पहुँच रही है। गांधी जी ने एक बार यह कहा था—**"मैं राज्य की सत्ता में वृद्धि को बहुत ही भय की दृष्टि से देखता हूँ, क्योंकि ऊपरी तौर से तो वह शोषण को कम-से-कम करके लाभ पहुँचाती है, परन्तु मनुष्यों के उस व्यक्तित्व को नष्ट करके वह मानव-जाति को अधिकतम हानि पहुँचाती है जो सब प्रकार की उन्नति की जड़ है ।"**[1]

अतः गांधी जी का आदर्श, राज्य की समाप्ति करना तथा इसके स्थान पर राज्यहीन लोकतन्त्र (Stateless Democracy) की स्थापना करना है । इसमें सब व्यक्ति सामाजिक जीवन का स्वयमेव अपनी इच्छा से नियन्त्रण करते हैं, मनुष्यों का इतना अधिक विकास हो जाता है कि वे अपने कर्त्तव्यों और नियमों का स्वेच्छापूर्वक पालन करते हैं । इस स्थिति में राज्य जैसी किसी राजनीतिक सत्ता की आवश्यकता नहीं रहती ।

गांधी जी का आदर्श, अराजक लोकतन्त्रीय समाज सत्याग्रह के सिद्धान्तों का पालन करने वाले व्यक्तियों के स्वावलम्बी ग्रामीण समुदायों का संघ (Federation of Village Communities) है। इस समाज का निर्माण विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) पर तथा स्वेच्छापूर्ण सहयोग के आधारों पर होगा, सब व्यक्तियों के समान अधिकार होंगे, सबको अपनी योग्यता के अनुसार समाज की सेवा का पूरा अवसर दिया जाएगा। इस समाज में सब व्यक्तियों के लिए शारीरिक श्रम करना आवश्यक होगा । वे अपनी आवश्यकताओं के लिए अनिवार्य सम्पत्ति से अधिक अपने पास किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं करेंगे। प्रत्येक व्यक्ति को अपने सब कार्य स्वयमेव करने चाहिएँ, किसी व्यक्ति को मजदूरी पर रखकर उससे काम नहीं लेना चाहिए। इस समाज में किसी प्रकार का शोषण नहीं होना चाहिए । गांधी जी यद्यपि मशीनों के प्रयोग के विरोधी नहीं थे, तो भी वे अहिंसक समाज का आधार लघु ग्रामोद्योगों और कुटीर उद्योगों (Cottage Industries) को मानते थे । इसका कारण यह है कि मशीनों से उत्पादन किए जाने पर हाथ से काम करने वालों की संख्या कम हो जाएगी तथा देश की बेकारी में भीषण वृद्धि होगी।

1. "I look upon an increase of the power of the state with the greatest fear because, although while apparently doing good by minimizing exploitation, it does the greatest harm to mankind by destroying individuality which lies at the root of all progress."

—Mahatma Gandhi.

गांधी जी के आदर्श समाज में रेलगाड़ियाँ, भारी मशीनें, न्यायालय, वकील और बड़े शहर नहीं होंगे। उनका यह विश्वास था कि वकील झगड़े और डाक्टर बीमारी बढ़ाते हैं। यदि समाज से दोनों का लोप हो जाए तो समाज की कोई हानि नहीं होगी, अपितु उसका कल्याण ही होगा।

व्यक्ति का साध्य और राज्य का साधन होना—गांधी जी यह समझते थे कि राज्य अपने-आपमें कोई साध्य नहीं है, अपितु व्यक्ति को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी परिस्थितियों को अच्छा बनाने में सहायता देने का साधन है। व्यक्ति राज्य के लिए नहीं, अपितु राज्य व्यक्ति के लिए है। राज्य का प्रधान कार्य सभी व्यक्तियों के अधिकतम हित का सम्पादन करना है। इसका लक्ष्य **सर्वोदय** अर्थात् सब व्यक्तियों का कल्याण है। गांधी जी को राज्य पर बहुत अविश्वास था, वे समझते थे कि राज्य शोषण का साधन है और अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता है। इसके शक्तिशाली होने से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। अतः वे राज्य द्वारा उसके अधिकारों का दुरुपयोग होने पर उसके प्रतिरोध करने का अधिकार सत्याग्रही व्यक्ति को प्रदान करते हैं।

गांधी जी व्यक्ति को प्रधानता देते हैं, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे बेन्थम, मिल आदि पश्चिमी विचारकों के व्यक्तिवाद में विश्वास रखते थे। उनका व्यक्तिवाद पश्चिम के व्यक्तिवाद की भाँति पूँजीवाद या व्यक्तिगत स्वार्थ का समर्थन नहीं करता है। वे सम्पत्ति का वितरण लोगों की आवश्यकता के अनुसार करना चाहते थे, किन्तु यह कार्य राज्य की ओर से जोर-जबर्दस्ती से न होकर व्यक्तियों के हृदय-परिवर्तन से होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वे व्यक्ति के अधिकारों के साथ-साथ उसके कर्त्तव्यों पर बहुत बल देते थे।

प्रभुसत्ता का विरोध—बहुलवादियों तथा अराजकतावादियों की भाँति गांधी जी राज्य की ऐसी निरंकुश प्रभुसत्ता के विरोधी थे, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का प्रधान कर्त्तव्य आँख मूँदकर राज्य की आज्ञा का पालन करना है। इसके विपरीत गांधी जी विशुद्ध नैतिक सत्ता पर आधारित जनता की प्रभुसत्ता में विश्वास रखते थे। वे नैतिकता का विरोध करने वाले सभी कानूनों का प्रतिरोध करने का व्यक्ति को अधिकार ही नहीं प्रदान करते हैं, अपितु उसका यह कर्त्तव्य समझते हैं। उनके मतानुसार सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए ऐसी व्यवस्था आवश्यक है। किन्तु इससे उत्पन्न होने वाली अराजकता के दोष को कम करने के लिए उन्होंने राजकीय कानूनों की अवहेलना को अहिंसात्मक और सविनय बताया है और सत्याग्रही के लिए बड़ी कड़ी शर्तें रखी हैं, इनसे अराजकता और उच्छृंखलता की प्रवृत्ति पर बड़ी मात्रा में नियन्त्रण रखा जा सकता है।

राज्य का कार्यक्षेत्र—गांधी जी राज्य के कार्यक्षेत्र को अधिकतम मात्रा तक घटाने के पक्ष में थे, ताकि राज्य कम-से-कम शासन करे। अतः वे राज्य के कार्यों को कम करके इन्हें स्वेच्छापूर्वक काम करने वाली दूसरी संस्थाओं को सौंपना चाहते थे। राज्य के कार्यों का एकमात्र लक्ष्य जनता का कल्याण या सर्वोदय की भावना होनी चाहिए। जन-कल्याण का विरोध करने वाले सभी राजकीय कार्यों का संशोधन या समाप्ति होनी चाहिए।

सच्चा लोकतन्त्रीय शासन उसी देश में होता है, जहाँ राज्य के हस्तक्षेप के बिना ही सभी कार्य निर्विघ्न रीति से चलते रहते हैं।

राज्य को अपने कार्यों में शक्ति का प्रयोग कम-से-कम करना चाहिए। उसे जनता की अधिकतम सद्भावना पर आधारित नैतिक सत्ता द्वारा ही समूचा शासन चलाना चाहिए। अहिंसक राज्य में अपराधों की तथा बल-प्रयोग की मात्रा कम हो जाएगी। फिर भी यदि कुछ समाज-विरोधी, आज्ञाभंग तथा हिंसा करने वाले तत्व बने रहेंगे तो इनका दमन करने के लिए सरकार को शक्ति का प्रयोग करना चाहिए। गांधी जी के मत में राज्य के लिए फौज अनावश्यक है, किन्तु पुलिस आवश्यक है। गांधी जी समाज-विरोधी तत्वों का दमन करने के लिए पुलिस को आवश्यक मानते हैं।

विकेन्द्रीकरण
(Decentralisation)

गांधी जी राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में शक्ति और धन के केन्द्रीकरण को सब बुराइयों की जड़ समझते थे, अतः विकेन्द्रीकरण पर बहुत बल देते थे। **इसी लिए यह कहा जाता है कि गांधीवाद का सार विकेन्द्रीकरण है।**[1] वे निम्नलिखित कारणों से इसके विरोधी थे—

(१) **पहला कारण इसका अहिंसक समाज की कल्पना से उग्र विरोध था।** वर्तमान राज्यों के अधिकारों में निरन्तर वृद्धि होने से इनमें शक्ति का केन्द्रीकरण हो रहा है, अतः हिंसा को कम करने के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक क्षेत्र में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को कम किया जाए। आर्थिक क्षेत्र में भी यही स्थिति है। जब मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगता है तो उद्योगों का संचालन मुट्ठी-भर पूंजीपतियों के हाथ में चला जाता है। इस धन का वितरण ठीक न होने के कारण समाज में शोषण, गरीबी, भुखमरी और आर्थिक विषमता बढ़ती चली जाती है। विभिन्न देशों में पूँजीपति अपने कारखानों के लिए कच्चा माल पाने तथा अपने तैयार माल की मण्डियाँ प्राप्त करने के लिए साम्राज्यों के निर्माण की होड़ प्रारम्भ कर देते हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, अशान्ति और महायुद्ध उत्पन्न होते हैं। इनमें हिंसा अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, इसे रोकने के लिए उत्पादन के क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योगों को समाप्त करके लघु ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

(२) **दूसरा कारण केन्द्रीकरण द्वारा व्यक्ति के विकास में बाधा डालने वाले दुष्परिणामों का उत्पन्न होना है।** राज्य में शक्तियों का अत्यधिक केन्द्रीकरण स्थानीय स्वशासन की मात्रा को कम करता है, व्यक्ति पर विभिन्न प्रकार के अंकुश और नियन्त्रण लगाता है, व्यक्ति के मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास में बाधा डालता है। अतः गांधी जी लास्की एवं कोल जैसे विचारकों की भाँति आधुनिक राज्यों में विकेन्द्रीकरण को परम आवश्यक समझते हैं।

1. "The keynote of Gandhism is decentralisation."

विकेन्द्रीकरण का स्वरूप—(क) राजनीतिक क्षेत्र में—गांधी जी की विकेन्द्रीकरण की नीति का यह अभिप्राय था कि ग्राम पंचायतों को अपने-अपने क्षेत्र के गाँवों का प्रबन्ध और प्रशासन करने के लिए सम्पूर्ण अधिकार दे दिए जाएँ। इनके मामलों में प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय सरकारों का हस्तक्षेप और नियन्त्रण न्यूनतम होना चाहिए। सभी गाँव आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी तथा राजनीतिक दृष्टि से प्रशासन के लिए पूर्णतः सक्षम होने चाहिएँ। उन्होंने स्वावलम्बी गाँव का सुन्दर चित्र उपस्थित करते हुए यह लिखा था कि—

"ग्राम स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि वह एक ऐसा पूर्ण प्रजातन्त्र होगा, जो बड़ी जरूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं होगा। और फिर भी बहुतेरी दूसरी जरूरतों के लिए, जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा, वह परस्पर सहयोग से काम लेगा। इस तरह हर एक गाँव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरत का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर ले।

"हर एक गाँव में, गाँव की अपनी नाटकशाला, पाठशाला और सभा-भवन रहेगा। पानी के लिए उसका अपना इन्तजाम होगा, वाटर वर्क्स होंगे जिससे गाँव के सभी लोगों को शुद्ध पानी मिल सकेगा। कुँओं और तालाबों पर गाँव का पूरा नियन्त्रण रखकर यह काम किया जा सकता है। बुनियादी तालीम के आखिरी दरजे तक की शिक्षा सबके लिए लाज़िमी होगी। जहाँ तक हो सकेगा, गाँव के सारे काम सहयोग के आधार पर किए जाएँगे। ग्राम का शासन ग्राम-पंचायत द्वारा संचालित होगा। पंचायत ही ग्राम की व्यवस्थापिका सभा, कार्यकारिणी, सरकार और न्यायपालिका अथवा सब कुछ होगी।"

गांधी जी का यह विश्वास था कि वर्तमान राज्यों में शक्तियों का अधिक केन्द्रीकरण स्थानीय प्रशासन की मात्रा को कम करता है तथा व्यक्ति पर विभिन्न प्रकार के अंकुश और नियन्त्रण लगाता है। इस प्रकार केन्द्रीकरण व्यक्ति के मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास में बाधा डालता है। अतः सत्ता का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए और ग्राम-पंचायतों को अधिक-से-अधिक अधिकार दिए जाने चाहिएँ।

गांधी जी ने, १९४२ में, सुप्रसिद्ध अमरीकी पत्रकार श्री लुई फिशर के प्रश्नों का उत्तर देते हुए सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर बल दिया और कहा था कि—**"वर्तमान समय की सारी शासन-सत्ता का केन्द्र नई दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई जैसे बड़े शहरों में है। मैं यह चाहता हूँ कि सत्ता को भारत के ७ लाख गाँवों में बाँट दिया जाए।**[1] इसका यह अर्थ होगा कि किसी के कोई अधिकार नहीं रहेंगे। दूसरे शब्दों में मैं यह चाहता हूँ कि इम्पीरियल बैंक में जमा किए गए ७ लाख डालर ७ लाख गाँवों में बाँट दिए जाएँ और प्रत्येक गाँव को एक-एक डालर दे दिया जाए जो कभी नष्ट नहीं होगा।" उन दिनों भारत पर जापानी आक्रमण की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए उन्होंने कहा था, "इम्पीरियल बैंक में जमा किए गए ७ लाख डालरों को जापानी बमवर्षक द्वारा गिराया गया एक बम

1. "You, see, the centre of power now is in Delhi, or in Calcutta and Bombay or in the big cities, I would have it distributed among the seven hundred thousand villages of India."

—Mahatma Gandhi, June, 1942.

नष्ट कर सकता है, किन्तु यदि वे ७ लाख गाँवों में बँटे होंगे तो उन्हें इन गाँवों से कोई छीन नहीं सकता है।"

जुलाई १९४६ में गांधी जी ने पंचायत पद्धति पर बल देते हुए यह लिखा था कि भारत के स्वतन्त्र होने पर पंचायती राज की व्यवस्था लागू की जानी चाहिए। उनके शब्दों में, "सच्ची स्वतन्त्रता इसी व्यवस्था से मिल सकती है। भारतीय स्वाधीनता का श्रीगणेश निचली इकाई से होना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक गाँव स्वावलम्बी होगा और वह अपने मामलों का स्वयमेव प्रबन्ध करेगा। यहाँ तक कि वह अपनी रक्षा भी स्वयमेव करेगा। इस नई व्यवस्था में असंख्य गाँव सम्मिलित होंगे। **किन्तु एक-दूसरे के ऊपर चढ़ने वाले पिरामिड की भाँति नहीं होंगे, अपितु समुद्र के जल के उन वृत्तों के समान होंगे जो एक ही स्तर पर रहते हैं और क्रमशः बड़े होते जाते हैं।"**

जिन दिनों भारत का नवीन शासन-विधान बनाया जा रहा था, उन दिनों उन्होंने पंचायती राज पर बल देते हुए यह कहा था कि **केन्द्र में बैठे २० व्यक्ति लोकतन्त्र को नहीं चला सकते हैं। वस्तुतः यह लोकतन्त्र नीचे से स्वावलम्बी गाँवों द्वारा चलाया जाना चाहिए।**[1] ६ जनवरी १९४८ को प्रार्थना-सभा में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था, "भारत के सच्चे लोकतन्त्र में असली इकाई गाँव ही है। यदि एक भी गाँव पंचायती राज चाहता है तो इसे कोई रोक नहीं सकता है। सच्चा लोकतन्त्र केन्द्र में बैठे हुए बीस व्यक्तियों द्वारा नहीं चलाया जा सकता। यह वस्तुतः प्रत्येक गाँव की जनता द्वारा नीचे से चलाई जाने वाली व्यवस्था है।"

गांधी जी के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि उनकी कल्पना में गाँव शासन, उत्पादन, वितरण आदि के पूर्ण अधिकार रखता है। गाँवों को इस प्रकार सब अधिकार देकर गांधी जी राजनीतिक सत्ता का पूर्ण विकेन्द्रीकरण करना चाहते हैं।

(ख) **आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण**—इसका अभिप्राय बड़े पैमाने पर मशीनों द्वारा कारखानों में किए जाने वाले उत्पादन के स्थान पर खादी, गुड़, तेल-घानी आदि के लघु कुटीरोद्योग स्थापित करना है। यह पहले बताया जा चुका है कि आधुनिक उद्योगवाद ने किस प्रकार उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों और युद्धों को उत्पन्न किया है। यदि इसका अन्त कर दिया जाए तो संसार महायुद्धों की विभीषिका से मुक्त हो जाएगा।

मशीनों का विरोध—आर्थिक क्षेत्र में केन्द्रीकरण को रोकने के लिए महात्मा गांधी ऐसी सब मशीनों के विरोधी थे जिनसे श्रम की बचत होती है, कम-से-कम मजदूर लगाकर अधिक-से-अधिक उत्पादन किया जाता है और इस प्रकार से ऐसी मशीनें लगाकर पूँजीपति अपनी वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाते हैं; उनका श्रमिकों पर किया जाने वाला व्यय घट जाता है और उनके हाथ में अधिकाधिक सम्पत्ति इकट्ठी होने लगती है; वे धनकुबेर बनते जाते हैं और मजदूरों में बेकारी की वृद्धि होने लगती है। इस दृष्टि से गांधी जी बड़ी मशीनों का और औद्योगिकीकरण का विरोध करते थे। उनका यह कहना

1. "The democracy could not be worked by twenty men sitting at the centre. It had to be worked below by the people of every village."
—Mahatma Gandhi in the Prayer Meeting of January 6, 1948.

था कि, भारत के गाँवों में पहले ही बहुत बेकारी है, लोग खाली रहते हैं। यदि यहाँ बड़ी मशीनों से उत्पादन किया जाएगा तो सम्पत्ति के केन्द्रीकरण के साथ-साथ लोगों की आर्थिक दशा बहुत बुरी हो जाएगी। इस विषय में १३ नवम्बर १९२४ के 'यंग इण्डिया' में उन्होंने लिखा था, "मुझे मशीनों पर नहीं, किन्तु मशीनों के लिए पागलपन पर आपत्ति है। यह पागलपन मजदूरों का श्रम बचाने वाली मशीनों (Labour-saving machinery) के लिए है। उद्योगपति इस प्रकार श्रम की बचत करने वाली मशीनों को लगाकर हजारों व्यक्तियों को बेकार बना देते हैं और वे खुली सड़कों पर भूखे मरने लगते हैं। इससे कुछ मुट्ठी-भर लोगों के हाथों में सम्पत्ति जमा होने लगती है। मैं चाहता हूँ कि यह सब में बँट जाए। आजकल मशीनें केवल कुछ लोगों की सहायता करती हैं और वे लाखों व्यक्तियों की सम्पत्ति हड़प लेती हैं। मैं इस प्रकार की व्यवस्था के विरोध में हूँ। मशीनों को लगाने के पीछे श्रम की बचत करने की परोपकारी भावना नहीं, अपितु लालच की भावना है और ऐसी व्यवस्था का मैं अपनी पूरी शक्ति से मुकाबला करूँगा।"[1]

प्रायः भ्रान्तिवश गांधी जी को मशीनों का विरोधी समझा जाता है। वस्तुतः वे सब प्रकार की मशीनों का अन्धविरोध नहीं करते थे, किन्तु मानवीय मशीनों को बेकार बनाने वाली श्रम की बचत करने वाली बड़ी मशीनों के ही विरोधी थे। इसको उन्होंने सिंगर की सिलाई मशीन के सुन्दर दृष्टान्त से समझाया है। उनका कहना था कि यह मनुष्य द्वारा अब तक आविष्कृत कुछ अतीव उपयोगी वस्तुओं में से है और इसके आविष्कार के साथ एक बड़ी रोमांचक कहानी जुड़ी हुई है। सिंगर बहुधा अपनी पत्नी को अपने हाथों से कपड़े सीने के उकता देने वाले काम में व्यस्त देखा करता था। वह अपनी पत्नी से बहुत प्यार करता था और उसे अनावश्यक परिश्रम से बचाने के लिए उसने सिलाई की मशीन का आविष्कार किया। उसने न केवल अपनी पत्नी की मेहनत बचाई, अपितु सिलाई मशीन खरीद सकने वाले हर व्यक्ति की मेहनत बचाई।[2] उसका यह कार्य प्रेम से और सच्ची मानवीय भावना से प्रेरित था, न कि लोभ की भावना से। उनका कहना था कि "मैं ऐसी बिलकुल सादी मशीनों के पक्ष में हूँ जो लाखों व्यक्तियों के घरों में लगाई जा सकें।" ('हरिजन', २ नवम्बर १९३४) उनका यह कहना था कि "अमरीका जैसे कम आबादी वाले देशों में बड़ी मशीनें आवश्यक हो सकती हैं, किन्तु भारत को इनकी कोई आवश्यकता नहीं है। जहाँ लाखों श्रम करने वाले मजदूर बेकार हैं, वहाँ श्रम की बचत करने वाली मशीनों के बारे में सोचने का

---

1. "What I object to is the craze for machinery. The craze is for what they call labour-saving machinery, men go on saving labour till thousands are without work and thrown on the open streets to die of starvation. . . . . . I want concentration of wealth not in the hands of few but in the hands of all. . . . . supreme consideration is man."

—*Young India*, November 13, 1924.

2. *Harijan*, September 29, 1940.

कोई लाभ नहीं है।"[1] ऐसी मशीनों से सम्पत्ति का केन्द्रीकरण होता है, आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण करने के लिए वे श्रम की बचत करने वाली बड़ी मशीनों के विरोधी और छोटी मशीनों तथा ग्रामीण उद्योग-धन्धों का विकास करने के पक्षपाती थे।

इस प्रकार राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में केन्द्रीकरण का प्रवल विरोधी होने के कारण ही यह कहा जाता है कि "गांधीवाद का सार विकेन्द्रीकरण है।"[2]

वर्णव्यवस्था या वर्णधर्म का सिद्धान्त

यह गांधी जी के अहिंसक समाज के संगठन का एक प्रमुख मौलिक सिद्धान्त है। वर्णव्यवस्था का अभिप्राय सामान्य रूप से यह लिया जाता है कि समाज का संगठन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों के आधार पर होना चाहिए। किन्तु गांधी जी ने इस प्राचीन शब्द का प्रयोग करते हुए भी उसमें कुछ नवीन भावों को भरने का प्रयत्न किया है। उनके मतानुसार, "वर्ण का अर्थ इतना ही है कि हम सब अपने वंश और परम्परागत काम को केवल जीविका के लिए ही करें, बशर्ते कि वह नैतिकता के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध न हो।" इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि "मेरा विश्वास है कि मनुष्य इस जगत् में कुछ स्वाभाविक योग्यताएँ लेकर पैदा होता है। इन्हीं के आधार पर वर्ण का सिद्धान्त बनाया गया है। इसके अनुसार सबको काम करना चाहिए। इससे अनावश्यक प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है।"

विनोबा जी के मतानुसार गांधी जी की वर्णव्यवस्था के सिद्धान्त का सार तीन बातों में निहित है : (क) **पहली बात** वंशपरम्परागत संस्कारों से लाभ उठाना है। प्रत्येक व्यक्ति अपने परम्परागत पेशे की कुछ स्वाभाविक योग्यताएँ लेकर उत्पन्न होता है और बचपन में इस पेशे के वातावरण में पलते हुए इसे जल्दी से ग्रहण करता है और शीघ्र ही इसमें दक्ष हो जाता है। यह व्यवस्था समाज के लिए हितकर है। (ख) **दूसरी बात** इस से होड़ या प्रतियोगिता का समाप्त होना है। आजकल समाज में बड़ी अव्यवस्था और अराजकता है। प्रत्येक व्यक्ति उसी पेशे की ओर जाना चाहता है, जिसमें अधिक पैसा मिलने की आशा हो, भले ही उसके लिए आवश्यक योग्यता उसमें न हो। उदाहरणार्थ, सभी लोग आर्थिक लाभ की दृष्टि से वकील, डाक्टर या इंजीनियर बनना चाहते हैं, इस कारण बेकारी में वृद्धि होती है। यदि पैतृक पेशों को ही करने का नियम कठोरता से लागू कर दिया जाए तो यह बन्द हो सकती है। सभी पेशे इस दृष्टि से समान हैं कि वे समाज के लिए आवश्यक हैं, उनमें किसी प्रकार के ऊँच-नीच का भाव नहीं है। (ग) **तीसरी बात** मजदूरी की या पारिश्रमिक की समानता है। गांधी जी

1. "Sparsely populated, America may have need of machinery. India may not need it at all. Where there are millions and millions of units of idle labour, it is no use thinking of labour-saving devices."

—*Harijan*, November 5, 1935.

2. "The keynote of Gandhism is decentralisation."

का यह विचार है कि समाज को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से सब पेशे बराबर हैं। अतः इनके पारिश्रमिक में कोई भेदभाव या विषमता नहीं होनी चाहिए। इस समय एक डाक्टर या वकील को नाई या भंगी की अपेक्षा अधिक पैसा दिया जाता है। यह व्यवस्था समाज में अनावश्यक विषमता को उत्पन्न करती है। सामाजिक दृष्टि से सभी को समान पारिश्रमिक या वेतन दिया जाना चाहिए। इससे डाक्टरी और वकालत जैसे पेशों के लिए होने वाली होड़ समाप्त हो जाएगी।

इस सिद्धान्त की इस दृष्टि से कड़ी आलोचना की जाती है कि यह जात-पांत के दुष्परिणामों को स्थायी बनाकर समाज में नीच समझी जाने वाली जातियों को ऊँचा उठने तथा उन्नति करने के अवसरों से वंचित करता है, क्योंकि इसके अनुसार भंगी तथा नाई के लड़कों को सदैव अपने पिता के ही पेशे करने चाहिएँ। किन्तु गांधी जी के मतानुसार यह आलोचना कई कारणों से सही नहीं है—

(१) वे नाई व भंगी के प्रतिभासम्पन्न लड़कों द्वारा अन्य पेशे किए जाने में दोष नहीं समझते हैं, बशर्ते कि वे यह पेशा आर्थिक लाभ की दृष्टि से नहीं, अपितु समाज की सेवा के उद्देश्य से करें।

(२) गांधी जी अपने वर्णधर्म की धारणा में ऊँच-नीच की कल्पना को कोई स्थान नहीं देते हैं। गांधी जी कहते हैं कि "मेरी समझ में कोई मनुष्य न तो जन्म से और न कर्म से ही बड़ा बन जाता है। मेरा विश्वास है कि जन्म के समय सभी मनुष्य बराबर होते हैं।...मेरी राय में दूसरे किसी मनुष्य से श्रेष्ठ होने का दावा करना मनुष्यता को लांछन लगाना है। जो अपनी उच्चता का दावा करता है, वह उसी क्षण मनुष्य होने का अधिकार भी खो देता है।"

गांधी जी के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वे वर्तमान समय में समाज में प्रचलित ऊँच-नीच के विचारों को नहीं मानते हैं, सभी पेशों को समानता की दृष्टि से देखते हैं, वे भंगी के तथा ब्राह्मण के लड़के में प्रतिष्ठा और वेतन की दृष्टि से कोई भेद नहीं रखना चाहते हैं। यदि समाज में यह व्यवस्था लागू हो जाए तो सामाजिक एवं आर्थिक विषमता तथा इससे उत्पन्न होने वाले भीषण वर्ग-संघर्ष समाप्त हो जाएँगे। गांधी जी की वर्णव्यवस्था का यह आदर्श बहुत ऊँचा है तथा इसे व्यावहारिक रूप देना कठिन है।

संरक्षकता का सिद्धान्त
(Theory of Trusteeship)

समाज की वर्तमान आर्थिक विषमता के दुष्परिणामों का अहिंसक प्रतिकार करने की दृष्टि से इस सिद्धान्त का विशेष महत्व है। इसका यह मतलब है कि धनी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं से अधिक जमीन, जायदाद, कारखाने तथा विविध प्रकार की सम्पत्ति का अपने को स्वामी न समझें, अपितु इसे समाज की अमानत या धरोहर (Trust) मानें, उसका उपयोग अपने लाभ के लिए नहीं, अपितु समाज के कल्याण के

लिए करें। गांधी जी का यह सिद्धान्त **अपरिग्रह** के विचार पर आधारित है। अपरिग्रह का अर्थ है कि मनुष्य को अपने जीवन की आवश्यकताओं से अधिक किसी वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिए। यदि किसी के पास अधिक सम्पत्ति हो गई है तो उसे इसको अपनी न समझकर ईश्वर की तथा समाज की समझनी चाहिए। संसार की सभी वस्तुओं पर ईश्वर का स्वामित्व है, मनुष्य को अपने परिश्रम और आवश्यकता के अनुसार इसमें से अपना हिस्सा लेने का अधिकार है, अतः वह किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का स्वामी नहीं, अपितु उसका संरक्षक मात्र है।

आधुनिक समय की उग्र आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए समाजवादी विचारक शक्ति के प्रयोग द्वारा उत्पादन के साधन धनियों से छीनकर उन पर राज्य का स्वामित्व स्थापित करना चाहते हैं। ग्रेट ब्रिटेन जैसे कल्याणकारी राज्य (Welfare State) के सिद्धान्त में आस्था रखने वाले देश पूँजीपतियों पर अधिकाधिक कर लगाकर इस विषमता को दूर करना चाहते हैं। किन्तु गांधी जी समाज में धन के समान वितरण के लिए संरक्षकता के सिद्धान्त का आश्रय लेते है। गांधी जी को धनियों से उनकी सम्पत्ति और उत्पादन के साधन जोर-जबर्दस्ती से छीनने का हिंसापूर्ण मार्ग पसन्द नहीं है, इससे समाज में कटुता, द्वेष, रोष, तनाव और वर्ग-संघर्ष का हिंसक वातावरण बनेगा।

गांधी जी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के अनुसार, धनी लोगों को स्वेच्छापूर्वक यह समझना या समझाना चाहिए कि उनके पास जो धन है, वह समाज की धरोहर है, वे उसमें से केवल अपने निर्वाह के लिए आवश्यक धनराशि ही ले सकते हैं, शेष सारी धनराशि उन्हें समाज की दृष्टि से हितकर कार्यों में लगा देनी चाहिए। इसका यह मतलब नहीं है कि धनी अपने जीवन-निर्वाह से बची हुई सम्पत्ति को निर्धन व्यक्तियों में बाँट दें। ऐसा करने पर तो यह सम्पत्ति उपभोग में आकर शीघ्र नष्ट हो जाएगी; अतः धनिक वर्ग अपनी फालतू सम्पत्ति को ऐसे उद्योग-धन्धों में लगाए, जिनसे साधारण जनता को रोजगार मिल सके। उसे दूसरों को काम देकर तथा उत्पादन बढ़ाकर अपनी पूँजी का सदुपयोग सार्वजनिक हित के कल्याण एवं वृद्धि के लिए करना चाहिए; वह इसे जलाशय, विद्यालय आदि बनाने के जनकल्याणकारी कार्यों में भी लगा सकता है। जमींदार अपनी फालतू जमीन भूमिहीन निर्धन व्यक्तियों को जोतने बोने के लिए दे सकता है।

इस बात में सन्देह किया जा सकता है कि धनी लोग स्वेच्छापूर्वक अपना धन समाज को समर्पण करने के लिए कैसे और क्यों तैयार होंगे? गांधी जी मानवीय प्रकृति की उदात्तता, दिव्यता और सुधार में अगाध विश्वास रखते थे। उनका यह विचार था कि आरम्भ में दो-चार साधु-स्वभाव वाले पूँजीपति कर्त्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर अपनी सम्पत्ति को समाज की अमानत समझने लगेंगे। बाद में इनके उदाहरण से प्रेरणा पाकर अन्य धनी लोग भी इनका अनुकरण करेंगे। परन्तु ऐसे भी धनी लोग सम्भव हैं, जो इस प्रकार स्वेच्छापूर्वक अपनी सम्पत्ति का परित्याग करने के लिए तैयार न हों। गांधी जी के मतानुसार उनको अहिंसात्मक असहयोग और सत्याग्रह के साधनों से सन्मार्ग पर लाया जा सकता है; क्योंकि धनी, जमींदार और उद्योगपति किसानों तथा

मजदूरों के सहयोग से ही अपने सब कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। यदि किसान सहयोग न दें तो जमींदार के खेत जोते, बोये और काटे नहीं जा सकते। यदि मजदूर कारखानों में काम करना बन्द कर दें तो पूँजीपतियों के कारखाने ठप्प हो जाएँगे। अतः असहयोग के अहिंसक ब्रह्मास्त्र से धनियों को ट्रस्टी बनने के लिए बाधित किया जा सकता है। विनोबा भावे ने भूदान आन्दोलन द्वारा गांधी जी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देते हुए जमींदारों की हजारों एकड़ भूमि भूमिहीन किसानों को दिलवायी है। जैसे अहिंसात्मक असहयोग के आन्दोलन से भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता मिली है, वैसे ही ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त से हमें आर्थिक समानता और स्वतन्त्रता की प्राप्ति हो सकती है।

किन्तु गांधी जी के आलोचकों को यह कोरा मिथ्या आशावाद प्रतीत होता है कि धनी लोग स्वेच्छापूर्वक अपनी सम्पत्ति को छोड़ने तथा अपने को उसका ट्रस्टी समझने के लिए तैयार हो जाएँगे। गांधी जी ने इसका उत्तर देते हुए कहा है—"आप कह सकते हैं कि ट्रस्टशिप तो कानूनशास्त्र की एक कल्पना मात्र है, व्यवहार में उसका कहीं कोई अस्तित्व दिखाई नहीं पड़ता है। किन्तु यदि लोग इस पर सतत विचार करें, उसे आचरण में उतारने की कोशिश भी करते रहें तो मनुष्य-जाति की नियामक शक्ति के रूप में प्रेम आज जितना काम करता है, उससे कहीं अधिक काम करेगा।···यदि इसके लिए प्रयत्न किया जाए तो दुनिया में समानता की दिशा में हम दूसरे किसी उपाय से जितना दूर तक जा सकते हैं, उसके बजाय इस सिद्धान्त से ज्यादा दूर तक जा सकेंगे।"

गांधीवाद और समाजवाद

गांधी जी समाज में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, समानता और सामाजिक न्याय के उदात्त सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देना चाहते थे। वे ट्रस्टीशिप तथा अपरिग्रह के सिद्धान्तों द्वारा आर्थिक विषमता को दूर करके सबके लिए धन का समान वितरण करना चाहते थे, सबको उन्नति के समान अवसर देने के लिए उत्सुक थे। इस दृष्टि से गांधी जी सच्चे समाजवादी थे, उन्होंने 'हरिजन' में यह विचार प्रकट किया था कि समाजवाद का विचार नवीन नहीं है, उसका जन्म पूँजीवाद के दुरुपयोग के कारण नहीं हुआ है, किन्तु यह बहुत प्राचीन सिद्धान्त है। समाजवाद का ही नहीं, अपितु साम्य-वाद का भी ईशोपनिषद् के पहले मन्त्र में स्पष्ट प्रतिपादन है। गांधी जी समाज के सभी वर्गों का, विशेषतः किसानों, मजदूरों, निर्धनों का सब प्रकार का कल्याण चाहते थे, उनके साथ होने वाले अन्याय और अत्याचारों को तथा आर्थिक विषमता को दूर करना चाहते थे, अतः वे सच्चे समाजवादी थे। उद्देश्य की दृष्टि ने गांधीवाद और समाजवाद में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है।

गांधीवाद तथा समाजवाद में अन्तर—किन्तु समाजवादी होते हुए भी गांधी जी का समाजवाद पश्चिमी जगत् के समाजवाद से कई बातों में मौलिक रूप से भिन्न है। दोनों के कुछ प्रमुख भेद ये हैं—

(१) पश्चिम के समाजवाद का जन्म पूंजीवाद के दोषों और दुष्परिणामों से

हुआ है, उसका प्रेरणास्रोत भौतिक-आर्थिक विषमता है। किन्तु गांधी जी के समाजवाद का मूल आधार आध्यात्मिक है, यह सत्य और अहिंसा के आदर्शों से प्रेरित है। उनका विश्वास है कि सब व्यक्तियों में भगवान् की दिव्य सत्ता का अंश विद्यमान है, अतः सभी व्यक्ति समान हैं, सबकी आवश्यकताएँ समान रूप से पूरी होनी चाहिएँ। अपनी आवश्यकताओं से अधिक सम्पत्ति रखना पाप है। प्रत्येक वस्तु ईश्वर की है, अतः उस पर सबका समान अधिकार है।

(२) दूसरा अन्तर गांधी जी द्वारा साधनों की शुद्धता पर और अहिंसा पर बल दिया जाना है। समाजवादी अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए हिंसा, क्रान्ति और असत्य के प्रयोग में कोई संकोच नहीं करते हैं, किन्तु गांधी जी अहिंसा के उपासक हैं। वे समाजवाद को स्फटिक की तरह शुद्ध मानते हैं और उसे प्राप्त करने के साधनों की शुद्धता पर बल देते हैं। पश्चिमी समाजवादी पूँजीवाद की समाप्ति क्रान्ति और युद्ध से करना चाहते हैं, गांधी जी इसे अहिंसात्मक असहयोग से करने पर कटिबद्ध हैं। वे यह काम धनियों और जमींदारों के हृदय-परिवर्तन एवं ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त से करना चाहते हैं।

(३) समाजवाद और गांधीवाद दोनों एक ही प्रकार के वर्गहीन (Classless) समाज की स्थापना करना चाहते हैं। किन्तु समाजवादी वर्ग-संघर्ष को अनिवार्य मानते हैं, उनका यह कहना है कि सर्वहारा वर्ग क्रान्ति के द्वारा पूँजीपति वर्ग का उन्मूलन करके वर्गहीन समाज का निर्माण करेगा। किन्तु गांधी जी इस हिंसात्मक पद्धति के विरोधी हैं। उनका यह कहना है कि "आप जमींदारों और पूँजीपतियों का हृदय-परिवर्तन हिंसा से नहीं, बल्कि केवल समझा-बुझाकर ही कर सकते हैं।" गांधी जी अपने सिद्धान्त को सर्वोदय अर्थात् समाज के सभी वर्गों तथा व्यक्तियों का अभ्युत्थान करने वाला समझते थे। वे समाज में वर्ग-संघर्ष के स्थान पर वर्ग-सहयोग तथा वर्ग-समन्वय की भावना को प्रबल बनाना चाहते थे।

(४) समाजवादी उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण में अगाध विश्वास रखते हैं, वे इस उपाय से समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं। किन्तु गांधी जी को राष्ट्रीयकरण का विचार पसन्द नहीं है। इसका बड़ा कारण यह है कि इससे राज्य अत्यधिक शक्तिशाली हो जाएगा। गांधी जी मशीनों के द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन के, बड़े उद्योगों के तथा केन्द्रीकरण के विरोधी हैं। इसीलिए वे राष्ट्रीयकरण के भी विरोधी हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाजवाद को यदि ऐसी नूतन सामाजिक व्यवस्था समझा जाए, जो सब व्यक्तियों को हर प्रकार से समानता देने वाली, प्रत्येक प्रकार के अन्याय, अत्याचार और शोषण का विरोध करने वाली, व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर तथा समाज के सभी वर्गों के अभ्युदय और उत्थान पर बल देने वाली हो तो गांधी जी अवश्यमेव समाजवादी थे। किन्तु समाजवाद का अभिप्राय यदि क्रान्ति द्वारा पूँजीवाद का विध्वंस करके सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता स्थापित करना तथा उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण हो तो गांधी जी समाजवादी नहीं थे।

गांधीवाद और मार्क्सवाद

(क) **समानताएँ**—महात्मा गांधी और महामना मार्क्स के सिद्धान्तों में कई विलक्षण समानताएँ हैं। दोनों दरिद्रता के दानव का संहार करना चाहते हैं, निर्धनों को धनियों के शोषण से तथा अत्याचारों से मुक्त करना चाहते हैं, दोनों समाज में अमीर-गरीब के भेद तथा वर्गों का अन्त करने के लिए उत्सुक हैं, दोनों श्रम को असाधारण महत्व देते हैं। दोनों इस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देना चाहते हैं कि प्रत्येक से उसकी सामर्थ्यानुसार काम लिया जाए तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक दिया जाए। राज्य के विषय में दोनों का सिद्धान्त एक जैसा है। दोनों भावी आदर्श व्यवस्था में राज्य की सत्ता नहीं मानते। इन समानताओं के होते हुए भी स्थूल रूप से इन दोनों में एक बड़ा भेद हिंसा के प्रश्न पर दिखाई देता है। गांधी जी अहिंसा के उपासक हैं, मार्क्स संघर्ष को सृष्टि का प्रधान तत्व मानते हैं। मार्क्सवादी साम्यवाद की स्थापना के लिए क्रान्ति, युद्ध तथा हिंसा के उपायों को बुरा नहीं समझते।

इन समानताओं के आधार पर कई बार यह कल्पना की जाती है कि **हिंसारहित साम्यवाद गांधीवाद है तथा साम्यवाद हिंसायुक्त गांधीवाद है।** वस्तुतः यह धारणा अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि दोनों में उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी बहुत अधिक मौलिक भेद हैं। इन दोनों में हिंसा का एक ऐसा प्रधान और मौलिक अन्तर है जो इन्हें सर्वथा भिन्न सिद्धान्त बना देता है।

(ख) **भेद**—दोनों के प्रधान भेद निम्नलिखित हैं—

(१) **मार्क्स विशुद्ध भौतिकवादी है, वह विश्व में प्रकृति (Matter) के अतिरिक्त कोई चेतन सत्ता नहीं मानता है।** इसके सर्वथा विपरीत गांधी जी अद्वैतवादी हैं, वे समूचे चराचर जगत् में एक ही ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता का विस्तार देखते हैं; वे सर्वव्यापक सर्वज्ञ भगवान् में और धर्म में गहरी आस्था रखते हैं। किन्तु मार्क्स तथा उसके अनुयायी धर्म एवं ईश्वर के कट्टर विरोधी हैं; इसे जनता को मोहनिद्रा में सुलाने वाली अफीम समझते हैं। गांधीवाद आध्यात्मिकता और आस्तिकता में तथा साम्यवाद भौतिकता और नास्तिकता में विश्वास करता है।

(२) **मार्क्सवाद साध्य को महत्व देता है,** उसके लिए पवित्र-अपवित्र सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग उचित मानता है। किन्तु गांधी जी साध्य के साथ साधनों की पवित्रता पर बल देते हैं।

(३) **गांधीवाद अहिंसा और प्रेम पर आधारित है।** उनकी पद्धति प्रेम के बल से विरोधियों को परास्त करने की थी। इसके विपरीत मार्क्सवाद विद्वेष का उपदेश देता है; वह पूँजीपतियों से, धर्म से और ईश्वर से घृणा करने का पाठ पढ़ाता है।

(४) **दोनों का एक महत्वपूर्ण मौलिक अन्तर हिंसा और अहिंसा का है।** मार्क्सवाद हिंसा और क्रान्ति के द्वारा साम्यवादी व्यवस्था का प्रादुर्भाव मानता है। इसके विपरीत गांधी जी अहिंसा पर बल देते हैं। मार्क्स संघर्ष को सृष्टि का परम तत्व मानते हैं, किन्तु गांधीवाद सृष्टि का प्रधान तत्व सहयोग और प्रेम को समझता है।

(५) **गांधीवाद में व्यक्ति को साध्य मानते हुए उसे अधिक महत्व दिया गया**

है। राज्य उसके विकास का साधन मात्र है। मार्क्स तथा अन्य साम्यवादी व्यक्ति को नहीं, अपितु राज्य को महत्व देते हैं। गांधी जी समाज में परिवर्तन लाने के लिए उसका निर्माण करने वाले व्यक्ति का सुधार और चरित्र का विकास करना चाहते हैं। वे नूतन सामाजिक व्यवस्था का श्रीगणेश व्यक्ति से करते हैं; इसके विपरीत साम्यवादी अपना श्रीगणेश राज्य से करते हैं, वे क्रान्ति या षड्यन्त्र द्वारा सर्वप्रथम राजनीतिक सत्ता हस्तगत करने का प्रयास करते हैं और इसे हस्तगत करने के बाद अपनी इच्छा-नुसार समाज के आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन करके नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करते हैं।

(६) **मार्क्स के अनुयायी वर्तमान औद्योगिक सभ्यता को वरदान समझते हैं और गांधी जी अभिशाप।** वे धन-दौलत और सत्ता के पीछे भागने को पागलपन तथा व्यक्ति के सच्चे विकास में बाधक समझते हैं। गांधी जी आध्यात्मिक जीवन को सर्वोत्तम आदर्श मानते हैं, मार्क्सवादी भौतिक जीवन और इसके सुखों की प्राप्ति को अपना लक्ष्य मानते हैं।

(७) **साम्यवादी पूँजीवाद का उन्मूलन करने के लिए उद्योगों के राष्ट्रीय-करण पर तथा उत्पादन के सभी साधनों पर राज्य का स्वामित्व चाहते हैं।** गांधी जी बड़े उद्योगों के तथा इनके राष्ट्रीयकरण के विरोधी हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दोनों में अनेक मौलिक भेद हैं। मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष तथा सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता के सिद्धान्तों में विश्वास रखते हैं। इसके विपरीत गांधी जी वर्णव्यवस्था या विभिन्न वर्गों द्वारा अपने परम्परागत कार्य करने में सत्याग्रह, विकेन्द्रीकरण, ट्रस्टीशिप, वैयक्तिक स्वाधीनता और लोकतन्त्र के सिद्धान्तों में आस्था रखते हैं। ये भेद इतने अधिक और मौलिक हैं कि **हिंसारहित मार्क्सवाद को गांधीवाद नहीं कहा जा सकता है।**

गांधीवाद के दोष

(१) **कोरा आदर्शवाद**—इसका पहला और सबसे बड़ा दोष यह कहा जाता है कि यह कोरा आदर्शवाद है, गांधी जी का सत्य और अहिंसा पर आधारित राज्य-हीन समाज प्लेटो की 'रिपब्लिक' की भाँति कल्पनालोक की वस्तु है, यह स्वर्णिम समाज इस भूतल पर कभी व्यावहारिक रूप धारण कर सकेगा—यह सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। गांधी जी को जीवन की आवश्यकताओं को देखते हुए यह पता लग गया था कि वर्तमान सभ्यता का, भारी उद्योगों का तथा राज्य-व्यवस्था का समूलोन्मूलन और अन्त करना सम्भव नहीं है, अतः उन्होंने स्वप्नलोक से उतरकर व्यावहारिक जगत् में ऐसे अहिंसक लोकतन्त्र की कल्पना की जिसमें अनेक आदर्शों को अधिकतम मूर्त्तरूप दिया जा सके।

(२) **अहिंसा को असाधारण महत्व**—दूसरा दोष अहिंसा के सिद्धान्त को अत्यधिक महत्व देना और व्यापक बनाना है। गांधी जी का यह विचार ठीक नहीं प्रतीत होता है कि हिन्दू धर्म अहिंसा का उपासक है। वैदिक साहित्य में, रामायण, महाभारत तथा गीता में दुष्टों के दलन के लिए हिंसा और युद्ध का प्रतिपादन है। गांधी जी ने

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अहिंसा के अस्त्र का प्रयोग करने का जो परामर्श दिया है, वह भी अव्यावहारिक प्रतीत होता है। उनका यह विश्वास था कि सच्चे सत्याग्रही द्वारा हृदय से की गई प्रार्थना बमों की वर्षा करने वाले वायुयानचालक के हृदय पर प्रभाव डालेगी और उसे इस नृशंसतापूर्ण कार्य को करने से रोकेगी। किन्तु अणुयुद्धों को रोकने के लिए इस उपाय की विफलता निश्चित है। इस प्रकार के प्रतिरोध के वर्तमान परिस्थितियों में सर्वथा निष्फल और निरर्थक होने में कोई सन्देह नहीं है।

(३) **राज्य की दोषपूर्ण आलोचना**—तीसरा दोष राज्य को हिंसा का प्रतीक तथा मनुष्य की स्वतन्त्रता का विरोधी मानना है। पहले रूसो तथा ग्रीन के विचारों का विवेचन करते हुए बताया जा चुका है कि राज्य का एक मात्र आधार हिंसा या शक्ति नहीं, अपितु जनता की सामान्य इच्छा (General Will) है। यदि लोगों में ऐसी इच्छा न रहे तो राज्य का थोड़े समय के लिए भी बना रहना सम्भव नहीं प्रतीत होता है।

(४) **अहिंसात्मक उपायों का हिंसापूर्ण होना**—चौथा दोष गांधी जी के अहिंसात्मक उपायों का हिंसापूर्ण होना है। गांधी जी ने १९२० में शान्तिपूर्ण उपायों से स्वराज्य पाने के लिए जब अपने कार्यक्रम में विदेशी कपड़ों के बहिष्कार की तथा उनकी होली जलाने की बात रखी तो दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रयूज़ ने इसकी आलोचना करते हुए कहा था कि इस प्रकार ब्रिटिश कारखानों में तैयार किए गए वस्त्रों की होली करना उन्हें 'हिंसापूर्ण, दूषित और अस्वाभाविक' कार्य प्रतीत होता है। इससे भारत में अंग्रेजों के प्रति वैसी विद्वेषपूर्ण राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न होगी जैसी योरोप के विभिन्न राष्ट्रों में पाई जाती है। **स्टेट्समैन** के सम्पादक आर्थर मूर ने सत्याग्रह को 'मानसिक हिंसा' कहा था, क्योंकि यह मनुष्यों के मनों पर प्रबल दबाव डालने का प्रयत्न करती है। जब गांधी जी ने सत्याग्रह का प्रयोग आरम्भ किया था तो आलोचकों ने यह कहा था कि सत्य का स्वरूप जटिल होने के कारण इसका पालन कम होगा और शीघ्र ही यह दुराग्रह में परिणत हो जाएगा। आजकल सत्याग्रह के साधनों—हड़ताल, उपवास आदि का इतना दुरुपयोग होने लगा है कि उपर्युक्त आलोचना में कुछ सचाई प्रतीत होती है।

(५) **अव्यावहारिकता**—इसी प्रकार गांधी जी के अन्य सिद्धान्तों—विकेन्द्रीकरण, वर्णव्यवस्था, ट्रस्टीशिप के सिद्धान्तों में गम्भीर दोष हैं। वर्तमान युग में राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तों को लागू करना सम्भव नहीं प्रतीत होता है। वर्णव्यवस्था का सिद्धान्त निम्न जातियों के बच्चों को अपने परम्परागत पेशों के साथ बाँधकर रखते हुए उनको उन्नति करने के अवसरों से वंचित करता है। उनके संरक्षकता के सिद्धान्त की व्यावहारिकता में प्रबल सन्देह है। इस भूतल पर ऐसा स्वर्णयुग आना असम्भव प्रतीत होता है जब धनी स्वेच्छापूर्वक अपनी विशाल सम्पत्ति समाज को समर्पित कर देंगे। विनोबा जी को भूदान में मिली अधिकांश भूमि बंजर और बेकार बताई जाती है।

गांधी जी की देन—उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में गांधी जी की कुछ विशिष्ट देनें हैं—

(१) **मानव-जाति की रक्षा का पथ-प्रदर्शन**—पहली देन अणुबमों द्वारा प्रलयंकर ताण्डव की सम्भावना से भयभीत मानव-जाति को आत्मसंरक्षण के लिए अहिंसा के

पथ का प्रदर्शन करना है ।

(२) **राजनीति को आध्यात्मिक बनाना—दूसरी** देन धूर्त्तता, धोखाधड़ी और असत्य व्यवहार से परिपूर्ण राजनीति को धर्म और नैतिकता से अनुप्राणित करना तथा आध्यात्मिक बनाना है ।

(३) **तीसरी देन साध्य के साथ-साथ साधनों की पवित्रता पर बल देना है ।**

(४) **चौथी देन सत्य और अहिंसा के क्षेत्र को व्यापक और विशाल बनाना है ।** पहले इसका प्रयोग ऋषि-मुनियों तक तथा पारिवारिक क्षेत्र तक सीमित था । गांधी जी ने इसका प्रयोग सभी व्यक्तियों तथा सभी क्षेत्रों के लिए आवश्यक माना है । उन्होंने पददलित पराजित और निःशस्त्र देशों को स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए अहिंसात्मक पद्धति वाले नवीन पथ का प्रदर्शन किया ।

(५) **पाँचवीं देन व्यक्ति के विकास और महत्व पर बल देना था ।** उन्होंने पीड़ित और पददलित, मनुष्यों में भी एक नवीन आशा, विश्वास और श्रद्धा का संचार कर उन्हें नई चेतना, शक्ति और स्फूर्ति से ओतप्रोत किया । सब व्यक्तियों की समानता, स्वतन्त्रता और महत्ता में उनका अगाध विश्वास था ।

(६) **संरक्षकता का सिद्धान्त—छठी** देन पूँजीवाद के दुष्परिणामों का प्रतिरोध करने के लिए क्रान्ति और युद्ध के स्थान पर संरक्षकता (Trusteeship) के और असहयोग के अहिंसात्मक मार्ग का नवीन आविष्कार था ।

(७) **कर्मयोग—सातवीं** देन उनका कोरा दार्शनिक न होकर कर्मयोगी होना तथा अपने सिद्धान्तों को स्वयमेव व्यावहारिक रूप प्रदान करना था । यह इनकी विलक्षण सफलता और प्रभाव का एक बड़ा कारण था । वे दूसरों का सुधार करने के स्थान पर अपने या व्यक्ति के सुधार पर बहुत बल देते थे ।

गांधीवाद में विभिन्न तत्वों का सम्मिश्रण

गांधीवाद के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उसमें प्राचीन विचारधारा के अनेक बहमूल्य तत्वों के साथ पश्चिम में प्रचलित अनेक प्रकार के वादों के भी कुछ तत्व मिलते हैं, अतः यह कहा जाता है कि गांधीवाद में व्यक्तिवाद (Individualism), अराजकतावाद (Anarchism) और आदर्शवाद (Idealism) के तत्वों का सम्मिश्रण हुआ है। व्यक्तिवाद व्यक्ति को तथा उसके अधिकारों को विशेष महत्व देता है । पश्चिम में व्यक्ति के अधिकारों का प्रबल समर्थन बेन्थम, जॉन स्टुअर्ट मिल और हरबर्ट स्पेन्सर ने किया है । पहले इनका उल्लेख किया जा चुका है । गांधी जी व्यक्ति को बहुत महत्व देते हैं और वे राज्य का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति का विकास और कल्याण समझते हैं । उनकी दृष्टि में व्यक्ति राज्य के लिए नहीं, अपितु राज्य व्यक्ति के लिए है; राज्य को व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए और उसका विकास करने में पूर्ण सहयोग देना चाहिए ।

इसी प्रकार अराजकतावाद के भी कुछ तत्व गांधीवादी विचारधारा में पाए जाते हैं । पहले यह बताया जा चुका है कि गांधी जी राज्य की सत्ता के प्रबल विरोधी हैं । वे दार्शनिक, भौतिक, ऐतिहासिक और आर्थिक कारणों के आधार पर राज्य का

विरोध करते हैं। दार्शनिक आधार पर राज्य का विरोध करने का बड़ा कारण यह है कि गांधी जी अहिंसा के पुजारी हैं और राज्य का प्रधान आधार हिंसा तथा पाशविक शक्ति है। हिंसामूलक राज्य 'अहिंसा परमो धर्मः' के उपासक को मान्य नहीं है, यह व्यक्ति की नैतिकता के विकास को अवरुद्ध करता है, इसलिए गांधी जी की आदर्श सामाजिक व्यवस्था में राज्य का कोई स्थान नहीं है।

पश्चिमी जगत् में आदर्शवाद (Idealism) का प्रतिपादन ब्रिटिश विचारक थामस हिल ग्रीन, बोसांके तथा जर्मन विचारक हेगल ने किया है। गांधी जी के सिद्धान्तों की कुछ बातें ब्रिटिश आदर्शवादी विचारक ग्रीन द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यों से मिलती हैं। दोनों के दार्शनिक विचारों का मूल आधार एक जैसा है। ग्रीन अद्वैतवादी है। वह एक शाश्वत चैतन्य सत्ता को विश्व की समस्त जड़ एवं चेतन वस्तुओं में ओतप्रोत मानता है। मनुष्य केवल जड़ प्रकृति का अंश नहीं है, अपितु वह अपना चेतन स्वरूप रखता है। दैवी सत्ता का अंश होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपने नैतिक विकास के लिए दैवी गुणों को अपने चरित्र में ढालकर अपने को दिव्य (Divine) बनाने का यत्न करे। गांधी जी भी नर में नारायण का अंश देखते हैं और मनुष्य की आसुरी प्रवृत्तियों का दमन करके दैवी प्रवृत्तियों को विकसित करना चाहते हैं। दोनों विचारक व्यक्ति को साध्य और राज्य को साधन मानते हैं। ग्रीन का चरम लक्ष्य व्यक्ति और उसका विकास है, राज्य नहीं। उसके विचार की दूसरी विशेषता लोकहितकारी राज्य (Welfare State) के विचार को जन्म देना था। ग्रीन ने सबसे पहले इस सिद्धान्त का प्रबलतापूर्वक प्रतिपादन किया था कि राज्य को जनता के कल्याण के लिए सभी प्रकार के आवश्यक कानून बनाने चाहिएँ। गांधी जी भी व्यक्ति को साध्य और राज्य को साधन मानते हुए इस बात पर बल देते थे कि राज्य का चरम लक्ष्य व्यक्ति का विकास होना चाहिए। ग्रीन की तरह वे भी राज्य द्वारा उन कार्यों के किए जाने पर बल देते थे, जो मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक हैं, जैसे प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था, मद्यपान की बुराई को दूर करना, राज्य द्वारा इसके बारे में प्रतिबन्ध लगाना। सम्पत्तिविषयक विचारों में भी ग्रीन और गांधी जी में पर्याप्त समानता है। अन्य समाजवादियों की भाँति ये दोनों पूँजीपतियों की सम्पत्ति को छीनने और साम्पत्तिक वैषम्य का उन्मूलन करने पर बल नहीं देते हैं। ग्रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रबल समर्थक था और वह सामाजिक कल्याण के लिए पूँजी के प्रयोग को वांछनीय समझता था। गांधी जी धनियों को सम्पत्ति का स्वामी नहीं, अपितु ट्रस्टी या संरक्षक समझते थे, उन्हें इसका उपयोग गरीबों की भलाई के लिए करना है।

गांधी जी का मूल्यांकन—उपर्युक्त देनों तथा विलक्षण प्रयोगों के कारण राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में गांधी जी का नाम अमर है। अणुबमों द्वारा लड़े जाने वाले प्रलयंकर विश्वयुद्धों की पृष्ठभूमि में उनके अहिंसा के प्रयोग विलक्षण महत्व रखते हैं। वे युद्धपीड़ित एवं सर्वनाश की आशंका से संत्रस्त मानव-जाति के लिए घनन्धकारपूर्ण रात्रि में उज्ज्वल उषा की किरण हैं। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में गांधी जी को सदैव इस रूप में स्मरण किया जाएगा कि "वे युद्ध से विह्वल विश्व को शान्ति प्रदान करने वाली नैतिक और आध्यात्मिक क्रान्ति को सम्पन्न करने वाले महापुरुष थे।"

सारांश

गांधीवाद का स्वरूप—गांधी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को 'गांधीवाद' कहा जाता है।

गांधी जी के मौलिक दार्शनिक और राजनीतिक सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) **सत्य**—इनके मतानुसार सत्य ही परमात्मा है और परमात्मा ही सत्य है। मानव-जीवन का ध्येय सत्य की खोज करना है। इसके लिए आत्मशुद्धि अतीव आवश्यक है।

(२) **अहिंसा**—अहिंसा का अर्थ हिंसा या हत्या न करना है। हिंसा का अभिप्राय किसी भी जीव को स्वार्थवश, क्रोधवश या दुःख देने की इच्छा से कष्ट पहुँचाना या मारना है। अहिंसा का आधार अद्वैत की भावना है। मनुष्य निरन्तर उन्नति करते हुए हिंसा से अहिंसा की ओर बढ़ रहा है।

(३) **सत्याग्रह**—गांधी जी ने अहिंसा के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए सत्याग्रह का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। सत्याग्रह का अर्थ है सत्य पर आग्रह करते हुए अत्याचारी का प्रतिरोध करना, उसके सामने सिर न झुकाना। यह आत्मबल का पशुबल के साथ संघर्ष है। इसमें आत्मबल की विजय निश्चित है, किन्तु सत्याग्रही को अपने नैतिक चरित्र को ऊँचा रखते हुए सत्याग्रह के नियमों का पालन करना चाहिए।

सत्याग्रह के विभिन्न साधन—(क) असहयोग, (ख) सविनय कानूनभंग, (ग) उपवास, (घ) हिजरत, (ङ) धरना, (च) हड़ताल, (छ) सामाजिक बहिष्कार, (ज) व्यक्तिगत आग्रह।

राजनीति और धर्म का सम्बन्ध—गांधीवाद की एक बड़ी विशेषता राजनीति को धार्मिक तथा आध्यात्मिक बनाना है। गांधी जी राजनीति में धार्मिक और नैतिक नियमों का पालन करना आवश्यक समझते थे।

राज्यविषयक सिद्धान्त—गांधी जी राज्य की सत्ता के प्रबल विरोधी, अराजकतावादी विचारक थे। वे राज्य का विरोध निम्नलिखित तीन प्रधान कारणों के आधार पर करते थे—(१) यह व्यक्ति की नैतिकता के विकास में बाधक है। (२) यह हिंसा और पाशविक शक्ति पर आधारित है। (३) इसके अधिकारों में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

गांधी जी का आदर्श, अराजक लोकतन्त्रीय समाज स्वावलम्बी ग्रामीण समुदायों का संघ है। इसका निर्माण विकेन्द्रीकरण और स्वेच्छापूर्ण सहयोग के आधार पर होगा। इस आदर्श समाज में रेलगाड़ियाँ, भारी मशीनें, अदालतें, वकील तथा बड़े शहर नहीं होंगे। गांधीवाद के अनुसार व्यक्ति साध्य और राज्य साधन है। राज्य का कार्यक्षेत्र कम-से-कम होना चाहिए।

विकेन्द्रीकरण—विकेन्द्रीकरण गांधीवाद का एक मौलिक सिद्धान्त है। इसके अनुसार केन्द्रीय सत्ता को अपने सब अधिकार ग्राम पंचायतों को अपने गाँव का प्रबन्ध व शासन करने के लिए दे देने चाहिएँ। प्रत्येक गाँव एक पूर्ण स्वतन्त्र गणराज्य होना चाहिएँ।

वर्णधर्म का सिद्धान्त—गांधी जी वर्णव्यवस्था के समर्थक थे। वर्ण का आशय यह था कि हम सब अपने वंश और परम्परागत काम को अपनी जीविका के लिए ही करें, बशर्ते कि वह नैतिकता के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध न हो।

संरक्षकता (Trusteeship) **का सिद्धान्त**—गांधी जी समाज में धन के समान वितरण के लिए इस सिद्धान्त के पालन पर बल देते हैं। इसके अनुसार धनी लोगों को स्वेच्छापूर्वक यह समझना चाहिए कि उनके पास जो धन है वह समाज की अमानत या धरोहर है। वे उसमें से केवल अपने निर्वाह के लिए आवश्यक धनराशि ही ले सकते हैं; शेष राशि उन्हें समाज की दृष्टि से हितकर कामों में लगा देनी चाहिए।

गांधीवाद व समाजवाद में भेद

(१) गांधीवाद का आधार आध्यात्मिक है और समाजवाद का भौतिक है। (२) गांधीवाद साधनों की शुद्धता पर बल देता है जबकि समाजवादी अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए हिंसा, क्रान्ति और असत्य के प्रयोग में कोई संकोच नहीं करते हैं। (३) गांधीवाद वर्ग-संघर्ष का विरोधी और समाजवाद इसका प्रबल समर्थक है। (४) गांधीवाद राष्ट्रीयकरण का विरोधी और समाजवाद इसका समर्थक है।

गांधीवाद और मार्क्सवाद में भेद

गांधीवाद	मार्क्सवाद
(१) यह धर्म और ईश्वर में विश्वास रखता है।	(१) यह धर्म को जनता के लिए अफीम समझता है और ईश्वर का कट्टर विरोधी है।
(२) साध्य और साधन दोनों पवित्र होने चाहिएँ।	(२) अपवित्र साधनों का अवलम्बन करने में कोई दोष नहीं है।
(३) अहिंसा और प्रेम पर आधारित है।	(३) मार्क्सवाद पूँजीपतियों का विध्वंस करने एवं धर्म व ईश्वर से घृणा करने का पाठ पढ़ाता है।
(४) अहिंसा में विश्वास रखता है।	(४) यह हिंसात्मक क्रान्ति को साम्यवाद के लिए अनिवार्य मानता है।
(५) व्यक्ति को राज्य से अधिक महत्व देता है।	(५) राज्य को व्यक्ति से अधिक महत्व देता है।
(६) औद्योगिक सभ्यता व मशीनों को अभिशाप समझता है।	(६) इन्हें वरदान मानता है।
(७) बड़े उद्योगों तथा राष्ट्रीयकरण का विरोधी है।	(७) इनका प्रबल समर्थक है।

गांधीवाद के दोष—(१) यह कोरा काल्पनिक आदर्शवाद है। (२) अहिंसा को अत्यधिक महत्व देता है। (३) राज्य को अनुचित रूप से हिंसा का प्रतीक मानता है। (४) इसकी अहिंसा हिंसापूर्ण है।

प्रश्न

(१) गांधीवाद का सार विकेन्द्रीकरण है—विवेचना कीजिए। (राजस्थान, १९८०)

(२) गांधी जी के अहिंसा सम्बन्धी विचारों का परीक्षण करते हुए उनकी राजनीतिक क्रियान्विति का विश्लेषण कीजिए। (राजस्थान, १९७९)

[संकेत—गांधी जी ने सत्याग्रह के रूप में अहिंसा को राजनीतिक क्षेत्र में क्रियान्वित किया।]

(३) यद्यपि मार्क्स एवं गांधी दोनों ही राज्य की सर्वशक्तिमत्ता के आलोचक थे, तथापि उनके साधनों के प्रतिपादन में अन्तर था। (राजस्थान, १९७८)

(४) गांधी जी की राजनीति के अध्यात्मीकरण की अवधारणा का क्या अर्थ था? स्पष्ट कीजिए एवं उचित उदाहरण दीजिए। (राजस्थान, १९७८)

(५) गांधी जी के सामाजिक तथा आर्थिक विचारों की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए। (राजस्थान, १९७७)

(६) राजनीति के नैतिक आधारों पर महात्मा गांधी के विचारों का वर्णन कीजिए।

(७) सत्याग्रह और अहिंसा पर महात्मा गांधी के विचारों का वर्णन कीजिए। (गोरखपुर, १९७८)

(८) राजनीतिक चिन्तन में महात्मा गांधी की देन का उल्लेख कीजिए। (गोरखपुर, १९७५)

(९) गांधीवाद में व्यक्तिवाद, अराजकतावाद एवं आदर्शवाद के तत्वों का उल्लेख कीजिए। (गोरखपुर, १९७४)